विज्ञानभैरव (अनु० व्रजवल्लभ द्विवेदी)

से मुक्त होने के लिए भारतीय दर्शनशास्त्र में जो उपाय कहे गये है उपायों का विशेष महत्त्व है। यौगिक उपाय कई प्रकार के हैं, जैसे योग, भक्तियोग, क्रियायोग आदि। प्रस्तुत शास्त्र विज्ञानभैरव सहज म कृति है। इसमें ११२ धारणाओं का वर्णन किया गया है। इनमें वर्ती यौगिक पद्धतियों का उल्लेख समाविष्ट है। अपनी विश्वाहन्ता र आत्मा-परमात्मा की अद्वैतता का प्रतिष्ठापन करनेवाली यह कृति ए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी।

 और उनके हिन्दी अनुवाद के साथ पचास पृष्ठों की भूमिका, ी और शब्दानुक्रमणी भी जोड़ दी गई हैं।

मूल्य : (अजिल्द) रु० ४०; (सजिल्द) रु० ५५

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (अनु० जयदेवसिंह)

सार का प्राचीन धर्म है। इस धर्म की तीन विधाएं हैं : (१) कर्णाटक २) तमिलनाडु का शैवसिद्धान्त, (३) कश्मीर का अद्वैत शैवधर्म। शैवधर्म को तीन शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है : (१) (२) स्पन्दशास्त्र, (३) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। प्रस्तुत कृति का विषय है समें शैव सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की गई है।

भिज्ञासूत्रों का तथा उनपर संस्कृत भाष्य का हिन्दी में अनुवाद किया गया है। साथ ही विस्तृत उपोद्घात, सार, टिप्पणियां, कोश णियां समाविष्ट हैं। शिवयोग की साधना के लिए यह ग्रन्थ अतीव

मूल्य: रु० २०

श्री श्री परात्रिंशिका (अनु० नीलकण्ठ गुरुटू)

का' काश्मीर शैवदर्शन से सम्बन्धित त्रिकाचार का एक प्रामाणिक ीन ग्रन्थ है। इसका मूल उद्गम 'रुद्रयामल' तन्त्र है। इस महान् अवतारणा किसी प्राचीन युग में अनुत्तरीय विमर्श में ही हुई थी। का दूसरा नाम 'अनुत्तरीय-सूत्र' भी है। इन सूत्रों में भगवान् अनुत्तरीय हृदय का अति अद्भुत विश्लेषण प्रस्तुत किया है। न तत्त्व की सौन्दर्यच्छटा का जितना और जैसा साक्षात्कार विश्वोत्तीर्ण-ना-लोक में विचरण करने से मिल सकता है उतना ही उसके श्वमय रूप-विस्तार में भी। अतः सर्वथा धरती के ही आधार पर पने ज्ञानचक्षु के द्वारा, विश्वमयी हलचल में ही उस शाश्वत एवं त्मचेतना का स्पष्ट साक्षात्कार पा लेना ही वीरपुङ्गव का काम इस दुर्घट काम को पूरा करने के लिए पहले अपने ही अन्तस् में छिपी उजागर कर लेना आवश्यक है। यह कैसे हो सकता है? यही प्रस्तुत सन्देश है। मूल्य: (अजिल्द) रु० ७०; (सजिल्द) रु० १००

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना
बंगलौर मद्रास

योगिनीहृदयम्

व्रजवल्लभद्विवेदः

मोतीलाल
बनारसीदास

योगिनीहृदयम्

व्रजवल्लभद्विवेदः



उपोद्घात

योगिनीहृदय और दीपिका

श्रद्धेयचरण गुरुदेव पण्डित श्री श्री गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित योगिनीहृदय और उसकी टीका दीपिका के प्रथम संस्करण का पहला भाग सन् १९२३ में तथा दूसरा भाग सन् १९२४ में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा संस्करण सन् १९६३ में एक ही जिल्द में छापा गया और उसके साथ भास्करराय कृत सेतुबन्ध टीका का भी समावेश किया गया। इसका तीसरा संस्करण सन् १९८१ में निकला। इससे योगप्रधान आन्तर वरिवस्या के प्रतिपादक इस ग्रन्थ की लोकप्रियता प्रकट होती है। पेरिस के तन्त्रशास्त्र के ख्यातनामा विद्वान् डॉ० आन्द्रे पादु इसका फ्रेंच भाषा में अनुवाद कर रहे हैं। उनके जिज्ञासा भरे कुछ पत्र मिले। तब ऐसा लगा कि मूल और दीपिका के नये संस्करण की अपेक्षा है। पहला संस्करण उस समय उपलब्ध केवल दो हस्तलेखों के आधार पर किया गया था। आगे के संस्करण भी इन्हीं पर आधारित थे। सौभाग्य से हमें सरस्वतीभवन पुस्तकालय में मूल और टीका के अनेक हस्तलेख मिल गये। बड़ोदरा एवं उदयपुर की यात्रा में वहाँ भी इनके हस्तलेख मिले। इन सबकी सहायता से मूल और दीपिका का संशोधित संस्करण तथा उनका भाषानुवाद प्रस्तुत कर आज हम अपने को कृतकृत्य मानते हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में भी देवनागरी तथा शारदा लिपि में इनकी ११ मातृकाएँ उपलब्ध हैं। इनमें से शारदा लिपि की तीन मातृकाओं से पाठ-संकलन करने का हमारा विचार था, किन्तु यह सम्भव न हो सका।

मातृकाओं का परिचय

ग्रन्थ और ग्रन्थकार का परिचय देने से पहले इस संशोधित संस्करण के विषय में कुछ कह देना तथा इसमें प्रयुक्त मातृकाओं का परिचय दे देना आवश्यक है। संक्षेप में मातृकाओं का परिचय इस प्रकार है—

संकेत	मातृकासंख्या	पत्रसंख्या	लिपि	लिपिकाल	विशेष
क	शंकरमठ	१–८९	देवनागरी		प्रथम संस्करण देखिये।
सरस्वती भवन, वाराणसी					
ख	२५०९९	१-५३(=५४), ५५-६९	देवनागरी		
ग	२४९६६	१-४६, ५७-१८७	,,	सं० १७९२	
	२४०४४	२-१९	,,		अपूर्ण

ङ	२५९८५	५-९	बंग		मूलमात्र, अपूर्ण
च	८५१८८	१-१४	देवनागरी	सं० १८५१	मूलमात्र
छ	८६०५६	१-१४	,,		,,
ज	९००३१	१-५६	,,	सं० १९००	
झ	९१०३६	१-९०	,,		

गायकवाड़ शोधसंस्थान, बड़ोदरा

३४९०	६४	देवनागरी		अपूर्ण
५७२९	३८	,,		प्रथम तथा तृतीय पटल
५७९३	१०४	,,	सं० १८०९	
१०६९६	२०५	,,	सं० १९२६	रतलामनगरीया
१०८५५	१३६	,,	श० १६६७	

प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर

६२४	१–१००	देवनागरी	सं० १७८६	दीपिका,	अशुद्ध प्रति
	११०–११५	,,		मूलमात्र	,,
६२५	१–१८	,,		,,	,,
३७९४	१–१५	,,		चक्रसंकेतमात्र, शुद्ध	,,
३८०२	१–२०	,,		मूलमात्र ,,	,,

इनके अतिरिक्त सरस्वतीभवन की दो तथा हिन्दू विश्वविद्यालय की जिन मातृकाओं का इच्छा रहते हुए भी हम उपयोन न कर सके, उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

सरस्वती भवन पुस्तकालय

९०८७३	२–१४, १८–२१, ३७–५४, १–१८, २२–२४, २६–२८, ३०–३१	देवनागरी
९१३३६	२६–२९, ३४–३७	,,

हि० वि० वि० पुस्तकालय

बी ११४	६३	देवनागरी	
बी १२५	९५	,,	
बी ११५	२२	,,	
बी १११	५६	,,	सं० १७१६
सी ४४६४	१३	शारदा	
बी २४१९	१९	देवनागरी	
बी १०१६	१३	,,	

बी २४१७	११	देवनागरी	सं० १६६४
सी ४५४६	५८	शारदा	
सी ४४२९	२०	,,	
सी ४८२८	२७	देवनागरी	

सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी, ओरियण्टल इंस्टीटचूट बड़ोदरा, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान उदयपुर शाखा तथा हिन्दू विश्वविद्यालय की सूचियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। वहाँ ऊपर दी गई संख्याओं के आधार पर इन मातृकाओं का विशेष परिचय प्राप्त किया जा सकता है। भारत के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थालय में इन दोनों ग्रन्थों के एक-दो हस्तलेख अवश्य मिल जाते हैं। हमें खेद है कि न तो हम उनका परिचय प्राप्त कर सके और न उनका उपयोग ही कर सके।

प्रस्तुत संस्करण

उपर्युक्त तीनों संस्करण प्रधानतः क. (शांकरमठ) मातृका पर आधारित हैं, जबकि प्रस्तुत संस्करण में ख. और झ. मातृकाओं के आधार पर पाठों को संशोधित किया गया है। जैसे कि यहाँ कामकलाविलास के उद्धरण को छोड़कर अन्यत्र सभी जगह 'अस्मद्-गुरूक्त' के स्थान पर 'अस्मदुक्त' पाठ रखा गया है, क्योंकि ये सभी वचन अमृतानन्द द्वारा रचित ग्रन्थों के हैं। प्रथम संस्करण के स्वरूप को अधिक से अधिक बनाये रखने के लिये क. मातृका के पाठ में कोई त्रुटि न रहने पर उसी को मूल में रखा गया है और अन्य अनेक मातृकाओं से संवादित पाठ भी टिप्पणो में ही दिया गया है। क. मातृका में कहीं-कहीं अधिक पाठ मिलता है। अन्य किसी भी मातृका में उसके न मिलने पर उसको छोटे अक्षरों में कोष्ठक के अन्दर दिखाया गया है। कहीं-कहीं यह हटा भी दिया गया है। जैसे कि २.५६ की व्याख्या में चार श्लोकों के स्थान पर केवल एक ही श्लोक रखा गया है। चक्रसंकेत की पुष्पिका में आया 'वामकेश्वरतन्त्र' पाठ भी हटा दिया गया है, क्योंकि यह पृ० १०६ की व्याख्या के विपरीत पड़ता है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। इसी तरह से २.६० की टीका के अंश को मूल टीकाग्रन्थ में रहने दिया है, किन्तु वहाँ आये 'याकिनी' पद को हटा दिया गया है। इसके लिये पृ० १९० की टिप्पणी अवलोकनीय है। यहाँ ३.३२ के स्थान पर ३.३० पढ़ना चाहिये। नि० षो० (३।१९-२०) में भी छः ही योगिनियाँ वर्णित हैं। इसी तरह की समस्याओं के समाधान के लिये यहाँ स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ दी गई हैं। जैसे कि अष्टधा अनाहत नाद की नवनादपरक व्याख्या के लिये पृ० १२३ और १९३ की पहली टिप्पणी देखी जा सकती है।

ख. मातृका के पाठ को ही अधिकांश मातृकाओं का समर्थन मिलता है और इनकी बची त्रुटियों का संशोधन झ. मातृका से हो जाता है। इस तरह से हम कह सकते हैं कि

प्रस्तुत संस्करण प्रधानतः इन दो मातृकाओं के आधार पर संशोधित है। इस विषय की चर्चा हम पृ० २२४ की टिप्पणी में भी कर चुके हैं। बड़ोदरा और उदयपुर की मातृकाओं का अलग-अलग उल्लेख नहीं किया जा सका है। क. मातृका से इनकी कहाँ कहाँ असहमति है, केवल इतना ही यहाँ दिखाया गया है। समय की कमी के कारण बड़ोदरा की तीन मातृकाओं का उपयोग तो मात्र कुछ संदिग्ध स्थलों के संशोधन में किया गया है।

दीपिका के सभी हस्तलेखों में योगिनीहृदय के श्लोकों के केवल प्रतीक को न देकर पूरा व्याख्येय अंश उद्धृत कर अन्त में 'इति' पद जोड़ा गया है। इस संस्करण में श्लोकों के उसी क्रम को और उतने ही अंश को दिया गया है और टीका के 'इति' पद को हटा दिया गया है। दीपिका में उद्धृत वचनों का स्थलनिर्देश करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। तब भी कुछ वचनों के मूल स्थानों को खोजने में हम असफल रहे हैं।

परापंचाशिका की मातृकाएँ

दीपिका और कामकलाविलास की 'चिद्वल्ली टीका में परापंचाशिका के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। यह कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक १३ में अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका के नाम से छप चुकी है, किन्तु वह संस्करण त्रुटिपूर्ण है। इसकी एक मातृका हमें सरस्वती भवन में मिली। सन् ६८ की अपनी अध्ययन यात्रा के प्रसंग में मद्रास स्थित अड्यार पुस्तकालय की इसकी चार मातृकाओं से हमने पाठ-संकलन किया था। लखनऊ की अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् में भी इसकी एक मातृका मिली। सन् १९८५ में हमने भगवान् आशुतोष शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों की यात्रा पूरी की। उसी वर्ष जुलाई मास में मैसूर से प्रकाशित हो रहे संस्कृत दैनिक 'सुधर्मा' द्वारा आयोजित पत्रकार-गोष्ठी में 'गाण्डीवम्' के प्रतिनिधि के रूप में संमिलित होने के लिये की गई यात्रा के प्रसंग में मैसूर में भी इसकी एक मातृका मिली। इन सातों हस्तलेखों से पाठ संकलित किया हुआ था। प्रस्तुत संस्करण के मुद्रण के समय २५वें फर्मे के छः पृष्ठों को बचा हुआ देखकर इसके भी परिष्कृत संस्करण को यहाँ दे देने की इच्छा हुई और इस तरह से योगिनीहृदय और दीपिका के साथ परापञ्चाशिका का भी परिष्कृत संस्करण विज्ञ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हो सका है। इसके संशोधन में प्रयुक्त मातृकाओं का परिचय इस प्रकार है—

अड्यार पुस्तकालय, मद्रास

अक.	टी, आर ८४६	तेलुगु लिपि
अख.	६६५३४	,,

१. चिद्वल्ली के पृ. ५–६ में उद्धृत श्लोक परापंचाशिका के न होकर अभिनवगुप्त की बोधपंचदशिका (श्लो. २–७) के हैं।

अग.	६७४५५	तेलुगु लिपि
अघ.	६७५९७	,,

सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी

स	२३४६२	पत्र १–३	देवनागरी

स्तोत्रविषयक सूची में चिद्विलासस्तव के साथ

अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ

ल	१२८	पत्र ५७–६५	देवनागरी

प्राच्य विद्या संशोधनालय, मैसूर

म	७९८२/४९	पत्र २४७–२४९	नन्दीनागरी

मु० मुद्रित पुस्तक, कश्मीर ग्रन्थावलि, श्रीनगर

परापंचाशिका का परिचय

परापंचाशिका के विषय में पृ० ८२ पर हमने एक टिप्पणी दी है। सौभाग्य से इसी संस्करण (३९५–४००) में इसका परिष्कृत संस्करण प्रकाशित किया जा सका है। परापंचाशिका के १८–२५ श्लोक शिवपुराण की कैलाशसंहिता के १६।७०–८४ श्लोकों से बहुत मिलते-जुलते हैं। हम अन्यत्र[1] बता चुके हैं कि शिवपुराण में शिवसूत्र (६।१६।४४ तथा ४६), शिवसूत्रवार्तिक (६।१६।४६) तथा विरूपाक्षपंचाशिका (६।१९।४४) उद्धृत हैं। दो स्थलों पर (३।४।११, ३।१२।१८) पुष्पदन्त रचित शिवमहिम्नस्तोत्र भी उद्धृत हुआ है। यह ध्यान देने की बात है कि परापंचाशिका से संबद्ध सामग्री भी उसी अध्याय में है, जिसमें कि शिवसूत्र और शिवसूत्रवार्तिक उद्धृत हैं। परापंचाशिका के १५ से १८ तक के श्लोकों की छः पंक्तियों की तुलना ३८–४० श्लोकों की तुलना परात्रिंशिका के ६–९ श्लोकों से भी की जा सकती है। इसी तरह से ३२–३७ श्लोकों की विषय-प्रतिपादन प्रक्रिया अभिनवगुप्त के तन्त्रसार (पृ० १२–१५) में वर्णित प्रक्रिया से मिलती-जुलती है। इतना सब होते हुए भी यह छोटा-सा ग्रन्थ अपने आप में परिपूर्ण है। दीपिका (पृ० ३३३) में उद्धृत वचन इसका मंगल श्लोक लगता है, किन्तु उपलब्ध मातृकाओं में से किसी में भी यह नहीं मिलता।

यहाँ प्रारम्भ में प्रकाश और विमर्शस्वरूप शिव और शक्ति की तथा उनसे जगत् की भी अभिन्नता युक्तियों के सहारे सिद्ध की गई है। यहाँ बताया गया है कि भेद और जड़ता ये दोनों अतात्त्विक हैं। वह सारा जगत् चिदेकमात्रसार है। प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे सूर्य को प्रकाशित करने के लिये दीपक की आवश्यकता नहीं

१. तन्त्रयात्रा में प्रकाशित "शिवपुराणीयं दर्शनम्" शीर्षक निबन्ध (पृ. ५०–५१) देखिये।

पड़ती, उसी तरह से इस प्रकाश की भी सत्ता और स्फुरत्ता को प्रकाशित करने के लिये किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। निर्मल दर्पण में जैसे प्रतिबिम्ब प्रकाशित होता है, उसी तरह से यह सारा विश्व इसी प्रकाशरूपी दर्पण में प्रतिभासित होता है।

इस भूमिका-बन्ध के साथ यहाँ पहले आदि-क्षान्त वर्णमाला की तथा शिवादि-क्षित्यन्त तत्त्वों की सृष्टि का क्रम वर्णित है। इसके बाद यहाँ अनुत्तर से विसर्ग पर्यन्त स्वरों की सृष्टि का क्रम बता कर स्वरों की 'बीज' तथा व्यंजनों की 'योनि' संज्ञा दी गई है। यहाँ बताया गया है कि वट के बीज में जैसे हरा-भरा विशाल वृक्ष छिपा हुआ है, उसी तरह से शृंगाट स्थित (अकार-हकार सामरस्यमय) बिन्दु में यह वर्ण और तत्त्वात्मक, शब्दमय और अर्थमय सारा संसार छिपा हुआ है। इसी से उसका उद्भव होता है और इसी में वह लीन भी हो जाता है। अन्त में यहाँ लय की प्रक्रिया को बताते हुए कहा गया है कि इदन्ता को अहन्ता में विलीन कर देने वाला वीर साधक ही अशिव का नाश करने वाले शिवपद को प्राप्त कर पाता है।

इस श्लोक को (अहमि प्रलयं कुर्वन्) दीपिकाकार ने तीन बार उद्धृत किया है। ल० मातृका परापंचाशिका को रुद्रयामल का अंश मानती है। विज्ञानभैरव को रुद्रयामलसार कहा जाता है। परात्रिंशिका और उत्तरषट्क को भी रुद्रयामल का ही सार या भाग माना गया है। रुद्रयामल की विशिष्टता की [2]हमने कई बार चर्चा की है। [3]डॉ० तून गान्द्रियान ने भी इस ग्रन्थ के विषय में अनेक सूचनाएँ दी हैं। इस ग्रन्थ के भी परिष्कृत संस्करण की अतीव आवश्यकता है। तभी परात्रिंशिका, विज्ञानभैरव, उत्तरषट्क, नित्याषोडशिकार्णव जैसे प्राचीन ग्रन्थों का सही रूप में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकेगा।

श्रीकुल (त्रिपुरा सम्प्रदाय) का साहित्य

योगिनीहृदय और उसकी टीका दीपिका के कर्ता अमृतानन्द के विषय में [4]हम बहुत कुछ लिख चुके हैं। दीपिका में उद्धृत ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के विषय में भी प्रसंगतः नित्याषोडशिकार्णव और लुप्तागमसंग्रह के उपोद्घात में लिखा जा चुका है। इधर

१. "सत्तावाचिनि बीजेऽस्मिन् सादिमायान्तिमं जगत्" (श्लो. ४४) यह पाठ मूल में रहना चाहिये। तन्त्रालोक में यही पाठ है—"तद्वत् सानुत्तरादीनां कादिसान्ततया स्थितिः" (३।१४९)। माया शब्द से ककार का ग्रहण किया जाता है, इसकी चर्चा हम पृ. ३२८ की टिप्पणी में कर चुके हैं।
२. देखिये—विज्ञानभैरव उपोद्घात पृ. १ टि., नि. षो. उपोद्घात, पृ. ४४–४५
३. हिन्दू तान्त्रिक लिटरेचर इन संस्कृत, पृ. ४० टि., ४७, ७८ टि.।
४. द्रष्टव्य—तन्त्रयात्रा, पृ. ३५–४०, आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ७६–८८

नीदरलैण्ड के तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० तून गान्द्रियान और डॉ० संयुक्ता गुप्ता के संयुक्त प्रयास से "हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर" नामक ग्रन्थ निकला है। इसके तीसरे अध्याय (पृ० ५७-७४) में श्रीकुल शीर्षक के अन्तर्गत त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। अतः यहाँ हम बहुत संक्षेप में कुछ नई बातों की ही चर्चा करेंगे।

[1]श्रीकुल और [2]कालीकुल नाम के ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है और सम्प्रदाय-विशेष के लिये भी ये शब्द प्रयुक्त हैं। हमारे एक मित्र का कहना है कि श्रीकुल [3]पश्चिमाम्नाय से संबद्ध है, अतः त्रिपुरा सम्प्रदाय के लिये इसका प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि यह दक्षिणाम्नाय से संबद्ध है। विद्यानन्द और अमृतानन्द कहते हैं कि श्रीविद्या [4]चारों आम्नायों से संबद्ध है, तो भी दक्षिण आम्नाय के प्रति इसका विशेष अनुराग है। चूंकि श्रीविद्या चारों आम्नायों से संबद्ध है, अतः श्रीकुल शीर्षक के अन्तर्गत त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों का परिचय देना हमारी दृष्टि में अनुचित नहीं है। आगे हम गुजराती भाषा में लिखित "शाक्त साहित्य" नामक ग्रन्थ को चर्चा करेंगे। वहाँ भी श्रीकुल और कालीकुल विभाग के अन्तर्गत ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। तन्त्रशास्त्र के फ्रांसीसी विद्वान् डॉ० आन्द्रे पादु के इस कथन को हम सही मानते हैं कि शाक्त साहित्य के स्रोतस्, आम्नाय, मत आदि विभाग [5]अस्पष्ट हैं। इस सम्प्रदाय के प्राचीन साहित्य के, जो बहुत कुछ अप्रकाशित है, सामने आने पर ही इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है।

लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ० ११) में हमने अनेक नित्या-तन्त्रों के नाम दिये हैं और यथास्थान इनका परिचय भी दिया है। इनमें से अनेक ग्रन्थों को अमृतानन्द ने उद्धृत किया है। नि० षो० उपोद्घात (पृ० ३१-४९) में इनका परिचय दिया जा चुका है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है उत्तरषट्क। इसको रुद्रयामल का अंश

१. द्रष्टव्य—परमार्थसार की योगराजकृत विवृति, पृ. १८६
२. लुप्तागमसंग्रह द्वितीय भाग, उपोद्घात, पृ. २६ द्रष्टव्य।
३. श्रीकुल, श्रीक्रमकुल, श्रीकुलक्रम, श्रीक्रम आदि नामों में अभिहित होने वाला सम्प्रदाय पश्चिमशासन अथवा पश्चिमाम्नाय से संबद्ध है, इसकी सूचना आदिनाथ कृत कुलरत्नोद्योत से मिलती है। कालीकुल उत्तराम्नाय से संबद्ध है। इस विषय में विशेष विचार अपेक्षित है।
४. "इयं च विद्या चतुराम्नायसाधारण्यपि दक्षिणपक्षपातिनी" (अर्थरत्नावली, पृ. ४१), "दक्षिणस्रोतःपक्षपातिन्याः सौभाग्यदेवतायाः" (दीपिका, पृ. १३३–१३४)।
५. श्री गोपालचन्द्र सिंह स्मृत्यंक, ऋतम्, अखिल भारतीय संस्कृत परिषत् पत्रिका, भा. १६–१८, सन् १९८४–८६, पृ. १५१

माना गया है। रुद्रयामल के ही समान उसका यह अंश भी नि० षो० से प्राचीन हो सकता है। त्रिपुरासारसमुच्चय नागभट्ट की विशिष्ट रचना है। इसमें (२।२५) त्रिपुरार्णव का प्रमाणा दिया गया है। संभवतः त्रिपुरार्णव की मातृका सरस्वती भवन में विद्यमान है। आजकल उसके बन्द रहने से इस विषय में हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। विद्यानन्द की ज्ञानदीपविमर्शिनी में उदयाकरपद्धति और त्रिपुरसुन्दरीकल्पलता विशेष रूप से उद्धृत हैं। ऋजुविमर्शिनी में भी यह इसी नाम से उद्धृत है और अर्थरत्नावली में इसको महात्रिपुरसुन्दरीकल्पलता के नाम से याद किया गया है। ज्ञानदीपविमर्शिनी की [1]नेपाल मातृका में इसको अनन्तभट्टारक की कृति माना है। यहाँ का श्लोक [2]बड़ोदरा मातृका में अनन्तशक्तिभट्टारक का कहा गया है। दीपिका (२।९६) में उद्धृत 'कस्तूरीघुसृण' इत्यादि वचन उदयाकरपद्धति का है। संकेतपद्धति के महत्त्व के विषय में हम [3]अन्यत्र लिख चुके हैं। [4]लघुस्तव ही नहीं, पूरी पञ्चस्तवी घर्माचार्य की रचना है और त्रिपुरसुन्दरीदण्डक के रचयिता दीपकाचार्य को [5]जयरथ नि० षो० का प्रथम टीकाकार मानते है। प्रपंचसार में सामान्य तान्त्रिक विषयों का वर्णन करने के बाद पंचायतन पूजा का आरंभ करते हुए सर्वप्रथम नवम पटल में त्रिपुरा पूजा की विधि बतायी गई है। हंसपारमेश्वर एवं रससारसंग्रह में भी त्रिपुरा सम्प्रदाय में संबद्ध विषय वर्णित हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय के अन्य प्राचीन आचार्यों के विषय में भी [6]हम लिख चुके हैं। श्रीकुल (त्रिपुरा सम्प्रदाय) के साहित्य का परिचय देते समय इन सबकी चर्चा अपेक्षित हैं, क्योंकि समय-समय पर प्रादुर्भूत अन्य अनेक आगमों की अपेक्षा इस सम्प्रदाय के प्राचीन स्वरूप और विशेषताओं को समझने के लिये इन ग्रन्थों का अपना महत्त्व है।

डॉ० कान्तिचन्द्र[7] पाण्डेय ने कौल तन्त्रों की चर्चा के प्रसंग में कुछ नित्या-तन्त्रों की भी चर्चा की है। वहाँ उन्होंने [8]ज्ञानार्णव को नित्याषोडशिकार्णव से प्राचीन माना है।

---

१. द्रष्टव्य—मातृका संख्या ५–४९०४, पत्र ४७ क।
२. द्रष्टव्य—मातृका संख्या १९६१, पत्र ३८ क।
३. नित्याषोडशिकार्णव, उपोद्घात, पृ. ४६–४७
४. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ८६–८७, तन्त्रयात्रा, पृ. ७४
५. "आ श्रीदीपकनाथतो ह्यगणितैरद्यापि वृत्तिः कृता" (वामकेश्वरीमतविवरण, पृ. ११५)।
६. तन्त्रयात्रा में प्रकाशित "त्रिपुरादर्शनस्यापरिचिता आचार्याः कृतयश्च" शीर्षक निबन्ध देखिये (पृ. ७२-७५)।
७. अभिनवगुप्त एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी, पृ. ५६५–५९०, द्वितीय संस्करण, सन् १९६३ देखिये।
८. वहीं, पृ. ५६५–५६७ देखिये।

यह उचित नहीं है। डॉ० [1]तून गान्द्रियान ने इसको सही जगह पर रखा है। नि० षो० के टीकाकारों में [2]उन्होंने लक्ष्मण, गौरीकान्त, शंकरानन्दनाथ, श्रीहर्ष दीक्षित आदि के नाम भी गिनाये हैं। यह भी ठीक नहीं है। लक्ष्मण (लक्ष्मीधर) और गौरीकान्त सौन्दर्यलहरी के और श्रीहर्ष दीक्षित शारदातिलक के टीकाकार हैं, नि० षो० के नहीं। शंकरानन्दनाथ पद्धतिकार हैं। ये ज्ञानार्णव तन्त्र के व्याख्याकार हैं, इस [3]उक्ति की भी परीक्षा करनी होगी। डॉ० गान्द्रियान (पृ० १५२) ने बताया है कि इन्होंने अपनी पद्धति ज्ञानार्णव तन्त्र को आधार मानकर लिखी। वामकेश्वर तन्त्र के प्राचीन व्याख्याता दीपकनाथ हैं, दीपिकानाथ नहीं।

योगिनीहृदय और वामकेश्वर तन्त्र

डॉ० आन्द्रे पादु का "वामकेश्वरतन्त्रान्तर्गतं योगिनीहृदयम्"[4] शीर्षक निबन्ध अभी प्रकाशित हुआ है। जैसा कि शीर्षक से ही ज्ञात होता है, विद्वान् लेखक ने यहाँ यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि नित्याषोडशिकार्णव की तरह योगिनीहृदय भी वामकेश्वर तन्त्र का ही एक भाग है। इसमें उन्होंने दो प्रमुख प्रमाण दिये हैं। पहला शिवानन्द का "मध्ये शास्त्रस्य तस्याऽस्ति नित्याषोडशिकार्णवः" (पृ० ३) यह श्लोक तथा दूसरा योगिनीहृदय के दूसरे संस्करण के प्रथम पटल के अन्त की पुष्पिका का यह वाक्य—"वामकेश्वरतन्त्रयोगिनीहृदयदीपिकायाम्" (पृ. ८९)। यह पाठ उसी संस्करण की ख. मातृका को मान्य नहीं है, तथा अन्य सभी मातृकाएँ ख. मातृका का ही अनुसरण करती हैं। क. मातृका में भी केवल प्रथम पटल की पुष्पिका में यह मिलता है, अतः प्रस्तुत संस्करण में इस पाठ को मान्यता नहीं दी गई है। अमृतानन्द स्वयं एक जगह लिखते हैं—"वामकेश्वरशास्त्र एवासामुद्धारः, अत्र त्वज्ञातार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य शास्त्रस्येति" (पृ० १०६)। इस वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वामकेश्वर शास्त्र (तन्त्र) से योगिनीहृदय को भिन्न मानते हैं। वामकेश्वर शास्त्र से उनका अभिप्राय चतुःशती शास्त्र (नित्याषोडशिकार्णव) से है। यह विषय उनके ही एक अन्य उद्धरण से भी स्पष्ट हो जाता है—"नन्वयं कौलिकार्थो वामकेश्वरतन्त्रे कुत्र सूचितः ?.....गणेश (नि० षो० १।१) इत्यत्र सूचितं कौलिकार्थं विवृणोति" (२।५७)। स्पष्ट है कि अमृतानन्द की दृष्टि में नित्याषोडशिकार्णव और योगिनीहृदय दो भिन्न शास्त्र हैं।

---

१. हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर, पृ. ६७
२. अभिनवगुप्त, पृ. ५७० देखिये।
३. वहीं, पृ. ५६७ देखिये।
४. ऊपर निर्दिष्ट पत्रिका का विशेषांक (पृ. २५१–२५७) द्रष्टव्य।

शिवानन्द इस शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में करते हैं। कादिमत (तन्त्रराज)[1] में ९ नित्यातन्त्रों का उल्लेख किया गया है और उसके टीकाकार [2]सुभगानन्दनाथ ने अपनी टीका में इनके नाम दिये हैं। इन ९ नित्यातन्त्रों में सुन्दरीहृदय (योगिनीहृदय) भी एक है। हम समझते हैं कि इन अथवा इनसे भी प्राचीन त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों का समावेश वामकेश्वर शास्त्र के नाम से किया जाता होगा, जिनके कि बीच में नित्याषोडशिकार्णव की विशेष स्थिति मानी जाती होगी।

बहुरूपाष्टक की गणना ६४ तन्त्रों में की गई है और विद्यानन्द का कहना है कि चतुःशती शास्त्र (नि० षो०) [3]बहुरूपाष्टक शास्त्र का संक्षेप है। बहुरूपाष्टक के विषय में अभी हम नि० षो० उपोद्घात (पृ० २५) में दिये गये विवरण से अधिक कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। फलतः नि० षो० और यो० हृ० की भिन्नता ही माननी पड़ेगी। शिवानन्द के प्रमाण से वामकेश्वर शास्त्र के अन्तर्गत इन दोनों की स्थिति मान सकते हैं, किन्तु उस स्थिति में प्रश्न उठेगा कि नि० षो० से पहले के वामकेश्वर शास्त्र के उस भाग का नाम क्या है? इस विषय को अभी हमें अनिर्णीत ही छोड़ना पड़ेगा।

योगिनीहृदय की टीकाएँ

योगिनीहृदय की दो टीकाओं से हम सभी परिचित हैं। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित हुए योगिनीहृदय के द्वितीय तथा तृतीय संस्करण में इन दोनों टीकाओं का समावेश किया गया है। इनमें से पहली का नाम दीपिका तथा दूसरी का सेतुबन्ध है। दीपिकाकार (पृ० ३) का कहना है कि उनकी टीका से पहले इस पर कोई टीका नहीं लिखी गई थी। भास्करराय ने नित्याषोडशिकार्णव और योगिनीहृदय को एक ही ग्रन्थ मानकर आठ पटलों वाले नित्याषोडाशिकार्णव पर सेतुबन्ध व्याख्या लिखी। उनके कथन के अनुसार इस पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गई थी (पृ० ८)। यह सही है कि पाँच पटल वाले नित्याषोडशिकार्णव पर अनेक व्याख्याएँ लिखी गईं, किन्तु योगिनीहृदय पर किसी प्राचीन टीका की उपलब्धि की सूचना हमें अभी तक नहीं मिली है।

इन दो टीकाओं के अतिरिक्त तीसरी टीका इस ग्रन्थ पर काशीनाथ भट्ट की है। एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता की ६१४४ संख्या की मातृका का नाम चक्रसंकेतचन्द्रिका है। डॉ० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने "जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी

१. "नित्यानां षोडशानां च नव तन्त्राणि कृत्स्नशः" (१.२)।

२. "नवतन्त्राणि सुन्दरीहृदय-नित्याषोडशिकार्णव-चन्द्रज्ञान-मातृकातन्त्र-संमोहनतन्त्र-वामकेश्वर-बहुरूपाष्टक-प्रस्तारचिन्तामणि-मेरुप्रस्ताराख्यानि" (मनोरमाव्याख्या, पृ. २)।

३. "बहुरूपाष्टकं शास्त्रं संक्षिप्य चतुश्शतीसंख्यापरिमितैर्ग्रन्थैस्ततसारमुद्धर्तुकाम...." (अर्थरत्नावली, पृ. ४)।

आफ बंगाल" (लेटर्स) के भा. ४, अ. ३, सन् १९३८ पृ. ४५५-४६५ पर छपे अपने "काशीनाथ भट्ट एण्ड हिज वर्क्स" शीर्षक निबन्ध में इसका परिचय दिया है। वे कहते हैं कि इसमें योगिनीहृदय के कुछ चुने हुए श्लोकों की व्याख्या की गई है और यह अमृतानन्द की दीपिका व्याख्या का अनुसरण करती है। [1]डॉ० तून गान्द्रियान ने भी यही बात कही है।

मूल और टीका में स्मृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार

नि० षो० (पृ० ९९, २५३–२५४) में रुद्रयामल उद्धृत है, किन्तु यो० हृ० में उसका कोई उल्लेख नहीं है। यहाँ महाज्ञानार्णव (२१७७) और विद्यापीठनिबन्ध (२१७८) की चर्चा है। भास्करराय महाज्ञानार्णव को तन्त्रशास्त्र का ग्रन्थ मानते हैं, जब कि अमृतानन्द इस शब्द की यौगिक व्याख्या कर देते हैं। "तान्त्रिक साहित्य" अथवा आफ्रेक्ट की सूची में इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु वामकेश्वरीमत के विवरणकार जयरथ महाज्ञानार्णव को षड्विध मन्त्रार्थ के प्रसंग में (पृ० १३९) उद्धृत करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि महाज्ञानार्णव एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और इसके आधार पर ही योगिनीहृदय में यह विषय प्रतिपादित है। बहुत संभावना है कि महाज्ञानार्णव के समान ही विद्यापीठ सम्बन्धी तन्त्रों में भी षड्विध अर्थ का प्रतिपादन हो। 'विद्यापीठ-निबन्ध' पद का भी अमृतानन्द ने यौगिक अर्थ ही किया है, जब कि भास्करराय विद्यापीठ का काशी, काश्मीर आदि पीठ तथा निबन्ध का 'ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ' अर्थ करते हैं। तन्त्रों के पीठ विभाग की चर्चा हम नि० षो० उपो० (पृ० ५६–५७) में कर चुके हैं। ब्रह्मयामल के प्रमाण से डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने [2]योगिनीहृदय आदि को विद्यापीठ से संबद्ध तन्त्र कहा है। विद्या, मन्त्र, मुद्रा और मण्डल के प्रतिपादक भिन्न-भिन्न तन्त्रों की स्थिति उसी प्रकार की होनी चाहिये, जैसे कि बौद्ध तन्त्रों में क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर तन्त्रों की अलग-अलग उपलब्धि होती है। क्षेमराज ने [3]स्वच्छदतन्त्र को चतुष्पीठ महातन्त्र कहा है। इससे ऐसा लगता है कि इन विषयों के स्वतन्त्र तन्त्र-ग्रन्थों के ही समान सिद्धान्त शैवागमों की पद्धति पर सभी विषयों का एक साथ वर्णन करने वाले तन्त्र-ग्रन्थ भी आविर्भूत होने लगे थे। विद्यापीठ से संबद्ध तन्त्रों अथवा निबन्ध ग्रन्थों में महातत्त्वार्थ आदि विषय प्रतिपादित हुए होंगे। यहाँ (२१८५) विद्यार्णागम शब्द प्रयुक्त हुआ है। हमारी दृष्टि में यहाँ भी विद्यापीठ सम्बन्धी आगम ग्रन्थों का उल्लेख है।

१. हिन्दू तान्त्रिक लिटरेचर इन संस्कृत, पृ. ६२ की १७ संख्या की टिप्पणी देखिये।

२. स्टडीज इन दी तन्त्राज, पृ. १०४–१०५

३. "चतुष्पीठं महातन्त्रम्" (स्व. त. १.५) की व्याख्या देखिये।

अभियुक्तवचन के अन्तर्गत दीपिका में शिवानन्द के सुभगोदय, सुभगोदयवासना और सौभाग्यहृदय स्तोत्र[1] के वचन, प्रपंचसार, भट्ट गंगाधर, कुलार्णव, अम्बास्तव, काव्यप्रकाश, परापंचाशिका, भास्कररायसंमत नित्याषोडशिकार्णव तथा उदयाकरपद्धति के वचन उद्धृत हैं। भास्करराय नि० षो० के पंचम पटल के अन्त में कुछ अधिक श्लोकों का सन्निवेश कर उनकी व्याख्या करते हैं। ऐसे स्थलों पर हमने टिप्पणियाँ दी हैं। इन वचनों की ही तरह अमृतानन्द कुलार्णव और परापंचाशिका के वचनों को भी अभियुक्त वचन मानते हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने इन वचनों को कुलार्णव तन्त्र से न लेकर किसी अभियुक्त द्वारा रचित ग्रन्थ से लिया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि परापंचाशिका के कर्ता आद्यनाथ कोई व्यक्ति है, शिव नहीं। परापंचाशिका का यहाँ (पृ. ३३२) उद्धृत एक श्लोक परापंचाशिका की किसी भी मातृका में नहीं मिलता।

अस्मदुक्त शब्द से अमृतानन्द ने अपने ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय, चिद्विलासस्तव और तत्त्वविमर्शिनी को उद्धृत किया है। आगमशास्त्र और चतुःशतीशास्त्र के नाम से यहाँ नित्याषोडशिकार्णव उद्धृत है। आगमान्तर से दीपिकाकार एक जगह (पृ० ३२९) शारदातिलक का ग्रहण करते हैं। अन्यत्र वे किस आगम को लेते हैं, इसका पता नहीं चलता। तन्त्रान्तर के नाम से उन्होंने कुसुमांजलिकारिका, न्यायभाष्य, दशरूपक, ब्रह्मसिद्धि, शारदातिलक, व्याकरणशास्त्र तथा सर्वमङ्गलाशास्त्र के वचनों को उद्धृत किया है। न्यायभाष्य का वचन यहाँ चार बार उद्धृत है। पृ० ३३२ का उद्धरण कुछ लम्बा है और इसका आगे वाला अंश वहाँ उपलब्ध नहीं है। शारदातिलक के दो वचन यहाँ उद्धृत हैं। इससे ज्ञात होता है कि शारदातिलक की रचना अमृतानन्द से पहले हो चुकी थी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अमृतानन्द शारदातिलक को आगमान्तर अथवा तन्त्रान्तर के नाम से उद्धृत करते हैं, अतः वह श्रीशास्त्र का ग्रन्थ नहीं हो सकता, जैसा कि [2]कुछ लोगों का मानना है। निघण्टु के नाम से दो वचन अमरकोश के हैं। बाकी एक वचन किस कोश का है, हम पता नहीं पा सके। कुछ अन्य उद्धरणों के भी मूलस्थान को खोज पाने में हम असफल रहे हैं।

प्रमाणवचन कहाँ के हैं, इसका भी हम पता नहीं चला सके, किन्तु प्रामाणिकवचन के अन्तर्गत शिवानन्द का सौभाग्यहृदयस्तोत्र, स्तोत्रावली, भास्कररायसंमत नित्याषोडशिकार्णव, कुलार्णव और ज्ञानकारिका ? के श्लोक उद्धृत हैं। स्तोत्रावली का वचन भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली में उपलब्ध नहीं हुआ। भास्कररायसंमत नि० षो० तथा कुलार्णव के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। हमारा अनुमान है कि ये वचन

१. शिवानन्द के इन तीन ग्रन्थों पर किये गये शोध कार्य पर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से दिल्ली की डॉ० मधु खन्ना को अभी डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त हुई है।

२. लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, उपोद्घात, पृ. ४६ की टिप्पणी देखिये।

संकेतपद्धति के हो सकते हैं। यह विषय भी टिप्पणियों में अंकित किया गया है। [1]ज्ञानकारिका डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची के कौलज्ञाननिर्णय के संस्करण में समाविष्ट है। वेदरहस्य के नाम से उपनिषद् के वचन उद्धृत हैं और महाकवि के नाम से कालिदास के रघुवंश और कुमारसंभव के।

त्रिपुरा सम्प्रदाय की प्रवृत्ति

त्रिपुरा सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के विषय में शिवानन्द का कहना है कि पहले इसकी उत्पत्ति [2]कश्मीर में हुई, किन्तु कश्मीरी विद्वान् जयरथ[3] कहते हैं कि ईश्वरशिव और विश्वावर्त प्रथमतः इस सिद्धान्त को कश्मीर ले आये। [4]हम बता चुके हैं कि लघुस्तव(स्तुति) के रचयिता धर्माचार्य भृगुकच्छ के निवासी थे और (त्रिपुरीसुन्दरी)-दण्डक[5] के कर्ता दीपकनाथ के प्रभाव को राजा भोज ने देखा था। जयरथ [6]दीपकनाथ को नि० षो० का प्रथम व्याख्याकार मानते हैं। हमारा विचार है कि गुजरात और मध्यप्रदेश से यह सम्प्रदाय कश्मीर में पहुँचा और फिर वहाँ से दक्षिण देश में। हम देखते हैं कि दक्षिण देश के निवासी गुरुनाथपरामर्श के रचयिता मधुराज योगी अभिनवगुप्त के जीवनकाल में ही कश्मीर पहुँचे थे। वे वहाँ से अर्जित ज्ञान को दक्षिण में ले गये और बाद में दक्षिण में इस ज्ञान का विस्तार हुआ। दक्षिण के शिवानन्द आदि आचार्य अपने को धर्माचार्य, दीपकनाथ आदि सिद्धों की परम्परा से प्राप्त ज्ञान, जो कि ओघ या ओवल्ली के नाम से जाना जाता है, उत्तराधिकारी मानते हैं। लगता है यह परम्परा उनको कश्मीर से प्राप्त हुई। इसीलिये वे इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति कश्मीर में मानते हैं। पुण्यानन्द और अमृतानन्द भी शिवानन्द, विद्यानन्द आदि की परम्परा में आते हैं। अतः इनकी स्थिति दक्षिण देश में ही माननी चाहिये, कश्मीर में नहीं। पुण्यानन्द और अमृतानन्द को कश्मीरी मानने की मान्यता का पुनरीक्षण अपेक्षित है।

आज अद्वैतवादी शैवदर्शन को कश्मीर से तथा द्वैतवादी शैवदर्शन को दक्षिण से जोड़ने की प्रवृत्ति काम कर रही है। यह सही है कि अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के

१. दीपिका (पृ. ३२३) में उद्धृत "पिण्डे मुक्ताः" आदि श्लोक ज्ञानकारिका (१।४–५) का बताया गया है, किन्तु यह वहाँ उपलब्ध नहीं है।

२. "सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भूतत्वात्" (ऋजुविमर्शिनी, पृ. ११४)।

३. "वस्तुतो ह्यस्य दर्शनस्यैतदेवाचार्यद्वयं कश्मीरेष्ववतारकम्" (वाम. विव., पृ. ४८)।

४. द्रष्टव्य—आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. ८६–८७

५. "भोजदेवदृष्टचमत्कारो महादेशिकप्रवरः श्रीमान् दीपकाचार्यो दण्डककर्ता" (ऋजु. पृ. २२३)।

६. पृ० ८ की पांचवीं टिप्पणी देखिये।

विकास में सर्वाधिक योगदान कश्मीर का तथा द्वैतवादी शैवदर्शन के संरक्षण और संवर्धन में दक्षिण का रहा है, किन्तु यह प्रक्रिया एकान्ततः वहीं तक सीमित नहीं रही और कालक्रम से इसका संबन्ध अन्य प्रदेशों से भी रहा है। हम कह सकते हैं कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रथमतः विकास कश्मीर में हुआ और फिर वह पूरे देश में फैल गया। इसी तरह से द्वैतवादी शैवदर्शन का विकास पहले मध्यदेश में हुआ और बाद में यह दक्षिण देश तक सीमित रह गया।

[1]अभिनवगुप्त ने मध्यदेश को सभी शास्त्रों का सदन (घर) बताया है। उसके पूर्वज यहीं से कश्मीर गये थे। द्वैतवादी, द्वैताद्वैतवादी और अद्वैतवादी दर्शनों की प्रवृत्ति उनके अनुसार आमर्दक आदि मठों के माध्यम से हुई। डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी[2] ने अनेक शिलालेखों के प्रमाण से द्वैतवादी शैवाचार्यों की मठीय परम्परा पर पर्याप्त प्रकाश डाला है कि उन्होंने किस प्रकार मध्यदेश में प्रसूत इस ज्ञान का सर्वत्र प्रसार किया। डॉ० वी० एस० पाठक[3] ने त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्तसारावली के वचन को उद्धृत कर यह बताया है कि यात्रा के प्रसंग में आये काँची के राजा राजेन्द्र चोल इनको काशी से अपने साथ ले गये। द्वैतवादी शैवसिद्धान्त के १८ पद्धतिकारों की सूचना देने वाले दो श्लोक[4] उपलब्ध हैं। इनमें प्रारम्भ के कुछ आचार्य कश्मीर के हैं और

---

१. "निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः" (तन्त्रालोक, ३७।३८)।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने॥ (तन्त्रा. ३६।१२)
२. द्रष्टव्य—प्राच्यविद्या निबन्धावली, खण्ड ४ में प्रकाशित "पतंगशंभु का ग्वालियर संग्रहालय शिलालेख" शीर्षक निबन्ध, पृ. १७२–१८२, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, सन् १९७४
३. राजेन्द्रचोल इत्याख्यश्चोलभूपो महीं वसन्।
गङ्गास्नानार्थमागत्य दृष्ट्वा शैवान् वरांस्तदा॥
स्नात्वा प्रतिनिवृत्तः सन् तान् समादाय शैवकान्।
स्वराज्ये स्थापयामास शैवाचार्यवरांस्तदा॥
काञ्चीमध्ये चोलभूमौ सर्वत्रैव प्रविस्तराः।
शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया, पृ. २८ टिप्पणी।
४. उग्रोत्तरज्योतिरथोपसद्यः श्रीरामकण्ठोऽपि च वैद्यकण्ठः।
नारायणश्चापि विभूतिकण्ठः श्रीनीलकण्ठोऽपि च सोमशम्भुः॥
ईशानशम्भुर्हृदयादिना स्याद् विरञ्चिवैराग्यकयुग्मवाच्यौ।
ज्ञानस्त्रिणेत्रो वरुणेश्वरौ ज्ञावित्यादयस्ते स्युरघोरशम्भुः॥
द्रष्टव्य—शैवभूषण।

बाद के आचार्य मध्यदेश के। दक्षिण के आचार्यों का नाम अन्त में है। इससे हमारी यह मान्यता बनती है कि त्रिलोचन शिवाचार्य से दक्षिण भारत के पद्धतिकारों की परम्परा प्रारम्भ हुई और वहाँ द्वैतवादी शैवदर्शन की प्रतिष्ठा हुई।

त्रिपुरा सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के प्रसंग में अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा द्वैतवादी शैवसिद्धान्त की चर्चा हमने इसलिये की कि ज्ञान की इन धाराओं के विकास में पूरे देश का योगदान रहा है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के विषय में यह विशेष रूप से कहा जा सकता है। त्रिपुरा मत के अन्दर विकसित कश्मीर, केरल और गौडीय सम्प्रदाय की चर्चा हम [1]अन्यत्र कर चुके हैं। ये सम्प्रदाय पूरे देश को अपने में समेटे हुए हैं। इस ज्ञान का विकास केवल संस्कृत भाषा में ही नहीं, लौकिक भाषाओं में भी हुआ। "हिन्दू तान्त्रिक एण्ड शाक्त लिटरेचर" नामक ग्रन्थ की चर्चा हम कर चुके हैं। इस ग्रन्थ के दूसरे भाग का शीर्षक है—"तान्त्रिक शाक्त लिटरेचर इन माडर्न इण्डियन लैंग्वेजेज"। इस भाग में बंगला भाषा में रचित शाक्त साहित्य का कुछ विस्तार से तथा मैथिली, राजस्थानी, व्रजभाषा और पंजाबी भाषा में रचित साहित्य का कुछ संक्षेप में वर्णन किया गया है। सौभाग्य से हमें इधर बड़ोदरा संस्कृत महाविद्यालय के प्राध्यापक शास्त्री श्री उदयन हरिशंकर शुक्ल से गुजराती भाषा में लिखी "शाक्त सम्प्रदाय"[2] नामक पुस्तक मिली। इसमें गुजराती भाषा में निबद्ध शाक्त साहित्य पर पूरा एक प्रकरण है (पृ० १११-१४४)। यहाँ नाथ भवान, वल्लभ भट्ट, मीठू, जनी बाई, कवि बाल और नृसिंहाचार्य की जीवनी तथा उनके साहित्य पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इनमें से मीठू [3]हंसविलास के रचयिता हंसमिट्ठु से अभिन्न हैं। "शाक्त सम्प्रदाय" नामक उक्त ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इनमें बौद्ध और जैन धर्म में समाविष्ट शाक्त तत्त्वों की भी अलग अलग प्रकरणों में चर्चा की गई है। बौद्ध धर्म के विषय में लेखक बहुत ही उदारवादी है। उनका कहना है कि आधुनिक हिन्दू धर्म की स्वरूप-रचना में बौद्ध धर्म और तत्त्वज्ञान की बहुत बड़ी देन रही है (पृ० १५६)। बौद्ध और जैन धर्म के प्रति श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज का भी यही दृष्टिकोण रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि बौद्ध और जैन धर्म के साथ हिन्दू धर्म की बात उठाने पर जो विरोध भावना जगती है, वह वैष्णव, शैव या शाक्त सम्प्रदायों की चर्चा करने पर नहीं उठती। इसका कारण यह

---

१. शक्तिसंगम तन्त्र, छिन्नमस्ता चतुर्थ खण्ड, उपोद्घात पृ. ३०–३२, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदरा, सन् १९७८
२. श्री फार्बस गुजराती सभा, बम्बई द्वारा सन् १९३२ में प्रकाशित, श्री नर्मदाशंकर देवशंकर महेता द्वारा लिखित इस ग्रन्थ में शाक्त सम्प्रदाय के सिद्धान्तों, गुजरातमें उनके प्रचार और गुजराती साहित्य पर उनके प्रभाव पर विचार किया गया है।
३. यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल इंस्टीटयूट, बड़ोदरा से सन् १९३० में प्रकाशित हो चुका है।

है कि हिन्दू शब्द हम पर आरोपित है और इस आरोपित विभ्रम के सहारे ही हम बाह्य आचारों के घरौंदों में बटते चले जा रहे हैं। इसके विपरीत बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि शब्द इसी धरती की उपज हैं और इन्होंने कालक्रम से कुछ मानों में अपने में एक समान दृष्टिकोण का उन्मीलन कर लिया है। शाक्त मत की इन सब पर बहुत गहरी छाप है। शाक्त मत की इस व्यापक दृष्टि का योगिनीहृदय में पूर्ण विकास हुआ है। इस व्यापक दृष्टिकोण को ही उजागर करने का अब हम लघु प्रयास कर रहे हैं।

चक्रसंकेत

क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय के आठवें सूत्र की व्याख्या में कहा है कि [1]तान्त्रिकों के मत में आत्मतत्त्व विश्वोत्तीर्ण है, कुल आदि आम्नायों के अनुसार वह विश्वमय है और त्रिक आदि दर्शन के ज्ञाताओं के मत से वह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी। योगिनीहृदय और दीपिका में इस तृतीय मत को स्वीकार किया गया है। महातत्त्वार्थ का निरूपण करते हुए यहाँ (२।७३–७४) बताया गया है कि निष्कल, परम सूक्ष्म, निर्लक्ष्य, भाववर्जित, व्योमातीत, प्रकाश और आनन्द स्वरूप, विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय परम तत्त्व में अपने को विलीन कर लेना ही महातत्त्वार्थ है। विश्वोत्तीर्ण तत्त्व स्वेच्छा से स्वात्मभित्ति में विश्व का उन्मीलन कर विश्वमय बन जाता है और फिर अपने में ही विश्व को समेट भी लेता है, अतः यह विश्वमय भी है और विश्वोत्तीर्ण भी।

यह विश्वोत्तीर्ण तत्त्व विश्वमय बनने के लिए कैसे श्रीचक्र का स्वरूप धारण कर लेता है, परदेवता श्रीचक्र के रूप में कैसे अवतरित होती है, प्रथम चक्रसंकेत प्रकरण में इसी का दार्शनिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। पाँच शक्ति त्रिकोणों और चार वह्नि त्रिकोणों के मिलने से श्रीचक्र का स्वरूप बनता है। यहाँ पाँच शक्ति त्रिकोणों को सृष्टि क्रम से, अर्थात् ऊर्ध्वमुख तथा चार वह्नि त्रिकोणों को लयक्रम से, अर्थात् अधोमुख रखना पड़ता है। श्रीचक्र के उद्धार की दो विधियाँ नित्याषोडशिकार्णव (१।२९–४१, ५९-७५) में बता दी गई हैं, अतः उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

यहाँ बताया गया है कि वह (विश्वोत्तीर्ण) आद्या शक्ति जब विश्वमय बनना चाहती है, तो उसमें स्पन्दन (स्फुरत्ता) होता है और इस स्पन्दन का प्रथम परिणाम है श्रीचक्र। यह चक्र कामकलारूप है। यहाँ (१।११) कामकला को प्रकाश-परमार्थ और श्रीचक्र को प्रसार-परमार्थ (१।२४) कहा गया है। प्रकाशविमर्श सामरस्यमय

१. "विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः। विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः। विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः" (पृ. ५६)। ठाकुर जयदेवसिंह संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९६३ (अंग्रेजी अनुवाद)। मूल ग्रन्थ के पृ. १५ की टिप्पणी भी देखिये।

बिन्दु में कामकला की अव्यक्त स्थिति तथा उसके उन्मीलन के प्रकार का वर्णन हम ग्रन्थभाग, पृ. १६-१७ की टिप्पणी में कर चुके हैं। इस कामकला के प्रसार से ही विश्वमय श्रीचक्र की निष्पत्ति होती है। नौ चक्रों की समष्टि को श्रीचक्र की संज्ञा दी गई है। उनमें से प्रथम बैन्दव चक्र में कामकला अव्यक्त रूप से तथा द्वितीय त्रिकोण चक्र में व्यक्त रूप से अवस्थित है। कामकला का यह व्यक्त स्वरूप शारदा लिपि के ईकार में स्पष्ट देखा जा सकता है।

इस प्रथम त्रिकोण (मध्य त्र्यश्र) के ऊपर सृष्टि और संहार के क्रम से शक्ति और वह्नि (शिव) त्रिकोण की स्थापना की जाती है, तो उससे नवयोन्यात्मक वसु(अष्ट)कोण चक्र की निष्पत्ति होती है। इस नवयोनि चक्र में धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, माता, मेय और प्रमा की स्थिति मानी जाती है। मध्य त्र्यश्र में प्रमा की तथा उसके चारों तरफ फैले अन्य आठ त्रिकोणों में धर्म आदि की स्थिति रहती है। यह [1]नवयोनि चक्र (बिन्दु, त्रिकोण और वसुकोण की समष्टि) अम्बिका शक्ति का विलास है और यह सोलह स्वरों से आवृत है।

नौ त्रिकोण और बैन्दव चक्र की चारों तरफ फैल रही दशविध प्रभा से अन्तर्दशार चक्र की निष्पत्ति होती है। [2]यकार से लेकर ळ क्ष पर्यन्त दस वर्ण इसमें स्थित हैं और यह पाँच महाभूत एवं पाँच तन्मात्राओं का आलम्बन है। प्रथम दशार से ही द्वितीय दशार का स्फुरण होता है और यह ककार आदि दस वर्णों तथा ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों

१. "तत्राद्यं नवयोनि स्यात्" (१।७५) यहाँ नवयोनि पद बिन्दु, त्रिकोण और वसुकोण—इन तीनों चक्रों का बोधक माना गया है। इन तीनों चक्रों की वासना यहाँ एक साथ बताई गई है और यह पूरा प्रकरण नवयोनि चक्र का ही निरूपक है। अतः "चक्रं नवात्मकम्" (१।१३) इस पंक्ति का भी अर्थ तदनुसार ही करना चाहिये। दीपिकाकार ने यहाँ त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों की तथा करशुद्धिकरी आदि नौ चक्रेश्वरी विद्याओं की चर्चा उठाई है। इसके विपरीत भास्करराय ने नवयोन्यात्मक चक्र की नवविध वासना का उल्लेख कर वशिनी आदि आठ विद्याओं को मूलविद्या के साथ मिलाकर उसकी नवमन्त्रात्मकता बताई है और कहा है कि नवयोनि चक्र के प्रकरण में त्रैलोक्यमोहन आदि चक्रों की तथा करशुद्धिकरी आदि विद्याओं की चर्चा अनावश्यक है। इसके साथ ही उन्होंने प्रकारान्तर से दीपिका व्याख्या की संगति भी बैठा दी है।

२. ग्रन्थभाग पृ. २६ की टिप्पणी देखिये। दीपिकाकार (१।४५–४७) ने आदि-क्षान्त पचास ही वैखरी वर्ण माने हैं। मूल ग्रन्थ (२।७०) में भी वैखरी वाणी के पचास वर्ण ही स्वीकृत हैं। ऐसी स्थिति में दीपिका का प्रस्तुत अंश समाधान-सापेक्ष है।

के दस विषयों का उद्भावक है। बैन्दव, त्रिकोण, वसुकोण और अन्तर्दशार चक्रों की चार किरणों तथा बहिर्दशार चक्र की दस किरणों के मिलने पर चतुर्दशार चक्र निष्पन्न होता है। यहाँ टकार से भकार पर्यन्त वर्णों की तथा दस बाह्य करण और चार अन्तःकरण—इस प्रकार चतुर्दश इन्द्रियों की निष्पत्ति होती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि पृथिवी आदि तत्त्वों की रचना शिव के अंश से और वर्णों की रचना शक्ति के अंश से होती है। इस प्रकार पांच शक्ति चक्रों और चार वह्नि (शिव) चक्रों से निष्पन्न ये अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार नामक तीन चक्र रौद्री शक्ति की प्रभा से उन्मीलित होते हैं।

यहाँ तक छः चक्रों की निष्पत्ति पूरी होती है। षोडशदल और अष्टदल चक्रों की निष्पत्ति वामा शक्ति से तथा चतुरस्र चक्र की ज्येष्ठा शक्ति से होती है। इस प्रकार अम्बिका, रौद्री, वामा और ज्येष्ठा शक्ति की सहायता से इस परिपूर्ण श्रीचक्र का विस्तार होता है। इनमें से बिन्दु और त्रिकोण चित्कलामय हैं। अष्टकोण शान्त्यतीता से, अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार शान्ति कला से, अष्टदल विद्या कला से, षोडशदल प्रतिष्ठा कला से और चतुरस्र चक्र निवृत्ति कला से प्रकट होते हैं।

श्रीचक्र का यह स्वरूप सृष्टिक्रम कहलाता है। इससे उलटा है संहारक्रम। इन दोनों ही क्रमों से श्रीचक्र की भावना और पूजा की जाती है। सृष्टिक्रम जैसे बिन्दु से प्रारंभ होता है, उसी तरह से संहारक्रम चतुरस्र, अर्थात् त्रैलोक्यमोहन चक्र से। इस संहारक्रम से इन नौ चक्रों में क्रमशः नाद, बिन्दु, कला, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी और सर्वानन्दा नामक नौ शक्तियाँ निवास करती हैं। इनमें से नाद और बिन्दु शान्ताशक्तिमय, कला इच्छाशक्तिमय, ज्येष्ठा ज्ञानशक्तिमय तथा बाकी की पाँच शक्तियाँ क्रियाशक्ति का विलास मानी जाती हैं। परमार्थतः कामकला के ही प्रसार से श्रीचक्र का यह वर्णमय, तत्त्वमय और शक्तिमय स्वरूप उन्मीलित होता है।

इन नौ चक्रों की क्रमशः अकुल, विषु, शाक्त, वह्नि, नाभि, अनाहत शुद्ध, लम्बिकाग्र और भ्रूमध्य में एवं बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना में तथा महाबिन्दु में त्रिविध भावना की जाती है। इनमें से प्रथम भावना सकल, दूसरी भावना सकलनिष्कल तथा तीसरी भावना निष्कल कही जाती है। महाबिन्दु में निष्कल भावना में प्रविष्ट योगी जब ऊपर उठता है, तो उसको देश, काल, आकार आदि से रहित उस परम महान् स्वभावसुन्दर तत्त्व का साक्षात्कार होता है, जो सदा परमानन्द से परिपूर्ण है।

यह पहले बताया जा चुका है कि विश्वोत्तीर्ण तत्त्व जब विश्वमय बनना चाहता है, तो उसमें अनोखी स्फुरत्ता का उद्भव होता है। वह्नि के सम्पर्क से जैसे घी पिघलने लगता है, उसी तरह से प्रकाश के सम्पर्क से विमर्श शक्ति स्पन्दित हो उठती है और

इसी से विश्वलहरी स्थान, मातृत्रयात्मक बैन्दव (त्रिकोण) चक्र का प्राकट्य होता है। उस समय विमर्शमयी परमा कला सर्वप्रथम शान्ता और अम्बिका शक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी को परा वाक् भी कहा जाता है। यह परा वाणी अपने में बीज रूप से स्थित विश्व को जब प्रकट करना चाहती है, तब विश्व का वमन करने के कारण अंकुश सदृश वामा शक्ति का रूप धारण कर लेती है। यह वामा शक्ति ही इच्छा शक्ति के साथ मिल कर पश्यन्ती वाक् के रूप में परिणत हो जाती है। इसी तरह से ज्येष्ठा शक्ति और ज्ञान शक्ति के मिलन से मध्यमा वाक् अभिव्यक्त होती है। शृंगाट (त्रिकोण) की सीधी रेखा इसका बोध कराती है। वामा शक्ति के द्वारा सृष्ट विश्व की स्थिति में यह कारणभूत है, उसका पालन करती है। विश्व का संहार करने की इच्छा होने पर वह शक्ति अपने बैन्दव स्वरूप में पुनः प्रविष्ट हो जाती है। तब शृंगाट की दक्षिण रेखा के निर्माण के साथ इसका स्वरूप पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। यह रौद्री शक्ति का व्यापार है। क्रिया शक्ति के साथ मिल कर यह वाणी के विस्तार को मुखरित करने वाली वैखरी वाक् बन जाती है। इस प्रकार बैन्दव (बिन्दु और त्रिकोण) चक्र में अम्बिका आदि तथा शान्ता आदि चार-चार शक्तियों तथा परा आदि चार वाणियों की भावना तथा पूजा की जाती है, इनको तन्मय माना जाता है।

शिव (प्रकाशांश) से आविर्भूत अम्बिका आदि तथा शक्ति (विमर्शांश) से आविर्भूत शान्ता आदि शक्तियों में यह सारा विश्व बीज में वृक्ष की भाँति छिपा रहता है। इन्हीं शक्तियों से कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण नामक पीठों की सृष्टि होती है। ये पीठ कन्द, पद, रूप और रूपातीत नामक आन्तर स्थानों में स्थित हैं। कन्द या पिण्ड को आधार, पद या हंस को हृदय, रूप या बिन्दु को भ्रूमध्य तथा रूपातीत को ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है। यह चिन्मय स्थान है। इन पीठों का आकार क्रमशः चतुरस्र, षड्बिन्दुमय, अर्धचन्द्र और त्रिकोण जैसा होता है, क्योंकि ये क्रमशः पृथिवी, वायु, जल और तेज तत्त्व के प्रतीक हैं। इनका वर्ण क्रमशः पीत, धूम्र, श्वेत और रक्त है।

इन पीठों में क्रमशः स्वयंभू, बाण, इतर और पर लिंग स्थित हैं। स्वयंभू लिंग का वर्ण पीत है। यह त्रिकूटाकार है तथा अकार से विसर्ग पर्यन्त सोलह स्वरों से आवृत है। बाण लिंग का वर्ण बन्धूक पुष्प के जैसा है। यह त्रिकोणाकार है और ककार से टकार पर्यन्त सोलह व्यंजनों से आवृत है। इतर लिंग का वर्ण श्वेत है। इसका आकार कदम्बफल के समान गोल है और यह थकार से सकार पर्यन्त सोलह व्यंजनों से आवृत है। पर-तेजोमय पर लिंग का कोई आकार नहीं होता। इन्द्रियों से इसको देखा नहीं जा सकता, अतः बिन्दु से इसका बोध कराया जाता है। यह अकार से क्षकार पर्यन्त समस्त वर्णों से आवृत है। यह परमानन्द का सार तथा नित्योदित स्वरूप वाला है।

बिन्दु सहित त्रिकोण में स्थित अम्बिका आदि तथा शान्ता आदि शक्तिचतुष्टय, मातृका(वाणी)चतुष्टय, पीठचतुष्टय और लिंगचतुष्टय—ये सभी वाग्भव, कामराज और शक्ति बीज तथा इनकी समष्टि तुरीय विद्या के वाच्य रूप हैं, अर्थात् बीजत्रयात्मिका तुरीय श्रीविद्या से इनका बोध होता है। मेय, मान और माता की त्रिपुटी को कुल और इनकी समष्टि को कौल कहा जाता है। ऊपर निर्दिष्ट सभी चार संख्या वाले पदार्थ कुल और कौल विभाग में समाविष्ट हैं और क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्य (तुरीय) दशा वाले हैं।

सभी प्राणियों में संवित्ति के रूप में भासमान विश्वोत्तीर्ण अनुत्तर (प्रकाशात्मक) परम तत्त्व इन सबसे ऊपर है। अपनी इच्छा से वह स्वात्मभित्ति में स्वेच्छा-तूलिका से विश्वमय चित्र बना डालता है, स्वयं विश्वमय हो जाता है। वह परप्रकाशात्मक स्वरूप इस तरह से विमर्श शक्ति से सम्पन्न होकर सहज आनन्द की सृष्टि का कारण बन कर सबके लिये स्पृहणीय हो जाता है। वह मेय, माता, प्रमा और प्रमाण के रूप में बँट जाता है और इच्छा, ज्ञान एवं क्रियात्मक शृंगाट (त्रिकोण) का स्वरूप धारण कर लेता है। विमर्श शक्ति विश्व का आकार ग्रहण करती है, किन्तु उसका अपना स्वरूप तो प्रकाशात्मक शिव में स्थित है। कामेश्वर के अंक रूपी पर्यंक में विश्राम करने वाला विमर्श शक्ति का यह स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है। इच्छाशक्तिमय पाश, ज्ञानशक्तिमय अंकुश और क्रियाशक्तिमय धनुष-बाण को धारण करने से कामेश्वर और कामेश्वरी के इस युगल स्वरूप की शोभा और भी बढ़ जाती है। कामेश्वर-कामेश्वरी का यह युगल स्वरूप आश्रय और आश्रयी के भेद से आठ आयुध वाला हो जाता है। यही मिथुन स्वरूप बैन्दव, त्रिकोण, वसुकोण आदि के क्रम से विकसित नवचक्रात्मक श्रीचक्र में विविध रूपों में अपना विस्तार कर लेता है और इस तरह से अपने श्रीचक्र रूपी शरीर में अपनी अवयव शक्तियों के साथ यह परम तेज अवतरित हो जाता है, विश्वोत्तीर्णता का परित्याग कर विश्वमय बन जाता है।

यहाँ प्रकाशात्मक परमेश्वर (कामेश्वर) समुद्र स्थानीय, विमर्शमयी शक्ति (कामेश्वरी) जलस्थानीय और उसकी अवयव शक्तियाँ तरंग स्थानीय हैं। जैसे समुद्र के जल से उठी लहरें उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी तरह से ३६ तत्त्वों वाला यह सारा विश्वमय शक्तिचक्र इस युगल स्वरूप से ही उदित होता है और उसी में विलीन हो जाता है।

चिति शक्ति स्वात्मस्वरूप भित्ति में जब स्वेच्छा से विश्व की रचना के लिये परिपूर्ण इच्छा शक्ति से सम्पन्न हो प्रकाश और विमर्श का सहारा लेती है, तो उस समय उसकी क्रिया शक्ति विश्व के मोदन और द्रावण व्यापार में प्रवृत्त हो मुद्रा का स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की दस मुद्राएँ यहाँ वर्णित हैं। इनमें से पहली मुद्रा का विनियोग

आवाहन के लिये होता है। शेष मुद्राएँ एक-एक चक्र की पूजा में विनियुक्त हैं।[1] मुद्रा शब्द तन्त्रशास्त्र में अनेक अर्थों में प्रयुक्त है, किन्तु यहाँ दोनों हाथों की अंगुलियों के संयोग से बनने वाली मुद्राओं के लिये आया है। दाहिने हाथ की अंगुलियाँ प्रकाशात्मक तथा बायें हाथ की अंगुलियाँ विमर्शात्मक मानी जाती हैं। ये अंगुलियाँ क्रमशः वामा आदि तथा इच्छा आदि चार-चार शक्तियों की प्रतीक हैं। इन दसों मुद्राओं का बाह्य और आन्तर स्वरूप यहाँ (१।५७-७१) बताया गया है। इस तरह इस विश्वमय परा शक्ति की ज्ञानशक्ति से श्रीचक्र का और क्रियाशक्ति से मुद्राओं का आविर्भाव होता है। स्वयं विश्वमय परा देवता इच्छाशक्तिस्वरूप है। उसमें विचिकीर्षा उत्पन्न होने पर ही सृष्टि का विस्तार होता है।

इस श्रीचक्र की त्रिविध और नवविध भावना की जाती है। बिन्दु, त्रिकोण और वसुकोण की एक प्रकार से; दो दशार और चतुर्दशार की दूसरे प्रकार से; अष्टदल, षोडशदल और चतुरस्र की तीसरे प्रकार से, अर्थात् क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार के क्रम से पूजा की जाती है। दीपिकाकार ने संकेतपद्धति के प्रमाण से इनका विवरण दिया है (१।७७)। बिन्दु से लेकर चतुरस्रपर्यन्त उद्धार सृष्टिक्रम तथा चतुरस्र से बिन्दुपर्यन्त उद्धार संहारक्रम कहलाता है। इन सबकी समष्टि का ही नाम त्रिपुरा चक्र है। इस चक्र के स्वरूप को जो ठीक से जान लेता है, उसको अपने आप भगवती त्रिपुरा का स्वरूप भासित हो जाता है।

चक्र की नवविध भावना में नौ चक्रों की अलग-अलग उपासना की जाती है। इन नौ चक्रों के नाम यहाँ संहारक्रम से इस प्रकार बताये गये हैं—त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक, सर्वसंक्षोभण, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिमय और सर्वानन्दमय। इन शब्दों की लुभावनी पदव्याख्या दीपिकाकार ने की है (१।८२-८४)। इस श्रीचक्र में महात्रिपुरसुन्दरी की उपासना की जाती है। इस परिपूर्ण चक्र की उपासना से साधक अजर और अमर हो जाता है।

मन्त्रसंकेत

प्रथम चक्रसंकेत प्रकरण में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के अवतार-स्थान श्रीचक्र का स्वरूप बताने के बाद द्वितीय मन्त्रसंकेत प्रकरण में श्रीविद्या का स्वरूप और उसके षड्विध अर्थों का निरूपण किया गया है। यहाँ बताया गया है कि इस दिव्य मन्त्रसंकेत को जानने

१. नित्याषोडशिकार्णव, उपोद्घात, पृ० ७५-७८ द्रष्टव्य। कर्णिका, रुचक आदि कापालिक मत संमत छः मुद्राएं (अथवा पाँच मुद्राएं) बौद्ध तन्त्रों में भी स्वीकृत हैं। शाक्त तन्त्रों में मुद्रा शब्द का प्रयोग चना-चबैना के लिये किया जाता है। बौद्ध तन्त्रों में कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा और महामुद्रा के रूप में भी मुद्राओं का वर्णन मिलता है।

वाला वीरचक्रेश्वर, अर्थात् परशिव स्वरूप हो जाता है। यहाँ सर्वप्रथम नौ नित्याओं के नौ मन्त्रों (विद्याओं) के नाम बताये गये हैं और सातवीं मूर्तिविद्या का उद्धार भी किया गया है, क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य आठ विद्याओं का उद्धार नि० षो० में ही बता दिया गया है। नौ विद्याओं के नामों से ही उनका कहाँ विनियोग होता है, यह भी ज्ञात हो जाता है। प्रसंगवश यहाँ इन विद्याओं के बाह्य और आन्तर न्यास का विधान कर नौ नित्याओं के नाम गिनाये गये हैं और कहा गया है कि पूर्व वर्णित नौ चक्रों में इन नौ नित्याओं का पूजन करना चाहिये। आद्या शक्ति ही पूजा के समय नौ रूप धारण कर लेती है। वस्तुतः यह शक्ति एक ही है और यह साधक को अजर और अमर, अर्थात् परम शिवस्वरूप बना देती है।

अर्थरत्नावली (पृ० १०७) में उद्धृत संकेतपद्धति के वचन में और शिवानन्द मुनि के सुभगोदय (श्लो० ४९) में आठ ही नित्याओं के नाम हैं, ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु वहाँ (पृ० १०७) उद्धृत संकेतपद्धति के अन्य श्लोकों से ज्ञात होता है कि सातवीं विद्या त्रिपुरासिद्धा तथा आठवीं त्रिपुराम्बिका है। अतः सुभगोदय के ऊपर चर्चित वचन में सिद्धाम्बा शब्द में समास मानकर सिद्धा और अम्बा शब्दों को अलग-अलग मानना चाहिये। इस तरह से नित्याओं की संख्या नौ हो जाती है। संकेतपद्धति के अनुसार आठ अंग-नित्याओं के साथ नवीं अंगी (प्रधान) मूलविद्या को मिलाने से इनकी संख्या नौ हो जायगी। नवनित्याविधान नामक ग्रन्थ का एक वचन जयरथ द्वारा तन्त्रालोकविवेक (१५। २८१) में उद्धृत है। ग्रन्थ के इस नाम से भी नौ नित्याओं की प्रतीति होती है। अतः इस स्पष्टीकरण के आधार पर वहाँ (पृ० १०५ में) दी गई टिप्पणी में आवश्यक संशोधन कर लेना चाहिये।

योगसूत्रकार[1] भगवान् पतंजलि ने मन्त्र के जप के साथ अर्थ की भावना का भी विधान किया है। निरुक्त[2] में अर्थ को बिना जाने वेद मन्त्रों का पाठ मात्र करने वाले की निन्दा और वेद मन्त्रों के अर्थ को जानने वाले की प्रशंसा की गई है। इसी बात को [3]भास्करराय ने भी प्रकारान्तर से वरिवस्यारहस्य में कहा है। इसीलिये योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत प्रकरण में सामान्य पीठिका-बन्ध के बाद सौभाग्यविद्या के षड्विध अर्थों का

१. तज्जपस्तदर्थभावनम् (१।२८)।

२. स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ (१।१)

३. नार्थज्ञानविहीनं शब्दस्योच्चारणं फलति।
भस्मनि वह्निविहीने न प्रक्षिप्तं हविर्ज्वलति॥

विस्तार से वर्णन किया गया है। इनके नाम ये हैं—भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ। यहाँ १६ से २५ श्लोक तक भावार्थ का, २६ से ४८ पर्यन्त सम्प्रदायार्थ का, ४८ से ५१ पर्यन्त निगर्भार्थ का, ५१ से ६८ तक कौलिकार्थ का, ६९ से ७२ पर्यन्त सर्वरहस्यार्थ का और ७३ से ८० श्लोक पर्यन्त महातत्त्वार्थ का निरूपण किया गया है। षड्विध अर्थों का यह पूरा प्रकरण पारिभाषिक शब्दों, कामकला के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली दार्शनिक और यौगिक प्रक्रियाओं से भरा हुआ है। बहुत सावधानी से दो-चार बार पढ़ने के बाद ही यह विषय हृदयंगम हो सकता है।

हम [1]कहीं लिख चुके हैं कि नि० षो० में कादिविद्या का तथा यो० हृ० में हादिविद्या का उद्धार हुआ है। यो० हृ० का यह पूरा प्रकरण हादिविद्या के साथ ही संगत होता है, कादिविद्या के साथ जोड़ने में खींचातानी करनी पड़ती है। अतः यही मानना उचित है कि यो० हृ० में हादिविद्या का षड्विध अर्थ बताया गया है। कादिविद्या के पन्द्रह प्रकार के अर्थों का वर्णन भास्करराय ने वरिवस्यारहस्य के द्वितीय अंश में किया है। वे यो० हृ० की भी व्याख्या कादिविद्यापरक ही करते हैं। हम यहाँ कादिविद्या और हादिविद्या का स्वरूप प्रदर्शित कर रहे हैं। इनको देख कर पाठक स्वयं अपना निर्णय कर सकते हैं।

पंचदशाक्षरी कादिविद्या—क ए ई ल ह्रीँ ह स क ह ल ह्रीँ स क ल ह्रीँ
पंचदशाक्षरी हादिविद्या—ह स क ल ह्रीँ ह स क ह ल ह्रीँ स क ल ह्रीँ

१. भावार्थ

मन्त्र के अक्षरों से जो अर्थ निकलता है, उसको भावार्थ कहते हैं। सौभाग्यविद्या का स्वरूप योगिनी, वीर और वीरेन्द्रों का शिव और शक्ति के साथ समयोग होने पर बनता है। इन शब्दों का अर्थ संस्कृत व्याख्या के आधार पर भाषानुवाद में कर दिया गया है। यहाँ इनके द्वारा पंचदशाक्षरी श्रीविद्या के तीनों बीजों का उद्धार किया है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिये टीकाकार ने अपने ही ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय के पूरे द्वितीय प्रपंच को यहाँ उद्धृत किया है। यहाँ ८ से १४ श्लोक पर्यन्त वाग्भव बीज का, १५-१६ श्लोकों में कामराज बीज का तथा १७-१८ श्लोकों में शक्ति बीज का उद्धार बताया गया है, जिसका कि स्वरूप हम ऊपर दे चुके हैं। १०वें श्लोक में 'हस्यार्थः' के स्थान पर 'सस्यार्थः' पाठ सही लगता है, किन्तु मूल ग्रन्थ में कोई पाठभेद न होने से हमने उसको छोड़ दिया है। द्वितीय बीज के केवल क और ल वर्ण के बीच में स्थित हकार का उद्धार किया गया है और इसी तरह तृतीय बीज के प्रथम हकार को ग्रहण न

अर्थमजानानानां नानाविधशब्दमात्रपाठवताम्।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य वोढेव॥ (२।५४-५५)

१. द्रष्टव्य—नि० षो० उपोद्घात, पृ० १०० की १ टि०।

करने का कारण बताया गया है। बाकी वर्ण द्वितीय तथा तृतीय बीज में प्रथम बीज के समान ही हैं।

यहाँ वर्णों की पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी अवस्थाओं का भी वर्णन है। पश्यन्ती और मध्यमा वाणी का स्वरूप कामकलाविलास (श्लो० २३-२७) में वर्णित है और वैखरी वाणी का स्वरूप दीपिका (२।६३-६४) और अर्थरत्नावली (पृ० ३६-३७) में उद्धृत संकेतपद्धति के वचनों में अधिक स्पष्ट है। वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका—ये चार शक्तियाँ प्रकाशात्मक अनुत्तर अकार की तथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया और शान्ता शक्तियाँ विमर्शात्मक हकार की अंशभूत हैं। इन अंशों (आठ) और अंशियों (दो) की व्यष्टि रूप में संख्या १० हो जाती है। इन सबका समष्टयात्मक भी एक रूप है और ये सभी मिल कर पश्यन्ती वाणी को एकादशधा विभक्त कर देते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या (तुरीय) अवस्थाओं की प्रतीक वामा आदि और इच्छा आदि चार-चार शक्तियों के व्यष्टयात्मक आठ और एक समष्टयात्मक स्वरूप मिल कर नवविध नादरूपा और भूतलिपिमयी मध्यमा वाणी के स्वरूप को प्रस्फुटित करते हैं। स्थूल और सूक्ष्म के भेद से यह दो प्रकार का है। इसका सूक्ष्म रूप नवनादमय तथा स्थूल स्वरूप नौ वर्ग वाली भूतलिपि[1] से बनता है। वैखरी वाणी के ४७ भेदों में आकार से सकार पर्यन्त वर्णों की गणना की जाती है। अकार और हकार की प्रकाशविमर्शात्मकता के कारण समष्टि और व्यष्टि रूप में इनका समावेश परा और पश्यन्ती वाणी में किया जाता है। ककार और षकार के संयोग से बने क्षकार की अलग से गणना नहीं की जाती और ळकार का लकार में अन्तर्भाव कर लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ वैखरी वाणी के वर्णों की संख्या ४७ मानी जाती है। पश्यन्ती के ग्यारह, मध्यमा के नौ और वैखरी वाणी के ४७ वर्णों को मिलाकर इस मत में मातृका-पीठ में ६७ वर्ण माने जाते हैं।

व्यष्टिरूप में तीन बीजों वाली इस सौभाग्यविद्या का समष्टयात्मक एक तुरीय (अनाख्य) स्वरूप भी है। यह परा वाणीमय है। परा देवी का परम आनन्द से ओत-प्रोत स्पन्दात्मक स्वभावसुन्दर स्वरूप इसी में छिपा हुआ है। प्रकाश और विमर्श का सामरस्य-मय यह स्वरूप शाश्वत ब्रह्म के ज्ञानमय स्वरूप में उसकी आराधना (मनन) करने वाले साधक की रक्षा करता है, अतः इसको मन्त्र[2] भी कहा जाता है।

१. नौ वर्ग वाली भूतलिपि का परिचय पृ० ३२५ की टिप्पणी में दिया गया है।

२. पुरुष-देवता के मनु को मन्त्र तथा स्त्री-देवता के मन्त्रको विद्या कहा जाता है। देखिये ऋजुविमर्शिनी—"पुंरूपवाच्याध्यासिता मन्त्राः····स्त्रीरूपवाच्याध्यासिताश्च विद्याः" (पृ० ४२-४३)। "मन्त्राः पुंरूपवाच्याधिष्ठिताः, विद्याः स्त्रीरूपवाच्याधिष्ठिताः" दीपिका (३।१५१)। भास्करराय ने गुरु(नाथ)नवरत्नमाला की व्याख्या में यह श्लोक उद्धृत किया है—"स्त्रीदैवत्याः स्मृता विद्याः पुंदैवत्यास्तु मन्त्रकाः" (पृ० ६)।

इस तरह से चिह्न के समान श्रीविद्या में भी परा आदि चारों वाणियाँ निहित हैं। ऋग्वेद के "चत्वारि वाक्" प्रभृति मन्त्र का अर्थ इन चार वाणियों की तान्त्रिक व्याख्या में ही अधिक संगत लगता है, क्योंकि वाणी के परा, पश्यन्ती और मध्यमा नामक तीन स्वरूप छिपे हुए हैं और चौथी वैखरी वाणी को ही मनुष्य बोलते हैं। निरुक्त[1] अथवा महाभाष्य में प्रदर्शित व्याख्याओं में यह संगति बैठ नहीं पाती। मूल चक्र में स्थित परा वाक् से ही नाभिस्थान में पश्यन्ती और हृदय स्थान में मध्यमा वाणी तथा आगे कण्ठ आदि स्थानों में वैखरी वाणी की अभिव्यक्ति होती है। अमृतानन्द ने सौभाग्य-सुधोदय (१।६) में अनाहत, हत और उत्तीर्ण पदों से मध्यमा, वैखरी और पश्यन्ती वाणी का क्रमशः बोध कराया है और कहा है कि परा वाणी से ही ये तीनों स्वरूप प्रकट होते हैं।

यह बताया जा चुका है कि कामबिन्दु और उसकी विसर्गात्मक कला के मध्य में स्थित बिन्दु परा वाक् का निवास-स्थान है। इस कामकला में अकुल और कुल कुण्ड-लिनी रूप अकार एवं हकार समरस रूप में स्थित हैं। कामकला में स्थित इन दो अक्षरों में से हकार की स्थिति द्वितीय कामराज बीज में स्पष्टतया तथा अकार की स्थिति तृतीय शक्ति बीज में अस्पष्ट रूप से मानी गई है। वाग्भव बीज में ये समरस रूप में स्थित हैं। इसी समरस बिन्दु में जब स्पन्दन उठता है, विष (संसार) और अमृत (मोक्ष)-मय धर्म (शिव) और अधर्म (शक्ति) रूपी वाच्य अर्थ जब वाचक अक्षरों से संवलित हो जाते हैं, तब यह विश्वोत्तीर्ण महाविद्या विश्वरूप बन जाती है। उस समय तीन-तीन संख्या वाले सभी पदार्थों की समष्टिरूपिणी यह परा मातृका तीन कूटों का स्वरूप धारण कर व्यष्टिरूपिणी बन जाती है। इस प्रकार समष्टि और व्यष्टि रूपिणी इस आद्या शक्ति की पंचदशाक्षरी विद्या के अक्षरों में विविध रूपों में भावना करना ही भावार्थ कहलाता है।

२. सम्प्रदायार्थ

सम्प्रदाय (ज्ञान की परम्परा) गुरुमुख से ही जाना जा सकता है। यह विश्वातीत तत्त्व कैसे विश्वमय हो जाता है, इस विषय की जानकारी भी हमें इसी तरह से मिलती है। शिव और शक्ति, अकार और हकार के समरस स्वरूप से स्फुरित मूलविद्या से सारा जगत् किस तरह से व्याप्त है, सम्प्रदायार्थ में इसी विषय को स्पष्ट किया जाता है। यह विश्व पंचभूतमय है, सौभाग्यदेवता और उसकी मूलविद्या भी पंचभूतमय है। हकार से आकाश, ककार से वायु, रेफ से अग्नि, सकार से जल तथा लकार से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस तरह से यह विश्वातीत शक्ति विश्वमय हो जाती है। इन भूतों में सब मिला कर जैसे पन्द्रह गुण होते हैं, उसी तरह से इस मूलविद्या में भी पन्द्रह अक्षर हैं।

१. पृ० १२९ की टिप्पणी देखिये।

इस पंचदशाक्षरी विद्या के पाँच वर्ण वाग्भव बीज में, छः कामराज बीज में और चार शक्ति बोज में स्थित हैं। स्वर और व्यंजन के भेद से इसके ३७ अवयव हो जाते हैं। ३६ तत्त्व इसके व्यष्टि रूप से बनते हैं और इसका ३७वां भेद समष्टिमय है। इस तरह से यहाँ भी इस विद्या की विश्वातीत और विश्वमय रूप में भावना की जाती है। विश्वातीत तत्त्व किस तरह से विश्वमय ३६ तत्त्वों का रूप धारण कर लेता है, इसका सुन्दर विश्लेषण टीकाकार ने अपने ही ग्रन्थ [1]सौभाग्यसुधोदय के प्रथम प्रपंच के विस्तृत उद्धरण को देकर किया है। वस्तुतः जगत् का प्रत्येक पदार्थ और उसमें निहित शक्तियां शिव और शक्ति के समरस रूप परम तत्त्व से ही स्वात्मलाभ करते हैं।

सौभाग्यविद्या में छः हकार हैं। हकार आकाश का बीज है, अतः इन हकारों में से पाँच हकार आकाश के पाँच गुणों के और छठा नादात्मक हकार इन सबका कारण है। विद्या स्थित तीन ईकार तथा कामकला का कारणभूत समरस बिन्दु वायु स्थित चार गुणों की उत्पत्ति में कारण हैं। तीन रेफ तीन रूपों के अभिव्यंजक है। [2]विद्या स्थित तीन सकारों में से दो जल और पृथिवी के रस के तथा तीसरा अमृत रस का जनक है। लकार से पृथिवीगत गुण की उत्पत्ति होती है। श्रीविद्या में तीन लकार हैं। ये तीनों तीन भुवनों में स्थित गन्ध गुण के द्योतक हैं। विद्या स्थित तीन ककारों में अशुद्ध, शुद्ध और मिश्र नामक तीन प्रकार के प्रमाताओं की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ अशुद्ध सकल, शुद्ध विज्ञानाकल और मिश्र प्रमाता प्रलयाकल कहलाते हैं। श्रीविद्यागत बारह अकारों में से दस जीव के, ११वां प्राण का और १२वां परम शिव का सूचक है। यद्यपि एक ही अकार से जीव तत्त्व का द्योतन हो सकता है, किन्तु एक ही तत्त्व जीवों के रूप में बहुधा विभक्त हो जाता है, इस बात को सूचित करने के लिये यहाँ दस अकारों की योजना की गई है। विद्यागत तीन बिन्दु रुद्र, ईश्वर और सदाशिव के तथा तीन नाद [3]शान्ति, शक्ति तथा शंभु के बोधक हैं। मछली पकड़ने के जाल के लोहे के कड़े में जैसे सारे धागे

---

१. पृ० १४५-१४६ की टिप्पणी देखिये।

२. "विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैः" (२।४१) यहाँ भास्करराय ने बहुवचन को द्विवचनपरक माना है, क्योंकि कादिविद्या में दो ही सकार हैं।

३. शान्ति शब्द से यहाँ बिन्दु का ग्रहण मानना चाहिये। शक्ति तत्त्व के पाँच भुवनों में से एक का नाम शान्ति है। इसको बैन्दव पुर भी कहा जाता है। श्रीकण्ठ सूरि ने रत्नत्रयपरीक्षा में बिन्दु की शिव और शक्ति के अतिरिक्त तृतीय रत्न के रूप में प्रतिष्ठा की है। इसी को वहाँ (श्लो० ७०-७१) महामाया और कुण्डलिनी भी कहा गया है। ब्रह्मरन्ध्र की अवसान भूमि में यह विश्राम करती है। पृ० १६९ की टिप्पणी में उठाई चर्चा इससे समाहित हो जाती है।

और लोहे की गोलियाँ जुड़ी रहती हैं, उसी तरह से इस सौभाग्यविद्या में सब कुछ ओतप्रोत है। इस प्रकार यहाँ सौभाग्यविद्या का जो अर्थ बताया गया है, वह गुरु-(सम्प्रदाय) परम्परा से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये इसे सम्प्रदायार्थ कहा जाता है।

३. निगर्भार्थ

सौभाग्यविद्या के निगर्भार्थ के अनुसार शिव, गुरु और आत्मा की अभिन्नता, एकता का अनुसन्धान किया जाता है। यहाँ पहले शिव के निष्कल (निरवयव) स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके बाद गुरु की भी उसी रूप में भावना की जाती है। ऐसा करने से अन्ततः शिष्य की आत्मा भी गुरुमय और शिवमय हो जाती है।

४—कौलिकार्थ

कौलिक अर्थ में चक्र, देवता, विद्या, गुरु और आत्मा की एकता का अनुसन्धान किया जाता है। विद्यागत लकार से चतुरस्र की, शाक्त (सकार) से वृत्तत्रय और तदन्तर्गत षोडशदल एवं अष्टदल पद्म की अभिव्यक्ति होती है। तीन हृल्लेखाओं के तीन-तीन, अर्थात् नौ अक्षरों से नवयोनि चक्र निष्पन्न होता है। चतुर्दशार, बाह्यदशार और अन्तर्दशार की निष्पत्ति विद्यागत हकारों से होती है। विद्यागत ककार से महाबिन्दु-मय सदाशिवासन बनता है। इस तरह से चक्र और मन्त्र की अभिन्नता की भावना की जाती है। इसी चक्र से १११ आवरण देवताओं[1] वाली समष्टचात्मक परदेवता का दिव्य शरीर बनता है। नि० षो० (१।१) में देवी को गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी और राशि स्वरूपिणी कहा है। ऊपर बताये गये आवरण देवताओं के गण की अधीश्वरी होने से यह गणेश कहलाती है। सोम, सूर्य, अग्नि; इच्छा, ज्ञान, क्रिया और सत्त्व, रज, तम नामक गुणों के योग से यह ग्रहस्वरूपिणी है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, इनके विषय, चार अन्तःकरण, प्रकृति, गुण और आत्मा के भेद से यह नक्षत्रस्वरूपिणी है। त्वक् आदि छः धातुओं की अधिष्ठात्री डाकिनी आदि योगिनियाँ तथा आठ वर्गों की अधिष्ठात्री ब्राह्मी आदि देवियाँ इसी शक्ति का विलास हैं। इनके कारण यह योगिनी कहलाती है। प्राण आदि दस वायु, जीवात्मा और परमात्मा के भेद से यह राशिस्वरूपिणी है। सौभाग्यदेवता जैसे गणेश आदि भेदों से अलंकृत है, उसी तरह से परा, पश्यन्ती आदि चतुर्विध वाणी का स्वरूप धारण करने वाली सौभाग्यविद्या भी आदि, कादि और थादि के क्रम से विभक्त बीजों की स्वामिनी होने से गणेश कही जाती है। तीन कूटों में विद्यमान बीज, बिन्दु और ध्वनि (नाद) की नवात्मकता के कारण वह ग्रहात्मिका है। तीन हृल्लेखाओं के पन्द्रह तथा अन्य बारह अक्षरों के होने से यह नक्षत्रस्वरूपिणी है। विद्यागत तीन हृल्लेखाओं और

---

१. पृ० १८३-१८४ मूल और टीका देखिये।

तीन लकारों की शाक्त संज्ञा है। इसके कारण विद्या योगिनी कहलाती है और अन्तिम हृल्लेखाओं को छोड़ देने पर यह राशिस्वरूपिणी हो जाती है। सौभाग्यविद्या और सौभाग्यदेवता के समान श्रीचक्र में भी गणेश आदि की स्थिति है, इसका प्रकार दीपिकाकार (२।६७) ने बताया है। देवी के देह में जैसे गणेश आदि रूपों की योजना बताई गई है, उसी तरह से गुरु के देह में भी इस सबकी भावना की जाती है। अन्ततः गुरु के प्रसाद से शिष्य में भी इन सब स्वरूपों की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह सब श्रीविद्या के इस कौलिक अर्थ की भावना से होता है।

५. सर्वरहस्यार्थ

बिजली के समान कान्ति वाले वाग्भव (त्रिकोण) के रूप में परिणत मूलाधार में अड़तीस [1] कलाओं से युक्त पचास वर्णों का शरीर धारण करने वाली विद्या कुण्डलिनी के रूप में विराजमान है। तीन मण्डलों का भेदन करने वाली, करोड़ों विद्युत्पुंजों के समान कान्ति वाली, कमलनाल में विद्यमान तन्तुओं के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकृति वाली यह कुण्डलिनी शक्ति जब शून्यगगन में चन्द्रमण्डल से संयुक्त होती है, तो अमृत रस झरने लगता है। सदा आनन्दस्वरूपिणी यह शक्ति अपने इस अमृत रस से सारे संसार को आप्यायित किये रहती है। यह शक्ति स्वयं मेरी आत्मा है, ऐसी बुद्धि ही रहस्यार्थ के नाम से यहाँ प्रसिद्ध है।

६. महातत्त्वार्थ

निष्कल, परम सूक्ष्म, निर्लक्ष्य, भाववर्जित, व्योमातीत, प्रकाश और आनन्द स्वरूप विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय परम तत्त्व में अपने को विलीन कर देने का ही नाम महातत्त्वार्थ है। इस परम स्वरूप के प्रकाश से ही तेज और तम जैसे विरोधी स्वभाव वाले भाव भी प्रकाशित होते हैं। इसीलिये यह सारा विश्व इसमें अभिन्न रूप से स्थित है। यह महातत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है। इसके प्रकाश के लिये किसी दूसरे प्रकाश (तत्त्व) की आवश्यकता नहीं है। इस अर्थ की भावना से साधक समस्त संकल्पविकल्पात्मक स्थितियों से ऊपर उठ जाता है। इसका वर्णन महाज्ञानार्णव तन्त्र तथा विद्यापीठ संबन्धी आगमों में किया गया है। कौलाचार का पालन करने वाले, गुरु की पादुका की सेवा तथा योगिनीमेलन में उद्युक्त, विधिपूर्वक अभिषिक्त, समस्त शंकाओं से उन्मुक्त, सदा प्रसन्न चित्त रहने वाले व्यक्ति को ही गुरु-परम्परा से ज्ञान का सारा रहस्य प्राप्त होता है। ऐसा ही साधक इस सर्वरहस्यार्थ की भावना करने में समर्थ होता है।

---

१. पञ्चमन्त्रतनु शिव के अघोर आदि पाँच मुखों की स्वच्छन्दतन्त्र (१।५३-५९), नेत्रतन्त्र (२२।२६-३४) आदि में वर्णित ३८ कलाओं का भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है।

इन षड्विध अर्थों की भावना करने वाला साधक गुरु की कृपा होने पर पूर्ण बोधभाव को प्राप्त कर लेता है, निर्मल स्वात्मस्वरूप को [1] पहचान लेता है। वह स्वयं परशिव स्वरूप हो जाता है।

पूजासंकेत

तृतीय पूजासंकेत में सर्वप्रथम परा, अपरा और परापरा नाम की त्रिविध पूजा की परिभाषा दी गई है। इन्द्रियों के समस्त व्यापारों में एकमात्र अद्वय शिवतत्त्व को ही देखना, पहली परा पूजा है। श्रीचक्र की बाह्य उपादानों से की गई पूजा अपरा कहलाती है। बाह्य विषयों में संलिप्त अपने विमर्शमय स्वरूप को प्रकाशमय स्वरूप में समेट लेना [2] परापरा पूजा है। विकल्पों की शुद्धि के लिये इसमें आत्मयजन किया जाता है। परा पूजा उत्तम, अपरा अधम और परापरा पूजा मध्यम कोटि की मानी जाती है। इस त्रिविध पूजा की व्याख्या हम शांभव, शाक्त और आणव उपायों के रूप में कर सकते हैं।

त्रिविध पूजा

परा पूजा में महापद्मवन (ब्रह्मरन्ध्र) में विद्यमान अधोमुख अकुल कमल में अमृत की वर्षा करने वाली गुरुपादुका का ध्यान किया जाता है। ऐसा करने से साधक को अद्वैत भावना का नशा चढ़ जाता है। वह दहराकाश में ध्वनित हो रहे नाद को सावधानी से सुनने लगता है और जागतिक विकल्प जाल से, नाना प्रकार के बाह्य वैखरी वर्णों से घटित नामों के उच्चारण से विमुख हो जाता है। तब वह सदा सदा के लिये अन्तर्मुख हो जाता है। अपने में चित्कला के उल्लास को भर कर और संकोच बुद्धि को दूर भगा कर वह परम सुन्दर भगवती त्रिपुरसुन्दरी के स्वरूप में विलीन हो जाता है। ऐसे साधक को अपने विकल्पों की शुद्धि के लिये स्वात्मदेवता प्रीत्यर्थ इन्द्रियों को तृप्त करने वाले द्रव्यों से परापरा पूजा का अधिकार प्राप्त हो सकता है।

अपरा अथवा परापरा पूजा का साधक सर्वप्रथम अपने शरीर की शुद्धि के लिये, उसको देवमय बनाने के लिये षड्विध न्यास का अनुष्ठान करता है। यह न्यास गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और पीठ के नाम से प्रसिद्ध है (श्लो० ८-४०)। षोढा न्यास के बाद श्रीचक्रन्यास किया जाता है। यह न्यास साधक के शरीर के बाह्य और आन्तर अवयवों को पवित्र कर देता है। पहले संहारक्रम (श्लो० ४१-६९) और बाद

---

१. प्रत्यभिज्ञा पद के अर्थ के लिये देखिये—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भास्करी टीका, प्रथम संस्करण, पृ० ३६-३८, सर्वदर्शनसंग्रह (मूलमात्र) आनन्दाश्रम पूना, द्वितीय संस्करण, पृ० ७४.

२. परापरा पूजा का विवरण यहाँ अलग से न देकर परा और अपरा के साथ ही संक्षेप में दे दिया गया है। इसके विशेष विवरण के लिये 'सारस्वती सुषमा' का म० म० गोपीनाथ कविराज शताब्दी विशेषांक, पृ० १२७-१३९ देखिये।

में सृष्टिक्रम (श्लो० ६९-८१) से यह किया जाता है। इसके बाद करशुद्धयादि न्यास, विद्या न्यास, श्रीकण्ठादि न्यास, तत्त्व न्यास और व्यापक न्यास का विधान है (श्लो० ८१-८६)। अन्त में (श्लो० ८६) परा न्यास का विधान कर तीन श्लोकों (८७-८९) में न्यास प्रकरण का उपसंहार करते हुए चतुर्विध न्यास का कालभेद से विनियोग बताया गया है। परा न्यास में देवी को सौम्य, आग्नेय और अमृतमय द्रव्यों से तृप्त किया जाता है। यह परापरा पूजा का अंग है।

इन चतुर्विध न्यासों से देवमय बना साधक देवी के आसन के रूप में श्रीचक्र की रचना करता है और फिर इसी में देवी की आन्तर और बाह्य वरिवस्या करता है। बाह्य पूजा से पहले आन्तर वरिवस्या करनी चाहिये, इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ज्ञान-दीपविमर्शिनी आदि प्राचीन पद्धति ग्रन्थों में सूर्योपस्थान, सन्ध्या, तर्पण आदि प्रकरणों की दो प्रकार की व्याख्या की गई है। यहाँ भी सर्वप्रथम बाह्य और आन्तर विघ्नों के अपसारण की विधि बताई गई है। तब सामान्य अर्घ्य से ग्रह आदि परिवार के साथ आन्तर और बाह्य सूर्यपूजा का विधान है। श्रीचक्र का निर्माण कपूर, केसर, रोचना, अगुरु, कंकुम आदि के घोल से किया जाता है। श्रीचक्र और साधक के बीच के स्थान में सामान्य और विशेष अर्घ्य के पात्रों की प्रतिष्ठा की जाती है और इनमें सूर्य, चन्द्र और वह्नि की ३८ कलाओं की पूजा की जाती है। अर्घ्यशुद्धि के बाद उसको पहले गुरु-पंक्ति को निवेदित कर मूलविद्या का जप करते हुए साधक स्वात्मयजन के लिये स्वयं भी ग्रहण करता है।

इसके बाद श्रीचक का पूजन आरम्भ होता है। सबसे पहले गणेश और दूतरी, क्षेत्रेश और दूतिका का पूजन किया जाता है। बाह्य द्वार पर स्वस्तिका आदि देवियों की पूजा की जाती है। त्रिकोण चक्र में दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से विभक्त त्रिविध गुरुपंक्ति का पूजन और मध्य बिन्दु में कामेश्वर-कामेश्वरी के युगल स्वरूप की आराधना की जाती है। त्रिकोण में ही काम्य कर्म के अनुसार तिथि-नित्याओं का पूजन किया जाता है। आगे (३।१६७) बताया गया है कि इनकी पूजा चतुरस्र में भी की जा सकती है। इसके बाद संहार क्रम से नौ चक्रों में प्रकटा आदि नौ योगिनियों की आराधना की जाती है। इन्हीं के साथ नि० षो० में प्रदर्शित नौ चक्रों के आवरण देवताओं का भी पूजन किया जाता है। इसका प्रकार यहाँ ११३-१६७ श्लोकों में बताया गया है।

इस प्रकरण में प्रकटा आदि, त्रिपुरा आदि और करशुद्धिकरी आदि का निर्वचन भी बताया गया है। षोडशदल चक्र की वासना के प्रसंग में यहाँ (३।१२७) षोडश प्राणों का उल्लेख किया गया है। दीपिकाकार का कहना है कि दस प्राण तो प्रसिद्ध हैं। बाकी

के छः प्राणों की आगमान्तर में खोज करनी चाहिये। संभव है ये नाम [1]बौद्ध तन्त्रों में उपलब्ध हों। तृतीय चक्र की वासना में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत की चर्चा है। इन शब्दों के विषय में हम अन्यत्र[2] लिख चुके हैं। चतुर्थ चक्र की वासना में बारह ग्रन्थियों का उल्लेख है। यहाँ छः चक्रों में प्रत्येक के ऊपर और नीचे दो-दो ग्रन्थियाँ मानी गई हैं। इनके नाम नेत्रतन्त्र (७।२२-२५) में मिलते हैं। यहीं आगे (३।१८४) बताया गया है कि इन बारह ग्रन्थियों के भेदन से साधक को सुषुम्ना नाडी में प्रवेश मिलता है। चतुर्दशार, बहिर्दशार, अन्तर्दशार और वसुकोण चक्र में यहाँ ९ वर्ग और ४२ वर्ण वाली भूतलिपि का विन्यास बताया गया है। हम अभी बता चुके हैं कि भूत-लिपि मध्यमा वाणी का स्थूल रूप है। पंचम चक्र की वासना में नौ नाद और नौ रन्ध्रों की चर्चा है। नौ नादों की चर्चा हम [3]अन्यत्र कर चुके हैं। दीपिकाकार (३।१४२) ने नवरन्ध्र पद की व्याख्या नवाधारपरक करके उनके नाम गिनाये हैं और इसके लिये स्वच्छन्दसंग्रह को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। यहाँ दीपिकाकार द्वारा दिये गये नामों और स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में परिगणित नामों में समानता नहीं है। इस तरह के नामों का उल्लेख हमें अभी तक कहीं नहीं मिला। अतः इस विषय की हम अभी विशेष चर्चा करने में असमर्थ हैं। नवम चक्र की वासना में महात्रिपुरसुन्दरी को पुनः महाकामकला स्वरूप बताया गया है। इस विषय की चर्चा हम यहीं कर चुके हैं। दीपिकाकार ने बताया है कि कामबीज का उद्धार नि० षो० (१।१८५) में बताई गई विधि से किया जाता है।

नौ चक्रों और नौ नित्याओं के पूजन के बाद देवी को कुलदीप निवेदित किया जाता है। यहाँ (३।१६९-१८९) जप का एक विशिष्ट प्रकार बताया गया है, जो कि हमारी जानकारी में अन्य किसी [4]ग्रन्थ में नहीं मिलता।

जप

श्रीविद्या में वाग्भव, कामराज और शक्ति बीज नाम के तीन कूट हैं। [5]आधार

१. "स्थितः पादतले वायुर्वैरम्भो धनुराकृतिः" वसन्ततिलक (८।५) का यह श्लोक इस ओर इंगित करता हुआ लगता है। झ. मातृका में 'प्राणादिषोडश' के स्थान पर 'प्राणादिदश' (पृ० ३१८) पाठ है। पृ० ३१७ की टिप्पणी भी देखिये।
२. देखिये—नि० षो० उपोद्धात, पृ० १०८ की तीसरी टिप्पणी।
३. द्रष्टव्य—नि० षो० उपोद्घात, पृ० ६३-६५ तथा टिप्पणियां।
४. इस विषय का विशेष परिचय "तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि" नामक ग्रन्थ के 'जपविज्ञान' और 'नादतत्त्व' शीर्षक निबन्धों से प्राप्त किया जा सकता है। स्वच्छन्दतन्त्र (४।२५४-३३४) में प्रकारान्तर से यह विषय वर्णित है।
५. आधार शब्द यहाँ मूलाधारपरक है। सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधरा (पृ० ६९)

हृदय और बिन्दुस्थान (भ्रूमध्य) में तीन कुण्डलिनियाँ स्थित हैं। वह्नि, सूर्य और सोम कुण्डलिनी के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। तीन बीजों के अन्त में विद्यमान हृल्लेखाओं (ह्रींकार) के कामकला नामक अवयव में वर्तमान हार्धकलाओं में ये कुण्डलिनियाँ स्थित हैं। अकुल से [1]भ्रूमध्य पर्यन्त नौ स्थानों में भावित त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों में से तीन तीन चक्रों की एक एक बीज और कुण्डलिनी में नाद रूप से भावना ही जप कहलाती है। इस जपविधि में त्रैलोक्यमोहन आदि तीन चक्रों की तथा वाग्भव बीज की मूलाधार स्थित वह्निमण्डल में स्थिति मानी जाती है। वाग्भव बीज के अन्त में स्थित हृल्लेखा के कामकलाक्षर में वर्तमान हार्धकला रूपी वह्निकुण्डलिनी जब हृदय स्थित कामराज बीज तक उठती है, उस समय उसकी ऊपर उठते हुए नाद के रूप में भावना की जाती है। इसी को वाग्भव बीज जप कहा जाता है। इसी तरह से सर्वसौभाग्यदायक आदि तीन चक्रों की तथा कामराज बीज की हृदय स्थित सूर्यमण्डल में स्थिति मानी जाती है। कामराज बीज के शिखर पर स्थित हृल्लेखा के कामकलाक्षर में वर्तमान हार्धकला रूपी सूर्यकुण्डलिनी जब भ्रूमध्य स्थित शक्ति बीज तक उठती है, उस समय उसकी भी ऊपर उठते हुए नाद के रूप में भावना की जाती है। इसको कामराज बीज जप कहा जाता है। सर्वरोगहर आदि तीन चक्रों की तथा शक्ति बीज की स्थिति भ्रूमध्य स्थित सोम-(इन्दु)मण्डल में मानी जाती है। शक्ति बीज के शिखर पर स्थित हृल्लेखा के कामकलाक्षर में वर्तमान हार्धकला रूपी सोमकुण्डलिनी जब भ्रूमध्य से उठ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पहुँचती है, उस समय समना की सीमा को लाँघ कर नाद उन्मना में प्रविष्ट हो रहा है, इस प्रकार की भावना की जाती है। इसी को शक्ति बीज जप कहा जाता है।

और अरुणामोदिनी (पृ० ७२) टीका में रुद्रहृस्य के प्रमाण से मूलाधार को पृथिवी-तत्त्वात्मक माना है और उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—"मूले गुदस्थाने सर्वाधारभूतं चक्रं मूलाधारमिति" (पृ० ६९), "आ समन्ताद् ध्रियते शरीरमनेने-त्याधारः। मूले गुदस्थाने स्थित आधारो मूलाधारः। अथवा मूलं सर्वेषां चक्राणा-मादिकारणम्, स चासावाधारश्च मूलाधारः, तस्मिन् सर्वचक्राधारे चतुर्दलत्वेन कुण्डलिनीशक्तेर्नित्यनिवासत्वेन प्रसिद्धे मूलाधाराख्ये चक्रे" (पृ० ७२)। यहाँ बताया गया है कि पृथिवी-तत्त्वात्मक मूलाधार के अभाव में या तो देह गिर पड़ेगा अथवा ऊपर उठ जायगा।

१. यहाँ (पृ० ३५९) दीपिकाकार ने अकुल से बिन्दु पर्यन्त स्थानों की चर्चा की है। पहले (पृ० ११३) भी उन्होंने यही व्याख्या की है। इसका कारण भी उन्होंने (पृ० ३६-३७) बताया है। इसके लिये पृ० ३६-३७ और पृ० ११३ की टिप्पणी देखिये। श्रीविद्यार्णव में दीपिकाकार के मत का ही अनुकरण है।

ऊपर बताये गये तीनों बीजों की हृल्लेखाओं में हकार, रेफ, ईकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना—ये बारह कलाएं रहती हैं। द्वादशान्त में जाकर इन सबका लय हो जाता है। वाग्भव बीज स्थित कलाओं का कामराज बीज स्थित नाद में और कामराज बीज की कलाओं का शक्ति बीज स्थित नाद में विलय हो जाता है। अतः इस नाद की बारह कलाओं की स्पष्ट भावना केवल अन्तिम शक्ति बीज में ही की जा सकती है। इस जप में छः शून्यों की, पाँच अवस्थाओं की और सात विषुवों की भी भावना की जाती है।

५० या ५१ पीठ

योगिनीहृदय के पूजासंकेत के षोढान्यास प्रकरण में पीठों के नाम (३।३४-४०) गिनाये गये हैं। पीठ ५० हैं या ५१, इस विषय में अपनी व्याख्या में भास्करराय ने अन्तिम पक्ष का समर्थन किया है। हम नि० षो० के उपोद्घात (पृ० ७८-८३) में पीठ-विषयक विचार प्रस्तुत कर चुके हैं। वहाँ पीठों की संख्या से संबद्ध विभिन्न पक्षों की भी चर्चा की गई है। इनका उल्लेख शैव और बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है। उनमें चार पीठ प्रायः सर्वत्र मान्य हैं। प्राचीन ग्रन्थों में पीठों के पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह, उपसन्दोह, श्मशान, उपश्मशान आदि विभाग मिलते हैं। तन्त्रालोक तथा कौलज्ञाननिर्णय में भी इनका उल्लेख मिलता है। बौद्ध तन्त्रों में ऊपर के विभागों के अतिरिक्त मेलापक, उपमेलापक को जोड़कर पीठों के, जिनको कि यहाँ [1]भूमि नाम भी दिया गया है, द स प्रकार वर्णित हैं। हेवज्रतन्त्र में पीलव, उपपीलव विभाग को मिलाकर भूमियों की संख्या [2]बारह मानी गई है। वसन्ततिलक आदि अनेक बौद्ध तन्त्रों में सब मिलाकर पीठों की संख्या २४ तथा हेवज्रतन्त्र में ३२ है। तन्त्रालोक और उसकी टीका में ३४ पीठ परिगणित हैं। [3]अर्बुद को अर्धपीठ माना गया है। तन्त्रालोक की और बौद्ध तन्त्रों की सूचियों के अनेक नाम एक सरीखे हैं।

आजकल पीठों के ५१ विभाग वाला पक्ष ही बहुत प्रचलित है। भास्करराय के अनुसार योगिनीहृदय को भी यही पक्ष मान्य है। डॉ० डी० सी० सरकार ने "दी शाक्त पीठाज्" नामक ग्रन्थ में प्रधानतः 'पीठनिर्णय' अथवा 'महापीठनिरूपण' नामक ग्रन्थ के आधार पर पीठविषयक विचार प्रस्तुत किये हैं। यहाँ इस ग्रन्थ का उन्होंने सम्पादन भी किया है। उन्होंने इस ग्रन्थ का जो काल निर्धारित किया है (पृ० २३-२४), उससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ योगिनीहृदय से अर्वाचीन

---

१. केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ की शोधपत्रिका 'धीः' का प्रथम अंक, पृ० १४०-१४१ देखिये।

२. वहीं, पृ० १४२-१४३ देखिये।

३. "अर्बुदमर्धपीठं तु" (कौलज्ञाननिर्णय, ८।२२)।

है। पीठविषयक विचार प्रस्तुत करते हुए लेखक ने बौद्ध चतुष्पीठ तन्त्र का उल्लेख किया है, किन्तु इस ग्रन्थ का प्रस्तुत पीठ विभाग से कोई संबन्ध नहीं है। उनके द्वारा उद्धृत (पृ० ११) आत्मपीठ, परपीठ आदि नामों से ही यह स्पष्ट हो जाता है। डॉ० सरकार द्वारा उद्धृत ज्ञानार्णव, कुब्जिकातन्त्र, तन्त्रसार आदि ग्रन्थ कालिक दृष्टि से योगिनीहृदय से अर्वाचीन हैं। अतः प्रस्तुत पीठविषयक विचार हमारी दृष्टि में योगिनीहृदय को केन्द्रबिन्दु मानकर किया जाना चाहिये। डॉ० सरकार का प्रयास अपने आप में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी नूतन सामग्रियों की उपलब्धि के कारण अब कुछ पिछड़ गया है। यहाँ तन्त्रालोक और उसकी टीका में संगृहीत सामग्री का उपयोग नहीं किया गया।

पीठों के सही नाम का निर्णय करना भी एक समस्या है। प्राचीन शैव, शाक्त तथा बौद्ध तन्त्रों की नामावलियों के सहारे ही इनका सही स्वरूप निश्चित किया जा सकता है। पीठविषयक सबसे बड़ी समस्या है, उनकी वर्तमान भौगोलिक स्थिति। कौन पीठ भारत के किस प्रदेश में किस स्थान पर है, इसका निर्णय करने के लिये भी अनेक प्रयास किये गये हैं, किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है। मुख्य चार पीठों—कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओडियान—की अथवा द्वादश ज्योतिर्लिंगों की स्थिति के विषय में भी हम कोई निर्विवाद समाधान नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं। जालन्धर पीठ की भौगोलिक स्थिति को सुनिश्चित करने के लिये हालैण्ड की उत्रेक्ट युनिवर्सिटी योजना बनाने का उपक्रम कर सकती है, किन्तु भारत की धर्मनिरपेक्ष सरकार अथवा विद्यासंस्थाएँ इस तरफ से उदासीन हैं।

योगिनीहृदय के तीनों संकेतों का हमने यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया है। दीपिका टीका, भाषानुवाद और स्थान स्थान पर दी गई टिप्पणियों के सहारे इनका विस्तृत विवरण जाना जा सकता है। दीपिका के सहारे हमें अनेक लुप्तप्राय विषयों का पता चलता है। अतः उसका अपना महत्त्व है। ऐसे कुछ स्थलों को हम यहाँ चर्चा करना चाहते हैं।

नौ आधार

वरिवस्यारहस्य की स्वोपज्ञ प्रकाश टीका (पृ० १६) में भास्करराय ने लिखा है कि सुषुम्ना नाडी के मूल और अग्र भाग में दो सहस्रदल कमल हैं और इन दोनों के बीच में अष्टदल, षड्दल आदि तीस पद्म हैं। इनका स्वच्छन्दसंग्रह आदि में विस्तार से वर्णन किया गया है। स्वच्छन्दसंग्रह अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। भास्करराय को इस विषय की जानकारी दीपिका से ही मिली होगी। ''अकुले[1] विषुसंज्ञे च'' (१।२५)

१. दीपिकाकार ने दो स्थलों पर (१।२५; २।८) सुषुम्ना मूल स्थित अरुण सहस्रदल कमल को अकुल तथा दो स्थलों पर (३।५, ३।१३७) ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अधोमुख श्वेत सहस्रदल कमल को अकुल कहा है। इस प्रसंग में पृ० ३२९ की पहली

इत्यादि श्लोकों की व्याख्या के प्रसंग में अमृतानन्द ने स्वच्छन्दसंग्रह के अनेक वचन उद्धृत किये हैं, जिनसे पता चलता है कि सुषुम्ना नाडी के नीचे और ऊपर रक्त और श्वेत वर्ण के कुल और अकुल नामक दो सहस्रार कमल स्थित हैं तथा इन दोनों के बीच में तीस आधार पंकज विद्यमान हैं। खेद का विषय है कि इन सबका वर्णन करने वाले सभी वचन उद्धृत न होकर केवल योगिनीहृदय द्वारा परिगणित नौ [1]आधारों से संबद्ध वचन ही यहाँ संगृहीत हुए हैं। ये नौ आधार हैं—१. अकुल, २. विषु[2] (अष्टदल या षड्दल), ३. वह्नि (मूलाधार), ४. शाक्त (स्वाधिष्ठान)। ५. नाभि (मणिपूर), ६. अनाहत (हृदय), ७. विशुद्ध(द्वि), ८. लम्बिकाग्र[3] (अष्टदल) और ९. आज्ञा। चक्रसंकेत (१।२८) में सूचित इन नौ आधारों को मन्त्रसंकेत (२।८) में भी स्मरण किया गया है। आगे पूजासंकेत (३।१४२) में नौ नादों और नौ रन्ध्रों का उल्लेख है। दीपिकाकार ने रन्ध्र पद की आधारपरक व्याख्या कर नौ आधारों के नाम बताये हैं और इसमें स्वच्छन्दसंग्रह के वचन को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। हम पहले ही (पृ० ३८) बता चुके हैं कि इन दोनों में समानता नहीं है। यहाँ (३।१४२) प्रथम दो स्थलों (१।२८; २।८) में सूचित प्रथम दो आधारों—अकुल और विषु—का उल्लेख नहीं है। बाकी के सारे नाम एक सरीखे हैं। तदूर्ध्ववज्र, पद्मकण्ठ अथवा मध्यम, वज्रकण्ठ—ये दो नाम नये हैं। यहाँ (पृ० ३३४) उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह की तीसरी पंक्ति में बताया गया है कि इन दो और लम्बिका को छोड़

टिप्पणी देखनी चाहिये। पृ० ३५ पर उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में स्पष्ट ही सुषुम्ना के अधोभाग में स्थित ऊर्ध्वमुख अरुण सहस्रदल कमल को कुल तथा सुषुम्ना के ऊर्ध्वभाग में स्थित अधोमुख श्वेत सहस्रदल कमल को अकुल कहा है। पृ० २२५ पर निर्दिष्ट स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में भी ब्रह्मरन्ध्र स्थित अधोमुख श्वेत सहस्रार को ही अकुल कहा गया है। तृतीय पटल के उपयुक्त दो स्थलों की दीपिकाकार ने तदनुसार ही व्याख्या की है। प्रथम और द्वितीय पटल के दो स्थलों पर योगिनीहृदय के अकुल पद की व्याख्या करते समय वे सुषुम्ना के अधोभाग में स्थित ऊर्ध्वमुख अरुण सहस्रदल कमल को भी लाक्षणिक रूप से अकुल मान लेते हैं। लक्षणा का प्रयोजन यह दिखाना है कि मूलाधारगत कुल पद्म से यह भिन्न है (कुलादन्यदकुलम्—पृ० ३४)।

१. योगिनीहृदय में नवचक्रात्मक श्रीयन्त्र से भिन्नता दिखाने के लिये कायगत नौ चक्रों को आधार या रन्ध्र कहा गया है।

२. मूल पृ० ३६ की दूसरी तथा पृ० ११३ की टिप्पणी देखिये।

३. सेतुबन्धकार भास्करराय ने लम्बिका के पर्याय के रूप में इन्द्रयोनि शब्द का उल्लेख किया है (१।२५-२७, २।८, पृ० ४३, ९६)।

देने से [1]छः चक्र रह जाते हैं। आजकल योगशास्त्र के ग्रन्थों में इन छः चक्रों को ही प्रधानता मिली हुई है। इन छः चक्रों का उल्लेख योगिनीहृदय[2] में भी डाकिनी आदि छः धातुदेवताओं के प्रसंग में मिलता है। सौन्दर्यलहरी[3] में भी छः चक्रों को मान्यता मिली है। स्वच्छन्दसंग्रह के उक्त वचन में छः चक्रों और नौ आधारों की एकजातीयता बताई गई है, किन्तु नेत्रतन्त्र[4] में षट्चक्र और षोडश आधार की अलग-अलग गणना की गई है और क्षेमराज[5] ने कुलप्रक्रिया के अनुसार सोलह आधारों का वर्णन भी किया है। तन्त्रालोकविवेक[6] धृत नन्दिशिखातन्त्र में भी षट्चक्र और षोडश आधार का उल्लेख है। नेत्रतन्त्र के समान [7]हठयोग के ग्रन्थों में भी षट्चक्र, षोडश आधार, लक्ष्यत्रय और व्योमपंचक का वर्णन मिलता है। इन सबका तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त रुचिकर हो सकता है। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के छठे षट्चक्रनिरूपण प्रकरण में वर्णित षट् चक्रों की प्रक्रिया स्वच्छन्दसंग्रह (दीपिका १।२५-२६ में उद्धृत) के वर्णन से कुछ भिन्न है। ऐसे स्थलों पर अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार ही भावना की पद्धति शास्त्रकारों ने मान्य की है।

वर्णों और तत्त्वों की उत्पत्ति

वर्णों की, विशेष कर १६ स्वरों की उत्पत्ति की प्रक्रिया दीपिकाकार ने भूतलिपि की वासना के प्रसंग में (पृ० ३२५-३३०) परापंचाशिका (श्लो० ३२-४४) के आधार पर बताई है। स्वनिर्मित ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय (१।१६-२६) में भी ग्रन्थकार ने इस विषय का वर्णन किया है, किन्तु दीपिका में वह केवल परापंचाशिका का उल्लेख करते हैं, अपने ग्रन्थ का नहीं। इससे परापंचाशिका के प्रति अमृतानन्द का आदरभाव प्रकट होता है। परापंचाशिका का यह वर्णन परात्रिंशिका (श्लो० ५-९) पर आधृत लगता है। यहाँ संक्षेप में उसको प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. "षट्चक्राणि त्रिहीनकम्" (पृ० ३३४)।

२. विशुद्धौ हृदये नाभौ स्वाधिष्ठाने च मूलके।
आज्ञायां धातुनाथाश्च न्यस्तव्या डादिदेवताः॥ (३।३०)

३. मही मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे॥ ९॥

४. ऋतुचक्रं स्वराधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् (७।१)

५. नेत्रतन्त्र के उक्त श्लोक की व्याख्या देखिये।

६. षट्चक्रं षोडशाधारं कुलं जानाति सुव्रते (१३।१८०)।

७. नित्यनाथ की सिद्धसिद्धान्तपद्धति (पृ० ७-८) में नौ चक्र माने गये हैं।

सौभाग्यसुधोदय (१।१८-१९) में सत्ता को शिव का तथा उद्रेक को शक्ति का प्रतीक माना है। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियां सत्ता के अंश हैं। इनसे क्रमशः अकार, इकार और उकार की अभिव्यक्ति होती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियां उद्रेक के अंश हैं। इनसे क्रमशः आकार, ईकार और ऊकार का आविर्भाव होता है। परापंचाशिका में भी यही क्रम वर्णित है। वहाँ इच्छा, ज्ञान और क्रिया शब्द से उपलक्षण के रूप में वामा, ज्येष्ठा और रौद्री का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। चार षण्ढ स्वरों की उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए वहाँ (१।२०-२१) बताया गया है कि प्रकाशात्मक अकार का स्वरूप धारण करने वाला परप्रमाता आदिशिव अपनी विमर्श शक्ति को जगाकर जब इच्छा शक्ति के सहारे सारे जगत् की सृष्टि करना चाहता है, तो उस समय उसमें ईशन शक्ति का उदय होने लगता है। इच्छा शक्ति के उन्मेष के बाद और ईशन शक्ति के उन्मेष से पहले, अर्थात् दोनों की अन्तराल अवस्था में मिश्रित स्वरूप वाले चार स्वरों की निष्पत्ति होती है। इनमें ह्रस्व स्वरों की अभिव्यक्ति में इच्छा (इकार) का और दीर्घ स्वरों की अभिव्यक्ति में ईशन (ईकार) का योगदान रहता है। शिक्षा ग्रन्थों और व्याकरण शास्त्र में वर्णों के उच्चारण के स्थानों का क्रमिक वर्णन मिलता है। [1]वहाँ भी इकार और उकार के उच्चारण स्थानों के बीच में ऋकार और ऌकार का उच्चारण-स्थान माना गया है। सन्ध्यक्षरों की उत्पत्ति को बताते हुए कहा गया है कि इच्छा (इकार) और अनुत्तर (अकार) के संयोग से एकार की, एकार और अनुत्तर के योग से ऐकार की, उन्मेष (उकार) और अनुत्तर के संयोग से ओकार की और ओकार तथा अनुत्तर के योग से औकार की निष्पत्ति होती है। बिन्दु के विषय में बताया गया है कि बिन्दु वेद्य जगत् का संस्कार करता है। वेद्य जगत् के संस्कार का अभिप्राय यह है कि यहाँ परम शिव वेदक और वेद्य के रूप में विभक्त होकर अपने स्वरूप का संकोच कर लेता है। ये पन्द्रह स्वर प्रतिपदा आदि पन्द्रह तिथियों के प्रतिनिधि हैं। सूर्य और चन्द्र के संचरण से जैसे तिथियां बनती हैं, उसी तरह रवि और शशि के प्रतिबिम्ब स्वरूप बिन्दुद्वयात्मक आकृति वाले शिवशक्तिमय विसर्ग के संचरण से इन पन्द्रह स्वरों का प्रादुर्भाव होता है।

तन्त्रसार (पृ० १२-१५) में अभिनवगुप्त ने इस विषय को संक्षेप में इस तरह से प्रस्तुत किया है—परमेश्वर की तीन मुख्य शक्तियां हैं। ये हैं—अनुत्तर (अकार), इच्छा (इकार) और उन्मेष (उकार)। अनुत्तर की आनन्द (आकार) में, इच्छा की ईशन (ईकार) में और उन्मेष की विश्रान्ति ऊर्मि (उकार) में होती है। यहाँ प्रथम त्रिक प्रकाशस्वभाव होने से सूर्यात्मक तथा द्वितीय त्रिक विश्रान्तिस्वभाव आह्लाद-

---

१. "इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ" (सिद्धान्तकौमुदी, संज्ञाप्रकरण)।

प्रधान होने से सोमात्मक है। यहाँ तक क्रिया शक्ति का प्रवेश नहीं होता। ऊर्मि (ऊकार) से ही क्रियाशक्ति की प्रवृत्ति होती है। जब इच्छा या ईशन में क्रिया शक्ति प्रविष्ट होती है, तो इसके दो भेद हो जाते हैं। प्रकाश के अंश से ऋश्रुति और विश्रान्ति के अंश से लृश्रुति प्रस्फुरित होती है। इनका उच्चारण अभी अस्फुट रहता है, अतः व्यंजन के समान इनकी स्थिति नहीं रहती। इनमें स्वर और व्यंजन दोनों के धर्मों के रहने से इनको नपुंसक (षण्ढ) कहा जाता है। अनुत्तर और आनन्द का जब इच्छा और उन्मेष में प्रसार होता है, तो ए और ओ इन दो स्वरों की तथा ए और ओ से अनुत्तर और आनन्द का संघट्ट होने पर ऐ और औ की निष्पत्ति होती है। यहाँ तक क्रिया शक्ति का व्यापार चलता है। इसके बाद सारा कार्य-जगत् पुनः अनुत्तर में प्रविष्ट होना चाहेगा, किन्तु ज्ञान शक्ति की सहायता से पहले वह वेदनरूप बिन्दु में तथा उसके बाद विसर्ग के रूप में परिणत हो जाता है। ये सोलह परामर्श [1]बीजस्वरूप हैं और व्यंजनों को योनि कहा जाता है।

व्यंजनों की उत्पत्ति की प्रक्रिया तन्त्रसार (पृ० १५-१६) में ही इस तरह से बताई गई है—अनुत्तर से कवर्ग की, श्रद्धात्मक इच्छा से चवर्ग की, सकर्मक इच्छा से टवर्ग और तवर्ग की तथा उन्मेष से पवर्ग की निष्पत्ति होती है। त्रिविध इच्छा से य र ल की तथा उन्मेष से वकार की, पुनः त्रिविध इच्छा से श ष स की तथा विसर्ग से हकार की निष्पत्ति मानी गई है। क्षकार योनि (व्यंजन) के संघट्ट से बनता है।

भगवान् अनुत्तर (अकार) ही इस स्वरव्यंजनात्मक कुल का स्वामी (कुलेश्वर) है और विसर्ग उसकी शक्ति है। इसका नाम कौलिकी है। इसकी सहायता से आनन्द से लेकर हकार पर्यन्त यह वर्णात्मक सृष्टि होती है। वर्गों में विभक्त ये वर्ण ही तत्त्वों का रूप धारण कर लेते हैं। विसर्ग शक्ति आणव, शाक्त और शांभव के भेद से तीन प्रकार की है। आणव शक्ति चित्तविश्रान्ति रूप, शाक्त चित्तसंबोध रूप और शांभव शक्ति चित्त-प्रलय रूप मानी जाती है। इस त्रिविध विसर्ग शक्ति की सहायता से भगवान् कुलेश्वर विश्वव्यापार में प्रवृत्त होते हैं। निर्विभाग रूप में परामर्श करने पर ये अकेले हैं। [2]बीज और योनि के रूप में विभक्त होने पर ये शक्ति और शक्तिमान् के रूप में

---

१. "द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी।
बीजयोन्यात्मकाद् भेदाद् द्विधा, बीजं स्वरा मताः ॥
कादिभिश्च स्मृता योनिः, नवधा वर्गभेदतः।
प्रतिवर्णविभेदेन शतार्धकिरणोज्जला ॥
बीजमत्र शिवः, शक्तिर्योनिः" (मालिनीविजय, ३।१०-१२)।

२. ऊपर की टिप्पणी देखिये।

द्विविध भासित होते हैं। क्षकार और अन्य आठ वर्गों के साथ मिलकर ये नववर्गात्मक हो जाते हैं। मातृका का रूप धारण करने पर ये पचास प्रकार के हो जाते हैं। इस प्रकार तन्त्रसार में अतिसंक्षेप में बताई गई इस वर्णसृष्टिप्रक्रिया का अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३।१६७-२१९) में विस्तार से वर्णन किया है।

परात्रिंशिका के ६-९ श्लोकों की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने वर्णों से तत्त्वों की उत्पत्ति का संक्षेप में उल्लेख किया है। [1]वे कहते हैं कि अकार से विसर्ग पर्यन्त शिव तत्त्व की व्याप्ति है। कवर्ग से पांच महाभूत, चवर्ग से पांच तन्मात्रा, टवर्ग से पांच कर्मेन्द्रिय, तवर्ग से पांच ज्ञानेन्द्रिय, पवर्ग से मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष नामक पांच तत्त्व, यकार से वकार पर्यन्त चार वर्णों से मशः राग-नियति, विद्या, कला-काल और माया तत्त्व की सृष्टि होती है। शकार से क्षकार पर्यन्त पांच वर्णों से ब्रह्मपंचक, अर्थात् महामाया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति नामक तत्त्वों की सृष्टि होती है। यह आदि-क्षान्ता वर्णमाला ही सभी मन्त्रों और [2]विद्याओं की भी जननी है। परापंचाशिका ं १४-१८ श्लोकों में भी तत्त्वों की वर्णात्मकता का यही क्रम वर्णित है।

योगिनीहृदय के चक्रसंकेत में वर्णों अ त्वों की चक्रात्मकता और मन्त्रसंकेत में विद्यागत वर्णों की तत्त्वात्मकता प्रतिपादित है। इसी तरह से पूजासंकेत (३।११४-१५४) में नौ चक्रों की वैखरीमयता और मध्यमा वाणी रूप भूतलिपिमयता वर्णित है। दीपिकाकार (३।१०८) ने स्पष्ट कहा है कि स्वप्रथा का अर्थ है अपनी संवित्। उसका जब इन्द्रिय मार्ग से बाहरी अथ ों में प्रसार होता है, व्यापार चलता है, तो वह संवित् विश्वाकार बन जाती है। श्रीचक्र इसी का परिणाम है। श्रीचक्र और कुछ नहीं है, किन्तु अपनी संविद्देवी ही बाहर फैलते समय अन्तःकरण चतुष्टय, अव्यक्त, महत्, अहंकार, तन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, इनकी वृत्तियां, इनके विषय, पुर्यष्टक और सोलह विकार पर्यन्त इस समस्त विश्वप्रपंच का स्वरूप धारण कर लेती है। इसी का नाम श्रीचक्र है।

शिव के अघोर, वामदेव आदि पाँच मुखों से पृथिवी आदि पाँच तत्त्वों की उत्पत्ति मानी जाती है और इन पाँच तत्त्वों को ही प्रधान मान कर अन्य सभी तत्त्वों का इन्हीं में अन्तर्भाव किया जाता है। दीपिकाकार ने स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से इस विषय का भी

---

१. इस प्रसंग को आचार्य नीलकण्ठ गुरुटू ने परात्रिंशिका के अपने भाषानुवाद की टिप्पणियों (पृ० १५१-१५४) में स्पष्ट किया है।

२. परात्रिंशिका के इस वचन से भी स्पष्ट है कि पुरुष और स्त्री देवताओं के मनुओं के लिये मन्त्र और विद्या शब्द का पृथक्-पृथक् प्रयोग होता रहा है।

यथावसर वर्णन किया है (पृ० १६९)। इस प्रसंग में पृ० १३८-१३९ की तथा पृ० १६५ की टिप्पणियाँ देखनी चाहिये।

पृ० १५५-१५७, १६३-१६९, १८६-१८८ में सांख्यदर्शन और शैवागमों में प्रतिपादित अनेक सिद्धान्तों की दीपिकाकार ने चर्चा की है। इन विषयों के स्पष्टीकरण के लिये यहाँ अनेक टिप्पणियाँ दी गई हैं तथा कुछ विशिष्ट ग्रन्थों का स्थाननिर्देश भी किया गया है, जहाँ कि इन विषयों की विशेष चर्चा हुई है। उनमें से एक विशेष विषय की चर्चा करना हम आवश्यक समझते हैं। सांख्यकारिका (श्लो० २५) में सात्त्विक के लिये वैकृत और राजस के लिये तैजस शब्द प्रयुक्त है। शैवागमों में मतंगपारमेश्वर (वि० १८।४३-४४) सांख्यकारिका का अनुसरण करता है। इसके विपरीत मृगेन्द्रागम (वि० १२।२), भोगकारिका (श्लो० ३५), [1]तत्त्वप्रकाश (श्लो० ५४) आदि में सात्त्विक के लिये तैजस और राजस के लिये वैकृत शब्द प्रयुक्त हुआ है। दीपिका (पृ० १८८) में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह को भी यही क्रम मान्य है। सात्त्विक को वैकृत और राजस को तैजस कहना कुछ अटपटा सा लगता है।

कामकला

कामकला अथवा कामबिन्दु की यहाँ अनेक स्थलों पर चर्चा आई है। हमने १६-१७, १९, ५४ और ५६ पृष्ठों की टिप्पणियों में इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। भावार्थ प्रकरण (२।२०-२५) में भी इसकी व्याख्या देखी जा सकती है। त्रिपुरा सम्प्रदाय का यह अपना सिद्धान्त है। विभिन्न ग्रन्थों में इसकी अनेकविध व्याख्या की गई है। महाकालसंहिता के एक खण्ड का नाम ही कामकला खण्ड है। हम जानते हैं कि अपने पति महान् मीमांसक मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में हारता हुआ देख उनकी विदुषी पत्नी भारती ने शंकराचार्य से कामकला विषयक प्रश्न किया था। इस कामकला के स्वरूप की ही पुण्यानन्द ने अपने कामकलाविलास में व्याख्या की है। श्रद्धेय कविराज जी ने भी अपने ग्रन्थ ''तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि'' में संगृहीत 'शक्तिसाधना' और 'सृष्टि का उन्मेष' (शाक्तमत) शीर्षक निबन्धों में तथा ''भारतीय संस्कृति और साधना'' के प्रथम भाग में संकलित 'शक्ति का जागरण' शीर्षक निबन्ध में इस विषय को स्पष्ट किया है। अभी हाल में (२३-२९ अगस्त, सन् १९८७) हालैण्ड के लाइडेन नगर स्थित कर्न इंस्टीट्यूट में सम्पन्न हुए विश्व संस्कृत परिषद् के सातवें अधिवेशन की आगम और तन्त्रशास्त्र विषयक गोष्ठी (२८ अगस्त, प्रातःकाल) में कामकला पर एक सचित्र लेख पढ़ा गया था। आशा की जा सकती है कि यह सचित्र निबन्ध वहाँ से प्रकाशित होने वाले विवरण में प्रकाशित होगा और इससे पाठक लाभान्वित हो सकेंगे।

१. तत्त्वप्रकाश की तात्पर्यदीपिका टीका के लेखक कुमार(देव) ने यहाँ सांख्यकारिका का अनुसरण किया है।

छः अथवा आठ धातु

अष्टांगहृदय[1] आदि आयुर्वेद के ग्रन्थों में रस, रक्त आदि सात धातुओं की चर्चा है। योगिनीहृदय (२।६०) की दीपिका में अष्टांगहृदय के इसी श्लोक को उद्धृत कर धातुओं और योगिनियों की संख्या सात बताई गई है, किन्तु आगे (३।३०) छः ही धातुदेवताओं का उल्लेख और व्याख्यान है। सेतुबन्धकार भास्करराय की व्याख्या भी दोनों स्थलों पर परस्पर विरुद्ध है। इसका समाधान हम पृ० १९० की टिप्पणी में कर चुके हैं। तदनुसार इस प्रकरण में धातुओं और धातुदेवता डाकिनियों की संख्या छः ही मानी जायगी। योगिनीहृदय में ही आगे (३।११४) योगिनी पद से ब्राह्मी आदि आठ देवियों का ग्रहण कर धातुओं की संख्या भी आठ मानी गई है। उक्त सात धातुओं के साथ क्रोध (ओज)[2] को जोड़ने पर धातुओं की संख्या आठ हो जाती है। इस संबन्ध में पृ० ३१० की टिप्पणी देखी जा सकती है। योगिनीहृदय और दीपिका में सर्वत्र रस के स्थान पर 'त्वक्' शब्द प्रयुक्त है। दीपिकाकार (३।११४) ने त्वक् का भ्रूमध्य से, रक्त का नितम्ब, मांस का नाभि, मेदा का हृदय, अस्थि का कण्ठ, मज्जा का मुख, शुक्र का नासापुट तथा क्रोध (ओज) का ललाट चक्र से संबन्ध बताया है। ऐसा करते समय उन्होंने इसके लिये कोई प्रमाण नहीं दिया।

व्याकुलाक्षर

ख. मातृका को छोड़ कर योगिनीहृदय अथवा दीपिका की अन्य किसी मातृका में व्याकुलाक्षर का प्रयोग नहीं मिलता, जब कि भास्करराय ने योगिनीहृदय के कुछ श्लोकों को [3]व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखा हुआ माना है। तन्त्रराजतन्त्र तथा परमानन्दतन्त्र की टीका के पटल समाप्ति के सूचक पद्यों में व्याकुलाक्षर पद्धति का अनुसरण किया गया है। भास्करराय ने सेतुबन्ध (७।८३) में इस पद्धति को समझाने के लिये इस पद्य को उद्धृत किया है—

देव ता र थ गो मू क इति यो वेत्ति न क्रमम्।
स व्याकुलाक्षरे मूको देवतारथगोऽपि सन्॥

१. ''रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः'' (सूत्रस्थान, १।१८)।

२. ''सर्वेषामन्तःबहिष्करणानां यद् यदनुप्रविशति तत्तन्मध्यनाडीभुवि सर्वाङ्गानुप्राणनसारायां प्राणात्मना चेतनरूपेणास्ते यदोज इति कथ्यते'' (पृ० ४५-४६) परात्रिंशिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने यह ओज का लक्षण दिया है।

३. हमें सुहृद्वर प० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय ने सूचना दी है कि सं. सं. वि. वि. से प्रकाशित वेदविषयक ग्रन्थ 'बैठपरिभाषा' में भी व्याकुलाक्षर पद्धति का प्रयोग किया गया है।

व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखे गये श्लोक के पादों में ऊपर बताये गये क्रम से अक्षरों का क्रम बदल दिया जाता है। इस क्रम को समझने के लिये भी भास्करराय ने ही नाथनवरत्नमाला की अपनी स्वोपज्ञ टीका में दूसरा श्लोक दिया है—

कटपयवर्गभवैरिह पिण्डान्त्यैरक्षरैरङ्काः।
नेत्रे शून्यं ज्ञेयं तथा स्वरे केवले कथिते॥

इस वचन के अनुसार क से ञ तक, ट से न तक के अक्षरों से एक से दस तक, प से म तक के अक्षरों से एक से पांच तक और य से क्ष तक के अक्षरों से एक से नौ संख्या का ग्रहण होगा। इस पद्धति से ऊपर के पहले श्लोक के दे से ८, व से ४, ता से ६, र से २, थ से ७, गो से ३, मू से ५ और क से १ संख्या गृहीत होगी। इस क्रम से श्लोकों के पादों को व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखने पर पहले पाद का आठवां, फिर चौथा, छठा, दूसरा, सातवाँ, तीसरा, पांचवाँ और अन्त में पहला अक्षर लिखा जायगा। जैसे कि सेतुबन्ध में ही आठवें विश्राम के १९९ वें श्लोक के प्रथम पाद को त्स्यं सं था द्यं म मां त म—इस तरह से व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखा गया है। आठवें अक्षर को पहले (म), चौथे अक्षर को दूसरे (द्यं), छठे अक्षर को तीसरे (मां), दूसरे अक्षर को चौथे (सं), सातवें अक्षर को पांचवें (त), तीसरे अक्षर को छठे (था), पांचवें अक्षर को सातवें (म) और अन्त में पहले अक्षर को आठवें (त्स्यं) क्रम से लिखने पर व्याकुलाक्षर पाद का सही स्वरूप इस प्रकार बन जाता है—म द्यं मां सं त था म त्स्यं। अन्यत्र भी इसी तरह से व्याकुलाक्षर पद्धति से लिखे गये वाक्यों का उद्धार कर उनका सही स्वरूप जाना जा सकता है।

क्रम-व्युत्क्रम

योगिनीहृदय और दीपिका में अनेक स्थानों पर किसी न किसी कारण से परम्परा प्राप्त क्रम बदल दिया गया है। जैसे कि श्लोक १८-१९ में रौद्री, ज्येष्ठा और वामा शक्ति के क्रम को बनाये रखने के लिये चतुष्कोण का पहले और भ्रमित्रय का पाठ बाद में किया गया है। इसी प्रकार "शाक्ते वह्नौ"[2] (२।२५) यह क्रम न होकर "वह्नौ शाक्ते" यह क्रम होना चाहिये। कामरूप आदि पीठों की योगिनीहृदय प्रतिपादित मन, अहंकार, बुद्धि और चित्तरूपता के प्रमाण में अपने ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय को उद्धृत करते समय दीपिकाकार ने वहाँ का क्रम बदल दिया है (पृ० ६१)। इसी तरह से योगिनीहृदय की श्रीचक्र की सृष्टि प्रक्रिया को बनाये रखने के लिये दीपिकाकार ने सुभगोदय-

---

१. यह ग्रन्थ अब श्रीगुरुनवरत्नमाला के नाम से स्वोपज्ञ व्याख्या के साथ पीताम्बरा पीठ, दतिया से प्रकाशित हो चुका है।

२. भास्करराय ने यहाँ यथास्थित पाठ को ही मान्यता दी है।

वासना के श्लोकों का भी क्रम बदला है (पृ० ७१-७२)। त्रिविध पशुओं का क्रम सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल है, किन्तु "अशुद्धशुद्धमिश्राणाम्" (२।४३) पदों की व्याख्या करते समय दीपिकाकार ने योगिनीहृदय के क्रम से ही इन पदों की व्याख्या की है। "पिण्डरूपपदग्रन्थि" (३।९१) यहाँ पिण्ड, पद, रूप—यह क्रम होना चाहिये, किन्तु छन्द के अनुरोध से यहाँ पद के पहले ही रूप पढ़ दिया गया है। ऐसे स्थलों की व्याख्या करते समय दीपिकाकार ने यथोचित पूरी सावधानी बरती है।

दीपिका की कुछ विसंगतियां

ऊपर वर्णित सभी विशेषताओं के रहते हुए भी दीपिका में कुछ विसंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख कर उनके समाधान का प्रयत्न हमने टिप्पणियों में किया है। प्रारम्भ में ही नौ चक्रों की वासना के प्रसंग में स्वर और व्यंजनों का विन्यास बताते हुए मकार का विनियोग कहीं भी नहीं किया गया। पृ० २६ की टिप्पणी में हमने इसका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, किन्तु २।७० तथा ३।१००-१०१ की व्याख्या में भी दीपिकाकार ने इसी बात को दुहराया है। दूसरी तरफ हम यह देखते हैं कि योगिनीहृदय (२।७०) में पचास ही वर्ण माने गये हैं और दीपिकाकार (१।४६, २।७०) ने भी इस बात को स्वीकार किया है।

"अकुले विषुसंज्ञे च" (१।२५) इत्यादि श्लोक की व्याख्या में अमृतानन्द ने विषु को अकुल का विशेषण माना है और नवें आधार के रूप में बिन्दु का ग्रहण किया है। "अकुलादिषु" (२।८) यहाँ पर भी दीपिकाकार ने नवम आधार के रूप में बिन्दु को ही लिया है। इस विषय में हम पृ० ३६-३७ तथा पृ० ११३ की टिप्पणियों में और यहां उपोद्घात (पृ० ३२ टि०) में भी आवश्यक विचार कर चुके हैं। कुल और अकुल की द्विविध व्याख्या का समाधान भी हम ग्रन्थभाग के पृ० ३२९ की तथा उपोद्घात भाग पृ० ३४-३५ की टिप्पणी में कर चुके हैं। इसी तरह अमृतानन्द योनि और बीज की भी परस्पर विरुद्ध दो तरह की व्याख्या करते हैं (पृ० १५३-१५४, ३१६-३१८, ३४४)। पृ० १५४ तथा पृ० ३४४ की टिप्पणियों में इस ओर इंगित कर हमने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। १।१० तथा ३।१७५-१७६ की व्याख्या को अधिक स्पष्ट करने के लिये हमने वहाँ (पृ० १६-१७ तथा ३६४-३६५) विशेष टिप्पणियाँ की हैं। इसी तरह से कामेश्वर के बाण बीजों का उद्धार बताने वाले स्वच्छन्दसंग्रह के वचन की अस्पष्टता को देखते हुए वहाँ भी टिप्पणी की है। नौ रन्ध्रों (नवाधार) की दीपिका (पृ० ३३४) में उपलब्ध द्विविध नामावली की चर्चा अभी हम 'आधार' शीर्षक के अन्तर्गत कर चुके हैं। दीपिकाकार ने "देहाक्षादिविशुद्धिदा ......योगादिक्लेशभेदेन" (३।१४०-१४१) यहाँ अक्ष (इन्द्रिय) पद की व्याख्या करते समय नैयायिक मत के अनुसार इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का उल्लेख किया है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि नैयायिक इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं,

अतः उनके मत में इन्द्रियों की प्राप्यकारिता उचित है। इसके विपरीत सांख्यदर्शन में इन्द्रियों की आहंकारिकता मानी जाती है। यहां इन्द्रियों की प्राप्यकारिता का सिद्धान्त मान्य नहीं है। दीपिकाकार सर्वत्र शैवागम संमत सांख्य दृष्टि का अनुवर्तन करते हैं। अतः यहाँ प्रदर्शित इन्द्रियों की प्राप्यकारिता परपक्ष प्रदर्शन मात्र माना जायगा। इसको दीपिकाकार का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। इसीलिये उन्होंने 'योग' पद का अर्थ संयोग न कर समवाय किया है।

आभार प्रदर्शन

सितम्बर, ८२ से अगस्त, ८५ तक हमने भारत सरकार की शास्त्रचूडामणि योजना में कार्य किया। इससे पहले ही योगिनीहृदय के द्वितीय संस्करण की निजी प्रति को हमने योगिनीहृदय और दीपिका की सरस्वती भवन, वाराणसी स्थित ख. और ग. मातृकाओं के आधार पर परिष्कृत कर लिया था। इस ग्रन्थ-युगल का भाषानुवाद करने से पहले अन्य उपलब्ध मातृकाओं की सहायता से इनका पूर्णतया संशोधन कर लेना हमें उचित प्रतीत हुआ और इस कार्य को हमने दो वर्षों (सन् ८२-८३) में पूरा किया। दिनांक २८-१२-८३ से २४-१-८४ तक ग्रन्थ के परिष्कृत स्वरूप का लेखन कार्य सम्पन्न हुआ तथा सन् ८४ के अन्त तक अनुवाद का कार्य चलता रहा। दि० ५-१२-८४ से २७-१२-८४ की अवधि में पाठ निर्धारण का कार्य भी पूरा हो गया। अब केवल प्रकाशन की प्रतीक्षा थी। एक अथवा दूसरे कारणों से इसमें विलम्ब होता रहा और अन्ततः मोतीलाल बनारसी दास ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय लिया। इस प्रसंग में हम शिक्षा मन्त्रालय, डॉ० आन्द्रे पादु और मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन संस्था को विशेष रूप से स्मरण करना चाहते हैं। सुहृद्वर पण्डित श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी के प्रयत्न से ही विज्ञानभैरव भाषानुवाद का प्रकाशन हो सका था। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भी उनकी प्रेरणा ही प्रधान रही है। इस ग्रन्थ को सुपरिष्कृत रूप देने में उनके सुझाव बहुत उपयोगी रहे हैं। हम उनके प्रति भी आभार प्रदर्शित करते हैं। सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी; गायकवाड़ शोधसंस्थान, बड़ोदरा; राजस्थान पुरातत्त्व मन्दिर, जोधपुर तथा उसकी उदयपुर शाखा के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को भी हम कृतज्ञता के साथ स्मरण करना चाहते हैं। परापंचाशिका की मातृकाएँ हमें चार स्थानों से मिलीं, जिनकी चर्चा हम यथास्थान कर चुके हैं। इन संस्थाओं के प्रति भी हम अपना आभार व्यक्त करते हैं। परिशिष्टों के निर्माण में चि० तरुणकुमार द्विवेदी, बी० ए० ने सहायता की। हम उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

मकर संक्रान्ति, संवत् २०४४ — व्रजवल्लभ द्विवेदी
वाराणसी, १५-१-८८ — शास्त्रचूडामणि विद्वान्

विषय-सूची

उपोद्घात

१. चक्रसंकेत

२. मन्त्रसंकेत

३. पूजासंकेत

परिशिष्ट

योगिनीहृदयम्

दीपिकाभाषानुवादसंवलितम्

चक्रसंकेतः प्रथमः

जगद्वन्द्यावेतौ गणपबटुकौ विश्वविनुतौ
जगद्रक्षाशीलौ जपनिरतसामीप्यफलदौ[१]।
रथाङ्गे सन्नद्धौ रविशशिकृशानूज्ज्वलदृशौ
मयि स्यातां रक्षापरवशधियौ सद्गुणमयौ ॥१॥
[२]तन्नित्यं ज्योतिषां ज्योतिर्जयत्येकमनुत्तरम्[३]।
न यद्[४] भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः[५] ॥२॥

सारा संसार जिनकी वन्दना और स्तुति करता है, जो सदा जगत् की रक्षा करने में लगे रहते हैं, जप में लगे साधकों को जो [1]सामीप्य नामक मोक्ष प्रदान करते हैं, श्रीचक्र के साथ जो सदा संयुक्त हैं, सूर्य-चन्द्र और अग्निरूपी तीन उज्ज्वल नेत्रों को जो धारण करने वाले हैं, ऐसे सारे सद्‌गुणों के निधान गणेश और बटुक मेरी रक्षा करने में लग जांय ॥१॥

सभी प्रकाशात्मक वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली वह एक और नित्य अनुत्तर शिवात्मक ज्योति ही सर्वश्रेष्ठ है। इसको सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकते। अभिप्राय यह है कि उस प्रकाशात्मक ज्योति से ही सब कुछ प्रकाशित होता है ॥२॥

---

१. साहित्यवरदौ–ख. ग. ज. झ. ने. उ.। २. य–क.। ३. तमम्–क.। ४. तद्–क.। ५. तारकाः–ग. झ. उ.।

1. गणेश और बटुक भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के निवासस्थान श्रीचक्र के द्वार-रक्षक हैं। श्रीचक्र के बाह्य द्वार पर इनकी पूजा का विधान है (यहीं पूजासंकेत का १०९ वां श्लोक देखिये)। दीपिका की प्रायः सभी मातृकाओं में 'सामीप्यफलदौ' के स्थान पर 'साहित्यवरदौ' पाठ मिलता है। मुद्रित पुस्तक के इस पाठ को केवल उ. मातृका का समर्थन मिलता है। इन दोनों पाठों के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है, तो भी हमने यहाँ 'सामीप्यफलदौ' पाठ को ही मूल में इस लिये रखा है कि इससे सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य के नाम से पुराण, आगम आदि में चतुर्धा विभक्त मुक्ति का बोध सरलता से हो जाता है। जैसे राजदरबार में पहुँचा देना द्वार-

विमर्शरूपिणी शक्तिरस्य विश्वगुरोः परा ।
परिस्फुरति सैकापि नानानामा[१]र्थरूपिणी ॥३॥
पश्यन्त्यादिक्रमादेतौ जातौ प्रश्नोत्तरात्मना[२] ।
तन्त्रावतारं तन्वाते सर्वत्रानुजिघृक्षया ॥४॥
तद्वामकेश्वरे तन्त्रे सूचितार्थान् परापरान् ।
व्यक्तीकर्तुं प्रयतते योगिनीहृदयेऽधुना ॥५॥
मानुषीहृदयं मर्त्यो वेत्ति नैकोऽपि तत्त्वतः ।
योगिनीहृदयं ज्ञातुं कः समर्थः शिवं विना ॥६॥

इस विश्वगुरु शिव की विमर्शस्वरूपिणी परा शक्ति एक ही है, किन्तु इस जगत् में वह नाना प्रकार के नाम और रूपों में भासित होती रहती है ॥३॥

यह परम शिव और परा शक्ति परा अवस्था से उतर कर पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के क्रम से गुरु और शिष्य के रूप में प्रकट होते हैं और प्रश्न-प्रतिवचन पद्धति से सब प्राणियों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से तन्त्रशास्त्र की अवतारणा[1] करते हैं ॥४॥

इसी पद्धति से वामकेश्वर तन्त्र उपदिष्ट हुआ है। उसमें अनेक मुख्य और गौण विषयों की पूर्वापर क्रम से मात्र सूचना दी गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ[2] योगिनीहृदय में उनके स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया जा रहा है ॥५॥

कोई भी मनुष्य साधारण स्त्री के हृदय को भी ठीक तरह से नहीं जान पाता। ऐसी स्थिति में शिव के अनुग्रह के बिना योगिनी के हृदय को जानने में कौन व्यक्ति समर्थ हो सकता है ? ॥६॥

---

१. नामानु–ज. झ. उ. । २. दिना–ख. ।

पाल का कार्य है, उसी तरह भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का सान्निध्य (सामीप्य अथवा साहित्य) गणेश और बटुक के प्रसाद से ही मिल सकता है। इसीलिये त्रिपुरा सम्प्रदाय के प्रायः सभी ग्रन्थों के प्रारम्भ में इनकी स्तुति मिलती है।

1. इस विषय का विस्तार हमने विज्ञानभैरव के भाषानुवाद (पृ० ३-६) में 'प्रश्नोत्तरतत्त्वनिर्णय' शीर्षक से किया है।

2. वामकेश्वरतन्त्र (नित्याषोडशिकार्णव) और योगिनीहृदय, दीपिकाकार ने दो अलग-अलग ग्रन्थ माने हैं। इस विषय पर हम तन्त्रयात्रा (पृ० ३५-३८) और नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ० ११-१२) में विचार कर चुके हैं।

अनन्धोद्घाटितं दिव्यागमकोषगृहान्तरम् ।
उद्घाट्यते मयेदानीं महार्थो गृह्यतां बुधैः ॥७॥
तदनेकार्थसन्दर्भनानासंकेतसंकुलम् ।
विवृणोम्यमृतानन्दः शिवयोरेव शासनात् ॥८॥
[१]अन्यथाऽनादिसंसारे किं नेदं व्याकृतं पुरा ।
तदा न सन्ति सन्तः किं किं वा नात्र प्रयोजनम् ॥९॥
शिवादिगुरुपर्यन्तं पारम्पर्यक्रमागतम् ।
एतज्ज्ञानं मया लब्धमक्रमाणामगोचरम् ॥१०॥

घर के भीतर छिपे हुए खजाने के समान इस दिव्य आगम का रहस्य अभी तक किसी[1] ने उद्घाटित नहीं किया था। अब मैं उसको प्रकट कर रहा हूँ। विद्वानों को चाहिये कि वे इस महार्थ[2] से लाभ उठावें ॥७॥

यह योगिनीहृदय नामक ग्रन्थ अनेक विषयों, सन्दर्भों और संकेतों से भरा हुआ है। मैं अमृतानन्द भगवान् शिव और परामबा की आज्ञा से ही इन सब विषयों की व्याख्या कर रहा हूँ ॥८॥

अन्यथा इस अनादि संसार में अब तक इस ग्रन्थ की व्याख्या क्यों नहीं हुई ? क्या उस समय इस विषय को जानने वाले विद्वान् नहीं थे ? अथवा इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी ? ॥९॥

शिव से लेकर अपने गुरु तक चली आ रही परम्परा से क्रमशः यह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है। इस [3]क्रमपरम्परा से वंचित व्यक्तियों के लिये इस विषय को समझ पाना कठिन है ॥१०॥

---

१. नवमदशमश्लोकयोर्विपर्ययः–क. ।

1. अमृतानन्द की इस उक्ति से भी दोनों ग्रन्थों की भिन्नता सिद्ध होती है, क्योंकि योगिनीहृदय को अब तक कोई प्राचीन व्याख्या उपलब्ध नहीं हुई है। इसके विपरीत नित्याषोडशिकार्णव की अनेक प्राचीन व्याख्याओं का उल्लेख मिलता है। उनमें से कुछ उपलब्ध भी हैं।

2. महार्थ का तात्पर्य यहाँ 'बहुमूल्य अर्थ' तो है ही, साथ ही टीकाकार इस शब्द से यह भी दिखाना चाहते हैं कि यह व्याख्या त्रिपुरा सम्प्रदाय की क्रम परम्परा का अनुसरण करती है। क्रम सम्प्रदाय के 'क्रमश्चतुष्टयार्थः' और 'क्रमः पञ्चार्थः' नामक दो विभाग हैं। संकेतपद्धति जैसे ग्रन्थों के प्रमाण पर अमृतानन्द ने अपनी व्याख्या में प्रथम पक्ष को अंगीकार किया है। द्वितीय पक्ष का परिचय महेश्वरानन्द की महार्थमञ्जरी और उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या में मिलता है।

3. यहाँ क्रम शब्द क्रम सम्प्रदाय का बोधक न होकर गुरु परम्परा के क्रम को सूचित करता है। ज्ञान की परम्परा, जो कि तन्त्रशास्त्र में ओघ या ओवल्ली शब्द से

इह खलु भगवान् प्रकाशमूर्तिः परमशिवः स्वात्मानं विमर्शांशेन विभज्य पश्यन्त्यादिक्रमात् पृच्छति—

श्रीदेव्युवाच

इति। शिव एवाहं वैखरीपर्यन्तं व्यापृत्य विमर्शांशेन पृष्टवानिति यावत्। उवाचेति लिडुत्तमपुरुषैकवचनम्। भूतत्वं च वक्तव्यस्य सदातनत्वात्। अनद्यतनत्वमकालकलितत्वात्। परोक्षत्वमनिन्द्रियगोचरत्वात्। अनेन "श्रीभैरव उवाच" इत्येतदपि व्याख्यातम्। प्रकाशात्मकः परमशिवोऽहमेव विश्वानुग्रहपरः परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीक्रमेण व्यापृत्य विमर्शांशेन प्रष्टा भूत्वा प्रकाशांशेन प्रतिवचनदाताऽपि सन् तन्त्रं समवतारयामीत्यर्थः। तदुक्तं श्रीमहास्वच्छन्दे—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत्॥ (स्व० त० ८।३१) इति।

'श्रीदेव्युवाच' इस वाक्य का अभिप्राय यह कि प्रकाशमूर्ति परमशिव अपने को विमर्शरूप में विभक्त कर [1]पश्यन्ती, मध्यमा और अन्ततः वैखरी वाणी का सहारा लेकर प्रश्न पूछते हैं। मैं स्वयं शिव ही वैखरी पर्यन्त अपना विस्तार कर विमर्शरूप में प्रश्न करता हूँ। 'उवाच' यह लिट् लकार के उत्तम पुरुष का एक वचन है। वर्तमान काल के स्थान पर भूतकाल का प्रयोग यहाँ इस लिये किया है कि इस वक्तव्य का सार्वकालिक महत्त्व है। काल इसको निगल नहीं सकता, इसलिये अनद्यतन काल का और यह ज्ञान इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः परोक्ष भूतकाल का प्रयोग यहाँ किया गया है। 'श्रीदेव्युवाच' की इस व्याख्या से 'श्रीभैरव उवाच' इस वाक्य की भी व्याख्या हो जाती है। इससे तात्पर्य यह निकला कि गुरुस्थानीय मैं प्रकाशात्मक परमशिव ही विश्व पर अनुग्रह करने की इच्छा से परा-पश्यन्ती-मध्यमा और वैखरी पर्यन्त अपना विस्तार कर विमर्शमयी देवी का स्वरूप धारण कर लेता हूँ, शिष्य बन जाता हूँ। इस तरह से शिष्य के रूप में मैं स्वयं ही प्रश्न करता हूँ और स्वयं ही प्रकाशात्मक गुरु का स्वरूप धारण कर उन प्रश्नों का उत्तर देकर तन्त्रशास्त्र की अवतारणा करता हूँ। महास्वच्छन्द शास्त्र में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वयं सदाशिव देव ही गुरु और शिष्य का स्वरूप धारण कर प्रश्न और प्रतिवचन की पद्धति से तन्त्रशास्त्र की लोक में अवतारणा करते हैं।

जानी जाती है, त्रिपुरा सम्प्रदाय में हमें दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरुओं की परम्परा के क्रम से प्राप्त हुई है।

1. इस विषय की विस्तार से चर्चा हमने विज्ञानभैरव के भाषानुवाद (पृ० ५-६) में की है।

देवदेव महादेव परिपूर्णप्रथामय।
वामकेश्वरतन्त्रेऽस्मिन्नज्ञातार्थास्त्वनेकशः॥१॥
तांस्तानर्थानशेषेण वक्तुमर्हसि भैरव।

विश्वस्य भरणाद् रमणाद् वमनात् सृष्टिस्थितिसंहारकारी भैरवः परमशिवः। देवदेव देवा द्योतनात्मानो रव्यादयस्तेषां देवः प्रकाशकः। महादेवो महाप्रकाशात्मा। अयमर्थः—तव महाप्रकाशात्मकत्वात् त्वमेव विश्वं भासयसि, न त्वां कोऽपि भासयितुमलमिति। तत्र श्रुतिः—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ इति।
(क० उ० ५।१५)

परिपूर्णप्रथामय प्रथा ज्ञानम्, परिपूर्णप्रथा विश्वविषयिणी ज्ञप्तिः, तन्मय तद्रूप। तत्र सर्वज्ञत्वात् त्वमेव सर्वान् बोधयितुमर्हसि, न त्वां कोऽपि बोधयितुमलमिति। अतो वामकेश्वरतन्त्रे चतुश्शतीशास्त्रे, अज्ञातार्था अविदितार्थाः, अनेकशो बहवः

विमर्शस्वरूपा देवी प्रकाशस्वरूप भगवान् भैरव से पूछती है—

हे देवदेव महादेव परिपूर्णप्रथामय भैरव! इस पूर्वोपदिष्ट वामकेश्वर तन्त्र में अनेक विषय अज्ञात हैं। उन विषयों को आप पूरी तरह से मुझे समझाइये॥१॥

विश्व का भरण, रमण और वमन करने से उसकी सृष्टि, स्थिति और संहार का कारणभूत भैरव[1] परमशिव ही है। इसको देवदेव इसलिये कहते हैं कि यह जगत् के प्रकाशक सूर्य प्रभृति देवों को भी प्रकाश देने वाला है। इस तरह से महाप्रकाश स्वरूप होने से यह महादेव है। देवी के प्रश्न का तात्पर्य यह है कि आप महाप्रकाश स्वरूप हैं, अतः आप ही सारे जगत् को भासित करते हैं, आपको प्रकाशित करने में कोई भी समर्थ नहीं है। कठोपनिषद् में बताया गया है कि वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता और न चाँद-तारे ही वहाँ प्रकाशित होते हैं। यह आकाशीय विद्युत् भी वहाँ नहीं चमकती, तब इस भौतिक अग्नि की बात ही क्या है? उस ब्रह्म के प्रकाश के बाद ही यह सब प्रकाशित होते हैं, इस ब्रह्म से प्रकाश प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही इनमें प्रकाश दिखाई पड़ता है॥ प्रथा ज्ञान को कहते हैं। परिपूर्णप्रथा का अर्थ हुआ सारे विश्व का ज्ञान। इस तरह से हे भगवन् भैरव! आप परिपूर्णप्रथामय हैं। आप सर्वज्ञ हैं, अतः आप ही सबको ज्ञान प्रदान कर सकते हैं, आपको समझाने वाला दूसरा कोई नहीं है। अतः इस (पूर्वोपदिष्ट)

---

१. शकत्वात्—ख.।

1. भैरव शब्द के पारिभाषिक अर्थ को समझने के लिये विज्ञानभैरव का उपोद्घात (पृ० ६-७) तथा उसी ग्रन्थ का भाषानुवाद (पृ० १४०-१४१ द्वितीय संस्करण) देखिये।

सन्ति । तांस्तानर्थानशेषेण साकल्येन, वक्तुं व्यक्तीकर्तुम्, अर्हसि मम विमर्शपदवीं प्रापयितुमर्हसीत्यर्थः ॥१॥

प्रकाशांशेन प्रतिवदति—

श्रीभैरव उवाच

शृणु देवि महागुह्यं योगिनीहृदयं परम् ॥२॥

त्वत्प्रीत्या कथयाम्यद्य गोपितव्यं विशेषतः ।

[1]हे देवि ! विश्वसर्जनादि[2]व्यवहारक्रीडापरे विमर्शविग्रहे। महागुह्यं लोके गोपनीयम्। यद्वस्तु [3]यावत् तत्र न मनः प्रवर्तते तत् तावत्कालमतीन्द्रियगोचरं भवति, अस्य तु सर्वदा मनोवागिन्द्रियातीतत्वान्महागुह्यत्वम् । योगिनीहृदयं योगिन्याः

वामकेश्वर तन्त्र में, [1]चतुःशती (चार सौ श्लोकों वाले) शास्त्र में जो अनेक अविदित अर्थ हैं, उन सबको आप पूरी तरह से मुझे बताइये, जिससे कि वे सारी बातें मेरी समझ में आ जाँय ॥१॥

[2]प्रकाशस्वरूप भगवान् भैरव इसका उत्तर देते हैं—

हे देवि ! इस महागुह्य उत्कृष्ट योगिनीहृदय शास्त्र को तुम सुनो । तुम्हारी प्रसन्नता के लिये ही इसे मैं सुना रहा हूँ । इसे विशेष रूप से गुप्त ही रखना चाहिये ॥२॥

जगत् के सृष्टि-संहार आदि का खेल करने वाली विमर्शस्वरूपिणी हे देवि ! लोक में छिपाने लायक वस्तु को गुह्य कहा जाता है । कोई भी वस्तु जब तक उसको जानने के लिये मन प्रवृत्त नहीं होता, तब तक अज्ञात ही रहती है । योगिनीहृदय में प्रतिपादित किये जाने वाले विषय में तो मन और वाणी की प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती, अतः इसको महागुह्य कहा गया है । योगिनीहृदय का अभिप्राय है कि इस ग्रन्थ में योगिनी (स्वसंवित् स्वरूपा भगवती त्रिपुरा) का हृदय (स्वरूप) उसी प्रकार प्रकट हुआ है, जैसे कि

---

१. हे' नास्ति-ज. झ. । २. 'व्यवहार' नास्ति-क. ख. । ३. 'यावत्'''प्रवर्तते' नास्ति-ने. ज. झ. उ. ।

1. अमृतानन्द ने दीपिका में चार सौ श्लोकों वाले नित्याषोडशिकार्णव को चतुःशती-शास्त्र के नाम से अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है । अमृतानन्द की इस उक्ति से भी चतुःशती-शास्त्र से योगिनीहृदय की भिन्नता सिद्ध होती है ।

2. प्रकाश और विमर्श शब्दों की विभिन्न आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या के लिये नित्याषोडशिकार्णव का उपोद्घात (पृ० ८३-८४ टि०) तथा लुप्तागमसंग्रह द्वितीय भाग का उपोद्घात (पृ० २०६-२०८) देखिये ।

स्वसंविदो हृदयमिवाविर्भावभूमित्वाद् हृदयम् । अत्र तु योगो नाम [1]समस्तवस्तुसमवायसम्बन्धः, तेन भासत इति योगिनी । तदुक्तमभियुक्तैः—

देशकालपदार्थात्म यद्यद् वस्तु यथा तथा[2] ।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये [3]सांविदीं कलाम् ॥ इति ।
(सौ० हृ० ४)

परम् उत्कृष्टम्, सर्वज्ञानोत्तरत्वात् । अत एव वक्ष्यति—"एतज्ज्ञात्वा वरारोहे सद्यः खेचरतां व्रजेत्" (१।५) इति । एतत् शृणु विमर्शपदवीं प्रापय ॥२॥

त्वत्प्रीत्या [4]त्वदेकसामरस्यहेतोः कथयामि । अद्य पुरा न कस्यचिदाख्यातमतिरहस्यत्वात्, अतो [5]हेतोर्विशेषतो गोपितव्यम् । आत्माहंभावभावनया भावयितव्यमित्यर्थः ।

अत्यन्तगोपनीयतामेव द्रढयितुमाह—

कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम् ॥३॥

सामान्य जन के हृदय में अपना ज्ञान उन्मिषित होता है । यहाँ योग का अर्थ है जगत् की सारी वस्तुओं के साथ ज्ञान का समवाय सम्बन्ध । इससे भासित होने वाली है योगिनी ।

शिवानन्द महायोगी [1]सौभाग्यहृदयस्तोत्र में कहते हैं कि देश, काल अथवा पदार्थ के रूप में जो भी वस्तु जिस-किसी भी रूप में भासित होती है, उन सभी रूपों में जो भासित होती रहती है, उस सांविदी (ज्ञानमयी) कला की मैं शरण लेता हूँ ॥

यह अनुत्तर ज्ञान सभी लौकिक ज्ञानों से श्रेष्ठ है । इसी लिये आगे (१।५) कहा जायगा कि इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति तत्काल परम पद में लीन हो जाता है । इस ज्ञान को तुम अपने मन में बैठाने का प्रयत्न करो ॥२॥

तुम्हारी प्रसन्नता के लिये, शिव और शक्ति के सामरस्य-लाभ के लिये ही इसे मैं सुना रहा हूँ । इससे पहले मैंने इसे किसी को भी नहीं सुनाया है, क्योंकि इसमें गहरा रहस्य छिपा हुआ है । इसी लिये इस ज्ञान को बहुत छिपा कर रखना चाहिये, अपने मन में ही इसकी भावना करनी चाहिये ।

ज्ञान की अत्यन्त गोपनीयता को ही भगवान् पुनः पुष्ट करते हैं—

यह ज्ञान एक कान से दूसरे कान तक उपदेश के क्रम से ही पृथिवी तल पर अवतरित हुआ है ॥३॥

---

१. सर्व-ने. ज. झ. उ. । २. यथा-घ. ज. झ. उ. । ३. संविदं-ख. ग. घ. ने. ज. झ. उ. । ४. त्वदैकरस्य-उ., त्वदेकरहस्य-ने. ज. झ. । ५. 'हेतोः' नास्ति-ने. ज. झ. उ. ।

1. यह स्तोत्र नित्याषोडशिकार्णव के वाराणसी संस्करण के परिशिष्ट (पृ० ३०४-३०५) में प्रकाशित हो चुका है ।

कर्णात्, कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, कर्णं प्राप्य पुनः कर्ण एवोपदेशक्रमेणैव पारम्पर्यक्रमेण सम्प्राप्तम् । आदिकर्माणि क्तः । अवनीतलशब्देन तत्रस्था मनुष्या लक्ष्यन्ते, यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति । तेनायमर्थः सम्पद्यते—दिव्यसिद्धमानव-क्रमेणातिरहस्यत्वात् कर्णपरम्परामात्रगम्यमेवेदमिति । अत्र मानवग्रहणं [1]दिव्य-सिद्धयोरुपलक्षणार्थम् ॥३॥

अनर्हेभ्यो न देयमित्याह—

न देयं परशिष्येभ्यो नास्तिकेभ्यो न चेश्वरि ।
[2]न शुश्रूषालसानां च नैवानर्थप्रदायिनाम् ॥४॥

परशिष्या एव के येभ्यो न देयम्[3] ? ये विद्यान्तरेषु पारम्प[4]र्यक्रमेणाधिगताशेषरहस्यपरमार्थाः [5]प्राप्तपूर्णाभिषेकाश्च ते परशिष्याः । तेभ्यो न देयम् । "लब्ध्वा

'कर्णात्' इस पद में कर्म में ल्यप् का लोप होकर पञ्चमी हुई है । इस ज्ञान को गुरु शिष्य के कान तक पहुँचाता है । इसी तरह यह ज्ञान एक कान से दूसरे कान तक गुरु-शिष्यपरम्परा से पहुँचता रहता है । 'सम्प्राप्त' पद में आदि कर्म में क्त प्रत्यय हुआ है । अवनीतल शब्द से अवनी (पृथिवी) तल पर रहने वाले मनुष्यों का ग्रहण होता है, जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्य में मंच स्थित पुरुषों का ग्रहण किया जाता है । इससे श्लोक का यह अभिप्राय निकलता है कि [1]दिव्य, सिद्ध और मानव गुरुओं की परम्परा में ही यह अत्यन्त रहस्यभूत ज्ञान मात्र कर्ण-परम्परा से प्राप्त हो सकता है । अवनीतल पद में लक्षणा से प्राप्त मानव शब्द दिव्य और सिद्ध गुरुओं की परम्परा का भी द्योतक है ॥३॥

अयोग्य व्यक्तियों को यह ज्ञान नहीं दिया जाना चाहिये—

हे ईश्वरि ! परशिष्य को, नास्तिक को, गुरु की सेवा में आलस्य करने वाले को और गुरु को धन न देने वाले को यह ज्ञान नहीं देना चाहिये ॥४॥

वे परशिष्य कौन हैं, जिनको यह ज्ञान नहीं दिया जायगा ? जो अन्य सम्प्रदायों में गुरु-परम्परा के क्रम से दीक्षित होकर उस सम्प्रदाय के रहस्यों से पूरी तरह परिचित हो चुके हैं और जिनका उस सम्प्रदाय में अभिषेक भी हो चुका है, वे व्यक्ति परशिष्य कहे

१. सिद्धदिव्यानामुप–ने. ज. झ. उ. । २. नाशुश्रूषारतानां–ख. ज. झ. उ. । ३. इतः परम् 'इत्यत आह' इत्यधिकम्–ग. घ. ने. ज. झ. उ. ब. । ४. म्पर्येणा–ने. ज. झ. उ. । ५. अप्राप्त–ज. झ. ।

1. दिव्य, सिद्ध और मानवौघ क्रम की गुरु-परम्परा की चर्चा हम ऊपर पृ० ३ की टि० ३ में कर चुके हैं ।

कुलगुरुं सम्यङ् न गुर्वन्तरमाश्रयेत्" (कुला० १३।१३०) इत्यादिवचनात् तैरपि[1] न ग्राह्यम् । ये विद्यान्तरेषु पारम्पर्यक्रमेणानधिगताशेषरहस्य[2]परमार्था अप्राप्त-पूर्णाभिषेकाश्च तेभ्यो देयम्, तैरपि ग्राह्यम् ।

[3]मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ॥ (कुला० १३।१३२)

इति वचनान्न ते परशिष्याः, "पूर्णाभिषेककर्ता यो गुरुस्तस्यैव पादुका[4]" (कुला० १३।१२९) इति वचनाच्च । नास्तिकेभ्यः । नास्ति परलोक इति ये [5]मन्वते ते नास्तिकाः श्रद्धाविहीनाः । धनधान्याद्यपेक्षया तेषां रुचिमुत्पाद्य न देय-मित्यर्थः । तदुक्तं भगवद्गीतासु—

जाते हैं । ऐसे परशिष्यों को यह ज्ञान न दिया जाय । "कुलगुरु की सम्यक् प्राप्ति हो जाने पर फिर दूसरा गुरु नहीं करना चाहिये" इस शास्त्रवचन के आधार पर उनको भी अन्य गुरु से ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये । जो व्यक्ति अन्य सम्प्रदायों में गुरु-परम्परा के क्रम से दीक्षित नहीं हुए हैं, इसीलिये अन्य सम्प्रदायों के रहस्यों से जो परिचित नहीं हो सके हैं और जिनका उस उस सम्प्रदाय में अभिषेक भी नहीं हुआ है, उनको यह ज्ञान दिया जाय । वे इस ज्ञान के अधिकारी हैं ।

मधु (शहद) का लोभी भृंग (भँवरा) जैसे एक पुष्प को छोड़कर दूसरे पुष्प के पास पहुँच जाता है, उसी तरह से ज्ञान का लोभी शिष्य भी एक गुरु को छोड़कर दूसरे गुरु के पास पहुँच जाय[1] ॥

इस वचन के आधार पर ऐसा व्यक्ति परशिष्य नहीं कहा जायगा । फिर शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि "जो गुरु पूर्णाभिषेक करता है, शिष्य को उसी की पादुका की पूजा करनी चाहिये ।" जो व्यक्ति परलोक को नहीं मानते, वे नास्तिक कहलाते हैं । ऐसे व्यक्तियों में श्रद्धा का अभाव रहता है । ऐसे व्यक्तियों में धन-धान्य आदि का प्रलो-भन देकर रुचि नहीं जगानी चाहिये । भगवद्गीता में कहा भी गया है—

१. 'तैरपि न ग्राह्यम्' इति पाठो लब्ध्वेत्युद्धरणात् पूर्वं स्थापितः–ख. घ. ज. झ. । २. 'रहस्य' नास्ति–क. ग. घ. । ३. गन्ध–घ. ने. ज. झ. उ. । ४. काम्–ग. घ. ने. ज. झ. उ. । ५. मन्यन्ते–क. उ. ।

1. यह श्लोक कुलार्णव तन्त्र में मिलता है और तन्त्रालोक (२२।४५-४६) में भी उपलब्ध है । कुलार्णव तन्त्र के एक (घृणा शङ्का०) श्लोक को अमृतानन्द (१।७२) अभि-युक्तवचन कह कर उद्धृत करते हैं । क्षेमराज द्वारा नेत्रोद्योत (पृ० ११४-११५, १५८ दिल्ली संस्करण) में उल्लिखित कुलार्णव के वचन प्रकाशित ग्रन्थ में नहीं मिलते । अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमृतानन्द ने ये वचन कहाँ से लिये हैं ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ (३।२६) इति ।

न[1] शुश्रूषालसानां च । ये शुश्रूषालसास्तेभ्यो न देयम्, येऽनर्थप्रदायिनस्तेभ्योऽपि । शुश्रूषालसा अपि ये [2]धनं वितरन्ति तेभ्यो देयम्, ये च शुश्रूषालसाश्च धनमपि न वितरन्ति तेभ्यो न देयमित्यर्थः । तदुक्तम्—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा ।
अथवा विद्यया विद्या [3]चतुर्थो नैव विद्यते ॥४॥

परीक्ष्याऽर्हाय देयमित्याह—

परीक्षिताय दातव्यं वत्सरार्धोषिताय च ।

परशिष्यत्वादिदोषपरीक्षणं वत्सरार्धेन सहवासेन कर्तुं शक्यते, गुरोर्विवेकित्वात् ।

ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम न उत्पन्न करे, किन्तु स्वयं शास्त्र-विहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसा ही करने को कहे ॥

जो व्यक्ति गुरु की सेवा करने में आलस्य करते हों और जो धन भी न देते हों, ऐसे व्यक्तियों को भी यह ज्ञान नहीं देना चाहिये । सेवा करने में आलसी व्यक्ति यदि धन देते हों तो उनको यह ज्ञान दिया जा सकता है, किन्तु जो व्यक्ति सेवा करने में आलसी हैं ही, धन भी नहीं देते, उनको यह ज्ञान नहीं देना चाहिये । कहा भी गया है—

गुरु की सेवा करने से विद्या प्राप्त होती है अथवा पर्याप्त धन देने से भी यह प्राप्त हो सकती है । अथवा एक विद्या के बदले में भी दूसरी विद्या प्राप्त हो सकती है । इन तीन उपायों को छोड़कर विद्या प्राप्ति का [1]चौथा कोई उपाय नहीं है ॥४॥

परीक्षा कर लेने के उपरान्त योग्य शिष्य को ही यह ज्ञान देना चाहिये—

छः मास तक अपने पास रह रहे शिष्य की पूरी तरह से परीक्षा कर लेने पर ही उसको यह ज्ञान देना चाहिये ।

छः मास तक शिष्य के अपने पास रहने पर उसमें ऊपर बताये गये परशिष्य आदि दोष हैं कि नहीं, इस बात की परीक्षा विवेकी गुरु भलीभाँति कर सकता है ।

---

१. नाशुश्रूषारतानां-ख. ज. झ. उ. । २. धनं चेत्-ख. ज. झ. ने. उ. । ३. चतुर्थं नैव दृश्यते-ग० घ० ने० उ० ।

1. नित्याषोडशिकार्णव की ऋजुविमर्शिनी व्याख्या (पृ० ९७) में संहिताब्राह्मण का एक श्लोक उद्धृत किया गया है । वहाँ ब्रह्मचारी, धनदायी, मेधावी, श्रोत्रिय, प्रिय व्यक्ति और विद्या के बदले विद्या देने वाला व्यक्ति—ये छः विद्याप्राप्ति के अधिकारी माने गये हैं ।

उक्तार्थमेव द्रढयन् शिष्यप्रवृत्तये फलमाह—

एतज्ज्ञात्वा वरारोहे सद्यः खेचरतां व्रजेत् ॥५॥

अस्य तु महार्थत्वात् परीक्षितायैव देयम् । एतस्य परिज्ञानेनैव शिष्यः खेचरतां खे परमव्योम्नि चरतीति खेचरः शिवः । तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

दृक्क्रियात्मशशिभानुमध्यगं[1] खे चरत्यनलदृष्टिधाम[2] यत् ।
यत्तदूर्ध्वशिखरं परं नभस्तत्र दर्शय शिवं त्वमम्बिके ॥ (श्लो० ३२) इति ।

सद्यस्तत्त्वं व्रजेत्, जीवन्मुक्तो भवेदित्यर्थः । तदुक्तं वेदरहस्ये—"तस्यैवात्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" (इ० उ० २०) इति ॥५॥

इसी विषय की पुष्टि करते हुए और शिष्य की जिज्ञासावृत्ति को जगाने के लिये इस ज्ञान की फलश्रुति आगे के श्लोकार्ध में दी गई है—

हे वरारोहे, योगिनीहृदय में उपदिष्ट ज्ञान को प्राप्त कर व्यक्ति तत्काल खेचरता को प्राप्त कर लेता है ॥५॥

यह ज्ञान महार्थ (बहुमूल्य) है, अतः परीक्षित शिष्य को ही इसका उपदेश करना चाहिये । इसके जान लेने मात्र से शिष्य खेचर, अर्थात् परम व्योम में विचरण करने वाला परमशिव बन जाता है, जैसा कि [1]चिद्गगनचन्द्रिका में कहा गया है—

ज्ञान और क्रियाशक्ति स्वरूप चन्द्र और सूर्य के बीच में, अर्थात् दक्षिण और वाम नेत्र के बीच में भ्रूमध्यस्थित शून्य बिन्दु में जो अग्निस्वरूप तृतीय नेत्रधाम, अर्थात् ज्ञानचक्षु विराजमान है, उस तृतीय ज्ञाननेत्र के खुल जाने पर साधक के चित्त में नाद-रूपी ऊर्ध्व शिखर परमव्योम को देख पाने की सामर्थ्य आ जाती है । ओ माँ, तुम मुझे वहाँ भगवान् शिव का दर्शन कराओ ॥

इस प्रकार परम व्योम में प्रवेश पा जाने पर साधक तत्काल शिव बन जाता है, अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है । इस विषय में वेदरहस्य[2] का भी कहना है कि पद-वाक्य

---

१. मध्यगे-क., मध्यगः-ख. ग. घ. ने. झ. उ. । २. धाम्नि यः-क. ख. ब. । ३. यदवित् तं-ख. ग. घ. ने. ज., पर-क. ।

1. चिद्गगनचन्द्रिका (मूलमात्र) आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता से सन् १९३६ में छपी थी । यह क्रम-सम्प्रदाय का एक जटिल ग्रन्थ है । बाद में श्री कर्रा अग्निहोत्र शास्त्री की टीका के साथ सन् १९४३ में यह ग्रन्थ आन्ध्रप्रदेश के पूर्व गोदावरी जिले से प्रकाशित हुआ । अभी हाल में स्व० पण्डित रघुनाथ मिश्र की टीका के साथ यह ग्रन्थ सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है ।

2. वेदरहस्य शब्द यहाँ उपनिषत् का पर्याय है । गद्यपद्यात्मक इतिहासोपनिषत्

शास्त्रमारभते—

चक्रसंकेतको मन्त्रपूजासंकेतकौ[2] तथा ।
त्रिविधस्त्रिपुरादेव्याः संकेतः परमेश्वरि ॥६॥

संकेतवत् संकेतकः । संकेतः समयः । यथा कृतसमयौ कामिनीकामुकौ यत्र क्वापि निवसतः, एवमस्मिन् शिवाविति । चक्रसंकेतकः, मन्त्रसंकेतकः, पूजासंकेतकः—एवं त्रिविधः संकेतः । त्रिपुरादेव्या धाम-तत्त्व-पीठ-लिङ्ग-मातृकादिभ्यस्त्रिभ्योऽपि पूरा या विद्यते सा त्रिपुरा[3] देवी प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपिणी परा । अस्यास्त्रिविधः संकेतः । परमेश्वरि परममुत्कृष्टमिन्द्रादिभिरपि परिपाल्यमानमैश्वर्यमाज्ञा यस्याः । तदुक्तं वेदरहस्ये—

भीषाऽस्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ (तै० उ० २।८) इति ॥६॥

प्रवीण साधक की आत्मा उस आत्मतत्त्व को जान लेने के बाद फिर कभी पाप कर्म में लिप्त नहीं होती ॥५॥

इस संक्षिप्त विवेचन के साथ अब शास्त्र का प्रारम्भ होता है—

हे परमेश्वरि ! चक्रसंकेत, मन्त्रसंकेत तथा पूजासंकेत—यह त्रिविध त्रिपुरा देवी का संकेत है ॥६॥

श्लोक में संकेत के ही अर्थ में संकेतक शब्द प्रयुक्त है । संकेत का अर्थ है समय । जैसे पहले से निश्चित स्थान और समय पर कामिनी और कामुक मिलते हैं, उसी तरह इस त्रिविध संकेत में भगवान् शिव और शक्ति समरस रूप में निवास करते हैं । चक्रसंकेत, मन्त्रसंकेत और पूजासंकेत—यह तीन प्रकार का संकेत है । धाम, तत्त्व, पीठ, लिङ्ग, मातृका आदि के शास्त्रों में तीन-तीन भेद बताये जाते हैं । इन तीनों भेदों से जो पहले विद्यमान है, उसे त्रिपुरा कहते हैं । यही प्रकाश और विमर्श स्वरूप को समरस रूप में रखने वाली परा देवी है । इसको प्राप्त करने के तीन प्रकार हैं । परमेश्वरी का अर्थ है परम ऐश्वर्य वाली । इन्द्र प्रभृति उत्कृष्ट देवगण भी इसकी आज्ञा का पालन करते हैं । जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—

इसी के भय से पवन बहता है, सूर्य उगता है और इसी के भय से अग्नि और इन्द्र अपना-अपना कार्य करते हैं तथा पाँचवाँ देव मृत्यु (यमराज) भी इसी के भय से इधर-उधर दौड़ता रहता है ॥६॥

---

१. मन्त्रः-ख. ने. उ. । २. कस्तथा-ख. ग. घ. ने. झ. उ. । ३. 'त्रिपुरा' नास्ति-ग. घ. ने. ज. झ. ।

मोतीलाल बनारसीदास के यहाँ से प्रकाशित उपनिषत्संग्रह के द्वितीय खण्ड में संगृहीत है । उक्त वचन वहाँ पृ० १२ पर देखा जा सकता है ।

एतज्ज्ञानविहीनस्य फलवैपरीत्यमाह—

यावदेतन्न जानाति संकेतत्रयमुत्तमम् ।
न तावत् त्रिपुराचक्रे परमाज्ञाधरो भवेत् ॥७॥

यावद् एतद् वक्ष्यमाणं संकेतत्रयं यो न जानाति स तावत् त्रिपुरायाः परायाः[1] स्वसंविदश्चक्रे मातृमानमेयलक्षणे तत्त्वसमूहे परमाज्ञाधरो न भवेत् । आज्ञा नाम निग्रहानुग्रहसामर्थ्यम् । तद्राज्ञामपि लोकेऽस्ति । तदुच्यते—परमेति । परमा सर्वलोकेष्वप्रतिहता आज्ञा परमेश्वरस्यैव । [2]परमाज्ञाधरः परमेश्वरो भवेत् । य एतद् विजानाति स सद्यः खेचरतां व्रजेत्, यो नैतद् विजानाति स न [3]तद्भावं व्रजेदित्यन्वयव्यतिरेक[4]सिद्धमित्यर्थः । अत्रैतत्प्रयोजनकीर्तनमधिकारिविषयसंबन्धानामप्युपलक्षणम् । मुमुक्षुरधिकारी, स्वसंविद्देवता विषयः, मोक्षः प्रयोजनम्, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः ॥७॥

इन तीन संकेतों से अपरिचित व्यक्ति विपरीत फल का भागी होता है—

जब तक व्यक्ति इन उत्तम कोटि के तीन संकेतों को नहीं जानता, तब तक त्रिपुराचक्र में उसकी आज्ञा अप्रतिहत रूप से नहीं चल पाती ॥७॥

आगे जिन तीन संकेतों का विस्तार से वर्णन किया जायगा, उनको व्यक्ति जबतक पूरी तरह से समझ नहीं लेता, तबतक वह स्वसंवित्स्वरूपा पराशक्ति त्रिपुरा के चक्र, अर्थात् माता, मान और मेय रूप तत्त्वसमूह में परमाज्ञाधर नहीं हो सकता । निग्रह (नाराजगी) और अनुग्रह (प्रसन्नता) की सामर्थ्य वाले व्यक्ति के वचन को आज्ञा कहा जाता है । लौकिक प्रभु में भी यह सामर्थ्य है, किन्तु वह परम सामर्थ्य नहीं है । यह सर्वत्र अप्रतिहित परम सामर्थ्य केवल परमेश्वर में ही है । जो व्यक्ति इन तीन संकेतों को जानता है, वह परमाज्ञाधर, अर्थात् परमेश्वर हो जाता है । जो इनको जानता है, वह तत्काल खेचर (शिवस्वरूप) बन जाता है; जो नहीं जानता, वह ऐसा नहीं बन सकता । यह बात न्यायदर्शन की अन्वय-व्यतिरेक पद्धति से सिद्ध हो जाती है । इस तरह से यहाँ इस शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन बताया गया है । इससे [1]अनुबन्धचतुष्टय के अन्य विषयों—अधिकारी, विषय और सम्बन्ध—की भी प्रतीति हो जाती है । मुक्ति की कामना वाला व्यक्ति इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकारी है, इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय स्वसंविद्देवता भगवती त्रिपुरा है, मोक्ष की प्राप्ति इसका प्रयोजन है और इनमें परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है ॥७॥

---

१. 'परायाः' नास्ति-क. ख. । २. यः परमाज्ञाधरः स एव परमेश्वरः-क. ने. । ३. खेचरतां-क. । ४. रेकाभ्यां-क. ग. ।

1. अनुबन्धचतुष्टय शब्द के अभिप्राय को विज्ञानभैरव के भाषानुवाद (पृ० १-३) में स्पष्ट कर दिया गया है ।

तत्रादौ चक्रसंकेतं वक्तुमुपक्रमते—

तच्छक्तिपञ्चकं सृष्टया लयेनाग्निचतुष्टयम् ।

पञ्चशक्तिचतुर्वह्निसंयोगाच्चक्रसंभवः ॥८॥

तच्चक्रं सृष्ट्या सृष्टिरूपेण शक्तिपञ्चकम्, स्वाभिमुखाग्रत्रिकोणं शक्तिरुच्यते, तादृशं शक्तिपञ्चकम् । लयेनाग्निचतुष्टयं लयेन संहाररूपेण अग्निः, पराङ्मुखाग्रत्रिकोणमग्निरुच्यते, तच्चतुष्टयम् । एवं पञ्चशक्तीनां चतुर्वह्नीनां च संयोगात्, सम्यग् योगः संयोगः, "शक्त्या शक्तिं विनिर्भिद्य" (१।२९) इत्यादिचतुश्शतीशास्त्रोक्तरीत्या ग्रन्थिभेदक्रमेण समत्रिकोणशक्त्यग्रं समरेखं यथा भवति तथा लेखनं संयोगः, तस्मात् । चक्रस्य संभवो भवति ॥८॥

सामान्यतश्चक्रसमुदायमुत्पाद्य इदानीमवयवशश्चक्रसंभवं प्रतिजानीते—

एतच्चक्रावतारं तु कथयामि तवानघे ।

एतस्य श्रीमहात्रिपुरसुन्दर्याश्चक्रस्य पूजाचक्रस्यावतारम्, अवतारो नाम लोके सौधाद्युन्नतप्रदेशान्निम्नप्रदेशप्राप्तिः, अत्र तु विश्वोत्तरात्[२] प्रकाशात्मनः

अब पहले चक्रसंकेत का उपदेश किया जाता है—

पांच शक्तियों और चार वह्नियों के संयोग से श्रीचक्र का स्वरूप बनता है। यह संयोग शक्तियों का सृष्टिक्रम से और वह्नियों का लयक्रम से होना चाहिये ॥८॥

इस श्रीचक्र में सृष्टिक्रम से पाँच शक्तियाँ रहती हैं । त्रिकोण का अग्रभाग यदि अपनी तरफ हो तो उसे शक्ति कहा जाता है । चक्र में ऐसी स्वाभिमुख त्रिकोण वाली पाँच शक्तियाँ रहती हैं । यहाँ संहार क्रम से चार वह्नियाँ रहती हैं । त्रिकोण का अग्रभाग यदि विपरीत दिशा में हो तो उसे वह्नि कहते हैं । चक्र में पराङ्मुख त्रिकोण वाली चार वह्नियाँ रहती हैं । इस तरह से पाँच शक्ति और चार वह्नि के सम्यक् योग से अर्थात् नित्याषोडशिकार्णव के "शक्त्या शक्तिम्" (१।२९) इत्यादि श्लोकों में बताई गई विधि से ग्रन्थिभेद के क्रम में समत्रिकोण शक्त्यग्र समरेख चक्र के लेखन से ही पाँच शक्तियों और चार वह्नियों का संयोग होता है और इससे चक्र का स्वरूप बनता है ॥८॥

इस तरह से मोटा-मोटी श्रीचक्र का स्वरूप बन जाता है। अब एक-एक कर अवान्तर चक्रों की निर्माण की प्रक्रिया बतायी जा रही है—

हे अनघे! इस श्रीचक्र की अवतार की पद्धति को अब मैं तुमको कह रहा हूँ ॥

इस तरह से भगवती श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी के इस पूजाचक्र का अवतार होता है। लोक में प्रासाद आदि उन्नत स्थल से नीचे उतरने की क्रिया को अवतार कहा जाता है।

---

१. अत्रादौ–ख. ने. ज. झ. उ. । २. तरत्वात्–क. ग. ।

परमशिवात् तत्त्वक्रमेण प्रसरः, तादृशं चक्रावतारम् । अनघे परशिष्यत्वादिदोषरहिते । तव प्रकाशात्मनो ममांशभूताया विमर्शशक्तेः । कथयामि हृदयङ्गमतां नयामीत्यर्थः ।

[१]ननु कथमक्रियात् परमशिवात् तत्त्वमयं चक्रं संभवतीत्यत आह—

यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी ॥९॥

स्फुरत्तामात्मनः पश्येत् तदा चक्रस्य संभवः ।

यदा यस्मिन् काले प्राणिनामदृष्टवशात् स्वान्तःसंहृतविश्वसिसृक्षया सैव परा शक्तिर्विमर्शरूपिणी स्वेच्छया [२]विश्वरूपिणी[३] विश्वं सृजति, शिवस्तटस्थ उदासीन इत्यर्थः । अत्र श्रुतिः—

प्रस्तुत स्थल में विश्वोत्तीर्ण[1] प्रकाशात्मक परमशिव से इस चक्र का ३६ तत्त्वों के क्रम से जो प्रसार होता है, उसी को यहाँ अवतार कहा गया है । 'अनघे' इस विशेषण से यह तात्पर्य निकलता है कि इस ज्ञान को सुनने वाली देवी पूर्वोक्त परशिष्य आदि दोषों से रहित है । हे देवि ! तुम मुझ प्रकाशात्मक शिव की अंशभूत विमर्श शक्ति हो, अतः तुम्हारे हृदय में मैं इस बात को पूरी तरह से बैठा देना चाहता हूँ ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्रियाशून्य परमशिव से तत्त्वमय श्रीचक्र की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? भैरव इसका उत्तर देते हैं—

यह विश्वरूपिणी परमा शक्ति अपनी इच्छा से जब स्फुरत्ता का दर्शन करती है, तो इस श्रीचक्र की निष्पत्ति होती है ॥९॥

जिस समय प्राणियों के अदृष्ट के कारण अपने भीतर समेटे हुए विश्व की यह विमर्शरूपिणी परा शक्ति अपनी इच्छा से सृष्टि करना चाहती है, उस समय शिव तटस्थ,

---

१. 'ननु' नास्ति–ख. झ. । २. 'विश्वरूपिणी' नास्ति–ख. ने. । ३. 'आत्मनः स्फुरणं पश्येत्' अधिकम्–ग. घ. उ. ।

1. प्रत्यभिज्ञाहृदय के ८ वें सूत्र की व्याख्या करते समय क्षेमराज कहते हैं—"विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिकाः, विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः, विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविदः" । अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि ने तान्त्रिक शब्द का प्रयोग सिद्धान्त, वाम, दक्ष, भूत और गारुड नामक पञ्चप्रवाह शास्त्र के अनुयायियों के लिये किया है। प्रधानतः द्वैतवादी सिद्धान्त शैव पञ्चकृत्यकारी पञ्चमन्त्रतनु भगवान् शिव को विश्वोत्तीर्ण, विश्व से ऊपर मानते हैं । कुल, कौल और मत दर्शन के अनुयायी स्वात्मदेवतावाद के पोषक हैं । अतः इनकी दृष्टि में परतत्त्व विश्वमय है । त्रिक और क्रम मत के अनुसार तत्त्वातीत परमशिव अथवा भगवती संवित् विश्वोत्तीर्ण है। ये ही जब विश्वरूप में भासित होते हैं, तो विश्वमय बन जाते हैं । त्रिपुरा सम्प्रदाय के आचार्यों ने अन्तिम मत का अनुसरण किया है। यहीं आगे (१४९-५०) देखिये ।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ इति।
(श्वे० उ० ६।८)

आज्ञावतारेऽप्युक्तम्—"स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि" इति। विश्वसर्जनमेव पराशक्तेः स्फुरत्ता, [1]तस्याः [2]सृष्टिरूपत्वात्। तदा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकविश्वसृष्टिकाले चक्रस्य विश्वमयस्य परदेवताचक्रस्य संभवः।

एतदेवाह—

शून्याकाराद् विसर्गान्ताद् [3]बिन्दोः प्रस्पन्दसंविदः ॥१०॥

शून्यश्चासावकारश्चेति शून्याकारः। शून्यत्वं पुनरत्र निरस्तनिखिलप्रपञ्चत्वात्। अत एव परमशिवः। तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—"अकारः सर्व-

---

उदासीन रहता है। यह शक्ति ही विश्व का रूप धारण करती है। इसीलिये यह विश्वरूपिणी कहलाती है। श्वेताश्वतर श्रुति में कहा भी गया है—

उस परमशिव स्वरूप ब्रह्म का न कोई कार्य है और न कारण ही। उसके समान और उससे अधिक भी कोई नहीं दिखाई पड़ता। इस ब्रह्म की स्वाभाविक परा शक्ति ही ज्ञान, बल, क्रिया आदि नाना स्वरूपों में सुनाई पड़ती है, भासित होती रहती है॥

आज्ञावतार शास्त्र में भी बताया गया है—"यह शक्ति अपनी इच्छा से ही इस जगत् को निगलती और उगलती रहती है"। विश्व का यह सृष्टि-व्यापार ही परा शक्ति की स्फुरत्ता है, क्योंकि शक्ति की स्फुरत्ता को ही सृष्टि कहा जाता है। जब शक्ति की स्फुरता से ३६ तत्त्वात्मक जगत् की सृष्टि होने लगती है, तभी इस विश्वमय परदेवतात्मक श्रीचक्र की भी उत्पत्ति होता है॥९॥

श्रीचक्र की यह निष्पत्ति इस क्रम से होती है—

शून्यस्वरूप अकार और विसर्ग (हकार) के समष्टि बिन्दु में बैन्दव चक्र की प्रतीति होती है ॥१०॥

'शून्याकार'[1] शब्द में कर्मधारय समास है। इसका अर्थ होगा शून्यस्वरूप अकार। अकार को शून्य यहाँ इसलिये कहा गया है कि यह समस्त जागतिक प्रपंच से ऊपर है।

---

१. 'तस्याः' नास्ति–ज.। २. विश्वसृष्टि–ख.। ३. बिन्दुप्रस्यन्द–ख. ग. घ. ने. ज. उ.।

1. यहाँ दीपिका की सहायता से मूल ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। भास्करराय ने 'शून्याकारात्' से लेकर 'बैन्दवं चक्रम्' पर्यन्त ग्रन्थ की एक साथ व्याख्या की है। यहाँ शून्याकारात्, विसर्गान्तात्, प्रस्पन्दसंविदः, प्रकाशपरमार्थत्वात् और स्फुरत्तालहरीयुतात्—ये पाँच पद विशेषण तथा 'बिन्दोः' पद विशेष्य है। सभी पद बहुव्रीहि समासान्त हैं। शून्याकार शब्द में भी कर्मधारय समास की आवश्यकता नहीं है।

वर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः" इति। अत्र श्रुतिः—"अ इति ब्रह्म" (ऐ० आ० २।३।८) इति। विसर्गान्ताद् विसर्गोऽन्ते यस्य, [1]तस्माद् विसर्गान्तात्। [2]बिन्दोः

इसी लिये यह परमशिव का ही स्वरूप है। संकेतपद्धति में बताया गया है—"सभी वर्णों के आगे विद्यमान अकार प्रकाशात्मक परमशिव है"। ऐतरेयारण्यक में अकार को ब्रह्म कहा गया है। यह शून्याकार विसर्गान्त है, अर्थात् इस शून्यस्वरूप अकार के अन्त

---

१. स विसर्गान्तस्तस्मात्–क. ग.। २. बिन्दुप्रस्यन्द–ख. ग. ने।

हम सभी जानते हैं कि बिन्दु का आकार शून्य जैसा है। शून्य के आकार से ही बिन्दु की पहचान होती है। परा शक्ति के प्रतीक इस बिन्दु में अनुत्तर लिपि अकार और विसर्ग लिपि हकार (विसर्ग) अत्यन्त सूक्ष्म रूप में समरस अवस्था में स्थित हैं। यहाँ अनेक स्थलों पर उद्धृत संकेतपद्धति के एक वचन में बताया गया है कि अकार प्रकाशात्मक शिव और हकार विमर्शात्मक शक्ति का प्रतीक है। इन दोनों के मिलन से 'अहम्' की सृष्टि होती है। पाणिनि व्याकरण के अच् प्रत्याहार में जैसे अकार से लेकर चकार के मध्यवर्ती सभी वर्णों का ग्रहण होता है, उसी तरह से प्रत्याहारन्याय से 'अहम्' पद अकार से लेकर हकार पर्यन्त सभी वर्णों का द्योतक है। हकार को विसर्ग भी कहा जाता है और विसर्ग से ही समस्त विश्व की सृष्टि होतो है। इसका अभिप्राय यह है कि बिन्दु की प्रकाश-विमर्शात्मक समरस अवस्था में यह सारा विश्व छिपा हुआ है। 'स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' इस प्रत्यभिज्ञाहृदयसूत्र में तथा आगे (१।५०) दीपिका में उद्धृत वचन (जगच्चित्रं) में यह बताया गया है कि चितिशक्ति अथवा परमशिव स्वात्मभित्ति में स्वेच्छया विश्व का उन्मीलन करते हैं। सूर्य की तरफ दर्पण का मुंह करने पर सूर्य की किरणें स्वच्छ दर्पण पर पड़ कर जैसे दीवाल पर तेजोबिन्दु के रूप में भासित होने लगती हैं, उसी तरह से प्रकाशात्मक परमशिव की किरणें जब विमर्शरूपी स्वच्छ दर्पण पर पड़ती हैं, तो स्वात्मभित्ति में सबसे पहले महाबिन्दु भासित होता है। यही नवचक्रात्मक श्रीचक्र का बिन्दु नामक चक्र है। इसी को कामबिन्दु भी कहते हैं, क्योंकि कामेश्वर और कामेश्वरी यहाँ समरस अवस्था में स्थित हैं।

इस कामबिन्दु में स्पन्दन या स्राव के उठने पर श्वेत और रक्त अग्नीषोमात्मक बिन्दुयुगल के रूप में विसर्ग की प्रतीति होती है। यह बिन्दुयुगल कामबिन्दु की कला है। इस तरह से बिन्दु और विसर्ग के मिलन से कामकला नामक बीजाक्षर की निष्पत्ति होती है। प्रकाशशक्ति की प्रधानता वाले विमर्शशक्ति की स्फुरत्ता (हार्धकला) से युक्त इस कामकला नामक बीजाक्षर से ही विश्वलहरीस्थान मातृत्रयात्मक बैन्दव (त्रिकोण) चक्र का प्रसार होता है।

प्रस्पन्दसंविदः । बिन्दुरग्नीषोमात्मकः कामाख्यो रविः शिवशक्तिसामरस्यात्मा[1] जातः । तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

[2]भोग्यभोक्तृमयभाविमर्शगा(गां) देवि मां [3]चिदुदधेर्द्धां दशाम् ।
अर्पयन्ननलसोममिश्रणस्तद्विवक्ष[4] इह भानुजृम्भणः ॥
(श्लो० २१२) इति ।

शिवशक्तिसामरस्यरूपकामाख्यस्य बिन्दोः संस्कारः प्रस्पन्दो[5] दहनेन्दुरूपसितशोणबिन्दुद्वयात्मकः । अकारहकारसामरस्यबिन्दोः [6]प्रस्पन्दात् सितशोणबिन्दुयुगलात् संविच्चिन्मयी दहनेन्दुरूपा चित्कला जायत इत्यर्थः ॥१०॥

प्रकाशपरमार्थत्वात् स्फुरत्तालहरीयुतात् ।
प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम् ॥११॥
बैन्दवं चक्रम्

प्रकाशविमर्शवह्निसम्पर्काद् घृतस्येव धारा विमर्शशक्तेः स्रावो जायते, अत एव प्रकाशस्य परमार्थत्वम् । स्फुरत्तालहरीयुतात् स्फुरत्ताया विमर्शशक्तेर्लहरी

में विसर्ग है । इस शून्य अकार और विसर्ग से शिवशक्तिसामरस्य स्वरूप अग्नीषोमात्मक काम (रवि) बिन्दु की उत्पत्ति होती है । चिद्गगनचन्द्रिका में भी ऐसा ही कहा गया है—

हे देवि ! चिदात्मक सागर (परमशिव दशा) से भोक्ता (आत्मा) और भोग्य (विषय) के रूप में उठ रही प्रकाशविमर्शात्मक (द्वैतमयी चंचल) लहरियों की स्थिति में भी स्थिर दशा (शुद्ध स्वात्मस्वरूप) को निरन्तर भासित कराने वाला, अग्नीषोमात्मक जगत् की सृष्टि के लिये उद्यत भानुजृम्भण (कामबिन्दु) मुझे यहाँ कुछ कहना सा चाह रहा है ॥

शिवशक्तिसामरस्यमय काम नामक बिन्दु का संस्कार, अर्थात् स्पन्दन ही अग्नीषोमात्मक श्वेत और रक्त बिन्दुओं का रूप धारण करता है । अकार और हकार (विसर्ग) स्वरूप समरस कामबिन्दु के स्पन्दन से उत्पन्न श्वेत और रक्त बिन्दुयुगल से संवित्स्वरूपा, अर्थात् चिन्मयी अग्नीषोमात्मिका चित्कला निकलती है ॥१०॥

स्फुरत्ता (विमर्श) की लहरी से युक्त प्रकाशरूपी परमार्थ से विश्व के प्रकाशक मातृत्रयात्मक बैन्दव चक्र का प्रसार होता है ॥११॥

अग्नि के संपर्क से जैसे घी पिघलने लगता है, उसी तरह से प्रकाश के संपर्क से विमर्श शक्ति में स्राव होने लगता है, अतः प्रकाशात्मक शिव को ही यहाँ परमार्थ कहा

१. रस्यवाच्यात्मा—क. ख. ने. । २. 'भोक्तृभोग्यमयगोविसर्गगो' इति सार्वत्रिको दीपिकापाठः । ३. चिदुदधौ—क. ग. ने., चिदुदरे—चि. । ४. 'विमर्श' इति सार्वत्रिको दी. पाठः । ५. प्रस्यन्दो—ख. ग. ज. । ६. प्रस्य—ख. ग. ने. । ७. प्रसार—ख. च. झ. ।

बिन्दुद्वयान्तरालनिःसृता[1] हार्धकलारूपा, तथा युक्तादेवंभूतात् कामकलाक्षरात् । प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकं बैन्दवं चक्रम् । विश्वलहरीस्थानम्, विश्वलहर्यो वीचयः षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपास्तासां स्थानम्, उत्पत्तिहेतुत्वात् । मातृत्रयात्मकं पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपम् । एवं तत्समष्टिरूपपरमा[2]त्मात्मकसदाशिवाख्यतुरीयबिन्दोरुत्पन्नत्वाद् बैन्दवं चक्रं मध्यत्रिकोणं प्रसृतम् । एतदत्रैव वक्ष्यति—"आत्मनः स्फुरणं पश्येत्" (१।३६) इत्यादि, "वैखरी विश्वविग्रहा" (१।४०) इत्यन्तेन, "चक्रं कामकलारूपं प्रसारपरमार्थतः" (१।२४) इति च । एतत् कामकलाविलासेऽप्यस्मद्गुरुभिः प्रपञ्चितम्—

गया है । स्फुरत्ता (विमर्शशक्ति) की लहरी यहाँ दो बिन्दुओं के बीच से निकली हार्धकला है । इस हार्धकला से युक्त कामकला नामक [1]अक्षर से विश्वलहरीस्थान मातृत्रयात्मक बैन्दव (त्रिकोण) चक्र का प्रसार होता है । इसको विश्वलहरीस्थान इसलिये कहा गया है कि षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मक विश्व की उत्पत्ति इससे उसी तरह से होती है, जैसे कि समुद्र से लहरें उठती हैं । यह बैन्दव (त्रिकोण) चक्र पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का प्रतिनिधि है, क्योंकि इस त्रिकोण चक्र का प्रसार उस परमात्मस्वरूप सदाशिव नामक तुरीय (चतुर्थ) समष्टि बिन्दु से हुआ है, जो कि परा वाणी का प्रतिनिधि है । उस बैन्दव चक्र से इसका प्रसार हुआ है, अतः इस मध्यत्रिकोण चक्र को भी यहाँ बैन्दव चक्र ही कह दिया गया है । इस विषय का विस्तार यहीं [2]आगे (१।३६-४०) किया जायगा । "चक्रं कामकलारूपम्" (१।२४) [3]इस श्लोक में भी यही विषय वर्णित है । हमारे (अमृतानन्द के) गुरु पुण्यानन्द ने [4]कामकलाविलास में इस विषय को अधिक स्पष्ट किया है—

१. मिश्रिता—ग. घ. ने. ज. झ. उ. । २. मात्मक—क. ख. ग. उ. ।

1. हार्धकला से युक्त कामकला नामक बीजाक्षर का स्थूल स्वरूप शारदा लिपि के ईकार की सहायता से समझा जा सकता है ।

2. वहाँ कामकला नामक बीजाक्षर की बैन्दव (त्रिकोण) चक्रात्मकता, वाक्चतुष्टयात्मकता, अम्बिकादि शान्तादि शक्तिचतुष्टयात्मकता का वर्णन करते हुए श्रृंगाट की परिपूर्णता दिखाई गई है ।

3. श्रीचक्र की सृष्टि और संहार क्रम की वासनाओं का वर्णन करने के बाद वहाँ बताया गया है कि सम्पूर्ण श्रीचक्र कामकला का ही विस्तार है ।

4. श्रीचक्र के आध्यात्मिक स्वरूप का इस ग्रन्थ में परिपूर्ण वर्णन मिलता है । अतिमहत्त्वपूर्ण व्याख्या चिद्वल्ली के साथ इस ग्रन्थ का विशिष्ट संस्करण गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास से प्रकाशित हो चुका है ।

स्फुटशिवशक्तिसमागमबीजाङ्कुररूपिणी परा शक्तिः ।
अणुतररूपानुत्तरविमर्शलिपिलक्ष्यविग्रहा भाति ॥
परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे ।
प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः ॥
चित्तमयोऽहङ्कारः सुव्यक्ताहार्णसमरसाकारः ।
शिवशक्तिमिथुनपिण्डः कवलीकृतभुवनमण्डलो जयति[1] ॥
सितशोणबिन्दुयुगलं विविक्तशिवशक्तिसंकुचत्प्रसरम् ।
वागर्थसृष्टिहेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम् ॥

शिव और शक्ति, अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का स्पष्ट समागम होने पर बीजाङ्कुरन्याय का प्रतिनिधित्व करने वाली पराशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म अनुत्तर लिपि अकार और विमर्श लिपि हकार (विसर्ग) के स्वरूप में भासित होने लगती है ॥

सूर्य को तरफ दर्पण का मुँह करने से जैसे सूर्य की किरणें स्वच्छ दर्पण पर पड़ने के बाद दीवाल पर तेजोबिन्दु के रूप में प्रतिफलित होती हैं, उसी तरह से प्रकाशात्मक परमशिव की किरणों के विमर्श रूपी स्वच्छ दर्पण पर पड़ने से चित्तमय कुड्य (भित्ति) में महाबिन्दु भासित होने लगता है ॥

ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के प्रकाश से आलोकित यह चित्त ही वह अहंकार [1](अहंतत्त्व) है, जिसका कि स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट अकार और हकार लिपि के समरसीभाव से बनता है । यह 'अहम्' तत्त्व प्रकाशात्मक शिव और विमर्शात्मक शक्ति का युगल स्वरूप है । शब्द और अर्थमय सारे जागतिक प्रपंच को इसने अपने भीतर समेट रखा है, अतः यही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है ॥

इस चित्तमय महाबिन्दु में श्वेत और रक्त बिन्दुयुगल की भावना करनी चाहिए। शिव और शक्ति के इस विभक्त स्वरूप में सारी सृष्टि का विस्तार छिपा हुआ है । परा, पश्यन्ती प्रभृति वाक्सृष्टि और शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त अर्थ की सृष्टि का यही कारण (आधार) है । इस बिन्दुयुगल में कामेश्वर और कामेश्वरीमय दिव्य मिथुन का स्वरूप परस्पर अनुप्रविष्ट और विस्पष्ट, अर्थात् समरसाकार और विभक्ताकार दोनों ही रूपों में भासित होता है ॥

---

१. लसति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. सांख्यदर्शन के अहंकार से यह भिन्न तत्त्व है । वामनभट्ट के अद्वयसम्पत्तिवार्तिक में इसका वर्णन मिलता है । देखिये—विज्ञानभैरव हिन्दी भाषानुवाद (पृ. १००) तथा लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, उपोद्घात (पृ. १९५) ।

बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ॥
इति कामकला विद्या देवी चक्रक्रमात्मिका सेयम् ।
विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुरसुन्दरीरूपः ॥
(का० वि० श्लो० ३–८)

इत्यादि ॥११॥

एतस्य त्रिरूपत्वं पुनर्भवेत् ।

एतस्य त्रिकोणात्मनश्चक्रस्य पुनस्त्रिरूपत्वं भवेत् । पुनःशब्देन पूर्वोक्तस्यैव गुणान्तरकथनं [1]गम्यते । इदमेव त्रिकोणात्मकं भूयोऽपि शक्तित्वं सृष्ट्या वह्नित्वं च संहारात्मना प्रतिपद्य तत् त्रिधाऽभूदित्यर्थः ।

यह श्वेत और रक्त बिन्दुयुगल अहंकार (अहंतत्त्व) स्वरूप है । इसका नाम रवि है । इसमें दोनों बिन्दु समरसभाव से रहते हैं । यह समरसभाव सबके लिये कमनीय (स्पृहणीय) है । इसलिए इसे काम भी कहते हैं । अग्नि और चन्द्र (अग्नीषोम) नामक दो बिन्दु इस काम की कलाएँ हैं ॥

इस कामकला नामक महात्रिपुरसुन्दरी विद्या का यही स्वरूप है । श्रीचक्र, श्रीविद्या आदि के क्रम से जो इसको जान लेता है, वह साधक महात्रिपुरसुन्दरी स्वरूप हो जाता है, मुक्त हो जाता है ॥

यह त्रिकोणात्मक बैन्दव चक्र पुनः तीन रूपों में विभक्त हो जाता है, अर्थात् तीन त्रिकोणों के योग से नवयोनि चक्र[1] बन जाता है ।

इस त्रिकोणात्मक चक्र के पुनः तीन रूप हो जाते हैं । पुनः शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है । इससे यह अभिप्राय निकलता है कि यह कोई नई सृष्टि न होकर उसी त्रिकोणात्मक चक्र का गुणात्मक परिवर्तन होता है । यही त्रिकोणात्मक चक्र फिर भी सृष्टि क्रम से शक्ति चक्र का और संहार क्रम से वह्नि चक्र का स्वरूप धारण कर त्रिधा विभक्त हो जाता है ।

---

१. शस्यते–ख. ।

1. नवयोनि चक्र शब्द से योगिनीहृदय में सर्वत्र वसुकोण चक्र का ग्रहण करना चाहिए ।

एवं कृते सति सवासनं नवयोनिचक्रं निष्पद्यत इत्याह—

धर्माधर्मौ तथात्मानौ मातृमेयौ तथा प्रमा ॥१२॥
नवयोन्यात्मकमिदं चिदानन्दघनं महत् ।

धर्माधर्मौ पुण्यपापे । आत्मानः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा चेति चत्वारः । मातृमेयौ माता जीवः, मेयो ग्राह्यवर्गः । प्रमा ज्ञप्तिः ॥१२॥

एवमेतन्नवमयं नवयोन्यात्मकं चक्रं चिदानन्दघनम् । चित् चैतन्यकला, आनन्दो विश्वाहन्तापरिणामः, ताभ्यां घनं बहिरन्तर्निबिडम् । यथा लवणं घनम् । महद् देशकालाकारैरनाकलितम्, चिन्मयत्वात् ।

ऐसा करने से नवयोनि चक्र बन जाता है । इसमें [1]वासना (भावना) का प्रकार बताते हैं—

इसमें धर्म, अधर्म, चतुर्विध आत्मा, माता, मेय और प्रमा की भावना करनी चाहिए । यह नवयोन्यात्मक चक्र चित् और आनन्द से परिपूर्ण तथा महान् है ॥१२॥

धर्म और अधर्म का अर्थ है पुण्य और पाप । आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा के भेद से आत्मा के चार भेद हैं । माता का अर्थ जीव, मेय का अर्थ ग्राह्य विषय और प्रमा का अर्थ ज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान है ॥१२॥

नवयोनि चक्र इन नौ पदार्थों का प्रतिनिधि है, अर्थात् इस नवयोनि चक्र की एक-एक योनि में इनकी भावना करनी चाहिए । यह चक्र चिदानन्दघन है । चित् का अर्थ चैतन्यकला और आनन्द का अर्थ [2]विश्वाहन्ता का अनुभव है । यह चक्र चैतन्यकला और विश्वाहन्ता की अनुभूति से भीतर-बाहर उसी तरह से ओत-प्रोत है, जैसे कि लवण का एक-एक कण लवणरस से ओत-प्रोत रहता है । यह चिन्मय होने से ही महत् है, देश-काल और आकार से परिमित न होने से महतो महीयान् है ।

---

1. योगिनीहृदय की अपनी टीका (पृ० ८२) में भास्करराय ने वासना शब्द का अर्थ सूक्ष्म रूपान्तर किया है । इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल आकार में छिपे सूक्ष्म आध्यात्मिक स्वरूप की भावना का प्रकार यहाँ वासना के द्वारा बताया गया है ।

2. विश्वाहन्ता शब्द के अर्थ को समझने के लिये देखिये विज्ञानभैरव भाषानुवाद (पृ. १००, ११२-११४) तथा "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. ५५-५७) नामक ग्रन्थ ।

प्रथमं त्रिकोणस्य पश्यन्त्यादित्रितयहेतुत्वात् तन्मयतां प्रतिपाद्य इदानीं बाह्यचक्रस्य वैखरीमयतां तदुत्थितां तत्त्वस्वरूपतां च कथयति चक्रमित्यादिना वामारूपभ्रमित्रयमित्यन्तेन (श्लो० १३-१९)—

चक्रं नवात्मकमिदं नवधा भिन्नमन्त्रकम् ॥१३॥

इदं चक्रं त्रिकोणत्रयरूपेण नवात्मकं त्रैलोक्यमोहनादिनवचक्रात्मना परिणतं नवधा भिन्नमन्त्रकं वक्ष्यमाणकरशुद्ध्यादिनवचक्रेश्वरीमन्त्रनवकभेदवत् ॥१३॥

बैन्दवासनसंरूढसंवर्तानलचित्कलम् ।
अम्बिकारूपमेवेदमष्टारस्थं स्वरावृतम् ॥१४॥

बैन्दवासनं महाबिन्द्वात्मकसदाशिवासनम् । अत्रैव वक्ष्यति—"सदाशिवासनं देवि महाबिन्दुमयं परम्" (२।५६) इति । शिवशक्त्योः सदाशिवतत्त्वोपरि स्थितत्वाद् बैन्दवासनसंरूढत्वम् । संवर्तानलो लयानलः, यत्र क्षित्यादिशिवपर्यन्तं लीयते

अभी ११वें श्लोक में बताया गया है कि त्रिकोण से ही पश्यन्ती आदि वाणियों का विकास होता है, अतः यह तन्मय है । अब 'चक्रम्' इत्यादि १३वें श्लोक से 'वामारूपभ्रमित्रयम्' पर्यन्त १९वें श्लोक तक बाह्य चक्र की वैखरीमयता (वर्णात्मकता) और तत्त्वमयता (तत्त्वात्मकता) का वर्णन किया जा रहा है—

यह नवात्मक श्रीचक्र नवधा भिन्न मन्त्रों से संयुक्त है ॥१३॥

तीन त्रिकोणों के संयोग से निष्पन्न [1]नवयोनि चक्र ही त्रैलोक्यमोहन प्रभृति नौ चक्रों के रूप में परिणत हो जाता है । इनमें से प्रत्येक चक्र आगे (२।२-५) बताये गये करशुद्धि आदि नौ चक्रेश्वरी मन्त्रों से संवलित होता है ॥१३॥

बैन्दव (त्रिकोण) चक्र प्रकाशस्वरूप संवर्तानल अकार और विमर्शस्वरूप चित्कला हकार का आसन है । यह अम्बिका रूप ही है । त्रिकोण चक्र जब अष्टार नवयोनि चक्र से घिर जाता है, तो वह स्वरों से आवृत रहता है ॥१४॥

बैन्दवासन का अर्थ है महाबिन्दु स्वरूप सदाशिवासन । आगे (२।५६) महाबिन्दु को सदाशिव का आसन बताया गया है । शिव और शक्ति का स्थान सदाशिव तत्त्व से ऊपर है, अतः शिव और शक्ति को यहाँ बैन्दवासन पर बैठा हुआ बताया गया है । प्रलय काल की अग्नि को संवर्तानल कहते हैं । यहाँ अकार को संवर्तानल कहा गया है, क्योंकि पृथ्वी से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त सारा जगत् समस्त वर्णों के आदिभूत इस प्रकाशात्मक अनुत्तर

---

१. संरूढ–ग. च. उ. ।

1. नवयोनि चक्र, अर्थात् तीन त्रिकोणों के संयोग से बने वसुकोण चक्र का नित्याषोडशिकार्णव (१।२९-४१) में वर्णित पद्धति से विस्तार होने पर अन्ततः नवचक्रात्मक श्रीचक्र परिपूर्ण हो जाता है । यहाँ भी आगे (१।७३-७५) इस विषय की संक्षिप्त चर्चा हुई है ।

तदनलरूपं[1] सकलवर्णाद्यभूतमनुत्तरं प्रकाशात्मकं संवर्तानलः। चिदेव कला चित्कला विमर्शात्मिका सर्व[2]वर्णान्त्यभूतहार्धकलारूपा। तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः॥ इति।

बैन्दवासनसंरूढे संवर्तानलचित्कले यस्मिन् तत्, तथैवं त्रिकोणं शिवशक्तिसामरस्यरूपमहाबिन्दुम[3]यमध्यचक्रोत्पन्नत्वादम्बिकारूपम्। अष्टारस्थं त्रिकोण[4]स्पन्दत्रयसमुत्पन्नत्वादष्टकोणस्य [5]तत इदं त्रिकोणमष्टारस्थम्। स्वरावृतम् अकारादिबिन्द्वन्तपञ्चदशस्वरैस्त्रिधा विभक्तैराकलितरेखात्रयम्, अःस्वराक्रान्तमध्यम्। तदुक्तमभियुक्तैः—"विभाव्य च महात्र्यस्रं समरेखं स्वरोदरम्" (सु० ४१) इति। अयमर्थः—इदमेव त्रिकोणचक्रं नवचक्रात्मना परिणतं त्रिपुरादिनवचक्रेश्वरी-

अकार में ही उस समय लीन हो जाता है। सभी वर्णों के अन्त में स्थित विमर्शात्मक हार्धकला को ही यहाँ चित्कला कहा गया है। संकेतपद्धति में भी यह विषय वर्णित है—

सभी वर्णों का आदिभूत अकार प्रकाशात्मक परम शिव है। अन्तिम वर्ण हकार विमर्शात्मक चित्कला का स्वरूप है॥

त्रिकोण चक्र के मध्य में स्थित महाबिन्दु में ही संवर्तानल और चित्कला का स्थान है, यही अम्बिका रूप भी है, किन्तु शिव-शक्ति सामरस्य स्वरूप महाबिन्दुमय मध्यचक्र से ही त्रिकोण चक्र की उत्पत्ति होती है, अतः त्रिकोण चक्र को भी यहाँ अम्बिका रूप मान लिया गया है। यही त्रिकोणचक्र अष्टारचक्र में भी स्थित है, क्योंकि अष्टकोण नवयोनि चक्र त्रिकोण के तीन स्पन्दनों से बनता है। यह षोडश स्वरों से आवृत है। अकार से लेकर बिन्दुपर्यन्त १५ स्वरों को तीन हिस्सों में बाँटकर त्रिकोण चक्र की एक-एक रेखा में पाँच-पाँच स्वरों को और त्रिकोण के मध्य में १६वें स्वर अः को लिखा जाता है। सुभगोदयकार[1] शिवानन्द ने भी कहा है—

महात्र्यस्र, अर्थात् प्रथम मूल त्रिकोण की समान रेखाओं के मध्य में सभी स्वरों की भावना करनी चाहिए॥

ऊपर की तीन पंक्तियों का अभिप्राय यह है—यह त्रिकोण चक्र ही अन्ततः नौ चक्रों का रूप धारण कर लेता है तथा त्रिपुरा प्रभृति नौ चक्रेश्वरी देवियों और उनके कर-

१. चक्रं—घ. झ., चक्रं पररूपं—ग. ज. ने झ. उ.। २. वर्णानामन्तिमा—क., वर्णाभ्यन्तर—ग. झ. उ.। ३. 'मयमध्य' नास्ति—ख. ग. घ. उ.। ४. स्यन्द—ख. घ. ने.। ५. ततोऽष्टारस्थम्—ख. ग. ज. झ. उ.।

1. महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द के परमगुरु नित्याषोडशिकार्णव की टीका (ऋजुविमर्शिनी) के रचयिता शिवानन्द मुनि का यह ग्रन्थ नित्याषोडशिकार्णव के काशी संस्करण (पृ० २८४-२९६) में प्रकाशित हो चुका है।

करशुद्ध्यादितत्तन्मन्त्रनवककलितमष्टकोणमध्यगतं[1] षोडशस्वरावृतम् अम्बिकाशान्तासामरस्यरूपमहाबिन्दुमयसदाशिवासनारूढप्रकाशविमर्शात्मककामेश्वरकामेश्वर्यधिष्ठितमिति॥१४॥

उपरितनचक्रं सवासनमुत्पादयति—

नवत्रिकोणस्फुरितप्रभारूपदशारकम्।
शक्त्यादिनवपर्यन्तदशार्णस्फूर्तिकारकम्॥१५॥
भूततन्मात्रदशकप्रकाशालम्बनत्वतः।

नव च त्रिकोणं[3] च नवत्रिकोणानि। त्रिकोणशब्देन त्रिकोणमध्य[4]गतं बैन्दवं लक्ष्यते। नवत्रिकोणानां बैन्दवस्य च [5]परितः स्फुरिताः प्रतीयमानाः प्रभा दश, तद्रूपं दशारं यत्र। यद् यथा परिणमते तत् तथाविधम्। शक्तिः रेफः। तदुक्त[6]मुद्धा-

शुद्धि प्रभृति नौ मन्त्रों से संयुक्त हो जाता है। यही त्रिकोण चक्र जब अष्टकोण (नवयोनिचक्र) के मध्य में स्थित रहता है, तो १६ स्वरों से आवृत हो जाता है। इसी के मध्य में स्थित अम्बिका और शान्ता शक्ति के सामरस्य स्वरूप महाबिन्दु में सदाशिव रूपी आसन पर बैठे हुए प्रकाशविमर्शात्मक कामेश्वर और कामेश्वरी के युगल स्वरूप का निवास है॥१४॥

भावनापद्धति के साथ अब आगे के चक्रों की निष्पत्ति बताते हैं—

नवयोनि और त्रिकोण मध्यगत महाबिन्दु की प्रभा से दशार चक्र की निष्पत्ति होती है। इसमें यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त दस वर्णों का स्फुरण होता है। यह दशार चक्र पांच महाभूत और पांच तन्मात्राओं के प्रकाश का आलम्बन है॥१५॥

नवत्रिकोण शब्द में द्वन्द्व समास होने से नवयोनि और त्रिकोण का ग्रहण होता है। त्रिकोण शब्द से यहाँ त्रिकोण के मध्य में स्थित बिन्दु का ग्रहण किया जाता है। नवयोनि (अष्टार) चक्र और बैन्दव चक्र से चारों तरफ फैली प्रकाश की किरणें ही दशार चक्र का रूप धारण कर लेती हैं। जो जिससे परिणत होता है, वह वैसा ही हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि नवयोनि और बैन्दव चक्र के परिणाम से निष्पन्न यह चक्र दशार का रूप धारण कर लेता है। शक्ति शब्द से रेफ का ग्रहण किया जाता है।

१. 'मध्य' नास्ति—घ. ने. ज. झ. उक., कोणान्तः-उग.। २. णम्—ग. घ. ने. ज. झ. उ.। ३. णानि—च. झ.। ४. मध्यं—ख. ने. ज. उ.। ५. 'परितः' नास्ति—ख. ग. घ. ज. झ. उ.। ६. मध्याहारो—ग. घ. ब. उ.।

रोर्ध्वतन्त्रे [1]रमाशक्तिबीजोद्धारे—"चन्द्रः[2] शक्तिर्महाशक्तिर्ब्रह्माणी कालिकादिकम्" इति। शक्ते रेफस्यादिर्यकारः, शक्त्यादियकारमारभ्य नवानां [3]वर्णानां पर्यन्तगः क्षकारः, तेषां दशानां स्फूर्तिकारकम्। स्फूर्तिर्विमर्शः। यकारादिक्षकारान्तदशवर्णविमर्शकमित्यर्थः ॥१५॥

भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः, तन्मात्राः पञ्च गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः, तेषां दशानां प्रकाशा दश, तेषामालम्बनत्वात्[4]। शिवात्मकत्वात् पृथिव्याद्यर्थानाम्, शक्त्यात्मकत्वाद् यकारादिवर्णानाम्। तदुभयप्रकाशविमर्शमयदशकोणावृतमिदं चक्रमित्यर्थः। पृथिव्यादिक्षकारान्तवर्णदशकमयताकथनेन प्रथमदशारादिचक्रत्रयस्य स्थितिरूपता द्योत्यते।

रमा शक्ति के बीज का उद्धार करते समय उद्धारोर्ध्वतन्त्र में बताया गया है—"चन्द्र, शक्ति, महाशक्ति, ब्रह्माणी, कालिका आदि शब्द (इस बीज के वाचक हैं)"। शक्ति अर्थात् रेफ का आदि यकार है। [1]यकार से लेकर ळकार सहित नौ वर्णों के अन्त में क्षकार है। यह चक्र इन दस वर्णों की स्फूर्ति करता है। स्फूर्ति का अर्थ यहाँ विमर्श है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यकार से लेकर क्षकार पर्यन्त १० वर्णों का यहाँ विन्यास करना चाहिये ॥१५॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—भूत कहलाते हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये हैं पांच तन्मात्राएँ। इन दस तत्त्वों के प्रकाश का आलम्बन यह दशार चक्र है। पृथिवी आदि दस तत्त्व शिवात्मक और यकार आदि दस वर्ण शक्त्यात्मक हैं। यह दशार चक्र भी प्रकाशविमर्शमय शिव-शक्ति के प्रकाश से घिरा हुआ है। पृथिवी आदि दस तत्त्व और यकारादि क्षकारान्त दस वर्णों से संयुक्त होने से प्रथम दशार आदि तीन चक्रों की स्थितिरूपता जानी जाती है।

---

१. परा–उ.। २. चन्द्र–उ.। ३. 'वर्णानां' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. कत्वात्–ख. ग. ने. ज. झ.।

[1]. भास्करराय ने यहाँ 'शक्त्यादि' शब्द से मकार का ग्रहण किया है। उनके मत से इन दस वर्णों में ळकार की गणना नहीं की जाती और इस तरह से त्रिकोण से चतुर्दशार पर्यन्त चक्रों में सभी (पचास) वैखरी वर्णों का विन्यास पूर्ण हो जाता है। अमृतानन्द ५१ वैखरी वर्णों के पक्षधर लगते हैं। आगे मूल ग्रन्थ में (३।१००-१०१) भी इसी पद्धति से वैखरी वर्णों का विन्यास बताया गया है, किन्तु इस क्रम में मकार का विन्यास कहीं नहीं होने पाता। बीजाक्षरों में बिन्दु अनिवार्य तत्त्व है। मकार को बिन्दु का प्रतीक मानकर और इस तरह से प्रत्येक वर्ण में इसकी सत्ता समझ कर मूल ग्रन्थ और अमृतानन्द की व्याख्या की संगति बैठाई जा सकती है।

द्वितीयदशारमाह—

द्विदशारस्फुरद्रूपं क्रोधीशादिदशार्णकम् ॥१६॥

द्वितीयदशारं द्विदशारम्। [1]रूप्यन्त इति रूपा इन्द्रियार्था दश, शब्दादयो वचनादयश्च, द्वितीयदशारतया स्फुरन्तो रूपा यस्य तत् तथाविधम्। क्रोधीशः ककारः। ककारादिदशवर्णवत्। कोऽर्थः? बैन्दवत्रिकोणाष्टकोणचक्रेषु मध्यस्थितप्रकाशविमर्शमयदीपद्वयदीपितेषु तद्दशकप्रभाच्छायादशकद्वयमययकारादिपृथिव्यादिककारादिशब्दादिदशकद्वयात्मकं दशार([2]चक्रद्वयं जातमित्यर्थः। तदुक्तं कामकलाविलासे—

नवकोणमध्यमञ्चास्मिंश्चिद्दीपदीपिते दशके।
तच्छायाद्वितयमिदं) चक्रद्वयात्मना दृष्टम् ॥ (श्लो० २९–३०) इति।

ननु—"भूततन्मात्रदशकप्रकाशालम्बनत्वतः" (१।१६) इत्यत्रैव शब्दादीनामुक्तत्वात् पुनः "द्विदशारस्फुरद्रूपम्" (१।१६) इत्यत्रापि रूपशब्देनापि कथं

अब द्वितीय दशार चक्र का वर्णन करते हैं—

द्वितीय दशार चक्र इन्द्रियों के १० रूपों (विषयों) को स्फुरित करता है। इसमें ककार प्रभृति १० वर्णों का विन्यास किया जाता है ॥१६॥

द्वितीय दशार को ही यहाँ द्विदशार कहा गया है। रूप शब्द से इन्द्रियों के १० विषयों का ग्रहण होता है। शब्द आदि बुद्धीन्द्रियों के और वचन आदि कर्मेन्द्रियों के विषयों का स्फुरण करने वाला है यह द्वितीय दशार चक्र। क्रोधीश शब्द से ककार का ग्रहण होता है। यह चक्र ककार आदि १० वर्ण वाला है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि बैन्दव, त्रिकोण और अष्टकोण चक्र मध्य में स्थित प्रकाशविमर्शमय दो दीपकों से आलोकित हैं। इनकी दस प्रभाओं के प्रतिबिम्ब से प्रथम दशार चक्र और द्वितीय दशार चक्र की निष्पत्ति होती है। इसी के साथ यकार प्रभृति दस वर्ण, पृथिवी प्रभृति दस तत्त्व प्रथम दशार में और ककार प्रभृति दस वर्ण, शब्द प्रभृति दस विषय द्वितीय दशार में अभिव्यक्त होते हैं। यह विषय कामकलाविलास में भी वर्णित है—

नवयोनि चक्र और मध्यत्रिकोण चक्र के मध्य में स्थित मञ्च, अर्थात् सदाशिवासन स्थानीय बिन्दुचक्र में विराजमान प्रकाशविमर्शमय ज्ञानदीपक की प्रभा की दस किरणों के द्विविध प्रतिबिम्ब से दो प्रकार के दशार चक्रों की निष्पत्ति देखी गई है ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि "भूततन्मात्र" प्रभृति श्लोक में ही शब्द प्रभृति विषयों का वर्णन हो चुका है, फिर "द्विदशार" प्रभृति श्लोक में पुनः रूप शब्द से उन्हीं का ग्रहण

---

१. 'रूप्यन्त'...'वचनादयश्च' नास्ति–ग. घ. ने. ज. झ. उ.। २. कोष्ठान्तर्गतः पाठः कपुस्तकं विहाय क्वापि न दृश्यते।

गृह्यन्ते ? मैवम्, तन्मात्रपदेन भूतसूक्ष्माणामनिन्द्रियगोचराणां ग्रहणम्, रूपशब्देन तु भूतगुणाः शब्दादयः श्रोत्रादिग्राह्या गृह्यन्ते, अतो न विरोधः ॥१६॥

चतुर्दशारमाह—

चतुश्चक्रप्रभारूपसंयुक्तपरिणामतः ।
चतुर्दशाररूपेण संवित्तिकरणात्मना ॥१७॥
खेचर्यादिजयान्तार्णपरमार्थप्रथामयम् ।

चत्वारि चक्राणि बैन्दवत्रिकोणाष्टकोणप्रथमदशाररूपाणि, तेषां प्रभाश्चतस्रः । विप्रकृष्टत्वात् प्रभामात्रमेव गम्यते । यथा बह्वो वृक्षा वनमिति नावयवभेदः, तथा[1] । तच्चक्रप्रभाचतुष्टयसंयुक्तस्य द्वितीयदशारस्य सन्निकृष्टत्वादवयवप्रतीतिस्तत्प्रभाचतुष्टयसभ[2]वेतद्वितीयदशा[3]रावयवदशकपरिणामत्वात् । चतुर्दशाररूपेण संवित्तिकरणात्मना । संवित्तिः ज्ञानम् । संवित्तिशब्देन क्रियापि लक्ष्यते । करणानि

कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि तन्मात्र शब्द से शब्दतन्मात्रा प्रभृति सूक्ष्म भूतों का ग्रहण होता है, जो कि इन्द्रियगोचर नहीं हैं । रूप शब्द से शब्द प्रभृति भूत गुणों का ग्रहण किया जाता है, जो कि श्रोत्र प्रभृति इन्द्रियों से गृहीत होते हैं । इस तरह से यहाँ कोई विरोध नहीं है ।।१६।।

चतुर्दशार चक्र की भावना इस तरह से की जाती है—

चार चक्रों की प्रभा के साथ संयुक्त द्वितीय दशार की प्रभा से चतुर्दशार चक्र निष्पन्न होता है । यह चतुर्दश करणों का प्रतिनिधि है । टकार से लेकर भकार पर्यन्त १४ वर्णों का इसमें विन्यास किया जाता है ॥१७-१८॥

चार चक्र हैं बैन्दव, त्रिकोण, अष्टकोण और प्रथम दशार । इनसे चार प्रभाएँ छिटकती हैं । चतुर्दशार चक्र के इनसे दूर होने से वहाँ इनकी प्रभामात्र का दर्शन होता है । जैसे कि दूरी के कारण वन में वृक्षों की अलग-अलग पहचान नहीं होती, उसी तरह से चतुर्दशार चक्र में इनकी प्रभा की ही प्रतीति होती है, उनके अवयवों की नहीं । इन चार चक्रों की चार प्रभाओं के साथ चतुर्दशार चक्र में द्वितीय दशार के दस अवयवों का स्पष्ट दर्शन होता है, क्योंकि द्वितीय दशार चक्र की स्थिति उसके पास में ही है । इस तरह से चार चक्रों की चार प्रभाओं और द्वितीय दशार चक्र के दस अवयवों से मिलकर यह चक्र बनता है । इसका यह चतुर्दशार रूप संवित्तिकरणात्मक है । संवित्ति ज्ञान को कहते हैं। इस ज्ञान के साथ क्रिया भी जुड़ी हुई है । इसका यह अभिप्राय हुआ कि यह ज्ञान और क्रिया शक्ति के स्फुरण से आविर्भूत चतुर्दशार चक्र श्रोत्र प्रभृति

१. तथा तच्चक्रभेदः–ख. ने. ज. । २. समेत–ख. ग. ज. झ. उ. । ३. दशा-रावयववत् । चतु–ख. ग. घ. ज. झ. ।

इन्द्रियदशकं श्रोत्रादिकं वागादिकं च, मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तानि चतुर्दश, तदात्मना ॥१७॥

खेचरी टकारः, जया भकारः, टकारादिभकारान्ताश्चतुर्दश वर्णाः, तेषां परमार्थप्रथा कारणभूता प्रथा विमर्शस्तन्मयम् । कोऽर्थः ? मध्यचक्रमेव त्रिकोणाष्टकोणद्विदशकोणक्रमेण [1]श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियवागादिकर्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तात्मककरणचतुर्दशक - टकारादिभकारान्तवर्णचतुर्दशक[2]प्रकाशविमर्शमयचतुर्दशार - रूपेण परिण[3]तमित्यर्थः ।

त्रिकोणचक्रस्य—"अम्बिकारूपमेवेदमष्टारस्थं स्वरावृतम्" (१।१४) इत्यत्राम्बिकारूपतामुक्त्वेदानीमष्टारादिचतुर्दशारपर्यन्तस्य श्रीचक्रस्य रौद्रीरूपतामाह—

एवं शक्त्यनलाकारस्फुरद्रौद्रीप्र[4]भामयम् ॥१८॥

एवमुक्तप्रकारेण शक्त्यनलाकारेण पञ्चशक्तिचतुर्वह्निरूपेण स्फुरच्चक्रं द्विचत्वारिंशद्योन्यात्मकं रौद्रीप्र[4]भामयं रौद्रीशक्तिविस्फारविजृम्भितमित्यर्थः ॥१८॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियमय, वाक्प्रभृति पाँच कर्मेन्द्रियमय और मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त नामक अन्तःकरण चतुष्टयमय है ॥१७॥

खेचरी से टकार का और जया से भकार का ग्रहण होता है । टकार से लेकर भकार पर्यन्त १४ वर्णों की परमार्थ प्रभा, अर्थात् इन वर्णों की कारणभूत विमर्शशक्ति इनमें विराजमान है । इसका अभिप्राय यह है कि मध्यचक्र ही, अर्थात् मध्यचक्र में विराजमान विमर्शशक्ति ही त्रिकोण, अष्टकोण, प्रथम दशार और द्वितीय दशार के क्रम से श्रोत्र प्रभृति ज्ञानेन्द्रिय, वाक् प्रभृति कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्तात्मक अन्तःकरण चतुष्टय को मिलाकर चौदह करणों एवं टकार से लेकर भकार पर्यन्त १४-वर्णों के रूप में परिणत होती है । इस तरह से प्रकाशविमर्शमय तत्त्वात्मक और वर्णात्मक चतुर्दशार चक्र निष्पन्न होता है ।

त्रिकोण चक्र को पहले (१।१४) अम्बिकाशक्तिमय बताया गया है । अब यहाँ अष्टार से लेकर चतुर्दशार पर्यन्त चक्रों की रौद्रीमयता का प्रतिपादन किया जा रहा है—

इस तरह से शक्तिचक्रों और वह्निचक्रों के संयोग से बने चक्र रौद्री शक्ति की प्रभा से स्फुरित हैं ॥१८॥

इस तरह से ऊपर बताई गई पद्धति से पाँच शक्तिचक्रों और चार वह्निचक्रों के स्फुरण से निष्पन्न ४२ योनिमय यह चक्रसमूह रौद्री शक्ति का ही अनोखा विस्तार है ॥१८॥

१. 'श्रोत्रादि''''भकारान्तवर्ण' नास्ति–ख. । २. दशकं–ख. ने. । ३. णमत इ–ख. ग. घ. ने. ज. उ. । ४. प्रथा–ने. ज. झ. ।

शिष्टं चक्रमाह—

ज्येष्ठारूपचतुष्कोणं वामारूपभ्रमित्रयम् ।

ज्येष्ठाशक्तिरूपाणि चतुष्कोणानि [1]चतुरस्राणि [2]त्रीणि यस्य तज्ज्येष्ठारूपचतुष्कोणम् । वामाशक्तिरूपं भ्रमित्रयं वृत्तत्रयं यस्य तत् । भ्रमित्रयशब्देन तदन्तरालस्थितपद्मद्वयमपि लक्ष्यते । अत्र वक्ष्यति[3]—"पद्मद्वयेन चान्यः स्याद् भूगृहत्रितयेन च" (१।७४) इति । अत्र वामारूपभ्रमित्रयं ज्येष्ठारूपचतुष्कोणमिति पाठे युक्तेऽप्यम्बिकादिशक्तिपाठक्रमा[4]ज्ज्येष्ठारूपचतुष्कोणं वामारूपभ्रमित्रयमित्युक्तं देवेन ।

अब बचा हुआ चक्र इस प्रकार उपदिष्ट है—

इस श्रीचक्र का चतुष्कोण ज्येष्ठाशक्तिमय और वृत्तत्रय वामाशक्तिमय है।

इस श्रीचक्र के तीन चतुरस्र ज्येष्ठा शक्ति के विस्फार से और वृत्तत्रय वामा शक्ति के विस्फार से प्रकट होते हैं । भ्रमित्रय (वृत्तत्रय) शब्द से उनके बीच में विद्यमान अष्टदल और षोडशदल पद्मों का भी ग्रहण किया जाता है । [1]आगे (१।७४) इस विषय को स्पष्ट किया जायगा । श्रीचक्र में भ्रमित्रय की पहले तथा चतुरस्र की बाद में स्थिति है, किन्तु यहाँ चतुरस्र का पहले तथा भ्रमित्रय का बाद में वर्णन है । इसका कारण यह है कि यहाँ पर अम्बिका प्रभृति चार शक्तियों की श्रीचक्र में स्थिति बताई[2] गई है । उन शक्तियों के क्रम में ज्येष्ठा की पहले और वामा की बाद में स्थिति होने से उनके अनुसार चक्रों के क्रम को बदल दिया गया है ।

---

१. चतुरस्ररूपाणि यस्य-ख. ग. ने. ज. । २. 'त्रीणि' नास्ति-झ. उ. । ३. वक्ष्यते च-ख. ग. घ. ने. झ. उ. । ४. क्रमायातत्तया-ख. झ. ।

1. आगे (१।७३-७५) परिपूर्ण महाचक्र की त्रिविध भावना का वर्णन करते हुए वृत्तत्रय के अन्तरालवर्ती अष्टदल और षोडशदल पद्मों का उल्लेख किया गया है ।

2. श्रीचक्र की अम्बिकारूपता का १४वें श्लोक में, रौद्रीरूपता का १८वें और ज्येष्ठा एवं वामारूपता का वर्णन १९वें श्लोक में है । यहाँ अम्बिका, रौद्री, ज्येष्ठा और वामा नामक चार शक्तियों के क्रम के आधार पर श्रीचक्र के क्रम में परिवर्तन कर दिया गया है, अर्थात् श्रीचक्र के विस्तार के क्रम में वृत्तत्रय की पहले तथा चतुष्कोण की स्थिति बाद में है, किन्तु शक्तिक्रम में रौद्री शक्ति की प्राथमिकता के आधार पर चतुरस्र का उल्लेख यहाँ पहले कर दिया गया है ।

पुनरस्यैव चक्रस्य वासनान्तरमाह—

चिदंशान्तस्त्रिकोणं च शान्त्यतीताष्टकोणकम् ॥१९॥
शान्त्यंशद्विदशारं च तथैव भुवनारकम् ।
विद्याकलाप्रभारूपदलाष्टकसमावृतम् ॥२०॥
प्रतिष्ठावपुषा स्पष्टस्फुरद्द्व्यष्टदलाम्बुजम् ।
निवृत्त्याकारविलसच्चतुष्कोणविराजितम् ॥२१॥

चिदंशः चित्कला, तन्मयमन्तस्त्रिकोणम् । शान्त्यतीता[2]-शान्ति-विद्या-प्रतिष्ठा-निवृत्तयो गगनादिपञ्चभूतकलाः । तन्मयमेतच्चक्रमित्यर्थः । अवयवार्थस्तु स्पष्ट एव ॥१९-२१॥

अस्यैव चक्रस्य संहारक्रमेण वासनान्तरमाह "त्रैलोक्यमोहनाद्ये तु" इत्यादि 'क्रिया शेषम्" इत्यन्तेन (श्लो० २२-२४)—

पुन: इसी चक्र की भावना का दूसरा प्रकार बताते हैं—

इस श्रीचक्र का बिन्दु और त्रिकोण चित्कलामय, अष्टकोण शान्त्यतीतकलामय, प्रथम और द्वितीय दशार एवं चतुर्दशार शान्तिकलामय, अष्टदल विद्याकला-प्रभामय, षोडशदल प्रतिष्ठाकलामय और चतुरस्र चक्र निवृत्तिकला का विलास है ॥१९-२१॥

चिदंश का अर्थ है चित्कला । अन्तस्त्रिकोण अर्थात् मध्यत्रिकोण चक्र और उसके मध्य में विराजमान बिन्दुचक्र दोनों चित्कला के विस्फार (विस्तार) से स्फुरित होते हैं । शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा, और निवृत्ति ये पाँच क्रमशः आकाश आदि पञ्च महाभूतों की कलाएँ हैं । अवशिष्ट चक्र इन पाँच कलाओं से ही उन्मीलित हुआ है । बाकी शब्दों का अर्थ स्पष्ट है ॥ १९-२१ ॥

श्रीचक्र की ऊपर बताई गई द्विविध वासना सृष्टि क्रम[1] के अनुसार है, अब २२ वें से लेकर २४ वें श्लोक तक संहार क्रम से भावना बताई जा रही है—

---

१. प्रथा-उ. । २. तीत-घ. ने. ज. झ. उ. ।

1. बिन्दु से चतुरस्र पर्यन्त क्रम सृष्टि तथा चतुरस्र से बिन्दु पर्यन्त क्रम संहार कहलाता है । यहीं आगे (१।७७-७८) इस बात को दिखाया गया है । दोनों ही पद्धतियों से श्रीचक्र की पूजा विहित है । भावना भी उसी पद्धति से की जाती है । योगिनीहृदय में आगे (१।५४) सृष्टि क्रम से वासना वर्णित है । अपनी व्याख्या में इसी क्रम को प्रधानता देने के अभिप्राय से अमृतानन्द ने सुभगोदयवासना के श्लोकों का क्रम बदल दिया है । वस्तुतः वहाँ संहार क्रम से श्रीचक्र की वासना वर्णित है ।

त्रैलोक्यमोहनाद्ये तु नवचक्रे सुरेश्वरि ।
नादो बिन्दुः कला ज्येष्ठा रौद्री वामा तथा पुनः ॥२२॥
विषघ्नी दूतरी चैव सर्वानन्दा क्रमात् स्थिताः ।

अत्र तुशब्दः पूर्वोक्तकामकलारूपत्वप्रतिपादनप्रसङ्गपरिसमाप्तौ । त्रैलोक्यमोहनाद्ये तु इत्यत्र आद्यशब्देन[1] सर्वाशापरिपूरकादिचक्राण्युच्यन्ते । तेषां नामान्युत्तरत्र वक्ष्यति । त्रैलोक्यमोहनाद्ये नवचक्रे, जातावेकवचनम्, त्रैलोक्यमोहनाद्येषु[2] नवचक्रेष्वित्यर्थः । नादादिसर्वानन्दान्ता नव शक्तयस्त्रैलोक्यमोहनादिबैन्दवान्तनवचक्रेषु क्रमेणाधिवसन्तीत्यर्थः । पदार्थः स्पष्ट एव ॥२२-२३॥

पूर्वम् "अम्बिकारूपमेवेदम्" (१।१४) इत्यादिना प्रकाशांशानामम्बिकादीनां चतुर्णां त्रिकोणादिचतुरस्रान्तवासनामयतामुक्त्वेदानीं विमर्शांशानां शान्तादीनां चतुर्णां चतुरस्रादिबैन्दवान्त[3]चक्रमयतावासनामाह—

निरंशौ नादबिन्दू च कला चेच्छास्वरूपकम् ॥२३॥
ज्येष्ठा ज्ञानं क्रिया शेषम्

हे सुरेश्वरि ! त्रैलोक्यमोहन (चतुरस्र) प्रभृति नौ चक्रों में क्रमशः नाद, बिन्दु, कला, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी और सर्वानन्दा ये नौ शक्तियां निवास करती हैं ॥ २ -२३ ॥

श्लोक में आये 'तु' शब्द का अभिप्राय यह है कि अब तक चला आ रहा कामकला का प्रसंग यहाँ समाप्त हो जाता है । आद्य शब्द से त्रैलोक्यमोहन चक्र के साथ सर्वाशापरिपूरक आदि चक्रों संग्रह होता है। इनके नाम आगे (१।८२-८४) बताये जायेंगे । त्रैलोक्यमोहनाद्ये नवचक्रे—यहाँ एकवचन समस्त चक्रजाति का वाचक है, उसका अर्थ होगा त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों में । नाद से लेकर सर्वानन्दा पर्यन्त नौ शक्तियाँ त्रैलोक्यमोहन से लेकर बैन्दव पर्यन्त नौ चक्रों में क्रमशः निवास करती हैं । बाकी शब्दों का अर्थ स्पष्ट है ।। २२-२३ ।।

पहले (१।१४) प्रकाश की अंशभूत अम्बिका प्रभृति चार शक्तियों की त्रिकोण से चतुरस्र पर्यन्त भावना का प्रकार बताया गया है, अब यहाँ विमर्श की अंशभूत शान्ता प्रभृति चार शक्तियों की चतुरस्र से लेकर बैन्दवचक्र पर्यन्त भावना का प्रकार बताते हैं—

नाद और बिन्दु निरंश हैं, अर्थात् शान्ताशक्तिमय हैं । कला इच्छाशक्तिमय, ज्येष्ठा ज्ञानशक्तिमय तथा बची पाँच शक्तियां क्रियाशक्तिमय हैं ॥२३॥

१. शब्दात्–ख. ग. घ. ने. ज. झ. उ. । २. द्येष्वित्यर्थः–ख. ग. घ. ने. ज. झ. उ. । ३. वाष्टचक्र–ग. घ., बान्तचक्रनवकवा–ख. ज. ।

निरंशा[1] शान्ता शक्तिः, शान्ताया निरंशत्वं चिद्रूपत्वात् । तेन निरंशौ नादबिन्दू द्वावपि शान्ताशक्तिमयौ । नादबिन्दुरूपं चतुरस्रषोडशदलात्मकं चक्रद्वयं शान्ताशक्तिमयमित्यर्थः । कला चेच्छास्वरूपकम् इच्छायाः स्वरूपं कलारूपम्, अष्टदलपद्ममिच्छाशक्तिमयमित्यर्थः । ज्येष्ठा ज्ञानं ज्ञानशक्तिरेव ज्येष्ठारूपम्, चतुर्दशारं ज्ञानशक्तिमयमित्यर्थः । क्रिया शेषं रौद्री-वामा-विषघ्नी-दूतरी-सर्वा[2]-नन्दाख्यशक्तिपञ्चकरूपं द्विदशाराष्टकोणत्रिकोणबैन्दवाख्यचक्रपञ्चकं क्रियाशक्तिमयमित्यर्थः ॥२३॥

पूर्वं चक्रस्य "शून्याकारात्" (१।१०) इत्यारभ्य कामकलारूपतां प्रतिपाद्येदानीमुपसंहरति—

इत्येवं त्रितयात्मकम् ।
चक्रं कामकलारूपं प्रसारपरमार्थतः ॥२४॥

[3]एवम् उक्तप्रकारेण त्रितयात्मकं वामादिमातृशक्तित्रयमयं चक्रं बिन्दुत्रितयमयं कामकलाक्षररूपम् । प्रसारपरमार्थतः । यद् यस्मात् प्रसृतं तत् तस्य

शान्ता शक्ति निरंश है । इसको निरंश इसलिये कहते हैं कि यह चित्स्वरूपिणी है । ऊपर गिनाई गई नौ शक्तियों में से प्रथम दो—नाद और बिन्दु—शान्ता शक्तिस्वरूप हैं । इसका अभिप्राय यह हुआ कि नाद और बिन्दुमय चतुरस्र और षोडश दलात्मक दो चक्र शान्ता शक्तिमय हैं । कलास्वरूप अष्टदल पद्म इच्छाशक्तिमय और ज्येष्ठारूप चतुर्दशार ज्ञानशक्तिमय है । रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी, सर्वानन्दा नामक शक्तियों से क्रमशः संयुक्त द्विदशार (बहिर्दशार और अन्तर्दशार), अष्टकोण, त्रिकोण और बैन्दव नामक पाँच चक्र क्रियाशक्तिमय हैं ॥२३॥

यहाँ दसवें श्लोक से कामकला के स्वरूप के प्रतिपादक प्रकरण का उपक्रम हुआ था, अब उसका उपसंहार किया जा रहा है—

इस तरह से शक्तित्रयमय यह चक्र कामकलास्वरूप है, क्योंकि यह वास्तव में कामकला का ही विस्तार है ॥२४॥

ऊपर बताई गई पद्धति से प्रकाशात्मक प्रमाता की वामा प्रभृति तीन शक्तियों से संवलित यह श्रीचक्र तीन बिन्दुओं से बने कामकलाक्षर का ही विस्तार होने से तन्मय है । जो पदार्थ जिससे बनता है, उसमें उसी की वास्तविक सत्ता मानी जाती है और वह तत्स्वरूप ही होता है । जैसे कि मिट्टी घट का परमार्थ है, क्योंकि घड़ा मृण्मय ही है ।

१. निरंशः–ख. ने. ज. उ. । २. नन्देति–ख. घ. ने. झ. उ. । ३. 'एवम्''''परमार्थतः' नास्ति–ख. ग. घ. ने. ज. झ. उ. ।

परमार्थस्तद्रूपं च तत् । यदा मृद् घटस्य मृद्रूपश्च घटः, तन्तवः पटस्य तन्तुरूपश्च पटः । एवं कामकलाक्षरात् प्रसृतस्य [२]श्रीचक्रस्य कामकलाक्षरं परमार्थः, तद्रूपं [३]बैन्दवं चक्रमित्यर्थः ॥२४॥

पुनरस्यैव चक्रस्य प्रकारान्तरेण वासनान्तरमाह "अकुले विषुसंज्ञे च" इत्यादिना "परानन्दविघूर्णितम्" इत्यन्तेन (श्लो० २५-३५)—

अकुले विषुसंज्ञे च शाक्ते वह्नौ तथा पुनः ।
नाभावनाहते शुद्धे लम्बिकाग्रे भ्रुवोऽन्तरे ॥२५॥
इन्दौ तदर्धे रोधिन्यां नादे नादान्त एव च ।
शक्तौ पुनर्व्यापिकायां समनोन्मनिगोचरे ॥२६॥
महाबिन्दौ

[४]अकुले, कुलादन्यदकुलम्, सुषुम्नामूल[५]संस्थितारुणसहस्रदलकमलमकुलं[६] नाम । तदुपर्यष्टदल[७]पद्मोर्ध्वस्थितं षड्दलं कुलपद्मम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

तन्तु पट का परमार्थ है, क्योंकि कपड़ा तन्तु (सूत) से ही बना है । इसो तरह से कामकलाक्षर से प्रसृत (विस्तृत) श्रीचक्र का परमार्थ कामकला ही है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे बैन्दव चक्र कामकलामय है, उसी तरह से बिन्दु और त्रिकोण चक्र के विस्तार से बना यह पूरा श्रीचक्र (श्रीयन्त्र) भी कामकलामय ही है ॥२४॥

फिर इसी चक्र की भावना का दूसरा प्रकार आगे के (२५-३५) श्लोकों में बताया जाता है—

विषु[1] संज्ञक अकुल चक्र में, शाक्त, वह्नि, नाभि, अनाहत, (वि)शुद्ध, लम्बिकाग्र और भ्रूमध्य चक्र में; बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना में तथा महाबिन्दु में ॥२५-२६॥

अकुल चक्र कुल चक्र से भिन्न है । यह चक्र सुषुम्ना के मूल में स्थित है और इसमें लाल वर्ण का सहस्रदल कमल विराजमान है । इसके ऊपर अष्टदल पद्म और उसके ऊपर जो षड्दल कमल है, उसको कुलपद्म कहते हैं । इस विषय का विस्तार स्वच्छन्दसंग्रह में किया गया है—

१. मृण्यमश्च–ख. । २. 'श्री' नास्ति–घ. ने. ज. झ. उ. । ३. चेदं–ख. ग. ज. झ. उ. । ४. 'अकुले' नास्ति–ख. ग. घ. झ. उ. । ५. स्थितसहस्र–ख. ग. ज. झ. । ६. 'अकुलं' नास्ति-ख. ग. ज. झ. उ. । ७. दलोर्ध्व–ख. ग. घ. झ. ।

1. अकुल और विषु संज्ञक चक्रों की भिन्नता के विषय में अभी आगे विचार किया जायगा ।

अधश्चोर्ध्वं सुषुम्नायाः सहस्रदलसंयुतम् ।
रक्तं श्वेतं च साहस्रदलस्थं शक्तिभिर्युतम् ॥
ऊर्ध्वाधोमुखमीशानि कर्णिकाकेसरान्वितम् ।
शक्तिरूपं महादेवि[१] [२]कुलाकुलमयं शुभम् ॥
पङ्कजद्वयमीशानि स्थितं शाश्वतमव्ययम् ।
तयोर्मध्ये सुषुम्नान्तस्त्रिशदाधारपङ्कजम् ॥
शक्तिरूपं शिवाकारं शर्वाण्याः[३] सन्निजालयम् ।
तेषां रूपं क्रियां चैव [४]क्रमाद् वक्ष्येऽधुना शृणु ॥
गुदमेढ्रान्तरं देवि पञ्चाङ्गुलसमुच्छ्रितम्[५] ।
[६]कन्दमेकाङ्गुलं मध्ये द्वयाङ्गुलविसारणम् ॥
तस्य [७]मध्ये महायोनिस्त्रिकोणाकाररूपिणी ।
सुषुम्ना योनिमध्यस्था तस्या मूले महेश्वरि ॥
अधःपद्मं सहस्रारं कर्णिकाकेसरान्वितम् ।
तैजसं [८]रत्नसंदीप्तं तद्दलस्थितशक्तिभिः ॥

सुषुम्ना के नीचे और ऊपर सहस्रदल से संयुक्त रक्त और श्वेत वर्ण के दो पद्म हैं । हे ईशानि ! रक्तदल पद्म का मुँह ऊपर की तरफ तथा श्वेतदल पद्म का मुख नीचे की ओर है । ये दोनों पद्म शक्तिसमूह से आवृत हैं, कर्णिका और केसर से संयुक्त हैं । हे महादेवि ! शक्तिस्वरूप कुलाकुलमय ये शुभ पंकज शाश्वत और अव्यय हैं । इनकी यही स्थिति सदा बनी रहती है, अपनी इस स्थिति से ये कभी च्युत नहीं होते । इन दोनों पद्मों के बीच में सुषुम्ना के भीतर ३० आधार पंकज माने गये हैं । ये शिवशक्तिस्वरूप हैं और इनमें भगवती शर्वाणी (पार्वती) निवास करती हैं । इन आधार पंकजों के स्वरूप और कार्य को अब मैं बताता हूँ, तुम सुनो । हे देवि ! गुदा और मेढ्र (लिंग) के बीच में पाँच अंगुल की ऊँची जगह है । इसके बीच में एक अंगुल के ऊँचे और दो अंगुल विस्तार वाले स्थान को कन्द कहते हैं । इस कन्द स्थान के मध्य में त्रिकोण सदृश आकार वाली महायोनि विराजमान है । इस योनि के मध्य में सुषुम्ना नाडी अवस्थित है । हे महेश्वरि उसी सुषुम्ना नाडी के मूल में कर्णिका और केसर से संयुक्त नीचे वाला रक्तदल सहस्रार पद्म विराजमान है । यह तेजोमय पंकज रत्नों की प्रभा के समान उज्ज्वल है । हे प्रिये !

१. इतः परम्–'पर्वाङ्गुलसमुच्छ्रयम् । गुदमेकाङ्गुलं मध्ये' इत्यधिकं–ने. ज. उ. । २. द्वयाङ्गुलकुलाकुलम्–ज. । ३. सर्वेभ्यो मत्प्रियालयम्–क., सर्वाभ्यासनिजालयम्–ख. ने. झ. । ४. क्रमं–ख. ग. ने. ज. झ. । ५. छ्रयम्–ने. ज. उ. । ६. गुद–ख. ग. घ. ने. ज. झ. उ. । ७. मूले–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ८. रक्तवद्दीप्तं–घ. ने. ज. झ. उ. ।

प्रतिकिञ्जल्कसंस्थाभिः शक्तिभिः संवृतं प्रिये ।
कर्णिकामध्यतो देवि कुलदेवी च संस्थिता ॥
तत्पद्मोर्ध्वं सुषुम्नाया मध्ये त्वेकाङ्गुलोपरि ।
पद्ममष्टदलैर्युक्तमष्टग्रन्थिसमन्वितम् ॥
रक्तं सुकर्णिकोपेतं रक्तकिञ्जल्कशोभितम् ।
ग्रन्थ्यग्रस्थत्रिशृङ्गं[1] च ब्रह्माण्याद्यष्टभैरवैः ॥
अष्टपत्रस्थितग्रन्थिस्थित[2]वामादिशक्तिभिः ।
तदन्यशक्तिभिश्चैव शृङ्गस्थाभिः समावृतम् ॥
तन्मध्ये कौलशक्त्या तु सेवितं च स्मरेत् ततः ।
एकाङ्गुलप्रमाणोर्ध्वं षड्दलं कुलपङ्कजम् ॥ इति ।

ननु कुलादन्यदकुलमिति चेदर्थस्तर्हि तदन्तरालस्थिताष्टदलपद्मस्याप्यकुलत्वं किं न स्यादित्यत आह—विषुसंज्ञे चेति । "विष्लृ व्याप्तौ" (१०९५ जु०) । यत्

पंकज के प्रत्येक दल और केसर में विभिन्न शक्तियों का निवास है और हे देवि ! कर्णिका के मध्य में कुलदेवी विराजमान है ॥

इस पद्म के एक अंगुल ऊपर सुषुम्ना नाडी के मध्य में आठ दल और आठ ग्रन्थियों से युक्त लाल वर्ण का पद्म है । इसकी कर्णिका सुन्दर है और यह लाल वर्ण की केसर से सुशोभित है। प्रत्येक ग्रन्थि के अग्र भाग में त्रिकोण है और उनमें [1]आठ भैरवों के साथ आठ ब्रह्माणी प्रभृति देवियाँ विराजमान हैं। आठ दलों की ग्रन्थियों में वामा प्रभृति आठ शक्तियाँ विराजमान हैं और शृंग (केसर) में भी अनेक शक्तियों का निवास है । इन सबके बीच का स्थान कौल शक्ति से सेवित है, अर्थात् इस कमल की कर्णिका में कौल शक्ति निवास करती है। इस अष्टदल कमल से एक अंगुल ऊपर छः दल वाला कुल पंकज अवस्थित है ॥

यहाँ प्रश्न होता है कि ऊपर कुलचक्र से भिन्न चक्र को अकुल कहा गया है, इसके अनुसार दोनों के बीच में विद्यमान अष्टदल पद्म की भी अकुल संज्ञा हो जायगी । इसका समाधान यह है कि इसी आशंका की निवृत्ति के लिये 'अकुले' पद का 'विषुसंज्ञे'[2]

१. शृङ्गाग्रे–घ, शूलं च–उ. । २. वर्गादि–ख. ग. घ. ज. झ. ।

1. असिताङ्ग, रुरु, चण्ड, क्रोध, उन्मत्त, कपाली, भीषण और संहार नामक आठ भैरव तथा ब्रह्माणी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी नामक आठ देवियाँ मानी जाती हैं । वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, कलविकरणी, बलविकरणी, बलप्रमथिनी, सर्वभूतदमनी और मनोन्मनी—ये आठ वामा प्रभृति शक्तियाँ हैं ।

2. अमृतानन्द ने यहाँ आठ ही स्थान माने हैं, जब कि भास्करराय को नौ स्थान अभिप्रेत हैं । इसीलिये वे अकुल से विषु चक्र की स्थिति भिन्न मानते हैं । उनका अनुमान है कि स्वच्छन्दसंग्रह में निर्दिष्ट अष्टदल और षड्दल कमल में से कोई एक प्राचीन तन्त्रों

सुषुम्नां तदन्तर्गतत्रिंशत्पङ्कजानि च व्याप्नोति, तत्सहस्रदलकमलं विषुवम्[1], [2]तस्य सर्वाधारत्वात् । ततो नाष्टदलकमलमकुलमित्यर्थः ।

शाक्ते वह्नाविति । अत्र वह्नौ शाक्त इति व्यत्ययेन पठितव्यम् । वह्निर्मूलाधारः, वह्निबिम्बाधारत्वात् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

आधारपङ्कजं पीतं चतुष्पत्रं सुकेसरम् ।
अधोमुखं च तन्मध्ये कुण्डली परमेश्वरी[3] ॥
स्वयम्भुमध्यगा चिन्त्या वरदादिभिरावृता[4] ।
पार्थिवं पङ्कजं ह्येतत् तस्योर्ध्वं[5] पङ्कजं परम् ॥

यह विशेषण दिया गया है । 'विष्लृ' धातु का अर्थ व्याप्ति होता है । जो चक्र सुषुम्ना नाडी और उसके मध्य में विद्यमान ३० पंकजों में व्याप्त है, वह सहस्रदल कमल विषुव कहलाता है, क्योंकि वही इन सबका आधार है । अष्टदल कमल इन सबमें व्याप्त नहीं है, अतः इसको अकुल (विषुव) नहीं कहा जायगा ।

'शाक्ते वह्नौ' इसको 'वह्नौ शाक्ते' इस क्रम से पढ़ना चाहिये । वह्नि शब्द से मूलाधार चक्र गृहीत होता है, क्योंकि यही वह्निबिम्ब का आधार है, जैसा कि स्वच्छन्दसंग्रह में वर्णित है—

आधार पंकज पीत वर्ण का चार दल वाला और सुन्दर केसर से संयुक्त है । यह चक्र अधोमुख है । इस चक्र के मध्य में स्वयम्भू लिंग विराजमान है । उस स्वयम्भू लिंग के बीच में [1]वरदा प्रभृति शक्तियों से घिरी हुई भगवती कुण्डलिनी का ध्यान

१. विषुवत्–ने. । २. 'तस्य' नास्ति–ग. ने. ज. झ. उ. । ३. इतः परम्–'तदुक्तं गोरक्षसंहितायाम्–योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्वधः । मस्तके मणिवद् भिन्नं यो जानाति स योगवित् ॥' इत्यधिकः पाठः–ग. उ. । ४. इतः परम्–'पृथिवीमण्डलं पीतं चतुरस्रं सुशोभनम् । तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥ चतुरस्रं पुरं वह्नेरधो मेढ्रादवस्थितम् । इति गोरक्षे' इत्यधिकः पाठः–ग. उ. । ५. तस्याधः–घ. ने. ज. झ. उ. ।

में विषु नाम से जाना जाता था । उनका यह अनुमान सही लगता है । दीपिकाकार ने अष्टदल पद्म का विशेष वर्णन किया है, षड्दल का केवल संक्षेप में उल्लेख कर दिया है । अतः अष्टदल पद्म की ही विषु संज्ञा होनी चाहिये । इस विषय पर उपोद्घात में विशेष चर्चा की जायगी । सकलनिष्कल भावना जैसे बिन्दु से उन्मना पर्यन्त नौ कलाओं में की जाती है, उसी तरह से सकल भावना के भी नौ ही स्थान होने चाहिये । आगे (३।१४२-१४४) स्वयं दीपिकाकार ने स्वच्छन्दसंग्रह के एक वचन को उद्धृत किया है, जिसमें नवाधार तथा षट्चक्रों का स्पष्ट उल्लेख है । छः चक्रों का उल्लेख मूलग्रन्थ (३।३०) में भी मिलता है ।

1. व श ष स इन चार अक्षरों की अधिष्ठात्री वरदा, श्री, षण्ढा और सरस्वती नामक देवियों का ध्यान यहाँ किया जाता है ।

तैजसं परमेशानि तन्मध्य[1]स्थितशक्तयः ।
निष्कलाः परमेशानि विद्युत्पुञ्जनिभाः स्मरेत् ॥
तदूर्ध्वे कर्णिकामध्ये वह्निबिम्बं तदूर्ध्वगम् ।
पूर्णपीठं च [2]तन्मध्ये शाकिनी संस्थिता शिवे ॥ इति ।

शाक्ते, शक्तिः हृल्लेखा, तदूर्ध्वस्थिततत्वाच्छाक्तं[3] स्वाधिष्ठानं [4]षडस्त्रकमलम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

आधारपङ्कजस्योर्ध्वे सार्धद्वयङ्गुलकोपरि ।
तैजसं साष्टपत्रं च पीतकर्णिकया युतम् ॥
हृल्लेखाकर्णिकामध्ये स्थितानङ्गादिसेविते[5] ।
एतस्माद् द्वयङ्गुलादूर्ध्वे स्वाधिष्ठानं षडस्त्रकम् ॥
आप्यं च [6]बन्दिनीशक्तिपूर्वाभिः शक्तिभिर्वृताम्[7] ।
काकिनीमभिसंचिन्त्य .... ॥ इति ।

किया जाता है। यह पंकज पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधि है। इसके ऊपर दूसरा तैजस पंकज विद्यमान है। हे परमेश्वरि ! इस चक्र में विद्युत्पुंज के समान देदीप्यमान निष्कल शक्तियों का ध्यान करना चाहिये। इस चक्र पर कर्णिका के मध्य में वह्निबिम्ब विद्यमान है और इसके ऊपर पूर्णगिरि पीठ है। हे शिवे ! यहाँ शाकिनी देवी निवास करती है।

शक्ति हृल्लेखा को कहते हैं। ऊपर वर्णित वह्निचक्र के ऊपर विद्यमान शाक्त षड्दल कमल स्वाधिष्ठान के नाम से प्रसिद्ध है। स्वच्छन्दसंग्रह में यह इस तरह से वर्णित है—

आधार पंकज से ढाई अंगुल के ऊपर तैजस कमल विद्यमान है। यह आठ दल वाला और पीतवर्ण की कर्णिका से युक्त है। इसकी कर्णिका में हृल्लेखा विद्यमान है और उसमें [1]अनङ्गा प्रभृति शक्तियाँ निवास करती हैं। इस अष्टदल चक्र से दो अंगुल ऊपर षड्दल स्वाधिष्ठान चक्र स्थित है। यह जल तत्त्व का प्रतिनिधि है। इसमें [2]बन्दिनी प्रभृति शक्तियों से घिरी हुई काकिनी देवी का ध्यान किया जाता है।

१. मध्ये सित–ग. घ. ने. ज. झ. उ.। २. तस्योर्ध्वे–ख. ग. घ. ने. झ. उ.। ३. शाक्तस्याधिष्ठान–ग. ने.। ४. 'षडस्त्रकमलम्' नास्ति–ख. ग. घ. ने. ज. उ.। ५. देवता–ख.। ६. वशिनी–ग. घ. ने. उ.। ७. वृतम्–ग. घ. ज. उ.।

1. नित्याषोडशिकार्णव (१।१७७-१७८) में वर्णित अनङ्गकुसुमा आदि आठ देवियों को यहाँ स्मरण किया गया लगता है।

2. ब भ म य र ल इन छः अक्षरों की अधिष्ठात्री बन्दिनी, भद्रकाली, महामाया, यशस्विनी, रक्ता और लम्बोष्ठिका नामक देवियों का ध्यान यहाँ किया जाता है।

नाभौ [1]दशदलकमले मणिपूरके । तदुक्तं तत्रैव—

नाभि[2]स्त्र्यर्धाङ्गुलोपरि ।
तत्पद्मं मणिपूरं च दशपत्रं सुशोभनम्[3] ॥
लाकिनीमध्यगं तच्च डामर्यादिभिरावृतम् । इति ।

अनाहते हृदयस्थाने द्वादशदलकमले । तदुक्तं तत्रैव—

चतुर्दशाङ्गुलादूर्ध्वे[4] मणिपूराख्यपङ्कजात् ।
पङ्कजं राकिनीमध्यं द्वादशारमनाहतम् ॥
तत्रस्थकालरात्र्यादिशक्तिभिश्च समावृतम् ।
तत्रस्थसूर्यबिम्बे[5] तु [6]नादोड्यानाख्यपीठकम् ॥ इति ।

शुद्धे कण्ठस्थितषोडशदलकमले । तदुक्तं तत्रैव—

तस्मादेकाङ्गुलादूर्ध्वे विशुद्धं षोडशारकम् ।
मध्यगा डाकिनी बाह्यपत्रेषु परमेश्वरि[7] ॥
अमृताद्यक्षरान्त[8]स्थाश्चन्द्रबिम्बं तदूर्ध्वतः । इति ।

नाभि शब्द से दस दल वाले मणिपूर चक्र का ग्रहण होता है। इस चक्र का भी स्वच्छन्दसंग्रह में ही इस तरह से वर्णन है—

स्वाधिष्ठान चक्र से साढे तीन अंगुल ऊपर नाभिपद्म है। दस दल वाला यह सुन्दर पद्म मणिपूर कहलाता है। इसमें [1]डामरी प्रभृति शक्तियों से घिरी हुई लाकिनी देवी का ध्यान किया जाता है।।

बारह दल वाला हृदय स्थित कमल अनाहत कहलाता है। स्वच्छन्दसंग्रह में इसका भी वर्णन किया गया है—

मणिपूर पंकज से १४ अंगुल ऊपर विद्यमान द्वादश दल कमल अनाहत कहलाता है। इसमें [2]कालरात्रि आदि शक्तियों से घिरी हुई राकिनी देवी का ध्यान किया जाता है। इसी चक्र में सूर्यबिम्ब के प्रतिनिधि नादमय उ(ओ)ड्यान पीठ की स्थिति मानी जाती है।।

कण्ठस्थित षोडश दल कमल शुद्ध अर्थात् विशुद्धि चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसका भी वर्णन वहाँ इस तरह से किया गया है—

इससे एक अंगुल ऊपर षोडश दल वाला विशुद्ध चक्र है। इस चक्र के मध्य में

१. दशार–क. घ. ज. झ.। २. नाभेरष्टा–ग. घ. ज. झ. उ.। ३. भितम्–ग. घ. ने. ज. झ. उ.। ४. दूर्ध्वं–ग. ज. उ.। ५. बिम्बे–ख. झ. उ.। ६. ओडीयाना–ग.। ७. श्वरी–क. ग. ने.। ८. रान्ताश्च–क. ने.।

1. ड से फ पर्यन्त दस अक्षरों की अधिष्ठात्री डामरी आदि फट्धारी पर्यन्त देवियों का ध्यान यहाँ निहित है।

2. क से ठ पर्यन्त बारह अक्षरों की अधिष्ठात्री कालरात्रि आदि ठंकारी पर्यन्त देवियों का ध्यान यहाँ करना चाहिये।

लम्बिकाग्रे अष्टदलकमले । तदुक्तं तत्रैव—

कण्ठोर्ध्वे परमेशानि लम्बिका चतुरङ्गुले ।
तस्यामष्टदलं पद्मं [1]वशिन्यादिभिरावृतम् ।। इति ।

भ्रुवोऽन्तरे आज्ञायां द्विदलकमले । तदुक्तं तत्रैव—

आज्ञाधारं द्विपत्राब्जं हक्षद्विदलसंयुतम् ।
हंसवतीक्षमापार्श्वं[2] तयोर्मध्ये तु हाकिनी ।। इति ।

भ्रुव इत्येकवचनं भ्रूद्वयोपलक्षणम् । भ्रुवोरन्तर इत्यर्थः । इन्दौ बिन्दौ । बिन्दुतदर्धरोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिकासमनोन्मनीनामुपर्युपरि रूपाण्युच्चारणकालं च वक्ष्यति । [3]महाबिन्दौ परसादाख्ये[4] देशकालरूपवर्जिते[5] ।

डाकिनी देवी और बाह्य दलों में हे परमेश्वरि ! सोलह स्वरों की अधिष्ठात्री [1]अमृता आदि शक्तियाँ विराजमान हैं । इन सबके ऊपर चन्द्रबिम्ब है ।।

लम्बिकाग्र शब्द से अष्टदल कमल का ग्रहण होता है । इसका भी वर्णन वहाँ इस तरह से मिलता है—

हे परमेशानि ! कण्ठ से चार अंगुल ऊपर लम्बिका स्थित है । इसमें [2]वशिनी आदि देवियों से आवृत अष्टदल पद्म है ।।

'भ्रुवोऽन्तरे' शब्द का अर्थ दो दल वाला आज्ञा चक्र है । इसका भी वर्णन वहीं किया गया है—

आज्ञाधार अर्थात् आज्ञा चक्र दो दल वाला है । ये दोनों दल ह और क्ष अक्षरों से सुशोभित हैं । इस चक्र में हाकिनी देवी का निवास है तथा हंसवती और क्षमा[3] नामक शक्तियाँ इसके दोनों तरफ विद्यमान हैं ।।

'भ्रुवोऽन्तरे' यहाँ एकवचन होते हुए भी वह द्विवचन का बोध कराता है । वास्तव में 'भ्रुवोरन्तरे' ऐसा पाठ होना चाहिए । यहाँ छन्द की दृष्टि से 'भ्रुवोऽन्तरे' यह पाठ कर दिया गया है । इन्दु शब्द से बिन्दु का ग्रहण होता है । बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना की एक से दूसरे के ऊपर स्थिति, स्वरूप और उनके उच्चारण का काल अभी आगे (१।२८-३४) बताया

१. वशिका–ने. ज. उ. । २. पार्श्वद्वयं–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'महाबिन्दौ' नास्ति–घ. ने. ज. उ. । ४. सादाख्यो–ख. ज. । ५. विवर्जितः–ख. ने. ज. उ. ।

1. सोलह स्वरों की अधिष्ठात्री अमृता आदि सोलह शक्तियों के नाम स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से योगिनीहृदयदीपिका (३।३४) में देखे जा सकते हैं । अनङ्गा आदि आठ देवियों को छोड़कर वरदा आदि देवियों के नाम भी यहाँ स्वच्छन्दसंग्रह के उक्त वचन के प्रमाण पर ही दिये गये हैं ।

2. नित्याषाडशिकार्णव (१।७७-७९) में वर्णित वशिनी आदि आठ देवियों का यहाँ स्मरण किया गया लगता है । ये नाम यहाँ दीपिका (३।६३) में भी देखे जा सकते हैं ।

3. दीपिका (३।३४) के उक्त उद्धरण में इन देवियों के भी नाम हैं ।

बिन्द्वाद्युन्मन्यन्ता भागाः सूक्ष्माः सूक्ष्मतराः स्वदेहचक्रविद्यानां साधारणाः । [1]कोऽर्थः ? अत्र त्रैलोक्यमोहना[2]दिबिन्द्वन्तान् स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरान् चक्रभागानकुलाद्युन्मन्यन्तेषु स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरेषु भागेषु महाबिन्दौ च विभावयेदित्यर्थः ।।२५-२६।।

पुनरपि त्रैविध्यमाह—

पुनश्चैवं त्रिधा चक्रं तु भावयेत् ।

एवमुक्तप्रकारेण विभावितं चक्रं पुनस्त्रिधा [3]भावयेत् ।

त्रैविध्यमाह—

आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तं ततः सकलनिष्कलम् ।।२७।।
उन्मन्यन्तं परे स्थाने निष्कलं च त्रिधा स्थितम् ।

आज्ञान्तम् अकुलाद्याज्ञापर्यन्तं चतुरस्रादित्रिकोणान्तं चक्राष्टकं स्थूलं भावयेत् । तद्भावनं सकलम् । ततो बिन्दुमारभ्य उन्मन्यन्तं [4]चक्रसूक्ष्मसूक्ष्मतरभागान्

जायगा । महाबिन्दु से देश, काल और रूप से रहित परसादाख्य तत्त्व का ग्रहण होता है । बिन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त भाग सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं और इनकी स्थिति साधक के शरीर में, श्रीचक्र में और श्रीविद्या में भी एक जैसी है । इसका अभिप्राय यह है कि त्रैलोक्यमोहन चक्र से लेकर बिन्दु पर्यन्त चक्रों के स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भागों की अकुल से लेकर उन्मनी पर्यन्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतर भागों में तथा महाबिन्दु में भावना करनी चाहिये ।।२५-२६।।

इस चक्र की पुनः त्रिविध भावना का उपदेश करते हैं—

इस चक्र की पुनः त्रिविध भावना करनी चाहिये ।

उक्त (१।२५-२६) प्रकार से विभावित चक्र को पुनः तीन तरह से भावना करनी चाहिये ।

इस त्रिविधता का ही वर्णन आगे किया जाता है—

आज्ञा पर्यन्त चक्र की सकल रूप में, उन्मनी पर्यन्त चक्र की सकल-निष्कल रूप में और परस्थान (महाबिन्दु) की निष्कल रूप में, इस तरह से इस श्रीचक्र की पुनः त्रिविध भावना करनी चाहिये ।।२७।।

अकुल से आज्ञा पर्यन्त [1]आठ स्थानों में चतुरस्र से त्रिकोण पर्यन्त आठ चक्रों की स्थूल रूप में भावना करनी चाहिये । इसको सकल उपासना कहते हैं । तब बिन्दु से

१. 'कोऽर्थः' नास्ति–ख. ग. घ. ज. झ. उ. । २. नाद्युन्मन्यन्तान्–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. विभाव–क. झ. उ. । ४. सूक्ष्मसूक्ष्मतरचक्रभागान्–क. ग. ।

1. पृ० ३६ की टिप्पणी २ देखिये । तदनुसार अकुल से आज्ञा पर्यन्त नौ चक्रों में चतुरस्र से बिन्दु पर्यन्त नौ चक्रों की भावना करनी चाहिये ।

भावयेत् । तद्भावनं सकलनिष्कलम् । [1]परे स्थाने महाबिन्दौ शुद्धशून्यसंविदं भावयेत् । तद्भावनं निष्कलम् । [2]एवं त्रिधा स्थितम् । अकुलाद्याज्ञान्तास्तन्त्रान्तरेषु विस्तरेणोक्ताः, अतो नात्रोक्ताः ॥२७॥

बैन्दवाद्युन्मन्यन्तानां स्वरूप[3]मुच्चारणकालं स्थानं चाह "दीपाकारः" इत्यादिना "मनोन्मनी" इत्यन्तेन (श्लो० २८–३४)—

दीपाकारोऽर्धमात्रश्च ललाटे वृत्त इष्यते ॥२८॥

दीपाकारः, दीपस्य यादृशं भासनं तादृशमस्येत्यर्थः । अर्धमात्रः । ह्रस्वस्योच्चारणकालो मात्रेत्युच्यते । मात्राया अर्धमुच्चारणकालो यस्य सोऽर्धमात्रः । ललाटे वृत्त इष्यते । वर्तुलसंनिवेशो ललाटे भ्रुवोरुपरिभागे । दीपाकारोऽर्धमात्रोच्चारणकालो वृत्तसंनिवेशो बिन्दुरित्यर्थः । बिन्द्वादीनां तु विस्तारः स्वच्छन्दसंग्रहे प्रपञ्चितः । तत्र बिन्दोर्यथा—

बिन्द्वावरणमूर्ध्वतः ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशमतिदीप्तं महद्गुणम् ॥
तन्मध्ये दशकोटीनां संख्यायोजनपङ्कजम् ।
तत्कर्णिकायामासीनः शान्त्यतीतेश्वरः प्रभुः ॥
पञ्चवक्त्रो दशभुजो विद्युत्पुञ्जनिभाकृतिः ।
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिरनुक्रमात् ॥
परिवार्य स्थिताश्चैताः शान्त्यतीतस्य सुन्दरि ।
वामभागे समासीना शान्त्यतीता मनोन्मनी ॥
पञ्चवक्त्रधराः सर्वा दशबाह्विन्दुभूषणाः ।
बिन्दुतत्त्वं समाख्यातं कोट्यर्बुदशतैर्वृतम् ॥इति ॥२८॥

अर्धचन्द्रस्तथाकारः पादमात्रस्तदूर्ध्वके[1] ।
ज्योत्स्नाकारा त[2]दष्टांशा रोधिनी त्र्यस्रविग्रहा ॥२९॥

लेकर उन्मना पर्यन्त स्थानों में चक्र के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भागों की भावना करनी चाहिये । यह भावना सकल-निष्कल कहलाती है । परम स्थान महाबिन्दु में शुद्ध शून्य संवित्ति की भावना करनी चाहिये । इस भावना को निष्कल कहते हैं । इस तरह से इन तीन भावनाओं के आधार पर चक्र की त्रिविध स्थिति मानी जाती है । अकुल से आज्ञा पर्यन्त चक्रों का अन्य तन्त्रों में [1]विस्तार से वर्णन मिलता है, अतः यहाँ (योगिनीहृदय में) उनका वर्णन नहीं किया गया है ॥२७॥

अब बिन्दु से उन्मना पर्यन्त नाद कलाओं का स्वरूप, उच्चारण काल तथा स्थान का वर्णन २८ से ३४ पर्यन्त श्लोकों में किया जा रहा है—

बिन्दु का स्वरूप दीपक सदृश भासमान वृत्ताकार है । उच्चारण का काल अर्धमात्रा और स्थान इसका ललाट है ॥२८॥

दीपाकार का अर्थ है दीपक के सदृश भासमान । ह्रस्व स्वर के उच्चारण में जो समय लगता है, उसको मात्रा कहते हैं । इस बिन्दु के उच्चारण का काल उसका आधा है । दोनों भौंहों के ऊपर ललाट के बीच में गोल आकार वाला यह बिन्दु स्थित है । इसका आशय यह हुआ कि यह बिन्दु दीपक के सदृश उज्ज्वल तथा गोल आकार वाला है, इसके उच्चारण में मात्रा के उच्चारण का आधा समय लगता है और इसकी स्थिति ललाट में है । स्वच्छन्दसंग्रह में बिन्दु प्रभृति का विस्तार से वर्णन किया गया है । वहाँ बिन्दु का वर्णन इस तरह से किया गया है—

इसके ऊपर बिन्दु का आवरण है । यह करोड़ों सूर्यों के समान अत्यन्त उज्ज्वल बहुत बड़ा स्थान है । इसके बीच में दस करोड़ योजन विस्तार वाला पंकज है । इस पद्म की कर्णिका में भगवान् शान्त्यतीतेश्वर विराजमान हैं । इनके पाँच मुँह और दस भुजाएँ हैं । इनका स्वरूप विद्युत्पुंज के समान है । निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति नाम की चार शक्तियाँ इनको घेर कर बैठी हुई हैं और इनके वामभाग में मन की अगोचर शान्त्यतीता शक्ति विराजमान है । ये सभी शक्तियाँ पाँच मुँह और दस भुजाओं वाली हैं और इनके ललाट पर चन्द्रकला शोभित है । इस तरह से करोड़ों-अरबों योजन विस्तार वाला यह बिन्दु नाम का आवरण स्थित है । इसी को बिन्दु तत्त्व कहा जाता है ॥२८॥

अर्धचन्द्र भी दीपक के समान उज्ज्वल आकृति वाला है । मात्रा का चौथा भाग इसके उच्चारण का काल है । बिन्दु के ऊपर इसका स्थान है । रोधिनी का आकार त्रिकोणमय है और चांदनी के समान चमकता है । इसका उच्चारण काल मात्रा का आठवां भाग है ॥ २९ ॥

---

१. तत्रानुत्पन्ना निष्पन्दा वाक् शून्यसंविदुत्पत्त्यवस्था सूक्ष्मा मूलाधारात् प्रथममुदिते परापरे स्थाने–ग. ज. झ. उ. । २. 'एवं' नास्ति–ख. ग. । ३. मुच्चारकालं चाह–ख. ग. घ. उ. ।

1. योगिनीहृदयदीपिका में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह के वचनों में यह विषय विस्तार से वर्णित है । दीपिकाकार ने योगिनीहृदय वर्णित नौ चक्रों से संबद्ध वचन ही प्रायः उद्धृत किये हैं । दीपिका में उद्धृत उक्त ग्रन्थ के उद्धरणों के अनुसार उसमें कुल और अकुल नामक दो सहस्रदल कमलों के बीज में ३० आधार पद्मों का वर्णन किया गया है । यह वर्णन अन्यत्र देखने को नहीं मिलता । यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है । इसकी खोज होनी चाहिये ।

१. र्ध्वतः–ग. घ. ने. छ. ज. झ. उ. । २. तथाष्टांशा–ख. ग. च. छ. ज. झ. उ. ।

अर्धचन्द्रः बिन्दोरर्धभागः, तथाकारः दीपाकार एव । पादमात्रः मात्राकालस्य चतुर्थभागोच्चारणकाल इत्यर्थः । तदूर्ध्वके बिन्दोरूर्ध्वभागे । बिन्दूपरिदेशे पादमात्रोच्चारणकालो दीपाकारोऽर्धचन्द्र इत्यर्थः । ज्योत्स्नाकारा चन्द्रिकासमकान्तिः, [1]तदष्टांशा मात्राष्टांशोच्चारणकाला, त्र्यस्रविग्रहा त्रिकोणाकारा रोधिनी । द्वयोरपि स्वच्छन्दसंग्रहे प्रपञ्चो यथा—

अर्धचन्द्रस्तदूर्ध्वे तु रोधिनी तस्य चोपरि ।
ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमलापि च ॥
अर्धचन्द्र[2]स्थिता ह्येताः कलाः पञ्च प्रकीर्तिताः ।
रुन्धिनी रोधिनी रोधा ज्ञानरोधा तमोपहा ॥
निरोधिकाकलाः पञ्च कथितास्तव सुन्दरि ।
ब्रह्मादिपरमेशानां परप्राप्तिनिरोधनात् ॥
निरोधिकेति सा प्रोक्ता तस्या भेदाद् वरानने ।
परसादाख्यसम्प्राप्तिः .... ॥इति॥२९॥

बिन्दुद्वयान्तरे दण्डः शेवरूपो मणिप्रभः ।
कलांशो द्विगुणांशश्च नादान्तो विद्युदुज्ज्वलः ॥३०॥

अर्धचन्द्र बिन्दु के आधे भाग से बनता है । यह भी दीपक के समान प्रकाशमय आकृति वाला है । पादमात्र का अर्थ यह है कि इसके उच्चारण में एक मात्रा का चौथा भाग समय लगता है । बिन्दु के ऊपर यह स्थित है । बिन्दु के ऊपर के भाग में स्थित, चौथाई मात्रा उच्चारण काल वाला और दीपक के समान उज्ज्वल कान्ति वाला अर्धचन्द्र कहलाता है । रोधिनी चन्द्रिका के समान कान्ति वाली और त्रिकोण सदृश आकृति वाली है । इसका उच्चारण काल मात्रा काल का आठवां भाग है । अर्धचन्द्र और रोधिनी का स्वच्छन्दसंग्रह में इस तरह से विस्तार किया गया है —

बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र और अर्धचन्द्र के ऊपर रोधिनी स्थित है । ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, सुप्रभा और विमला नाम की पांच कलाएँ निरोधिका में स्थित हैं । हे सुन्दरि ! यह सब मैंने तुमको सुनाया है । यह निरोधिका इस लिये कहलाती है कि ब्रह्मा प्रभृति श्रेष्ठ देवताओं को भी यह परतत्त्व तक पहुँचने से रोक देती है । इस निरोधिका शक्ति का भेदन करने के उपरान्त ही परसादाख्य तत्त्व की प्राप्ति होती है ॥ २९ ॥

दो बिन्दुओं के बीच में एक सीधी रेखा— यही नाद का आकार है । शेव-सदृश इस नाद की कान्ति मणि के समान उज्ज्वल है । इसका उच्चारण काल

१. अष्टांशा–ख. ने. ज. झ., अष्टांशः अष्टांशोच्चारणकालः–ग. । २. न्द्रोदिता–ख., न्द्रोत्थिता–झ , न्द्रे स्थिता–ग. उ. ।

हलाकारस्तु सव्यस्थबिन्दुयुक्तो विराजते ।

बिन्दुद्वयमध्यगत ऋजुरेखाकारः शेवरूपः, मुष्कद्वयमध्यगता शिरा शेव इत्युच्यते, तत्तुल्यरूपः । मणिप्रभः पद्मरागसवर्णवर्णः । कलांशः, कलाः षोडशमात्राः, षोडशांशोच्चारणकाल इत्यर्थः । स पुनः कलांशो नादस्तन्त्रेणोच्यते । "[1]कलो नादस्तु गम्भीरे ध्वनौ तु मधुरास्फुटे" इत्यमरः । मधुरास्फुटो ध्वनिर्नादः । नादप्रपञ्चः स्वच्छन्दसंग्रहे यथा—

रोधिन्याख्यं यदुक्तं ते नादस्तस्योर्ध्वसंस्थितः ।
पद्मकिञ्जल्कसंकाशः कोटिसूर्यसमप्रभः ॥
पुरैः परिवृतोऽसंख्यैर्मध्ये पञ्चकलावृतः ।
इन्धिका दीपिका चैव [2]रोचिका मोचिका तथा ॥
ऊर्ध्वगा मध्यगा तासां पञ्चमो परमा कला ।
चन्द्रकोटिसमप्रख्यं तन्मध्येऽर्बुदयोजनम् ॥

मात्रा का सोलहवां भाग है । नादान्त का उच्चारण काल मात्रा का ३२ वां भाग है । यह बिजली के समान चमकीला है और इसका आकार हल के सदृश है । इसके दक्षिण भाग में एक बिन्दु भी बना रहता है ॥ ३० ॥

दो बिन्दुओं के बीच में एक सीधी रेखा खींच देने पर उसका आकार शेव के समान हो जाता है । दो अण्डकोशों के बीच की सीवन को शेव कहते हैं । नाद की आकृति ऐसी ही होती है । पद्मराग मणि के समान इसकी कान्ति है । मात्रा का कलांश अर्थात् सोलहवां भाग इस कलांश (नाद) का उच्चारण काल है । कलांश पद की दो बार आवृत्ति करने से यह अर्थ निकलता है । 'कलो नादस्तु' इत्यादि अमरकोश के वचन के अनुसार मधुर और अस्फुट ध्वनि को नाद कहते हैं । इस नाद का परिचय भी स्वच्छन्दसंग्रह में दिया गया है—

अभी तुम्हें रोधिनी का स्वरूप समझाया है । इसके ऊपर नाद की स्थिति है । पद्म की केसर के समान इसका वर्ण और करोड़ों सूर्यों के समान इसकी कान्ति है । यह असंख्य भुवनों से आवृत है और उन सबके बीच में पांच कलाएँ हैं । इनके नाम इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका और ऊर्ध्वगा हैं । पांचवीं सर्वश्रेष्ठ कला मध्यभाग में विराजमान है । इन सब इन्धिका प्रभृति देवियों से घिरे हुए करोड़ों चन्द्र की समान कान्ति वाले एक अर्बुद (अरब) योजन विस्तार वाले इस पद्म के बीच में बैठे हुए, अरबों

१. 'कलो नादो ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः–ख. ग. ज. झ. उ., 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलो मन्द्रस्तु गम्भीरे' (१।७।२) इति तु मूलस्थः पाठः । २. रेचिका–क. ख. ने. ।

पद्ममध्ये समासीनमोश्वरं चोर्ध्वगामिनम् ।
चन्द्रायुतप्रतीकाशं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥
[1]इन्धिकाद्यैर्वृतं देवं शूलपाणिं जटाधरम् ।
तस्योत्सङ्गगतामूर्ध्वगामिनीं परमां शिवाम् ॥
ध्यायेत् ॥इति ।

विद्युदुज्ज्वलः तडित्सदृशकान्तिः । हलाकारः लाङ्गलसदृशरूपः । सव्यस्थ-बिन्दुयुक्तः बिन्दुद्वयमध्ये दक्षिणभागस्थितबिन्दुयुक्तः । द्विगुणांशश्च पूर्वोक्तषोडशांशानां द्विगुणांशो द्वात्रिंशत्तमो भागः । कोऽर्थः ? मात्राद्वात्रिंशत्तमांशोच्चारण-कालो हलाकारादिविशेषणविशेषितो नादान्त इत्यर्थः । नादस्यान्तो लयो भवति यत्र ब्रह्मरन्ध्रे, तस्य प्रपञ्चः स्वच्छन्दसंग्रहे यथा—

हलाकारस्तु नादान्तो भित्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधःशक्त्या विनिर्भिद्य ऊर्ध्वशक्त्यवसानकः ॥
नाड्यां ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिलक्षणः ।
अतो ब्रह्मबिलं ज्ञेयं रुद्रकोट्यर्बुदैर्युतम्[2] ॥
तत्र [3]ब्रह्मशिवो ज्ञेयः शशाङ्कशतसन्निभः ।
दशबाहुस्त्रिनेत्रश्च पञ्चवक्त्रेन्दुशेखरः ॥

चन्द्रों की समान कान्ति वाले, पांच मुँह और तीन नेत्र वाले, त्रिशूल हाथ में लिये जटाजूट-धारी ऊर्ध्वगामी भगवान् शिव का और उनके उत्संग (गोद) में बैठी ऊर्ध्वगामिनी भगवती भवानी का ध्यान करना चाहिए ॥

नादान्त बिजली के समान चमक वाला और हल के समान आकार वाला है । दो बिन्दुओं में से एक बिन्दु इसकी दक्षिण की ओर रहता है । इसका उच्चारण काल सोलह का दुगुना, अर्थात् मात्रा का ३२ वां भाग होता है । इसका अभिप्राय यह है कि नादान्त का उच्चारण काल मात्रा का ३२ वां भाग है और इसका आकार हलाकार आदि विशे-षताओं से युक्त है । नादान्त का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में है, क्योंकि यहीं नाद का अन्त (लय) होता है । स्वच्छन्दसंग्रह में नादान्त का प्रपंच (विस्तृत वर्णन) इस तरह से किया गया है—

नादान्त का आकार हल के सदृश है, अतः इस सारे जगत् को भेद कर, अधःशक्ति से लेकर ऊर्ध्वशक्ति पर्यन्त समस्त शक्ति चक्रों को भी भेद कर ब्रह्मबिल (ब्रह्मरन्ध्र) में स्थित नाडी (सुषुम्ना) में लीन हो जाता है । उस समय अव्यक्त मधुर ध्वनि के रूप में मात्र योगीजन इसका अनुभव कर सकते हैं । यह ब्रह्मबिल ११ करोड़ अरब योजन विस्तार वाला है । यहां ब्रह्म रूपी शिव निवास करते हैं । सैकड़ों चन्द्रों के सदृश इनकी

१. इन्दिरा–ग. ज. झ. उ. । २. वृतम्–क. ग. । ३. ब्रह्मा–ग. झ. उ. ।

ब्रह्माणी त्वपरा शक्तिर्ब्रह्मणोत्सङ्गगामिनी ।
द्वारं सा मोक्षमार्गस्य रोधयित्वा व्यवस्थिता ॥इति॥३०॥

शक्तिर्वामस्थबिन्दूद्यत्स्थि[1]राकारा तथा पुनः ॥३१॥
व्यापिका बिन्दुविलसत्त्रिकोणाकारतां गता ।

पुनःशब्देन पूर्वेभ्यो विशेषो द्योत्यते । पूर्वेषां बिन्द्वाद्यंशानां स्वरूपवर्णमात्रा-कालांशा[2] अभिकल्पिताः । शक्तिमारभ्य समनान्तानामंशानां स्वरूपवर्णमात्रा[3]-कालाः पश्चाद् वक्ष्यन्त इत्यर्थः । शक्तिर्बिन्दुद्वयमध्ये वामभागस्थबिन्दूद्य[4]त्स्थिरा-कारा । शक्तिप्रपञ्चः स्वच्छन्दसंग्रहे यथा—

शक्तितत्त्वं समाख्यातं भुवनै[5]रावृतं महत् ।
आधारं भुवनानां च प्रवक्ष्यामि समासतः ॥
सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृता मृता ।
चतुर्दिक्षु स्थितास्तासां मध्यस्था व्यापिनी [6]स्मृता ॥

कान्ति है । ये दश भुजा वाले, तीन नेत्र वाले, पांच मुंह वाले और इन्दुशेखर हैं । इनकी गोद में ब्रह्माणी नाम की शक्ति विराजमान है । यह शक्ति मोक्ष के मार्ग को रोक कर बैठी रहती है ॥ ३० ॥

शक्ति का आकार सीधी रेखा के वाम भाग में बिन्दु को रखने से बनता है । व्यापिका का आकार त्रिकोणमय है । इस त्रिकोण के नीचे एक बिन्दु शोभित है ॥ ३१ ॥

श्लोक में विद्यमान पुनः शब्द एक विशेषता का द्योतक है । पूर्व वर्णित बिन्दु प्रभृति का स्वरूप, वर्ण और मात्राकाल भी साथ में ही बताया गया है । अब शक्ति से लेकर समना पर्यन्त अंशों का [1]स्वरूप, वर्ण और मात्राकाल बाद में बताया जायगा । दो बिन्दुओं में से बाम भाग में स्थित बिन्दु से एक स्थिर रेखा खींच देने पर शक्ति का आकार बनता है । स्वच्छन्दसंग्रह में यह इस तरह से वर्णित है—

शक्तितत्त्व अनेक महान् भुवनों से आवृत है । यही सारे भुवनों का आधार है । इसका मैं संक्षेप में वर्णन करूँगा । चार दिशाओं में स्थित सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता और मृता नाम की चार शक्तियों के बीच में व्यापिनी विराजमान है । यह पांचवीं शक्ति

१. शिवा–ग. ने. छ. झ. उ., शिवाकारतया–ने. ज. । २. कलांशाः कल्पिताः–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. कलाः–क. ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ४. शिवा–ज. झ. उ. । ५. राश्रितम्–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. स्थिता–ख. ग. ।

1. बिन्दु से उन्मना पर्यन्त कलाओं के स्वरूप को जानने के लिये भास्करराय के वरिवस्यारहस्य के अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित संस्करण के अन्त में दिया गया चित्र देखना चाहिये ।

पञ्चवक्त्रा त्रिनेत्रा च सुतेजस्का च पञ्चमी ।
शक्तितत्त्वं समाख्यातं ध्यानान्मुक्तिफलप्रदम् ॥इति।

व्यापिका बिन्दोर्विलासाद् [1]वामादित्रिशक्तिमया त्रिकोणरूपतां गतेत्यर्थः ॥ इयं तु शक्तितत्त्वकथनेनैव कथिता स्वच्छन्दसंग्रहे यथा—[2]"सूक्ष्मा चैव" इत्यादि "स्थिताः" इत्यन्तं पूर्वोक्तम् ॥३१॥

बिन्दुद्वयान्तरालस्थो ऋजुरेखामयो पुनः ॥३२॥
समना बिन्दुविलसदृजुरेखा तथोन्मना ।

स्पष्टम् । समनायाः प्रपञ्चः स्वच्छन्दसंग्रहे[4]—

चिदानन्दस्वरूपा तु पराशक्तिस्तदूर्ध्वतः ।
समना नाम सा शक्तिः सर्वकारणकारणम् ॥
सर्वाण्डानि[5] बिभर्तीयं शिवेन समधिष्ठिता ।
अत्रारूढः स भगवान् शिवः परमकारणम् ॥

अत्यन्त तेजस्विनी है, पाँच मुँह और तीन नेत्र वाली है । यह शक्तितत्त्व ध्यान मात्र से मुक्ति का प्रदाता है ॥

व्यापिका बिन्दु के विलास से वामा प्रभृति तीन शक्तियों से संवलित त्रिकोण का आकार धारण कर लेती है । स्वच्छन्दसंग्रह में इसका वर्णन शक्ति तत्त्व के अन्तर्गत ही किया गया है । "सूक्ष्मा चैव" से लेकर "स्थिताः" पर्यन्त श्लोकों को अभी-अभी ऊपर के अनुच्छेद में उद्धृत किया जा चुका है ॥३१॥

ऊपर और नीचे विद्यमान दो बिन्दुओं के बीच में स्थित सीधी रेखा से समना का और एक बिन्दु के ऊपर शोभित सीधी रेखा से उन्मना का आकार बनता है ॥३२॥

इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है । स्वच्छन्दसंग्रह में समना का परिचय इस तरह से दिया गया है—

इस व्यापिनी शक्ति के ऊपर चिदानन्दस्वरूपिणी परा शक्ति विद्यमान है । यह समना नाम की शक्ति सभी कारण पदार्थों की भी कारण है, अर्थात् सारे कारण पदार्थों की सृष्टि इसी से होती है । शिव के द्वारा समधिष्ठित यह शक्ति ही सभी अण्डों का भरण-

---

१. 'वामादि' नास्ति-ग. च. उ.। २. सम्पूर्णः श्लोकः पुनरप्यत्र-ख. ग. ने. ज. उ. । ३. लस्थऋ-ख. ग. च. छ. ज. झ. उ. । ४. भैरवे यथा-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. सर्वान्तानि-ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

[1]सृष्टिं स्थितिं च संहारं तिरोभावमनुग्रहम् ।
शिवः करोति सततं सर्वकारणकारणम् ॥
शिवः सर्वस्य कर्तेयं शक्तिः कारणमिष्यते ।

एकस्मादेव बिन्दोर्विलसदृजुरेखारूपा उन्मना । उन्मनायाः प्रपञ्चः स्वच्छन्दसंग्रहे यथा—

या शक्तिः कारणत्वेन तदूर्ध्वे [2]उन्मना [3]स्मृता ।
[4]मनः संक्रमते यत्र तेन सा उन्मना स्मृता ॥
नात्र कालकलाभानं न तत्त्वं न च देवता ।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं रुद्रवक्त्रं तदुच्यते ॥
शिवशक्तिरिति ख्यातं[5] निर्विकल्पं निरञ्जनम् । इति ॥३२॥

शक्त्यादीनां समनान्तानां वर्णं मात्रांश[6]कालं चाह—

शक्त्यादीनां वपुः स्फूर्जद्द्वादशादित्यसंनिभम् ॥३३॥

पोषण करती है । इस समना शक्ति के सहारे ही परम कारण भगवान् शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह नामक पाँच कृत्यों का निरन्तर संपादन करते रहते हैं और इस तरह से वे भी सभी कारणों के कारण कहलाते हैं । यहाँ शिव सबके कर्ता और शक्ति सबकी कारणस्वरूप है ।

एक ही बिन्दु के ऊपर शोभित हो रही सीधी रेखा से उन्मना का आकार बनता है । इसका भी वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह में किया गया है—

अभी जिस समना नाम की कारण शक्ति का वर्णन किया गया है, उसके ऊपर उन्मना शक्ति स्थित है । यहाँ आकर मन लीन हो जाता है, इसलिये इसका नाम उन्मना है । यहाँ मन के लीन हो जाने से काल की कला की, किसी तत्त्व या देवता की भी प्रतीति नहीं होने पाती । परमशुद्ध सच्चे निर्वाण की यही स्थिति मानी जाती है । इसी को [1]रुद्रवक्त्र कहते हैं । यह शिव की निर्विकल्प निरंजन शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है ॥३२॥

अब शक्ति प्रभृति के वर्ण और मात्राकाल का वर्णन किया जाता है—

शक्ति प्रभृति का स्वरूप एक साथ उगे १२ आदित्यों के समान है । शक्ति का उच्चारण काल मात्रा का ६४ वाँ भाग है । शक्ति से लेकर समना पर्यन्त

---

१. सृष्टिमिति श्लोको नास्ति-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. उन्मनी-ख. ग. ने. ज. झ. उ । ३. स्थिता-ने., मता-उग. । ४. नास्त्येषा पङ्क्तिः-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. ता…कारा…ञ्जना-क. ख. । ६. मात्रांशकत्वं-उ., मात्रांत्वं कलां-ख. ।

1. विज्ञानभैरव (श्लो० २०) में रुद्रवक्त्र शैवीमुख के नाम से वर्णित है ।

चतुष्षष्टिस्तदूर्ध्वं तु द्विगुणं द्विगुणं ततः ।
शक्त्यादीनां तु मात्रांशो मनोन्मन्यास्तथोन्मनी ॥३४॥

मनोन्मन्या[2] मनोन्मनीपर्यन्तम् । मनोन्मनी नाम समना, मनःसहितत्वात्, तद्रहितत्वादुन्मनीत्युच्यते । शक्त्यादीनां [3]मनोन्मनीपर्यन्तानामंशानां वपुः स्वरूपं स्फूर्जद्द्वादशादित्यसंनिभम् एकत्र हेलयोदितद्वादशादित्यसवर्णवर्णम् । मात्रांशश्चतुषष्टिः मात्रांशकालश्चतुष्षष्टितमोंऽश इत्यर्थः । तदूर्ध्वं तु[1] व्यापिकाया मात्रांशोच्चारणं द्विगुणं व्यापिकोच्चारणमात्रावयवकालोऽष्टाविंशत्युत्तरशततमो भाग इत्यर्थः । ततः[4] समनोच्चारणमात्रावयवकालः षडधिकपञ्चाशदुत्तरद्विशततमो भाग इत्यर्थः । उन्मनी यथेदानीं[5] कथितविशेषणा तथा निराकारा निरुच्चारा, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तै० उ० २।४) इत्युपनिषदुक्तरीत्या

अंशों का उच्चारण काल दुगुना सूक्ष्म होता जाता है। उन्मनी का न तो कोई आकार होता है और न इसका उच्चारण ही संभव है ॥३३-३४॥

'मनोन्मन्याः' पद का अर्थ मनोन्मनी पर्यन्त किया जाता है । मनोन्मनी शब्द से यहाँ समना गृहीत है, क्योंकि मन की स्थिति यहीं तक है । उन्मनी में मन की स्थिति नहीं रहती । शक्ति से लेकर मनोन्मनी (समना) पर्यन्त अंशों का स्वरूप एक स्थान पर एक-एक उगे १२ आदित्यों (सूर्यों) की कान्ति के समान है । शक्ति का उच्चारण काल मात्रा का ६४ वाँ भाग है । इसके ऊपर व्यापिका का उच्चारण काल इससे दुगुना, अर्थात् मात्रा का १२८ वाँ भाग होगा। इसके बाद की समना का उच्चारण काल मात्रा का २५६ वाँ भाग होगा । [1]उन्मना को निराकार और निरूच्चार कहा गया है, अर्थात् इसका न तो कोई आकार है और न इसका उच्चारण ही किया जा सकता है । तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है—"मन के साथ वाणी भी यहाँ तक आकर लौट जाती है, क्योंकि उनकी यहाँ तक पहुँच नहीं है ।" इस तरह से वाणी और मन की गति यहाँ

१. व्यापिका–ग. उ. । २. 'मनोन्मन्याः' नास्ति–ग. उ. । ३. उन्मनी–ख. ग. ज. झ. उ. । ४. 'ततः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. दानीम–झ. उ. ।

1. प्रस्तुत प्रकरण की व्याख्या करते समय तथा वरिवस्यारहस्य (पृ० १३-१४) में भी भास्करराय ने समना के समान उन्मना का भी उच्चारण काल मात्रा का २५६ वाँ भाग माना है । भास्करराय वरिवस्यारहस्य (पृ० १३-१४) में एक अन्य मत का उल्लेख करते हैं । तदनुसार उन्मना का उच्चारण काल मात्रा का ५१२ वाँ भाग है । श्रद्धेय कविराज जी भी अपने 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' नामक ग्रन्थ में 'नादतत्त्व' शीर्षक के अन्तर्गत (पृ० ३०८) इस पक्ष की चर्चा करते हैं ।

[1]वाङ्मनोऽतीतगोचरत्वादुन्मनीत्युच्यते । महाबिन्दौ चाकाररूपवर्णोच्चारकाला न विद्यन्ते । अतो नात्रोच्यन्ते, तस्य विश्वोत्तीर्णत्वात् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

तत्त्वातीतं वरारोहे वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ॥
अनिष्कलं चासकलं नीरूपं [2]निर्विकल्पकम् ।
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम् ॥ इति ।

हकारादिबिन्द्वन्तानां स्थूलवर्णानामुच्चारणकालो मात्रा, बिन्द्वादिसमनान्तानामर्धमात्रा । तदर्धादिक्रमेण लवपर्यन्तमुच्चारणकालः । लवो नाम[3]

नलिनीपत्रसंहत्यां सूक्ष्मसूच्यभिवेधने ।
दले दले तु यः कालः स कालो लववाचकः ॥ (प्र० सा० १।२९)

इति वचनात् । तदूर्ध्वं[4] शून्य एव, तदधिकसूक्ष्मतरकालाभावात् । एवंविध[5]भावनया शिव एव भूयादित्यर्थः । तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

आकर रुक जाती है । इसीलिये इसे उन्मना कहते हैं । महाबिन्दु में तो सुतरां आकार (रूप), वर्ण और उच्चारण काल की भी कोई स्थिति नहीं है, अतः उनका यहाँ वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि वह महाबिन्दु [1]विश्वोत्तीर्ण तत्त्व है । इसका वर्णन स्वच्छन्द-संग्रह में इस तरह से किया गया है—

हे वरारोहे ! वाणी और मन से अगोचर, सभी तत्त्वों से अतीत यह महाबिन्दु अनिष्कल, असकल, नीरूप, निर्विकल्पक, निर्द्वन्द्व परम तत्त्व है । यही शिव नामक परम पद है ॥

हकार से लेकर बिन्दु पर्यन्त स्थूल वर्णों का उच्चारण काल एक मात्रात्मक है, बिन्दु से समना पर्यन्त कलाओं का काल अर्धमात्रा है । प्रत्येक आगे वाली कला में यह काल आधा होता जाता है । यह उच्चारण काल लव पर्यन्त सूक्ष्म होता है । प्रपंचसार में लव का लक्षण इस तरह से वर्णित है—

कमल के सहस्र पत्रों को एक साथ रख कर उनको तीखी सुई से छेदते समय एक-एक पत्र के छेदन में जो काल लगता है, उसी को लव कहा जाता है ॥

इसके ऊपर कुछ भी नहीं है, क्योंकि इससे अधिक सूक्ष्म काल की कल्पना ही नहीं की जा सकती । इस तरह इन सूक्ष्म नाद-कलाओं का ध्यान करने वाला साक्षात् शिव हो जाता है, जैसा कि विज्ञानभैरव के निम्न श्लोक में कहा गया है—

१. 'वाङ्' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. निरुपद्रवम्–ग. उ. । ३. 'नाम' नास्ति–ख. ज. झ. । ४. तदूर्ध्वं लवोर्ध्वं–क. ने. ज. । ५. विधविश्व–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. पृ० १५ की टिप्पणी देखिये ।

[1]पिण्डरूपस्य मन्त्रस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तशून्योच्चाराद् भवेच्छिवः ॥ इति ।
(वि० भै०, श्लो० ४२)

अत्र 'बिन्द्वर्धेन्दु' इति वक्तव्ये वृत्तानुरोधेन व्यत्यासः । बिन्द्वर्धेन्दुनादान्तशून्योच्चाराद् भवेच्छिव इति प्रत्याहाररीत्या ग्रहणम् । अर्धेन्दोरुपरि रोधिनीनादयोर्नादान्तस्य चोपरि शक्तिव्यापिकासमनानां च विद्यमानत्वात् । शून्यशब्देनोन्मना उच्यते । अतोऽर्धेन्दुबिन्दुनादान्तशून्योच्चाराद् भवेच्छिव इति [2]पिण्डरूपस्य मन्त्रस्य संग्रहेणोक्तिः ॥३३-३४॥

देशकालानवच्छिन्नं तदूर्ध्वे परमं महत् ।
निसर्गसुन्दरं तत्तु [3]परानन्दविघूर्णितम् ॥३५॥

तदूर्ध्वे हकारादिमहाबिन्द्वन्तानां सकल-सकलनिष्कल-केवलनिष्कलानां त्रयाणामप्यूर्ध्वे । परमं महत् । महत्त्वं घटादीनामप्यस्ति न्यूनपरिमाणापेक्षया, अत उक्तं परममिति । यतः परं महत्त्वं नास्ति तत् परमं महत् । अत एव देशकालानवच्छिन्नम् । देशकालाकारैरनवच्छिन्नमेव परमं महदित्युच्यते[1] । तेन निसर्गसुन्दरम् । लोकेऽसुन्दरमपि वस्तु वस्त्राद्यलङ्कारैरारोपितैः सुन्दरमिव प्रतीयते । इदं तु स्वभावसुन्दरम्, सर्वैः स्वस्वात्मतया स्पृहणीयत्वात् । [2]परानन्दविघूर्णितम् । आनन्दः शब्दादिविषयानुभवेऽप्यस्ति क्षणिकः, तत[3] उच्यते परानन्दविघूर्णितमिति । कोऽर्थः ? त्रित्रिरूप[4]समवस्थितवस्तुभ्यः पुरातनी देशकालानवच्छिन्ना परममहद्रूपा स्वभावसुन्दरी परप्रकाशात्मकपरशिवसामरस्यपरि[5]-पूर्णपरानन्दशालिनी विमर्शशक्तिः श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीत्यर्थः ॥३५॥

ॐ कार, ह्रींकार प्रभृति पिण्ड मन्त्रों के स्थूल वर्णों का क्रमशः उच्चारण करने के बाद बिन्दु, अर्धचन्द्र, नाद, नादान्त आदि सूक्ष्म कलाओं का क्रम से उच्चारण करने से साधक शिव हो जाता है ॥

विज्ञानभैरव के इस श्लोक में 'बिन्द्वर्धेन्दु' ऐसा पाठ होना चाहिये, किन्तु छन्द की दृष्टि से 'अर्धेन्दुबिन्दु' ऐसा पाठ है । बिन्दु, अर्धेन्दु, नादान्त और शून्य का उच्चारण करने से शिव बन जाता है, इस वाक्य में प्रत्याहार की पद्धति अपनाई गई है । इससे अर्धेन्दु के बाद रोधिनी और नाद का तथा नादान्त के बाद शक्ति, व्यापिका और समना कलाओं का उच्चारण अभिप्रेत है । शून्य शब्द यहाँ उन्मना का बोधक है । अतः 'अर्धेन्दुबिन्दु' श्लोक की इस पंक्ति के द्वारा पिण्डमन्त्र की सभी कलाओं का संक्षेप में उल्लेख हुआ है, ऐसा माना जाना चाहिये ॥३३-३४॥

इसके ऊपर देश और काल आदि से अपरिच्छिन्न वह परम महान् स्वभावसुन्दर तत्त्व विद्यमान है, जो कि सदा परम आनन्द में लीन रहता है ॥३५॥

हकार से लेकर महाबिन्दु पर्यन्त कलाओं का यह जो त्रिविध— सकल, सकलनिष्कल और केवल निष्कल नाम की भावनाएँ बताई गई हैं, इन सबसे ऊपर वह परम महत् तत्त्व अवस्थित है । छोटे घड़े की अपेक्षा बड़े घड़े का भी परिमाण महत् (बड़ा) होता है, अतः यहाँ उसका विशेषण परम जोड़ा गया है । जिससे अधिक बड़ा कोई न हो, उसे यहाँ परम महान् कहा गया है । देश, काल और आकार से परिमित न होने से यह परम महान् है । इसीलिये यह निसर्गसुन्दर है । लोक में असुन्दर वस्तु को भी वस्त्र, अलंकार आदि पहनाकर सुन्दर सा बना दिया जाता है, किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है । यह तत्त्व तो स्वभाव से ही सुन्दर है, क्योंकि सभी प्राणी इसको अपनी आत्मा ही मानते हैं और आत्मा के साथ सभी का स्वाभाविक स्नेह रहता है । यह तत्त्व परानन्द से विघूर्णित है । शब्द आदि लौकिक विषयों का अनुभव करने से भी क्षणिक आनन्द की सृष्टि होती है । इससे विलक्षण आनन्द की सृष्टि परम तत्त्व की अनुभूति से होती है । इसीलिये इसको परानन्दविघूर्णित कहा गया है । इसका अभिप्राय यह है कि तीन-तीन संख्या वाली समस्त वस्तुओं से पहले विद्यमान, देश, काल और आकार से अपरिमित, परम महान् परिमाण वाली, स्वभाव से ही सुन्दर और परम प्रकाशात्मक परम शिव के साथ समरस रूप में अवस्थित, विमर्शशक्ति स्वरूपिणी यह महात्रिपुरसुन्दरी भगवती सदा परम आनन्द से ओतप्रोत रहती है । अन्ततः इससे यह अभिप्राय निकलता है कि उक्त भावना के अभ्यास से साधक तद्रूप हो जाता है, जैसा कि कामकलाविलास के पूर्वोद्धृत (पृ० १०) छठे श्लोक में बताया गया है ॥३५॥

१. बिन्दु–क. ख. उ. । २. बिन्दु–क. ख. उ. । ३. परमानन्द–च. छ. ज. झ. उ. ।

"प्रसृतं विश्वलहरीस्थानं मातृत्रयात्मकम्"[6] (१।११) इत्यत्र सूचितां मातृकामयवासनामिदानीं विवृणोति—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला ।
अम्बिकारूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता ॥३६॥

पहले (१।११) चक्र को मातृत्रयात्मक बताया गया था, उसी विषय को अब यहाँ विस्तार से समझाया जा रहा है—

ऊपर वर्णित यह परम कला जब अपने [1]स्फुरण (विस्तार) को देखना चाहती

१. 'उच्यते' नास्ति–ख. ज. झ. । २. परमानन्द–ज. झ. उ. । ३. तदु–ख. ग. ज. उ. । ४. समस्त–ग. उ. । ५. 'परिपूर्ण' नास्ति–ने. ज. झ. उ. । ६. इतः परम्–'बैन्दवं चक्रम्' इत्यधिकं–ख. ने. ज. उ. ।

1. स्फुरण शब्द पूर्व प्रतिपादित (१।१०-११) स्फुरत्ता का पर्याय है । इस तरह से

सा परमा सर्ववर्णाद्यभूतविमर्शरूपा, कला विमर्शशक्तिः, आत्मनः परशिवस्य, स्फुरणं पश्यन्त्यादिक्रमेण वैखरीपर्यन्तं विमर्शनम्, पश्येद् द्रष्टुमिच्छेत्, तदा परमा शान्तात्मिका भूत्वा, अम्बिकारूपमापन्ना प्रकाशांशभूताया अम्बिकायाः सामरस्यमापन्ना, परा वाक् समुदीरिता परा मातृकोच्यते। तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—"अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन् महसि स्फुटम्" इति ॥३६॥

बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी ।
वामा विश्वस्य वमनादङ्कुशाकारतां गता ॥३७॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्तीवपुषा स्थिता ।

है, तो सबसे पहले अम्बिका शक्ति का रूप धारण करती है। इसी को परा वाक् कहा जाता है ॥३६॥

सभी वर्णों की आदिभूत विमर्शशक्ति जब प्रकाशात्मक शिव के विस्तार को पश्यन्ती से लेकर वैखरी पर्यन्त वाणी के रूप में देखना चाहती है, तब वह परम शान्त विमर्शशक्ति प्रकाश की अंशभूत अम्बिका शक्ति से समरस हो जाती है और इस तरह से परा वाणी, परा मातृका का स्वरूप धारण कर लेती है। संकेतपद्धति में इस स्थिति का वर्णन इस तरह से किया गया है—"प्रकाश और विमर्श का सामरस्य इस परप्रकाशात्मक[1] स्वरूप में स्पष्ट है" ॥३६॥

यह परा वाणी अपने में बीज रूप से विद्यमान् जगत् को जब प्रकट करने लगती है, तब विश्व का वमन करने के कारण अंकुश सदृश वामा शक्ति का रूप

पूर्व उपक्रान्त श्रीचक्र की निष्पत्ति-प्रक्रिया का यहाँ उपसंहार किया जा रहा है। इस विषय की चर्चा पहले भी (पृ० १९ की टिप्पणी में) आ चुकी है।

1. 'परस्मिन् महसि' के स्थान पर 'परस्मिन्नहमि' पाठ उचित प्रतीत होता है। कामकलाविलास की टीका चिद्वल्ली (पृ० १५) में यही पाठ गृहीत है। ऋजुविमर्शिनी (पृ० ९८) और दीपिका (२।६३-६४) में उद्धृत संकेतपद्धति के इस वचन से पहले विद्यमान 'अकारः' इत्यादि श्लोक में अकार और हकार की प्रकाशविमर्शात्मकता का प्रतिपादन किया गया है। पृ० १६-१७ की टिप्पणी में हम विस्तार से बता चुके हैं कि अहमात्मक अद्वयतत्त्व से जिस बिन्दु तत्त्व की निष्पत्ति होती है, वही कामकला का रूप धारण कर लेता है। यहाँ उस अद्वयतत्त्व से परा, पश्यन्ती आदि चार वाणियों का विकासक्रम बताया गया है। कामकलाविलास (श्लो० २२-२७) तथा आगे उद्धृत (२।६३-६४) संकेतपद्धति के वचनों से इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। वहाँ परम प्रकाशमय बिन्दुतत्त्व की परा वाणी-स्वरूपता का, एकादशधा पश्यन्ती का तथा मध्यमा की नवनादमयता का निरूपण किया गया है।

बीजभावस्थितं विश्वम्। यथा बीजे वृक्षस्तथा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं विश्वं परायां कारणतावन्मात्रतामास्थितम्, स्फुटीकर्तुं यदोन्मुखी स्फुटीकर्तुमुत्पादयितुमुन्मुखी। अत्रोत्पादनं नाम [1]कारणे सत एव कार्यस्य स्फुटीकरणम्। अत एव कार्यस्य स्फुटीकरणाद् वामा, विश्वस्य वमनात् कारणे सत[2] उत्पादनात्। वमनं नामोदरस्थस्य आहारादेर्बहि[3]र्निर्यासनम्। उत्पादनमप्येवमेव। अत एव गर्भभावेनात्मोदरगतस्य विश्वस्य बहिर्वमनाद् वामा। अङ्कुशाकारतां गता वक्रत्वाच्च वामा शृङ्गाटस्य वामरेखा सृष्टिरूपाऽ[4]भूदित्यर्थः। त(था ? दा) इच्छाशक्तिर्वामाशक्तिसामरस्यमापन्ना पश्यन्तीरूपेण स्थितेत्यर्थः ॥३७॥

ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमा वागुदीरिता ॥३८॥
ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा ।

धारण कर लेती है। इस वामा शक्ति का जब इच्छा शक्ति के साथ मिलन होता है, तो वह पश्यन्ती के रूप में परिणत हो जाती है ॥३७॥

बीज में जैसे वृक्ष छिपा बैठा है, उसी तरह से यह ३६ तत्त्व वाला सारा जगत् परा वाणी में सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। अपने में छिपे हुए इस विश्व को यह परा वाणी प्रकट करने में लग जाती है। कारण में पहले से विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति ही यहाँ उत्पत्ति मानी गई है। कारण से कार्य को अभिव्यक्त करने वाली यह शक्ति तब वामा कहलाती है, क्योंकि यह विश्व का वमन करती है, कारण में विद्यमान वस्तु को कार्य के रूप में परिणत कर देती है। पेट में विद्यमान भोजन, जल आदि का मुँह से बाहर निकल आना वमन (उल्टी) कहलाता है। जगत् के उत्पादन की भी यही पद्धति है। इसीलिये गर्भ के रूप में अपने पेट में विद्यमान इस जगत् को बाहर निकालने वाली शक्ति वामा है। इसका आकार अंकुश सरीखा तिरछा है, इस तिरछेपन के कारण भी इसको वामा कहते हैं। वामा शक्ति का यह तिरछापन ही शृंगाट (त्रिकोण) की बाईं रेखा के रूप से दिखाई पड़ता है, जो कि सारी सृष्टि का प्रतीक है। इस समय इच्छा शक्ति आकर इस वामा शक्ति से मिल जाती है। इन दोनों की यह समरस दशा ही पश्यन्ती वाणी के रूप में प्रकट होती है ॥३७॥

इसी तरह से ज्येष्ठा शक्ति और ज्ञान शक्ति के मिलन से मध्यमा वाणी अभिव्यक्त होती है। शृंगाट की सीधी रेखा इसका प्रतीक चिह्न है। यह शक्ति विश्व की स्थिति की कारणभूत है ॥३८॥

१. 'कारणे सत एव कार्यस्य' नास्ति—ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. सतो विश्वस्य वमनात्—ख. ग. ज. झ. उ.। ३. निर्वा—ख. ग. ने. ज. उ.। ४. पाप्यभू—ने. ज. झ. उ.।

तथा ज्येष्ठाशक्तिर्ज्ञानशक्तिः, यथा वामाशक्तिरिच्छाशक्तिसामरस्यमापन्ना सृष्ट्यात्मकश्रृङ्गाटवामारेखासीत् तथा ज्येष्ठाशक्तिरपि ज्ञानशक्तिसामरस्यमापन्ना । विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा, सृष्टविश्वस्थितौ [2]हेतुभूतत्वात् । ऋजुरेखामयी । अत्र श्रृङ्गाटाग्ररेखाकारा । मध्यमा वागुदीरिता मध्यममातृकात्वमापन्ना ॥३८॥

तत्संहृतिदशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता ॥३९॥
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैवं श्रृङ्गाटवपुरुज्ज्वला ।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ॥४०॥

सृष्टस्य स्थितस्य विश्वस्य संहारकाले, बैन्दवं रूपमास्थिता अम्बिका शान्तासामरस्यरूपा[3] स्थिता, मध्यबिन्दोराविर्भूय सृष्टिं स्थितिं च सम्पाद्य तत्संहारो-

---

जैसे वामा शक्ति इच्छा शक्ति से मिलकर श्रृंगाट की सृष्टिस्वरूप वाम रेखा का आकार धारण करती है, उसी तरह से ज्येष्ठा शक्ति ज्ञान शक्ति से मिलकर सृष्ट विश्व की स्थिति के कारणभूत श्रृंगाट के अग्रभाग की सीधी रेखा का स्वरूप ग्रहण करती है। उक्त दोनों शक्तियों की इसी समरस स्थिति को मध्यमा वाणी का प्रतीक माना जाता है। मातृका के सूक्ष्म रूप पश्यन्ती और स्थूल रूप वैखरी के बीच में इसकी स्थिति है, अतः इसको मध्यमा कहा जाता है ॥३८॥

उस विश्व को संहार दशा में पुनः अपने बैन्दव स्वरूप में प्रविष्ट होने की कामना से वह शक्ति लौट पड़ती है। इस तरह से श्रृंगाट की दक्षिण रेखा के निर्माण के साथ इसका पूर्ण स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार रौद्री और क्रिया शक्ति के मिलन से वाणी के सारे विस्तार को मुखरित करने वाली वैखरी वाणी का यह प्रतीक स्वरूप बनता है ॥३९-४०॥

सृष्ट और स्थित विश्व का संहार करते समय यह शक्ति पुनः बैन्दव[1] स्वरूप में प्रविष्ट हो जाती है, अर्थात् अम्बिका और शान्ता शक्ति के साथ एकरस हो जाती है।

---

१. 'सामरस्य'....'ज्ञानशक्ति' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. हेतुत्वात्–ख. ने. ज. झ.। ३. रूपेण–ग. उ.।

1. समरस बिन्दु जब कामकला का स्वरूप धारण करता है, तो ऊर्ध्व बिन्दु काम तथा अधः स्थित बिन्दुद्वय कला के नाम से अभिहित होते हैं। ऊर्ध्व बिन्दु से निकली वामरेखा सृष्टि तथा ऋजुरेखा स्थिति कृत्य की प्रतीक है। संहार कृत्य की प्रतीक दक्षिण रेखा लौटकर पुनः बैन्दव स्वरूप में, अर्थात् प्रकाशात्मक कामबिन्दु में और अन्ततः समरस बिन्दु में लीन हो जाती है।

न्मुखी पुनर्बिन्दुमेव प्रविष्टेत्यर्थः । एवं प्रत्यावृत्तिक्रमेण, इयं रौद्री क्रियाशक्तिसामरस्यात्, सैव श्रृङ्गाटवपुः श्रृङ्गाटस्य दक्षिणरेखा भूत्वा, उज्ज्वला श्रृङ्गाटरूपेण भासमाना । श्रृङ्गाटं नाम त्रिकोणम् । वैखरी विश्वविग्रहा वाग्रूपप्रपञ्चमयवैखरीरूपा जातेत्यर्थः ॥३९-४०॥

प्रकाशविमर्शांशरूपाणामम्बिकादीनां [1]शान्तादीनां चतसृणां शक्तीनां श्रृङ्गाटरूपतामुक्त्वा पुनरिदानीं त्रिकोणान्तर्गतपीठाकारवर्णलिङ्गावस्थाचतुष्टयमयताभासनामाह "भासनाद्विश्वरूपस्य" इत्यादिना "तुर्यरूपाण्यमूनि च" (१४९) इत्यन्तेन—

भासनाद् विश्वरूपस्य स्वरूपे बाह्यतोऽपि च ।
एताश्चतस्रः शक्तयस्तु का पू जा ओ इति क्रमात् ॥४१॥

उत्तरार्धवक्ष्यमाणचतुष्टये[2] हेतुमाह—भासनादिति । विश्वं शिवादिभूम्यन्तं नामरूपात्मकम्, तद्रूपस्य स्वरूपे बीजभावेन, बाह्यतः सृष्ट्यात्मना भासनात्,

---

इसका तात्पर्य यह है कि मध्य बिन्दु से प्रकट होकर शक्ति सृष्टि और स्थिति नामक दो कृत्यों का सम्पादन करने के बाद जब संहार कृत्य में प्रवृत्त होती है, तो उस समय वह पुनः बिन्दु में प्रविष्ट हो जाती है। इस तरह से शक्ति की एक आवृत्ति पूरी हो जाती है। इस प्रत्यावृत्ति (वापस लौटना) के क्रम में रौद्री और क्रिया शक्ति के मिलन से श्रृंगाट की दक्षिण रेखा बनती है और इस तरह से श्रृंगाट का पूर्ण स्वरूप भासित हो उठता है। श्रृंगाट शब्द यहाँ त्रिकोण के अर्थ में प्रयुक्त है। सिंघाड़े का आकार त्रिकोणात्मक ही होता है। यह तृतीय रेखा वैखरी वाणी की प्रतीक है, जो कि वाणी के सारे स्थूल प्रपंच को मुखरित करता है ॥३९-४०॥

इस तरह से प्रकाश की अंशभूत अम्बिका आदि तथा विमर्श की अंशभूत शान्ता प्रभृति चार-चार शक्तियों से सम्पन्न श्रृंगाट के स्वरूप का वर्णन करने के बाद अब पुनः इस श्रृंगाटसदृश त्रिकोण के अन्तर्गत विद्यमान पीठों की, उनके आकार और वर्ण की, चार लिंगों और चार अवस्थाओं की भावना का वर्णन आगे (१४१-४९) किया जा रहा है—

नामरूपात्मक जगत् को जब ये चार शक्तियाँ अपने भीतर और बाहर प्रकाशित करती हैं, तो का पू जा ओ नामक पीठों का स्वरूप धारण कर लेती हैं ॥४१॥

सबसे पहले ४१ वें श्लोक के उत्तरार्ध में कहे जाने वाले चार पीठों के हेतु (कारण) का वर्णन 'भासनात्' इस पंक्ति में किया गया है। विश्व का अर्थ है शिव से लेकर पृथ्वी

---

१. 'शान्तादीनां' नास्ति–ग. झ. उ.। २. ष्टयत्वे–ग. ने. उ.।

एताश्चतस्रः शक्त्यस्तु "शक्लृ [1]व्याप्तौ" (१२६२ स्वा०) इत्यस्माद् धातोः शक्तिशब्दव्युत्पत्तिः। चतस्रः [2]अम्बिकाद्याः शान्ताद्याश्चतस्रः। क्रमेण परस्परं सामरस्यमापन्नाः का पू जा ओ इति क्रमादासन्। का कामरूपपीठम्, पू पूर्णगिरिपीठम्, जा जालन्धरपीठम्, ओ ओड्याणपीठम्। प्रकाशविमर्शात्मतया समरसीभूताः पूर्वोक्ताश्चतस्रः शक्तयः कामरूपपूर्णगिरिजालन्धरौड्याणपीठरूपेण परिणता [3]इत्यर्थः ॥४१॥

पीठचतुष्टयस्य पिण्डादिमयतावासनामाह—

पीठाः कन्दे पदे रूपे रूपातीते क्रमात् स्थिताः।

[4]कन्दं नाम सुषुम्नामूलम्। कन्दशब्देन तत्रस्था पिण्डाख्या कुण्डली लक्ष्यते। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

[5]नयित्वा तं सुषुम्नाऽधः कन्दस्थाने च मारुतम्।
इच्छाज्ञानक्रियारूपां कुण्डलीं परमेश्वरीम् ॥
प्रसुप्तभुजगाकारां मातृकारूपिणीं शिवाम्। इति।

पर्यन्त नामरूपात्मक जगत्। इस विश्व के स्वरूप में बीजभाव से भीतर और सृष्टिभाव से बाहर उक्त चार शक्तियों का ही भासन होता है। व्याप्ति अर्थवाली 'शक्लृ' धातु से शक्ति शब्द बनता है। अम्बिका आदि और शान्ता आदि चार-चार शक्तियाँ क्रमशः परस्पर मिलकर का पू जा ओ बन जाती हैं। का से कामरूप पीठ, पू से पूर्णगिरि पीठ, जा से जालन्धर पीठ और ओ से ओड्याण पीठ समझना चाहिये। प्रकाश और विमर्श स्वरूप उक्त चार-चार शक्तियाँ जब समरस हो जाती हैं, तो उनका अगला परिणाम कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठ के रूप में होता है ॥४१॥

इन चार पीठों की पिण्ड आदि के रूप में भावना करनी चाहिये—

ये चार पीठ क्रमशः कन्द, पद, रूप और रूपातीत में स्थित हैं।

सुषुम्ना नाडी का मूल स्थान कन्द कहलाता है। यहाँ कन्द शब्द से उसमें विराजमान कुण्डलिनी शक्ति, जिसको पिण्ड भी कहते हैं, गृहीत होती है। स्वच्छन्दसंग्रह इसमें प्रमाण है—

उस पवन को सुषुम्ना के मूल में विद्यमान कन्द स्थान में ले जाना चाहिये और वहाँ सोये हुए सर्प के समान आकारवाली मातृकास्वरूपिणी और इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्ति समष्टिरूपिणी भगवती कुण्डलिनी का मंगलमय दर्शन करना चाहिये ॥

१. 'शक्तौ' इति धातुपाठस्थः पाठः। २. 'अम्बिकाद्याः शान्ताद्याश्चतस्रः' नास्ति–ख. ग. ज. झ. उ.। ३. 'इत्यर्थः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. कन्द इति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ५. लङ्घित्वा–ख. झ., लयित्वा–ग. उ.।

पदं [1]नाम हंसः। रूपं [1]नाम बिन्दुः। रूपातीतं [1]नाम निरञ्जनं तत्त्वम्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

पिण्डं कुण्डलिनीशक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः।
रूपं बिन्दुरिति ख्यातं रूपातीतं तु चिन्मयम् ॥ इति।

पीठाश्चत्वारः। पिण्डपदरूपरूपातीतशब्देन तत्तत्स्थानान्याधारहृदयभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्राणि लक्ष्यन्ते। तेन क्रमात् तेषु स्थानेषु स्थितास्तत्तन्मया इत्यर्थः।

तेषां पृथिवीवायुसलिलतेजोरूपतां [2]सूचयन् तत्त्वरूपभेद[3]माह—

चतुरस्रं तथा बिन्दुषट्कयुक्तं च वृत्तकम् ॥४२॥
अर्धचन्द्रं त्रिकोणं च रूपाण्येषां क्रमेण तु।

चतुरस्रं चतुरस्ररूपः कामरूपपीठः। भूतत्त्वमित्यर्थः, भूमण्डलस्य चतुरस्ररूपत्वात्। बिन्दुषट्कयुक्तं च वृत्तकम्। पूर्णगिरिपीठः षड्बिन्दुयुक्तवृत्तरूपः। वायुतत्त्वमित्यर्थः, वायुमण्डलस्य षडावर्तवद्वृत्तरूपत्वात्। अर्धचन्द्रं जालन्धर-

ऊपर कुण्डलिनी शक्ति को पिण्ड नाम से भी कहा गया है। इसी तरह से पद का अर्थ हंस, रूप का बिन्दु और रूपातीत का अर्थ निरंजन तत्त्व होता है। इसमें भी स्वच्छन्दसंग्रह ही प्रमाण है—

पिण्ड कुण्डलिनी शक्ति को कहते हैं। पद हंस को कहा जाता है। रूप ही बिन्दु के नाम से भी प्रसिद्ध है और रूपातीत चिन्मय तत्त्व को कहते हैं ॥

चार पीठों के नाम ऊपर बताये गये हैं। पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्द से उनके स्थान आधार, हृदय, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र का ग्रहण करना चाहिये। तब इसका अर्थ होगा कि उक्त चार पीठ उक्त चार स्थानों में स्थित हैं और उसी रूप में इनकी भावना करनी चाहिये।

अब यह बताया जा रहा है कि ये चार पीठ पृथिवी, वायु, जल और तेज के प्रतिनिधि हैं और इन तत्त्वों के आकार के समान ही इनका भी आकार है—

चतुरस्र, वृत्ताकार छः बिन्दु, अर्धचन्द्र तथा त्रिकोण—ये चार क्रमशः चार पीठों के स्वरूप हैं ॥४२॥

चतुरस्र का अर्थ है चौकोर, कामरूप पीठ का आकार चौकोर है। पृथ्वी भी चौकोर है, इस तरह से कामरूप पीठ पृथ्वी तत्त्व का प्रतिनिधि है। पूर्णगिरि पीठ का आकार छः बिन्दुओं की गोलाई के समान है। वायुमण्डल का आकार चक्करदार छः बिन्दुओं सरीखा होता है। अतः वायुतत्त्व के प्रतिनिधि इस पीठ का आकार भी वायुमण्डल सदृश है। जालन्धर पीठ अर्धचन्द्र सरीखा है। जलीय मण्डल का आकार

१. 'नाम' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. संसूच–उ.। ३. देह–ज. उ.।

पीठोऽर्धचन्द्ररूपः, अप्तत्त्वमयः, [1]अम्मण्डलस्यार्धचन्द्ररूपत्वात्। त्रिकोणम् ओड्याणपीठस्त्रिकोणरूपः, तेजस्तत्त्वमयः, अग्निमण्डलस्य त्रिकोणरूपत्वात्। क्रमेण कामरूपादीनां पीठानामेतानि रूपाणीत्यर्थः। अत्र गगनतत्त्वस्यारूपत्वान्निरवयवत्वाच्चानुक्तिः ॥४२॥

पीठानामेव क्रमेण वर्णानाह—

पीतो धूम्रस्तथा श्वेतो रक्तो रूपं च कीर्तितम् ॥४३॥

पृथिवीवायुसलिलतेजसां क्रमेण पीतधूम्रश्वेतरक्तवर्णत्वात् पीठानामपि त एव वर्णा इत्यर्थः। अवयवार्थः स्पष्टः। अत्र भूतानामक्रमः पीठानुसारेण। पीठानां त्वाम्नायभेदेन क्रमस्य नियमात्[2] ॥४३॥

पीठेषु लिङ्गान्याह—

स्वयम्भूर्बाणलिङ्गं च इतरं च परं पुनः।
पीठेष्वेतानि लिङ्गानि संस्थितानि वरानने ॥४४॥

अर्धचन्द्र के समान होता है, अतः जलतत्त्व के प्रतिनिधि जालन्धर पीठ का आकार भी वैसा ही है। ओड्याण पीठ तिकोना होता है। अग्निमण्डल का आकार त्रिकोण-सदृश बनता है, अतः तेजस्तत्त्व के प्रतिनिधि इस पीठ का आकार भी तिकोना माना गया है। इस तरह से क्रमशः कामरूप आदि पीठों के ये स्वरूप हैं। गगनमण्डल रूप-रहित और निरवयव होता है। इसलिये यहाँ उसका उल्लेख नहीं हुआ है ॥४२॥

अब इन पीठों के वर्ण (रंग) बताये जा रहे हैं—

पीत, धूम्र, श्वेत तथा रक्त—ये क्रमशः इन चार पीठों के वर्ण (रंग) होते हैं ॥४३॥

पृथिवी, वायु, जल और तेज नामक तत्त्व क्रमशः पीत (पीला), धूम्र (मटमैला), श्वेत (सफेद) और रक्त (लाल) वर्ण वाले होते हैं, अतः इन तत्त्वों के प्रतिनिधि उक्त चार पीठों का भी वही रंग होता है। श्लोक के शब्दों का अर्थ स्पष्ट है। पृथिवी प्रभृति चार भूतों की चर्चा यहाँ तत्त्वों के क्रम से न होकर पीठों के क्रम के अनुसार है। पीठों का यह क्रम शास्त्रों में निश्चित है और प्रस्तुत प्रकरण पीठों से ही संबद्ध है ॥४३॥

इन पीठों में लिंगों की स्थिति इस तरह से है—

हे वरानने! उक्त पीठों में क्रमशः स्वयंभु, बाण, इतर और पर नामक लिंग स्थित हैं ॥४४॥

---

१. अपां–ग. उ.। २. नियतत्वात्–उ.।

लीनं बाह्येन्द्रियागोचरं चिद्रूपमर्थं गमयन्तीति लिङ्गानि। मनोऽहङ्कारबुद्धिचित्तात्मकानि कामरूपादीनि चित्स्फुरत्ताधारत्वात् पीठानि। एतेष्वन्तःकरणचतुष्टयरूपेषु तत्तद्वृत्तिचतुष्टयमयानि लिङ्गानि स्वयम्भ्वादीनि वसन्तीत्यर्थः। एतत्सर्वं सौभाग्यसुधोदये प्रपञ्चितम्। यथा—

पुनरेव कामपीठे तदग्रकोणस्थिते मनोरूपे।
प्रतिफलितं तज्ज्योतिः स्वयम्भुलिङ्गं समीरितं सद्भिः ॥५।६॥
दक्षिणकोणेऽहङ्कृतिरूपे जालन्धरे तु संक्रान्तम्।
परधाम बाणलिङ्गं[1] जातं संक्रान्त्युपाधिभेदवशात् ॥५।४॥
मध्यत्रिकोणकोणे वामे श्रीपूर्णपीठमेतस्मिन्।
बुद्धिमये परतेजः प्रतिफलितं त्वितरलिङ्गतां यातम् ॥५।२॥
चित्तमये श्रीपीठे ज्योतिर्बिन्दौ[2] यदस्य संक्रान्तम्।
प्रतिफलितं परधाम्नः परलिङ्गं तत् प्रकीर्त्यते प्राज्ञैः ॥४।१॥ इति॥४४॥

लीन अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के अविषय चित्स्वरूप अर्थ का बोध कराने वाला तत्त्व यहाँ लिंग नाम से कहा गया है। मन, अहंकार, बुद्धि और चित्त के प्रतिनिधि कामरूप प्रभृति को पीठ इसलिये कहा जाता है कि इन्हीं के सहारे चित् तत्त्व का स्फुरण होता है। इस तरह से इन चार अन्तःकरणों के प्रतिनिधि उक्त चार पीठों में इन अन्तःकरणों की चार वृत्तियों के समान स्वयंभू प्रभृति चार लिंगों की स्थिति मानी जाती है। इस विषय को दीपिकाकार ने अपने दूसरे ग्रन्थ [1]सौभाग्यसुधोदय में समझाया है—

उस त्रिकोण के अग्रभाग की सीधी रेखा मनोमय कामरूप पीठ का प्रतिनिधित्व करती है। इस स्थान पर परम प्रकाशमय महाबिन्दु का तेज जब पुनः प्रतिफलित होता है, तो उससे स्वयंभू लिंग का आविर्भाव होता है। त्रिकोण के अहंकारमय दक्षिण कोण में स्थित जालन्धर पीठ में जब यह तेज संक्रान्त होता है, तो वह उपाधि के भेद से भिन्न आकार ग्रहण कर बाण लिंग के नाम से जाना जाता है। इसी मध्यत्रिकोण के बुद्धिमय वाम कोण में स्थित पूर्णगिरि पीठ में जब यह परम प्रकाश प्रतिफलित होता है, तो वह इतर लिंग के रूप में अभिव्यक्त होता है। चित्तमय ओड्याण पीठ की स्थिति त्रिकोण

---

१. लिङ्गाज्जातं–ग. उ.। २. बिन्दोस्तदस्य–ग. ने. ज. झ. उ.।

1. यह ग्रन्थ भी नित्याषोडशिकार्णव के परिशिष्ट भाग (पृ० ३०६-३२१) में प्रकाशित हो चुका है। दीपिका के पूर्व संस्करणों में इन ग्रन्थ का नाम सौभाग्यसुभगोदय दिया गया है। यह ठीक नहीं है। भास्करराय ने ललितासहस्रनाम के अपने सौभाग्यभास्कर नामक भाष्य (पृ० १००, १२२, १२५), वरिवस्यारहस्य (पृ० ६८) तथा नित्याषोडशिकार्णवटीका सेतुबन्ध (पृ० २९१) में सौभाग्यसुधोदय के नाम से ही इसको उद्धृत किया है। योगिनीहृदय के क्रम के अनुसार यहाँ श्लोकों को उद्धृत किया गया है।

लिङ्गानां स्वरूपं पीतादिवर्णान् वैखरीवर्णांश्च विभज्याह—

हेमबन्धूककुसुमशरच्चन्द्रनिभानि तु ।
स्वरावृतं त्रिकूटं च महालिङ्गं स्वयम्भुवम् ॥४५॥
कादितान्ताक्षरवृतं बाणलिङ्गं त्रिकोणकम् ।
कदम्बगोलकाकारं थादिसान्ताक्षरावृतम् ॥४६॥
सूक्ष्मरूपं समस्तार्णवृतं परमलिङ्गकम् ।
बिन्दुरूपं परानन्दकन्दं नित्यपदोदितम् ॥४७॥

हेमनिभं पीतवर्णम्, त्रिकूटं बिन्दुत्रयकूटरूपम्, स्वरावृतम् अकारादिषोडशस्वरावृतं स्वयम्भुलिङ्गम् । बन्धूककुसुमनिभं रक्तवर्णं त्रिकोणरूपं कादितान्ता[1]क्षरवृतं बाणलिङ्गम् । शरच्चन्द्रनिभं श्वेतवर्णं कदम्बगोलकाकारं कदम्बकुसुमगोलकरूपं थादिसान्ताक्षरावृतम् इतरलिङ्गम् । परलिङ्गस्य परतेजोरूपत्वादवर्णत्वम् । अतः सूक्ष्मरूपमनिन्द्रियगोचरम् । अत एव बिन्दुरूपं समस्तार्णवृतम् आदिक्षान्तपञ्चाशदक्षरवृतं परलिङ्गं परानन्दकन्दं पराया अक्षररूपायाः पश्यन्त्यादिशाखावत्या लताया आनन्दमयं कन्दं नित्यपदोदितम्, नित्यत्वं च मातृ[1]काया उत्पत्तिविनाशरहितत्वात् । पदाद् विश्वमुमुक्षुमनःप्राप्यात्, उदितं प्रथमस्पन्दरूपतया ॥४५-४७॥

[2]एतानि सर्वाण्यपि बीजत्रितययुक्तायास्तुरीयविद्याया वाच्यरूपाणीत्याह—

बीजत्रितययुक्तस्य सकलस्य मनोः पुनः ।
एतानि वाच्यरूपाणि कुलकौलमयानि तु ॥४८॥

एतानि शक्तिचतुष्टयं मातृकाचतुष्टयं मध्यकोणचतुष्टयं पीठचतुष्टयं लिङ्गचतुष्टयं चेत्येतानि सर्वाणि बीजत्रितययुक्तस्य सकलस्य मनोर्वाग्भवकामराजशक्तिबीजसमेतायास्तत्समष्टिरूपायास्तुरीयविद्याया वाच्यरूपाणि । विद्या वाचिका, एतानि सर्वाणि वाच्यानि । अत एव तच्चतुष्टयरूपिणीयं विद्येत्यर्थः, वाच्यवाचकयोरभेदात् । कुलं मेयमानमातृलक्षणम्, कौलं तत्समष्टिः । तन्मयानीत्यर्थः ॥४८॥

के बीच में स्थित बिन्दु में मानी गई है । इस श्रीपीठ में विद्यमान ज्योतिर्बिन्दु में जब परप्रकाशमय तेज संक्रान्त होता है, तो उससे परलिंग की अभिव्यक्ति होती है ॥४४॥

अब इन लिंगों का स्वरूप, पीत आदि रंग और वैखरी वाणी के वर्णों की उनमें स्थिति बताई जा रही है—

सुवर्ण सदृश पीला रंग, बन्धूक पुष्प के सदृश लाल रंग और शरच्चन्द्र के समान सफेद रंग क्रमशः स्वयंभू, बाण और इतर लिंग का होता है । स्वयंभू नामक महालिंग तीन शिखरों जैसे आकार वाला और १६ स्वरों से घिरा हुआ है । बाण लिंग त्रिकोण सदृश आकार वाला और क से त पर्यन्त १६ अक्षरों से घिरा हुआ है । इतर लिंग कदम्ब के फल के सदृश गोल आकार वाला और थ से स पर्यन्त १६ अक्षरों से घिरा हुआ है । पर लिंग अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप वाला है, अतः बिन्दु से इसका बोध कराया जाता है । यह समस्त वर्णों से आवृत है । यह परमानन्द का सार तथा नित्य पद से उदित माना जाता है ॥४५-४७॥

सुवर्ण के समान चमक लिये हुए पीले रंग का, तीन बिन्दुओं से बने तीन शिखर सदृश आकृति वाला, अकार से अःकार पर्यन्त १६ स्वरों से घिरा हुआ है स्वयंभू लिंग । बन्धूक के पुष्प के समान लाल रंग का त्रिकोण सरीखो आकृति वाला क से त पर्यन्त १६ अक्षरों से घिरा हुआ है बाण लिंग । शरत्पूर्णिमा के चाँद के समान चटकीले सफेद रंग का, कदम्ब के फूल के समान गोल आकार वाला थ से स पर्यन्त १६ अक्षरों से आवृत है इतर लिंग । पर लिंग परम तेजस्वी है, अतः इसका कोई वर्ण नहीं होता । इसका आकार अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः इसका इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं हो सकता । इसीलिये इसको बिन्दुस्वरूप माना गया है । यह पर लिंग अकार से क्षकार पर्यन्त समस्त ५० वर्णों से आवृत है । यह पर लिंग परानन्दकन्द और नित्यपदोदित है, अर्थात् अक्षर स्वरूप परा वाणी और पश्यन्ती आदि शाखा वाली लता का यह आनन्दमय सार है । परा मातृका का स्वरूप उत्पत्ति और विनाश से रहित होने से नित्य कहलाता है । इस नित्य पद का साक्षात्कार विश्व से मुक्ति की कामना वाले योगी के मन में ही हो सकता है, अर्थात् ऐसे ही योगी के मन में इस पर लिंग का प्रथम स्पन्दन होता है ॥४५-४७॥

अब ऊपर बताये गये सभी प्रकार तीन बीजों वाली तुरीय (चतुर्थ) श्रीविद्या के ही वाच्य स्वरूप हैं, इस विषय को यहाँ समझाया जा रहा है—

ऊपर बताये गये शक्ति, मातृका आदि के चार-चार समस्त कुलकौलमय भेद तीन बीजों वाली और सकल स्वरूप वाली श्रीविद्या से ही बोधित होते हैं ॥४८॥

अभी ऊपर अम्बिका तथा शान्ता आदि चार शक्तियों का, परा आदि चार वाणियों का, मध्य बिन्दु और त्रिकोण को मिलाकर मध्यकोणचतुष्टय का, चार पीठ और चार लिंगों का वर्णन किया गया है । यह सब वाग्भव, कामराज और शक्ति बीज वाली तथा समष्टिरूपिणी सकलस्वरूपिणी तुरीया श्रीविद्या के वाच्य हैं । श्रीविद्या इनकी वाचिका और ये सब उसके द्वारा बोधित होते हैं । इस तरह से उक्त चारों रूपों में यह श्रीविद्या

---

१. क्षरा—ग. ने. ज. झ. उ. ।

१. कात्वात्—ख. झ. उ., कारूपत्वात्—ज. । २. 'एतानि' नास्ति—ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

अमूनि पूर्वोक्तानि सर्वाणि चतुरात्मकानि जाग्रदादिमयानीत्याह—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यतुर्यरूपाण्यमूनि तु ।

जाग्रद् जागरितं देहेन्द्रियव्यापारः, अन्तःकरणमात्रव्यवहारः स्वप्नः, सर्वेन्द्रियोपरतिः सुखतावन्मात्रपरामर्शः सुषुप्तिः, तुरीयं चैतन्यमात्रवृत्तिः[1] । अत्रैव वक्ष्यति—"वह्नौ देवि महाजाग्रदवस्था त्विन्द्रियद्वयैः" (३।१७७) इत्यादिना ।

पूर्वं चक्रस्य चतुरात्मतामुक्त्वा तन्मध्ये बैन्दवनिवासिन्याः स्वसंविदस्तदतीतरूपतामाह—

अतीतं तु परं तेजः स्वसंविदुदयात्मकम् ॥४९॥

अतीतं जागरितादिदशाचतुष्टयातीतम् । अत एव परं विश्वोत्तीर्णम्, विश्वोत्तरत्वात् । किञ्च, परमनुत्तरं प्रकाशरूपम् । अत्र श्रुतिः—"तदेव ज्योतिषां

ही विराजमान है, क्योंकि वाच्य और वाचक में भेद नहीं रहता । मेय, मान और माता स्वरूप यह जगत् कुल कहलाता है और इन तीनों की समष्टि कौल कहलाती है । इस तरह से कुलकौलमय यह सारा प्रपंच श्रीविद्या का ही विलास है ॥४८॥

ऊपर बताये गये चार संख्या वाले सभी पदार्थ जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं से युक्त हैं—

ये सब पदार्थ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य नाम की चार अवस्थाओं से युक्त हैं ॥

शरीर और इन्द्रियों का भी व्यापार जब चलता रहता है, तो इसे जाग्रदवस्था कहते हैं । स्वप्न दशा में केवल अन्तःकरण का व्यवहार चलता है । सुषुप्ति दशा में सभी इन्द्रियां विश्राम करती हैं, तब उस समय एक अनोखे सुख (आराम) की अनुभूति बची रहती है और तुरीय अवस्था में केवल चैतन्य बचा रहता है । इन चारों अवस्थाओं का स्वरूप यहीं आगे 'वह्नौ देवि' (३।१७७) इत्यादि श्लोकों के द्वारा बताया जायगा ।

इस तरह से चक्र की चार अवस्थाओं का वर्णन करने के उपरान्त अब मध्य बिन्दु में निवास करने वाली संवित्स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा के विषय में बताया जा रहा है कि वह स्वरूप इन सबसे ऊपर है—

यह परम प्रकाशमय सभी प्राणियों में अपनी संवित्ति के रूप में भासमान तत्त्व इन सभी दशाओं से अतीत है ॥४९॥

अतीत का अर्थ है जाग्रत् आदि चार दशाओं से ऊपर । इसी लिये इसको विश्वोत्तीर्ण (लोकोत्तर) तत्त्व कहते हैं । यह परम अनुत्तर प्रकाशस्वरूप है । मुण्डक उपनिषद् में

---

१. न्यात्मवृत्तिः—उ. ।

ज्योतिः" (मु० उ० २।२।९) इति । स्वसंविदुदयात्मकं सर्वप्राणिष्वात्मतया स्थितम् । तदुक्तं नवशतीशास्त्रे—"[1]अनन्तं परमं ज्योतिः सर्वप्राणिहृदि स्थितम्" इति ॥४९॥

चक्रस्य पुनर्वासनान्तरकथनाय विश्वातीतं वस्तु कथयित्वा वक्तव्यां वास नामाह—

स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखखचितं विश्वरूपकम् ।

विश्वमयोल्लेखः, विश्वं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकम्, तन्मयः उल्लेखः, उल्लिख्यत इति उल्लेखः चित्रम्, तेन स्वेच्छाविश्वमयोल्लेखेन खचितं व्याप्तं स्वेच्छातूलिकयाऽऽत्मभित्तौ [[2]मायाचित्रमुल्लिखतीत्यर्थः । तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—"स्वेच्छया स्वभित्तौ] विश्वमुन्मीलयति (प्र० हृ० २) इति । अत्र प्रमाणवचनं च—

जगच्चित्रं [3]समालिख्य [4]स्वेच्छातूलिकयाऽऽत्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति भगवान् शिवः ॥ इति ।

विश्वरूपकम् । अत एव शिवादिक्षित्यन्तरूपेण परिणतमित्यर्थः । यथा क्षीरं

इसको सभी प्रकाशों का प्रकाशक कहा गया है । यह तत्त्व सभी प्राणियों में अपनी आत्मा के रूप में भासित होता है । नवशती शास्त्र में बताया गया है—"यह अनन्त परम ज्योति सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान है" ॥४९॥

चक्र की भावना का दूसरा प्रकार बताने के लिये विश्वोत्तीर्ण तत्त्व का उपदेश करने के बाद अब उसकी भावना का प्रकार बताते हैं—

यह विश्वोत्तीर्ण तत्त्व अपनी इच्छा से अपने में विश्वमय चित्र का निर्माण कर विश्वमय हो जाता है ॥

यह ३६ तत्त्वों से बना जगत् ही विश्व कहलाता है । उल्लेख चित्र को कहते हैं । विश्वोत्तीर्ण तत्त्व अपनी इच्छा से विश्वमय चित्र का स्वरूप धारण कर लेता है, अपनी इच्छा रूपी तूलिका से स्वयं अपने को ही आधार बनाकर उसमें मायामय चित्र का निर्माण कर लेता है । प्रत्यभिज्ञाहृदय में भी बताया गया है—"चिति शक्ति अपनी इच्छा से स्वात्मस्वरूप भित्ति (दीवाल) पर विश्व का उन्मीलन (चित्रण) करती है" ॥ इस प्रसंग में एक प्रामाणिक व्यक्ति का वचन भी उपलब्ध है—

भगवान् शिव अपनी इच्छारूपी तूलिका से अपने में ही इस जगत् रूपी चित्र का निर्माण करते हैं और फिर उसको देखकर प्रसन्न भी होते हैं ॥

इस तरह से जगत् रूपी चित्र का निर्माण कर वह स्वयं उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों के रूप में परिणत हो जाते हैं । जैसे दूध दही के रूप

---

१. अनच्कं—ख. ग. ज. उक., अमनस्कं परं—उग. । २. कोष्ठान्तर्गतः पाठः कपुस्तकं विहाय क्वापि न दृश्यते । ३. समुल्लिख्य—ख. । ४. स्वात्म—ने. उ. ।

दध्याकारेण परिणमते, तथा चिच्छक्तिरेव विश्वाकारेण परिणमते। तदुक्तं [1]श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये—"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (सू० १) इति।

तेन किमायातं [2]परमशिवस्येत्यत आह—

चैतन्यमात्मनो रूपं निसर्गानन्दसुन्दरम् ॥५०॥

चैतन्यं चिद्विमर्शशक्तिः, आत्मनः प्रकाशात्मनः परशिवस्य, रूपं निसर्गानन्दसुन्दरं तत्सामरस्येन सहजानन्दोल्लासादखिलस्य स्पृहणीयम्। विमर्शशक्तिः प्रकाशात्मना परशिवेन सामरस्याद् विश्वं सृजति, न तु केवला। यथा न केवलेन तुषेणाङ्कुरो जायते, नापि तण्डुलेन, किन्तूभाभ्यामयुतसिद्धसंबन्धशालिभ्याम्। तदुक्तं [3]स्वच्छन्दसंग्रहे—"शिवाऽभिन्ना पराशक्तिः सर्वक्रमशरीरिणी" इति ॥५०॥

तदेवाह—

मेयमातृप्रमामानप्रसरैः संकुचत्प्रभम्।
शृङ्गाटरूपमापन्नमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् ॥५१॥

में परिणत होता है, उसी तरह से चिति शक्ति ही विश्व का आकार धारण कर लेती है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में बताया गया है—"चिति शक्ति स्वतन्त्र रूप में बिना किसी की सहायता से इस विश्व की रचना में समर्थ है" ॥

ऐसा करने से परमशिव का क्या बनता है ? इसका उत्तर देते हैं—

वह पर प्रकाशात्मक स्वरूप इस तरह से विमर्श शक्ति से संपन्न होकर सहज आनन्द की सृष्टि का कारण बनकर; सबके लिये स्पृहणीय हो जाता है ॥५०॥

चैतन्य पद यहाँ चितिस्वरूपा विमर्श शक्ति का बोध कराता है। आत्मा अर्थात् प्रकाशात्मक परशिव का स्वरूप उस विमर्श शक्ति के साथ समरस होकर सहज आनन्द की सृष्टि करता है और इस तरह से सबका स्पृहणीय बन जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि विमर्श शक्ति प्रकाशात्मक परशिव के साथ मिलकर विश्व की रचना करती है, अकेली नहीं। जैसे केवल तुष या तण्डुल (चाँवल) से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु जब दोनों अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हैं, तभी उनसे अंकुर निकलता है, उसी तरह से केवल शिव या शक्ति से जगत् की सृष्टि नहीं होती, किन्तु दोनों मिलकर ही सृष्टि कर सकते हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है —"शिव से अभिन्न रूप में विद्यमान परा शक्ति क्रमशः सारे विश्व का शरीर धारण करती है" ॥५०॥

आगे इसी क्रम को बताया गया है—

संवित्ति जब मेय, माता, प्रमा और प्रमाण के रूप में फैलती है, तो उसकी प्रभा संकुचित हो जाती है और वह इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक शृंगाट का स्वरूप धारण कर लेती है ॥ ५१ ॥

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञायामिति परिदृश्यमानः पाठोऽनुचितः। २. देवस्ये–ख. ग. ने. ज. झ. ब. उ.। ३. महास्वच्छन्द–ख. ग. ने. ज. झ. उ.।

मेयं प्रमेयम्। प्रमाविषयः सम्यगनुभवः प्रमा। तद्वान् प्रमाता। प्रमाकरणं प्रमाणम्। तदुक्तं तन्त्रान्तरे—

मितिः सम्यक्परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते ॥ (कु० का० ४।५) इति।

निर्विकल्परूपायाः स्वसंविदो मातृमेयप्रमाणप्रमारूपेण विकल्पात्मना प्रसर एव संकोचः। शिवस्य प्रकाशात्मनो [1]दीपस्य शक्तिर्विमर्शाख्यैव प्रभा। सा[2] निर्विकल्पात्मना विश्वाकारा मेयमातृप्रमाप्रमाणभेदैः संकुचद्रूपा, तदा[3] शिवोऽपि संकुचद्रूपः। एतदुभयमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् इच्छादिवामादिशक्त्यंशभेदभिन्नं शृङ्गाटरूपमापन्नं त्रिकोणरूपेण परिणतम् ॥५१॥

पूर्वं "बीजत्रितययुक्तस्य सकलस्य मनोः पुनः" (१।४८) इत्यत्र कामकलादिकाया विद्यायाः श्रीचक्रहेतुभूतत्रिकोणमयपीठादिचतुर्मयतामुक्त्वेदानीं देवताया

मेय प्रमेय को कहते हैं। विषय की सम्यक् प्रतीति प्रमा कहलाती है। इस सम्यक् प्रतीति से जो युक्त है, उसे प्रमाता और प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं। कुसुमाञ्जलिकारिका में इनके लक्षण बताये गये हैं—

न्याय मत में सम्यक् परिच्छित्ति (ज्ञान) को मिति (प्रमा) कहते हैं। यह सम्यक् ज्ञान जिसको होता है, वह प्रमाता कहलाता है और प्रमा के साथ निरन्तर संयोग का ही नाम यहां [1]प्रामाण्य है।

निर्विकल्पात्मक स्वात्मसंवित्ति जब विकल्पात्मक माता, मेय, प्रमा और प्रमाण के रूप में फैलती है, तो उसका स्वरूप संकुचित हो जाता है। प्रकाशात्मक शिव दीपक है, तो विमर्श शक्ति उसकी प्रभा है। निर्विकल्पक स्वरूप में वह विश्वस्वरूप है, किन्तु वह विमर्श शक्ति जब मेय, माता, प्रमा, प्रमाण रूप विकल्पों का स्वरूप धारण कर अपने स्वरूप को संकुचित कर लेती है, परिमित कर लेती है, तो शिव भी परिमित प्रमाता बन जाते हैं। तब शिव और शक्ति दोनों इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक और वामा-ज्येष्ठा-रौद्र्यात्मक शक्तियों का स्वरूप धारण कर त्रिकोण के आकार में परिणत हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

"बीजत्रितय" (१।४८) इत्यादि श्लोक में यह बताया गया है कि कामकला स्वरूप श्रीविद्या ही श्रीचक्र को निष्पत्ति में कारणभूत त्रिकोणमय पीठचतुष्टय आदि के रूप

---

१. जीवस्य–ख. ग. ने. झ. उ.। २. सा तु निर्विकारा–ने. ज. झ. उ.। ३. तथा–ख. ग. ने. ज. झ. उ.।

1. न्याय मत में ज्ञान का प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः गृहीत होते हैं। ज्ञान की संवादकता के आधार पर प्रामाण्य का तथा विसंवादिता के आधार पर उसके अप्रामाण्य का निश्चय अनुमान प्रमाण द्वारा किया जाता है। इसी अभिप्राय से यहां प्रमा के साथ निरन्तर संयोग, अर्थात् संवादकता की बात कही गई है।

अपि तन्मयताभावना[1]मुक्तवानिति भावः । तदेव विवृणोति "विश्वाकारप्रथाधार" इत्यादि, "[2]तदीयशक्तिनिकरस्फुरदूर्मिसमावृतम्" इत्यन्तेन (श्लो० ५२-५५)—

विश्वाकारप्रथाधारनिजरूपशिवाश्रयम् ।
कामेश्वराङ्कपर्यङ्कनिविष्टमतिसुन्दरम् ॥५२॥

विश्वाकारप्रथा षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मना परिणता विमर्शशक्तिः, तस्या आधारः, निजं रूपं तात्त्विकं रूपम्, शिवः प्रकाशात्मकः, स एवाश्रय आधारो यस्य तद्विश्वाकारप्रथाधारनिजरूपशिवाश्रयं परं तेजः । कामेश्वराङ्कपर्यङ्कनिविष्टम् । कामेश्वरः प्रकाशात्मकः शिवः, तस्याङ्कपर्यङ्के निविष्टं विमर्शशक्तिरूपम् । अतिसुन्दरम् अत्यन्तसुभगम्, सर्वैः स्वस्वात्मतया स्पृहणीयत्वात् ॥५२॥

इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम् ।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी दधदुज्ज्वलम् ॥५३॥

में परिणत होती है । अब यह बताया जा रहा है कि श्रीचक्रनिवासिनी देवता भी तन्मय ही है । आगे के (१।५२-५५) श्लोकों में यही विषय प्रतिपादित है —

विमर्श शक्ति विश्व का आकार ग्रहण करती है, किन्तु उसका अपना स्वरूप तो प्रकाशात्मक शिव में स्थित है । कामेश्वर के अंक रूपी पर्यंक में विश्राम करने वाला विमर्श शक्ति का यह स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है ॥५२॥

विश्वाकार प्रथा का अर्थ है ३६ तत्त्वों के रूप में परिणत हुई विमर्श शक्ति । इस शक्ति का आधार और उसका वास्तविक स्वरूप प्रकाशात्मक शिव ही है, अर्थात् ऊपर के श्लोक में वर्णित शिवरूपी दीपक की इस विमर्श शक्ति रूप प्रभा का आधार शिव ही है । इस प्रकार विमर्श शक्ति प्रकाशात्मक शिव में अभिन्न रूप में विराजमान है । भगवान् कामेश्वर प्रकाशात्मक शिव की गोद में विराजमान इस विमर्श शक्ति का स्वरूप अत्यन्त सुन्दर है, सभी के लिये स्पृहणीय है । इसका भाव यह है कि प्रत्येक प्राणी यही चाहता है कि मेरा स्वरूप भी ऐसा ही हो जाय ॥५२॥

इच्छाशक्तिमय पाश, ज्ञानरूपी अंकुश और क्रियाशक्तिमय बाण-धनुष को धारण करने से कामेश्वर और कामेश्वरी के इस युगल-स्वरूप की शोभा और भी बढ़ गई है ॥५३॥

---

१. 'उक्तवानिति भावः । तदेव' इत्येतानि पदान्यनावश्यकानि । २. 'तदीयशक्तिनिकर' नास्ति–ने. ज. झ. उ. ।

इच्छाशक्तिरेव पाशः, बन्धहेतुत्वात् । ज्ञानशक्तिरेव अङ्कुशः, मनोमयगजस्य नियामकत्वात् । क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी, "शब्दस्पर्शादयो बाणा मनस्तस्याभवद्धनुः" इति वचनात् शब्दादिबाणानां मनसा धनुषा सह[1] संयोजनं क्रियाशक्तेरेव व्यापारः । अत्र इच्छाशक्तिमयं पाशम्, ज्ञानशक्तिमयमङ्कुशम्, क्रियाशक्तिमये बाणधनुषी—एवमायुधचतुष्टयं स्वेच्छागृहीतकामकलामयविग्रहबाहुचतुष्टयेन दधदुज्ज्वलम्, चिदात्मकत्वात् ॥५३॥

आश्रयाश्रयिभेदेन अष्टधाभिन्नहेतिमत् ।

आश्रयः कामेश्वरः, आश्रयि कामेश्वर्याख्यं परं तेजः । एवमाश्रयाश्रयिभेदेन अष्टधाभिन्नहेतिमत् । हेतिरायुधम्, आश्रयस्य चत्वार्यायुधानि आश्रयिणश्चत्वारि

इच्छा शक्ति बन्धन का कारण होती है, अतः पाश इच्छा शक्ति का प्रतीक है । ज्ञान शक्ति अंकुश है, क्योंकि मन रूपी मतवाले हाथी को ज्ञान रूपी अंकुश से ही वश में रखा जा सकता है । बाण और धनुष क्रिया शक्ति के प्रतीक हैं । [1]शास्त्रवचन के अनुसार "शब्द, स्पर्श आदि विषय बाण और मन धनुष होता है" । शब्द, स्पर्श आदि विषय रूपी बाण को मन रूपी धनुष पर चढ़ा देने का कार्य क्रिया शक्ति का ही व्यापार है । इस तरह से इच्छाशक्तिमय पाश, ज्ञानशक्तिमय अंकुश, क्रियाशक्तिमय बाण और धनुष— इन चार आयुधों को यह कामेश्वर-कामेश्वरी का युगल स्वरूप अपनी इच्छा से कामकला का शरीर ग्रहण कर अपने चार बाहुओं में धारण करता है और इस तरह से उनका यह चिदात्मक स्वरूप अति उज्ज्वल हो जाता है ॥५३॥

कामेश्वर-कामेश्वरी का यह युगल स्वरूप आश्रय और आश्रयी के भेद से आठ आयुध वाला होता है ॥

यहां आश्रय कामेश्वर और आश्रयी कामेश्वरी नामक परम तेज है । इस तरह से आश्रय और आश्रयी के भेद से यह युगलस्वरूप आठ आयुध वाला बन जाता है । हेति

---

१. 'सह' नास्ति–झ. उ. ।

1. नित्याषोडशिकार्णव की अपनी व्याख्या सेतुबन्ध में भास्करराय ने पंचम पटल में कुछ अधिक श्लोकों का समावेश किया है, जो कि वामकेश्वरीमत, ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली आदि में व्याख्यात नहीं हैं । प्राचीन हस्तलेखों में भी ये श्लोक नहीं मिलते । अमृतानन्द ने दीपिका व्याख्या में नित्याषोडशिकार्णव के वचनों को सर्वत्र चतुःशती के नाम से उद्धृत किया है । यहाँ उसने चतुःशती शास्त्र का उल्लेख नहीं किया । स्पष्ट है कि अमृतानन्द भी इसको चतुःशतीशास्त्र का वचन नहीं मानते । भास्करराय द्वारा व्याख्यात अन्य वचनों को भी वे अभियुक्तवचन या प्रामाणिक वचन कहकर उद्धृत करते हैं । हमारी समझ में ये वचन संकेतपद्धति जैसे किसी ग्रन्थ के होने चाहिये ।

चेत्यष्टधाभिन्नहेतिमत् । कोऽर्थः[१] ? परशिव एव प्रकाशविमर्शात्मना[२] निजावंशौ विभज्य कामेश्वरः कामेश्वरीति भूत्वा पाशाङ्कुशधनुश्शरान् पुंस्त्रीभेदेनाष्टौ धृत्वाऽऽश्रयाश्रयिभावेन स्वरमयमध्यत्रिकोणमध्यगतसदाशिवाख्यबैन्दवचक्रे तुरीयबिन्दुमये परलिङ्गे निवसतीत्यर्थः ।

इदमेव मिथुनं नवधा [३]विभज्यात्मानं नवचक्रेषु स्थितमित्याह—

अष्टारचक्रसंरूढं नवचक्रासनस्थितम् ॥५४॥

पूर्वोक्तक्रमेण तदेव वामादीच्छा[४]दिशक्तिमयं त्रिकोणमेव त्रिधा विभिन्नं द्विशक्त्येकवह्निभेदेनाष्टारचक्रमभूत् । पुनस्तदेव[५] त्रिपदं वह्निशक्तिरूपं च भूत्वा नवचक्रमभूत् । एवंरूपं श्रीचक्रं स्वयमेवाष्टारचक्रम्,

---

शब्द आयुध (शस्त्र) का वाचक है । आश्रय कामेश्वर के चार और आश्रयी कामेश्वरी के चार—इस तरह से आठ आयुधों से यह स्वरूप शोभित है । इसका अभिप्राय यह है कि परम शिव ही प्रकाश और विमर्श के रूप में विभक्त होकर कामेश्वर और कामेश्वरी युगल का स्वरूप धारण कर लेता है और तब आश्रय तथा आश्रयी के भेद से, स्त्री और पुरुष के भेद से पाश, अंकुश, बाण और धनुष नामक आयुधों को अलग अलग धारण करके स्वरों से सुशोभित त्रिकोण चक्र के मध्य में विद्यमान सदाशिव रूपी बैन्दव चक्र में, जो कि तुरीय बिन्दुमय स्थान है और जिसमें परलिंग का भी निवास है, विराजमान हो जाता है ।

यही मिथुन स्वरूप नवधा विभक्त होकर नौ चक्रों में स्थित है—

त्रिकोण और अष्टार के क्रम से यही युगल स्वरूप क्रमशः नवचक्ररूपी आसन पर आरूढ हो जाता है ॥ ५४ ॥

पहले (१।१२-१४) बताया जा चुका है कि वामा आदि और इच्छा आदि तीन-तीन शक्तियों का प्रतीक त्रिकोण चक्र ही दो शक्ति और एक वह्नि के रूप में परिणत होकर अष्टार चक्र बन जाता है । तीन त्रिकोण वाला यह अष्टार चक्र ही पुनः वह्नि और शक्ति त्रिकोणों के विस्तार से नौ चक्रों का स्वरूप धारण कर लेता है । इस प्रकार श्रीचक्रमय आठ आयुधों को धारण करने वाला यह कामेश्वर-कामेश्वरी युगल-स्वरूप ही अष्टार चक्र में आरूढ हो जाता है ।

---

१. 'कोऽर्थः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. त्मकौ–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. प्रवि–ने. । ४. च्छादिमयं–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. तदेव शक्तिरूपं–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

चितिश्चित्तं[१] च चैतन्यं चेतनाद्वयकर्म[२] च ।
जीवः कला [३]शरीरं च सूक्ष्मं पुर्यष्टकं मतम् ॥

इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या निजं सूक्ष्मं पुर्यष्टकं विभज्याष्टारचक्रं वशिन्यादिक्रमेण संरूढमित्यर्थः । नवचक्रासनस्थितम् एवंरूपं मिथुनमेव निजाधारनवकं नवचक्रत्वेन विभज्य निजनादशक्तिनवकं नवचक्रेश्वरीरूपेण संपाद्य,

इच्छादिशक्तित्रितयं पशोः सत्त्वादिसंज्ञकम् ।
[४]महत्त्र्यस्रं चिन्तयामि गुरुवक्त्रादनुत्तरात्[५] ॥१८॥
अष्टारांशप्रदेशोऽयं[६] चिन्निर्याणेषु[७] सादिकम्[८] ।
सूक्ष्मं पुर्यष्टकं देव्या मतिरेषा हि गौरवी ॥१७॥

चिति, चित्त, चैतन्य, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, जीव, कला और शरीर—इन आठ तत्त्वों को सूक्ष्म पुर्यष्टक माना जाता है ॥

स्वच्छन्दसंग्रह के इस वचन के अनुसार यह कामेश्वर-कामेश्वरी युगल अपने सूक्ष्म पुर्यष्टकमय शरीर को विभक्त कर इस अष्टार चक्र में वशिनी प्रभृति आठ देवियों के रूप में विराजमान हो जाता है । यही युगल स्वरूप अपने नौ आधारों को नौ चक्रों के रूप में विभक्त कर अपनी नौ नाद शक्तियों को नौ चक्रेश्वरियों का स्वरूप प्रदान कर देता है । शिवानन्द की [1]सुभगोदयवासना में यह स्थिति इस तरह से वर्णित है—

पशु (अज्ञ जीव) की इच्छा आदि तीन शक्तियां ही सत्त्व, रज और तमोगुण हैं । गुरु के मुख से उपदिष्ट पद्धति से मैं इसी रूप में महात्र्यश्र (मूल त्रिकोण) की भावना करता हूँ । [2]चिच्छक्ति के निर्गमन का प्रथम कारण देवी का सूक्ष्म पुर्यष्टकमय शरीर ही

---

१. श्चैत्यं–ग. ज. उ. । २. ह्वयमेव च–ग. झ. उ., द्वयमेव च–चि. । ३. च देवेशि–क. ख. ने. । ४. महा–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. दनन्तरम्–ग. उ. । ६. रकप्रदेशो–ग. । ७. चिन्निर्वाणैषणादिकम्–मु., विनि–ने. ज. झ. उ., वत्–ग. ब. उ. । ८. चि. पाठोऽत्र स्थापितः ।

1. यह ग्रन्थ भी नित्याषोडशिकार्णव के परिशिष्ट भाग (पृ० २९७-३०३) में प्रकाशित हो चुका है । दीपिकाकार ने योगिनीहृदय के सृष्टिक्रम को ध्यान में रखकर वहां के श्लोकों का क्रम बदल दिया है । शिवानन्द ने अपने ग्रन्थ में संहार क्रम से श्रीचक्र की वासना बताई है ।

2. श्रीचक्र की सर्वतत्त्वात्मकता के प्रतिपादक इस प्रकरण पर उपोद्घात में विस्तार से विचार किया जायगा ।

अन्तर्दशारवसुधा ज्ञानकर्मेन्द्रियावलिः ।
महात्रिपुरसुन्दर्या इति संचिन्तयाम्यहम् ॥१६॥
बाह्यो दशारभागोऽयं बुद्धिकर्माक्षगोचरः ॥१५॥
चतुर्दशारवसुधा[1] करणानि चतुर्दश ॥१४॥
वसुच्छदनपद्माङ्कदेशो यश्चक्रगो विभुः ।
अव्यक्ताद्याः प्रकृतयो भूतान्ता निश्चिनोम्यहम् ॥१३॥
षोडशच्छदपद्माङ्कदेशो[2] भूताक्षमानसम् ।
विकारात्मकतापन्नं देव्या संभावयाम्यहम् ॥१२॥

इति[3] सुभगोदयवासनोक्तरीत्या बैन्दवादिचतुरस्रान्तेषु नवचक्रेष्वासनभूतेष्विन्द्रियादिरूपेण स्थितमित्यर्थः ॥५४॥

एवंरूपं परं तेजः श्रीचक्रवपुषा स्थितम् ।

एवंरूपम् उक्तप्रकारेण विभक्तनिजेच्छादिषोडशविकारान्तावयवमयत्रिकोणादिचतुरस्रान्त[4]श्रीचक्र[5]वपुषा स्थितमित्यर्थः ।

अष्टार चक्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया है, यह ज्ञान भी हमें अपने गुरु से ही मिलता है । अन्तर्दशार का आधार महात्रिपुरसुन्दरी के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से बना है, ऐसी मैं भावना करता हूँ । इस चक्र का बाह्य दशार भाग ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के विषयों का परिणाम है । चतुर्दशार चक्र का आधार चौदह इन्द्रियाँ हैं । चक्र में जो आठ दल वाला पद्म है, वह अव्यक्त, महत्, अहंकार और पंचतन्मात्रा रूप आठ प्रकृतियों का परिणाम है, ऐसा मैं निश्चय करता हूँ । इस चक्र का षोडश दल पद्म वाला प्रदेश देवी से आविर्भूत १६ विकारों (पाँच महाभूत और मन सहित एकादश इन्द्रिय) का प्रतिनिधि है, ऐसी मैं भावना करता हूँ '।

इसका अभिप्राय यह है कि बैन्दव से लेकर चतुरस्र पर्यन्त नौ चक्रों में, जो कि देवी के निवास के स्थान हैं, इन्द्रिय आदि ऊपर बताये गये विभिन्न रूपों में स्वयं देवी ही अवतरित होती है ॥५४॥

इस तरह से यह परम तेज ही श्रीचक्र का स्वरूप धारण कर विद्यमान है ॥

ऊपर बताई गई पद्धति से इच्छा शक्ति से लेकर षोडश विकार पर्यन्त विविध अवयवों (स्वरूपों) को धारण कर प्रकाशविमर्शात्मिक यह परम तेजस्वी युगल स्वरूप ही त्रिकोण से लेकर चतुरस्र पर्यन्त श्रीचक्र का शरीर धारण कर लेता है ॥

---

१. धरणी–मु. । २. पद्मोऽयं भागो–मु. । ३. इत्यादि–ने. ग. उ. । ४. इतः परम्–'पीठवपुषा स्थितमित्यत्र चतुरस्रान्त' इत्यधिकं–ने. । ५. श्रीपीठ–ग. उ. ।

इत्थं तस्मिन् मिथुने श्रीचक्रवपुषा परिणते सति तदीया[1]वयवशक्तय एवावरणदेवतारूपेण स्थिता[2]इत्याह—

तदीयशक्तिनिकरस्फुरदूर्मिसमावृतम् ॥५५॥

तयोः कामेश्वरकामेश्वर्योरिवावयवास्तदीयावयवाः, तेषां शक्तयः, तासां निकराः समूहाः, ते च स्फुरन्त एवोर्मयस्तरङ्गाः, तैः समावृतम् । कोऽर्थः ? प्रकाशविमर्शमयकामेश्वरकामेश्वरीस्वेच्छागृहीतविग्रहावयवेषु [3]चक्रावयवतामुपगतेषु तदवयवशक्तयोऽपि कामेश्वरी-वज्रेश्वरी-भगमालिन्याद्यावरण[4]देवतारूपेण परिवार्य तिष्ठन्तीत्यर्थः[5] । ऊर्मिशब्देनेदं द्योत्यते—प्रकाशात्मकः परमेश्वरः समुद्रः, विमर्शरूपिणी कामेश्वरी सलिलम्, तदीयावयवाः शक्तिनिकरा ऊर्मयः । यथा

इस तरह से उस कामेश्वर-कामेश्वरी मिथुन के श्रीचक्र का स्वरूप धारण कर लेने पर उसके अवयवों में विद्यमान शक्तियाँ ही आवरण देवताओं का स्वरूप धारण कर लेती हैं । यही विषय आगे वर्णित है—

उस मिथुन को अवयव शक्तियों का समूह समुद्र से उठी हुई तरंगों के समान उसको घेर लेता है ॥५५॥

कामेश्वर और कामेश्वरी के विभिन्न अवयवों से उत्पन्न शक्तियों का समूह समुद्र से उठी हुई तरंगों के समान उस युगल स्वरूप को चारों तरफ से घेर लेता है । इसका अभिप्राय यह है कि प्रकाशविमर्शस्वरूप कामेश्वर-कामेश्वरी युगल अपनी इच्छा से जो शरीर धारण करता है, उस शरीर के विभिन्न अवयव ही चक्र के अवयवों का स्वरूप धारण कर लेते हैं और इस तरह से उसकी इच्छा प्रभृति अवयव शक्तियाँ ही कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी आदि [1]आवरण देवताओं के रूप में उसको घेर लेती हैं । यहाँ ऊर्मि शब्द विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । तदनुसार यह प्रकाशात्मक परमेश्वर समुद्रस्थानीय है । विमर्शस्वरूपिणी कामेश्वरी जल का प्रतिनिधित्व करती है । उसकी अवयवशक्तियों का समूह लहरों का बोध कराती हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जैसे लहरियाँ समुद्र में उठती हैं और उसी में लीन भी हो जाती हैं, उसी तरह से ३६

---

१. या अव–ने. झ. उ. । २. इत्यर्थः–ग. ने. उ. । ३. 'चक्रा···गतेषु' नास्ति–ख. ने. ज. झ. । ४. रणं परिवार्य–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. इतः परम्–'एवमूर्मयस्तरङ्गास्तैः समावृतं परिवृतम् । कोऽर्थः–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. नित्याषोडशिकार्णव (१।१५३-१८२) में मध्यबिन्दुनिवासिनी भगवती त्रिपुरसुन्दरी (मुख्य देवता) और चतुरस्र आदि चक्रों की अधिष्ठात्री आवरण देवताओं का संहारक्रम से वर्णन किया गया है । इस विषय पर आगे (२।५७) विचार किया जायगा ।

कल्लोलाः समुद्रे जायन्ते तत्रैव लीयन्ते, एवं[1] षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं सशक्तिकं चक्रं तत्रैवोदेत्यस्तमेति चेति तात्पर्यम् । तत्राभियुक्तवचनम्—

मूलोद्भवं शक्तिचक्रं यतस्तन्मयतां गतम् ।
तस्मिन्नेवाव्यये तत्त्वे विलीनं [2]परिभावयेत् ॥
[3]मूलं स्वात्मनि चिद्रूपे यजेद् यत्तत् तदेव हि । इति ॥५५॥
(सु० ६७-६८)

सर्वचक्रवासनामुक्त्वा तेषु सवासनं मुद्राभेदमाह "चिदात्मभित्तौ" इत्यादिना "एवं चक्रमयम्" इत्यन्तेन (श्लो० ५६-७१)—

चिदात्मभित्तौ विश्वस्य प्रकाशामर्शने यदा ।
करोति स्वेच्छया पूर्णविचिकीर्षासमन्विता ॥५६॥

तत्त्वों का प्रतिनिधि यह समस्त शक्तिचक्र युगल स्वरूप से ही निकलता है और उसी में लीन भी हो जाता है, शिवानन्द मुनि ने भी सुभगोदय में इसी विषय का वर्णन किया है—

[1]मूल स्वरूप (भगवती त्रिपुरसुन्दरी) से उत्पन्न हुआ शक्तिचक्र अब पुनः तन्मय हो गया है, उसी अव्यय तत्त्व में लीन हो गया है, ऐसी भावना करनी चाहिये । उस मूल स्वरूप की भी चिद्रूप स्वात्मा में ही उपासना करनी चाहिये, क्योंकि इष्ट देवता की जिन पत्र-पुष्प आदि से पूजा की जाती है, वे सब चिद्रूप स्वात्मा से भिन्न नहीं हैं ॥५५॥

सभी चक्रों की भावना का प्रकार इस प्रकार उपदिष्ट हुआ, अब आगे (१।५६-७१) के श्लोकों में विभिन्न मुद्राओं का और उनकी भावना का प्रकार बताया जा रहा है—

चित्-शक्ति स्वात्मस्वरूप भित्ति में जब स्वेच्छा से विश्व की रचना के लिये परिपूर्ण इच्छा शक्ति से संपन्न हो प्रकाश और विमर्श का सहारा लेती है, उस

---

१. एवं तत्त्वमयं शक्तिचक्रं-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. तद्विभा-मु. । ३. मूले-क. ग. झ. उ. ।

1. सुभगोदय में शिवानन्द ने श्रीचक्र की पूजाविधि का संक्षेप में वर्णन किया है । वहाँ विसर्जन की विधि का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि मूलस्वरूप (त्रिपुरसुन्दरी) से ही शक्तिचक्र, अर्थात् आवरण देवताओं का आविर्भाव होता है, अतः विसर्जन के समय ऐसी भावना करनी चाहिये कि वे सभी आवरण देवता मूल स्वरूप में पुनः विलीन हो गये हैं । किं बहुना, वह मूलस्वरूप भी स्वात्मचिद्रूप में लीन हो गया है । विसर्जन का यही आध्यात्मिक स्वरूप त्रिपुरा सम्प्रदाय में मान्य है ।

क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात् तथा ।
मुद्राख्या

चिद् विमर्शशक्तिः । आत्मभित्तौ आत्मैव भित्तिरात्मभित्तिस्तस्याम्[1], स्वस्वरूपमेव भित्तिरित्यर्थः । विश्वस्य शिवादेर्भूम्यन्तस्य । प्रकाशामर्शने । अस्फुटस्य स्फुटीकारः प्रकाशः, इदन्तया हृदयङ्गमीभावो विमर्श [2]एवामर्शनम् । एवंविधे प्रकाशामर्शने, यदा सृष्टिकाले, पूर्णविचिकीर्षासमन्विता, विशेषेण कर्तुमिच्छा विचिकीर्षा । विकारः क्षीरादीनामप्यस्ति, आतञ्चनादिना[3] । अत एवाह—पूर्णविचिकीर्षासमन्वितेति । तत्र[4] तु क्षीरादेर्दध्यादिमात्रमेव विकारः, अत्र तु शिवादिक्षित्यन्तं तत्त्वाकारेण विकारः । अत एव पूर्णविचिकीर्षासमन्विता । क्रियाशक्तिस्तु क्रियाशक्तिरेव भूत्वा । तुरवधारणे । एवंविधस्य विश्वस्य मोदनाद् द्रावणाच्च । अत्र त्वनुकूलक्रियैव मोदनम् । द्रावणं नाम तदेकरसीभावः । [5]संविद् मुद्राख्यां लभते । अयमर्थः—यदा विमर्शशक्तिर्विश्वरूपेण [6]विहर्तुमिच्छति, तदा क्रिया-

---

समय उसकी क्रिया शक्ति विश्व के मोदन और द्रावण व्यापार में प्रवृत्त हो मुद्रा का स्वरूप धारण कर लेती है ॥५६-५७॥

चित्स्वरूपिणी विमर्श शक्ति अपने स्वरूप को ही भित्ति बना कर उसमें शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सारे जगत् का प्रकाश और आमर्शन करती है । यहाँ अस्पष्ट वस्तु को स्पष्ट कर देना प्रकाश शब्द का और उस स्पष्ट वस्तु को 'इदं' (यह) रूप से ग्रहण करना आमर्शन शब्द का अर्थ है । सृष्टि करते समय यह चित्-शक्ति विचिकीर्षा से परिपूर्ण हो जाती है । विचिकीर्षा शब्द का अर्थ है अपने को पूरी तरह से बदल डालने की इच्छा । आतंचन (जामन) आदि देने से दूध आदि में भी विकार आ जाता है । वहाँ दूध ही दही के रूप में बदल जाता है । यहाँ तो चित्-शक्ति का शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त परिणाम चेतन ही नहीं, जड़ रूप में भी हो जाता है । इसी अर्थ को बताने के लिये यहाँ 'पूर्णविचिकीर्षा' शब्द का प्रयोग किया गया है । चित्-शक्ति का जब इस तरह से परिणाम होने लगता है, उस समय उसकी क्रिया-शक्ति ही इस परिणत विश्व के मोदन और द्रावण में लग जाती है । अनुकूल कार्य का सम्पादन मोदन और उसमें तन्मयता द्रावण शब्द का अर्थ है । इस तरह से मोदन और द्रावण व्यापार में लगी क्रिया शक्ति ही 'मुद्रा' नाम से जानी जाती है । इसका अभिप्राय यह है कि जब विमर्श शक्ति विश्व का स्वरूप धारण कर विहार करना चाहती है, तब पहले वह क्रिया शक्ति बन जाती है और

---

१. 'तस्याम्' नास्ति-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. 'एवामर्शनम्' नास्ति-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. दीनाम्-क. ख. ग. ने. । ४. 'तत्र तु' नास्ति-ख. ग. ज. झ. उ. । ५. 'संविद्' नास्ति-क. । ६. विकर्तुं-ग. ने. ज. झ. उ. ।

शक्तिर्भूत्वा स्वविकारभूतस्य विश्वस्य परचिदानन्दलक्षणेन मोदनेन तदैकरस्यलक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः ॥५६-५७॥

तत्रादौ व्यापिकां त्रिखण्डामुद्रामाह—

सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी ॥५७॥

त्रिखण्डारूपमापन्ना सदा संनिधिकारिणी ।

सर्वस्य चक्रराजस्य व्यापिका परिकीर्तिता ॥५८॥

सा विमर्शरूपिणी संवित्, [1]त्रिकलामयी वामाज्येष्ठारौद्रीरूपकलात्रयसमष्टिरूपा अम्बिका [2]भूत्वा, अम्बिकाग्रहणं [3]शान्ताया अप्युपलक्षणम् । [4]इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपकलात्रयसमष्टिरूपा शान्तात्मिकाऽपि भूत्वेत्यर्थः । त्रिखण्डारूपमापन्ना । दक्षिणाङ्गुलयो वामाद्याः प्रकाशांशाः वामाङ्गुलय इच्छाद्या विमर्शांशाः । तदुभयसंयोगरूपबन्धनात्मकखण्डत्रयवती त्रिखण्डा मुद्रा जातेत्यर्थः । सदा

तब अपने ही परिणाम स्वरूप विश्व को परम चिदानन्द के अंशभूत लौकिक आनन्द से परिपूर्ण कर उसको परम चिदानन्द की तरफ बहा ले जाने का उपक्रम करने के लिये मुद्रा का रूप धारण कर लेती है ॥५६-५७॥

सबसे पहले व्यापिका त्रिखण्डा मुद्रा का वर्णन करते हैं—

यह विमर्शरूपिणी संवित् पहले तीन कलाओं वाली अम्बिका शक्ति का और तब त्रिखण्डा मुद्रा का स्वरूप धारण कर लेती है। यह मुद्रा भगवती त्रिपुरा के पास पहुँचाने वाली है। श्रीचक्र के सभी अवयवों में व्याप्त रहने से इसको व्यापिका भी कहा जाता है ॥५७-५८॥

वह विमर्शरूपिणी संवित् पहले वामा, ज्येष्ठा और रौद्री स्वरूप तीन कलाओं वाली समष्टिस्वरूपिणी अम्बिका शक्ति का रूप धारण करती है। यहाँ अम्बिका शक्ति शान्ता शक्ति का भी बोध कराती है, क्योंकि शान्ता शक्ति भी इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक तीन कलाओं का समष्टि स्वरूप है। इस तरह से संवित् तीन कलाओं वाली अम्बिका और शान्ता शक्ति का प्रातिनिध्य सी करती हुई त्रिखण्डा मुद्रा का स्वरूप धारण कर लेती है। दाहिने हाथ की अंगुलियाँ प्रकाश से आविर्भूत वामा प्रभृति शक्तियों का और बायें हाथ की अंगुलियाँ विमर्श से आविर्भूत इच्छा प्रभृति शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। दायें और बायें हाथ की अंगुलियों का मिलन ही यहाँ बन्धन कहा गया है। तीन खण्डों में यह मिलन होता है। इस तरह से त्रिखण्डा मुद्रा बनती है। प्रकाश और विमर्श स्वरूपिणी

---

१. चित्कला–ग. ने. ज. उ.। २. 'भूत्वा' नास्ति–क. ग. उ.। ३. शान्त्यतीतायाः–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. क्रियारूपकलासमष्टिभूतत्वाच्छान्ता–ख. झ. उ. ।

संनिधिकारिणी । अत एवेयं[1] संविद्देवतायास्त्रिपुरायाः संनिधिकारिणी सांनिध्य[2]कारिणी । सर्वस्य चक्रराजस्य सर्वेषां चक्राणां पूजायन्त्राणां श्रेष्ठत्वाच्चक्रराजस्य व्यापिका, नवचक्रस्थितनवमुद्राणां समष्टिभूतत्वात् ॥५७-५८॥

सर्वसंक्षोभिणीमुद्रामाह—

योनिप्राचुर्यतः सैषा सर्वसंक्षोभिणी पुनः ।

वामाशक्तिप्रधानेयं द्वारचक्रे स्थिता भवेत् ॥५९॥

सैषा त्रिखण्डा खण्डत्रय[3]मुन्मुच्य योनिप्राचुर्यतः । मध्यमाद्वयसंयोगादेका[4], अनामिकाद्वयसंयोगादन्या[5], कनिष्ठिकाद्वयसंयोगादपरा, एवं योनि[6]प्राचुर्यात् सर्व[7]संक्षोभिणी परानन्दप्रवणत्वकारिणी । वामाशक्तिप्रधानेयं सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा वामाशक्तिप्रधानत्वात् सृष्टिः । सृष्टिरेव क्षोभः । द्वारचक्रे चतुरस्रत्रयरूपे चतुर्द्वारवति त्रैलोक्यमोहने [8]चक्रे स्थिता ॥५९॥

अंगुलियों के मिलन से बनी होने के कारण यह त्रिखण्डा मुद्रा संविद्देवता भगवती त्रिपुरा के सामीप्य को देने वाली है और चक्रराज श्रीयन्त्र के, जो कि समस्त पूजायन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, समस्त स्वरूप में, सभी नौ चक्रों में व्याप्त होने से व्यापिका कहलाती है, अर्थात् यह तीन खण्ड वाली त्रिखण्डा मुद्रा समस्त नौ चक्रों में विद्यमान समस्त नौ मुद्राओं की समष्टिस्वरूपिणी है, उन सबमें व्याप्त है ॥५७-५८॥

सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

त्रिखण्डा मुद्रा में जब योनियों की अधिकता हो जाय, तो वह सर्वसंक्षोभिणी कहलाती है। इसमें वामा शक्ति प्रधान है और यह द्वार चक्र में स्थित है ॥५९॥

ऊपर बताई गई त्रिखण्डा मुद्रा अपने तीन खण्डों वाले स्वरूप को छोड़कर जब योनिप्रचुर हो जाती है, तो इसे सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा कहते हैं। यहाँ दो मध्यमाओं के संयोग से एक, दो अनामिकाओं के संयोग से दूसरी और दो कनिष्ठाओं के संयोग से तीसरी योनि बनती है। इस तरह से इस मुद्रा में योनियों की प्रचुरता रहती है। इसीलिये यह मुद्रा सर्वसंक्षोभिणी है, सभी को परमानन्द की तरफ ले जाने वाली है। इस मुद्रा में वामा शक्ति की प्रधानता रहती है और वामा शक्ति सृष्टि की प्रतीक है। यह सृष्टि ही क्षोभ है। इस तरह से इस मुद्रा का सर्वसंक्षोभिणी नाम सार्थक है। यह मुद्रा त्रैलोक्यमोहन चक्र में स्थित है, जिसका कि स्वरूप चार द्वार वाली तीन चतुरस्र (चौकोर) रेखाओं से बनता है ॥५९॥

---

१. 'इयं' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. 'सांनिध्यकारिणी' नास्ति–ने. ज. झ. उ. । ३. मुन्मोच्य–ग. ने. ज. झ. उ. । ४. देका योनिः, अनामा–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. दन्या योनिः, कनिष्ठा–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. योनित्रयप्रा–क. ने. ज. झ. उ. । ७. सर्वसंक्षोभिका–ग. ने. ज. झ. उ. । ८. 'चक्रे' नास्ति–ने. ज. झ. उ. ।

द्राविणी[1]मुद्रामाह—

क्षुब्धविश्वस्थितिकरी ज्येष्ठाप्राचुर्यमाश्रिता ।
स्थूलनादकलारूपा सर्वानुग्रहकारिणी ॥६०॥
सर्वाशापूरणाख्ये तु सैषा स्फुरितविग्रहा ।

क्षुब्धस्य विश्वस्य स्थितिकरी स्वसंविन्मात्रस्थितिकारिणी । अतो ज्येष्ठा-प्राचुर्यमाश्रिता, ज्येष्ठाशक्तेः स्थितिहेतुत्वात् । [2]स्थूलनादकलारूपा । स्थूलनादः, श्रुतिगोचरत्वात् । नादाज्जाताः कला नादकलाः षोडशस्वराः । अत्राभियुक्तवचनम्—"कलाः कला नादभवा वदन्त्यतः[3]" (प्र० सा० ७।१८) इत्यादि । [4]तद्रूपा, कामाकर्षिण्यादिनिवाससर्वाशापरिपूरकचक्र[5]पूरकत्वात्, सर्वाशापूरणाख्ये कामाकर्षिणीकलाधार[6]त्वात् । अत एव सर्वानुग्रहकारिणी । कामाकर्षणमेव सर्वानुग्रहः ।

द्राविणी मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

ज्येष्ठा शक्ति की प्रधानता के कारण क्षुब्ध विश्व को स्थिरता देने वाली, स्थूल नाद की १६ कलाओं को धारण करने वाली और सब पर अनुग्रह करने वाली यह द्राविणी मुद्रा सर्वाशापरिपूरक चक्र में अपना स्वरूप प्रकाशित करती है ॥६०-६१॥

क्षुब्ध विश्व को स्थिरता प्रदान करने वाली, अपने संवित् स्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाली इस द्राविणी मुद्रा में ज्येष्ठा शक्ति की प्रधानता है, क्योंकि ज्येष्ठा शक्ति ही क्षुब्ध विश्व को स्थिरता प्रदान करती है । कानों से सुनाई पड़ने वाला नाद स्थूलनाद है । इस नाद से उत्पन्न १६ कलाएँ ही १६ स्वरों का रूप धारण करती हैं । [1]प्रपंचसार में बताया गया है—"इस मधुर नाद से ही उसकी सोलह कलाओं वाले स्वरों की उत्पत्ति बताई गई है" ॥ यह द्राविणी मुद्रा उन्हीं कलाओं का प्रतिनिधित्व करती है, क्योंकि जिस सर्वाशापरिपूरक चक्र में यह निवास करती है, उसमें कामाकर्षिणी आदि १६ शक्तिकलाएँ विद्यमान हैं । इसीलिये यह सब पर अनुग्रह करने वाली है । काम का आकर्षण, इच्छित वस्तु को प्राप्त करा देना हो तो सबका अनुग्रह है । श्लोक में विद्यमान 'सैषा' शब्द से

१. 'मुद्रा' नास्ति—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. 'स्थूल·····गोचरत्वात्' नास्ति—ख. ग. ने. ज. झ उ. । ३. वदन्त्यजाः—मु. । ४. तद्रूपाः कामाकर्षिण्याद्यास्तद्रूपाः सर्वाशा—ख. ग. ने ज. झ. उ. । ५. व्यापकत्वात्—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. धाररूपत्वात्—ग. ने. ज. झ. उ ।

1. प्रपंचसार भगवत्पाद शंकराचार्य की कृति मानी जाती है । कलान्यास के प्रसंग का उक्त श्लोक-खण्ड यहाँ उद्धृत किया गया है । इसकी व्याख्या प्रयोगक्रमदीपिका में बताया गया है कि अकार आदि सोलह स्वर नाद की कलाएँ हैं । यहाँ बाद में बिन्दु की सोलह कलाओं का भी निरूपण किया गया है ।

सैषेति तच्छब्देन चतुःशतीशास्त्रोक्ता (३।६-७) सर्वविद्राविणी मुद्रा परामृश्यते । स्फुरितविग्रहा संविद्रूपत्वात् । कोऽर्थः ? ज्येष्ठाप्राचुर्याधारत्वात् स्थितिरूपिणी, अत एव ऋजुरूपमध्यमातर्जन्योः कनिष्ठिकानामिकयोश्च संयोगरूपिणी, कामाकर्षिण्यादिरूपत्वात् सर्वानुग्रहकारिणी, तदाधारत्वात् सर्वाशापरिपूरणाख्ये चक्रे संविद्रूपत्वात् स्फुरितविग्रहा चतुःशतीशास्त्रे प्रतिपादिता सैषा सर्वविद्राविणी मुद्रा स्थितेत्यर्थः ॥६०-६१॥

सर्वाकर्षिणीमुद्रामाह—

ज्येष्ठावामासमत्वेन सृष्टेः प्राधान्यमाश्रिता ॥६१॥
आकर्षिणी तु मुद्रेयं सर्वसंक्षोभिणी स्मृता ।

ज्येष्ठावामासमत्वेन ज्येष्ठावामाशक्तिद्वयसामरस्यरूपत्वात् । सृष्टेः प्राधान्यमाश्रिता । सृष्टिरूपा वामा, स्थितिरूपा ज्येष्ठा । उभयसाम्यात् सृष्टिस्थितिसाधारणीयं वामांशेन वक्रतर्जनीमध्यमाद्वयरूपा, ज्येष्ठांशेन ऋजुसंयुक्तानामिकाकनिष्ठाद्वयरूपेत्यर्थः । अत एव वक्राङ्गुलिद्वयरूपत्वाद् आकर्षिणीयं मुद्रा सर्वसंक्षोभिणि

चतुःशतीशास्त्र (३।६-७) में उपदिष्ट सर्वविद्राविणी मुद्रा का ग्रहण होता है, अर्थात् इस मुद्रा का स्वरूप वहाँ बता दिया गया है । संवित्स्वरूपिणी इस मुद्रा का स्वरूप सर्वाशापरिपूरक चक्र में ही स्फुरित होता है । इसका अभिप्राय यह है कि यह मुद्रा ज्येष्ठा शक्ति पर ही प्रधानतः आधृत होने से स्थितिस्वरूपिणी है । इसीलिये सरल (सीधी) आकृति वाली मध्यमा-तर्जनी और कनिष्ठा-अनामिका के संयोग से यह बनती है । कामाकर्षिणी प्रभृति शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने से यह सब पर अनुग्रह करने वाली है । सर्वाशापरिपूरक चक्र में विद्यमान शक्तियों की आधारभूत यह शक्ति उसमें संवित् स्वरूप में स्फुरित होती है । चतुःशतीशास्त्र (३।६-७) में इसी का सर्वविद्राविणी के नाम से वर्णन है ॥६०-६१॥

सर्वाकर्षिणी मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

इस आकर्षिणी मुद्रा में ज्येष्ठा और वामा शक्ति की समानता होने पर भी सृष्टि शक्ति वामा को प्रधानता दी जाती है । सर्वसंक्षोभकर चक्र में यह स्थित है ॥६१-६२॥

ज्येष्ठा और वामा शक्तियों के सामरस्य से उत्पन्न होने पर भी यह मुद्रा सृष्टि शक्ति वामा पर प्रधानतः आश्रित है । वामा शक्ति सृष्टि का और ज्येष्ठा शक्ति स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है । इस मुद्रा में दोनों की समान स्थिति है, अर्थात् इस मुद्रा में सृष्टि और स्थिति शक्ति की समान स्थिति होने से वामांश से वक्र (तिरछी) तर्जनी और मध्यमा का और ज्येष्ठांश से सरल (सीधी) अनामिका और कनिष्ठा का संयोग बनता है । इस मुद्रा में दो अंगुलियाँ तिरछी रहती हैं, अतः यह आकर्षिणी कहलाती है और सर्व-

सर्वसंक्षोभकारिणि चक्रे स्मृता। स्मृतिः पूर्वानुभवसंस्कारजन्यं ज्ञानम्। पूर्वं चतुःशतीशास्त्रे (३।७-८) अनुभूता मुद्रा[1] इदानीं स्मृता, सवासना कथितेत्यर्थः ॥६१-६२॥

सर्वावेशकरीमुद्रामाह—

व्योमद्वयान्तरालस्थबिन्दुरूपा महेश्वरि ॥६२॥
शिवशक्त्याख्यसंश्लेषाद् दिव्यावेशकरी स्मृता।
चतुर्दशारचक्रस्था [2]संविदानन्दविग्रहा ॥६३॥

आधाराद्याज्ञान्तषट्चक्रान्तरालानि[3] पञ्च व्योमानि। तेषां द्वयोर्द्वयोर्मध्ये एकैको बिन्दुरिति पञ्च बिन्दवः पञ्चभूतमयाः। तदुक्तमभियुक्तैः—"पञ्चबिन्दुमयं भेदं पञ्चप्रणव[4]पञ्जरम्" इति। तद्रूपा व्योमद्वयान्तरालस्थबिन्दुरूपा। शिवशक्त्यात्मसंश्लेषात्। शिवात्मानो दक्षकराङ्गुलयः, शक्त्यात्मानो वामकराङ्गुलयः। शिवशक्त्यात्मना परिवृत्त्येतरेतराङ्गुल्यन्तरालप्रवेशितानां सर्वेषामन्योन्यगाढपरिपीडनादेवंभूता दिव्यावेशकरी मुद्रा दिव्यस्य प्रकाशात्मकशिवस्य, आवेशकरी सामरस्यकरी, चतुर्दशारचक्रस्था चतुर्दशारचक्रे सर्वसौभाग्यदायकनामधेये स्थिता, [2]संविच्छक्तिः, आनन्दविग्रहा परमशिवसामरस्यरूपिणी। कोऽर्थः? [3]उभयकराङ्गुल्यन्तरालगतैकैकाङ्गुलिरूपपञ्चबिन्दुमयशिवशक्तिद्वयसामरस्य-निरूपणलक्षणबन्धनात्मिकेय मुद्रा संविदैकरस्यानन्दमयो चतुर्दशारचक्रे स्थितेत्यर्थः ॥६२-६३॥

उन्मादिनीमुद्रामाह—

बिन्द्वन्तरालविलसत्सूक्ष्म[4]रूपशिखामयी।
ज्येष्ठाशक्तिप्रधाना तु सर्वोन्मादनकारिणी ॥६४॥

संक्षोभकर चक्र में पुनः याद की गई है। पहले चतुःशतीशास्त्र (३।७-८) में वर्णित इस मुद्रा का यहाँ पुनः स्मरण किया गया है, वासना के साथ उसका पुनः वर्णन किया गया है ॥६१-६२॥

सर्वावेशकरी मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

हे महेश्वरि! दो व्योमों के बीच में स्थित बिन्दु के समान इसका स्वरूप है। शिवात्मक और शक्त्यात्मक अंगुलियों के संयोग से यह बनता है। दिव्य आवेश को प्रदान करने वाली संविदानन्दस्वरूपिणी यह मुद्रा चतुर्दशार चक्र में स्थित है ॥६२-६३॥

आधार से लेकर आज्ञा पर्यन्त छः चक्रों के अन्तराल में पाँच व्योम माने गये हैं। इनमें से दो-दो के बीच में एक-एक बिन्दु स्थित है। ये पाँच बिन्दु पाँच महाभूतों के प्रतिनिधि हैं। जैसा कि किसी अभियुक्त ने कहा है—"यह भेदात्मक संसार पाँच बिन्दुओं के प्रतिनिधि पाँच महाभूतों से बना है और इन पाँच महाभूतों से बना देह पाँच[1] प्रणवों का पिंजरा है"। यह मुद्रा भी उक्त आकार वाले पाँच महाभूतों की याद दिलाती है। दाहिने हाथ की अंगुलियाँ शिवात्मक और बायें हाथ की अंगुलियाँ शक्त्यात्मक मानी जाती हैं। शिवात्मक और शक्त्यात्मक इन अंगुलियों को एक-दूसरी अंगुलियों के बीच में फँसा कर सबको पूरी तरह से भींच लेने पर यह आकार बनता है। यह मुद्रा दिव्यावेशकरी है, अर्थात् शिव के प्रकाशात्मक दिव्य स्वरूप में साधक को समरस कर देती है। सर्वसौभाग्यदायक नाम के चतुर्दशार चक्र में यह स्थित है। यह संवित्स्वरूपिणी मुद्रा शक्ति आनन्दस्वरूपिणी है, परम शिव के साथ साधक को संयुक्त कर देती है। इसका अभिप्राय यह है कि शिवात्मक और शक्त्यात्मक दोनों हाथों की अंगुलियों के बीच में एक-एक अंगुलि को फँसाने से शिव और शक्ति के सामरस्य से समुद्भूत पाँच महाभूतों के प्रतिनिधि के रूप में पंचबिन्दुमय स्वरूप की जो अभिव्यक्ति होती है, वही इस मुद्रा का स्वरूप है। यह मुद्रा चतुर्दशार चक्र में स्थित है और संवित् के साथ समरसता से उत्पन्न होने वाले आनन्द का अनुभव कराने वाली है ॥६२-६३॥

उन्मादिनी मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

दो बिन्दुओं के बीच में से निकली अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप वाली दो दीपशिखाओं के सदृश आकृति वाली मुद्रा, जिसमें कि ज्येष्ठा शक्ति का स्वरूप प्रधान

---

१. 'मुद्रा' नास्ति—ख. ने. झ. उ.। २. सचिवदा—ग. छ. उ.। ३ बिन्दवः पञ्च—ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. पङ्कजम्—ख. ग. ज. झ. ब. उ.।

1. स्वच्छन्दतन्त्र के षष्ठ पटल में पाँच प्रणव से युक्त प्राणहंस के उच्चार की विधि बताई गई है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का प्राणरूपी पक्षी पाँच भूतों के बने इसी देहरूपी पिंजड़े में बन्द रहता है। प्रस्तुत मुद्रा की सहायता से साधक अपने पाँच बिन्दुवाले आध्यात्मिक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो सकता है, अपने प्राणहंस को इस पिंजड़े से मुक्त करा सकता है।

१. ल्यन्तरालद्वयगतैकैकाङ्गुलिरूपान्योन्यगाढपातनादेवंभूता—ख. ग. ज. झ. उ.। २. सच्चिदानन्द—ग. उ.। ३. 'उभय''' मुद्रा' इत्यस्य स्थाने—'शिवशक्तिसामरस्यबिन्दुरूपलक्षणबन्धनात्मिकेयं मुद्रा' इति पाठः—ख. ग. ने. ज. झ. ब. उ.। ४. रेखा—क. ग.।

दशारचक्रमास्थाय संस्थिता वीरवन्दिते ।

बिन्द्वन्तरालाद् आधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तर्गतयोनिमहाबिन्द्वोः स्वयम्भुपराख्ययोर्लिङ्गयोरन्तरालाद् विलसत्सूक्ष्मरूप[1]शिखामयी विलसन्त्यौ सूक्ष्मरूपे बिसतन्तुनिभाकृती शिखेव शिखावत् शिखे अम्बिकाशान्तयोस्तन्मयी तदैकरस्यरूपा । ज्येष्ठाशक्तिप्रधाना ज्येष्ठाशक्तिप्रचुरा । सर्वोन्मादनकारिणी । "उन्मादश्चित्तविभ्रमः" (अ० को० १।७।२६) । सर्वानुन्मत्तवत् [2]सर्वव्यापारपराङ्मुखान् शिवशक्तिसामरस्यानुसन्धानपरान् करोतीत्यर्थः । दशारचक्रमास्थाय दशारचक्रं बहिर्दशारचक्रम् । वीरवन्दिते । इदन्तारिपोरहमि [3]समराङ्गणे प्रलयप्रतिपादनपरा वीराः, तैर्वन्दिते आत्माहम्भावनया भाविते । तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—

अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः ।
पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वभावमशिवापहम् ॥ (श्लो० ५०) इति ।

है, सबको उन्मत्त कर देनेवाली है । हे वीरवन्दिते ! यह मुद्रा बहिर्दशार चक्र में अधिष्ठित है ॥६४-६५॥

बिन्द्वन्तराल, अर्थात् आधार और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित योनि और महाबिन्दु में विद्यमान स्वयंभू और पर लिंग के बीच में से निकली कमलनाल के सूक्ष्म तन्तुओं के समान आकृति वाली दीपशिखाओं के समान जब अम्बिका और शान्ता शक्ति का स्वरूप समरस हो जाता है और ज्येष्ठा शक्ति का स्वरूप प्रधान हो जाता है, तो इससे निष्पन्न उन्मादिनी मुद्रा सबको उन्मत्त बना देती है । चित्त के विभ्रम को उन्माद कहते हैं । यह मुद्रा सबको पागल बना देती है, साधक को सभी लौकिक व्यवहारों से विमुख कर शिव और शक्ति की समरसता की खोज में लगा देती है । दशार चक्र से यहाँ बहिर्दशार का ग्रहण किया जाता है । वीर शब्द का अर्थ है इदन्ता (भेद-दृष्टि) रूपी शत्रु के साथ युद्ध कर उसको अहं (अभेद दृष्टि) में लीन कर देने वाला । भेददृष्टि पर विजय प्राप्त करने वाले वीर भगवती त्रिपुरसुन्दरी की अपनी आत्मा के रूप में भावना करते हैं, अतः वह 'वीरवन्दिते' पद से संबोधित की गई है । उक्त स्थिति का वर्णन [1]परापंचाशिका में भी किया गया है—

---

१. रेखा–क. ग. । २. स्वस्व–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. रणाङ्गणे–ने. ज. झ. उ. ।

1. इस ग्रन्थ का प्रकाशन अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका के नाम से काशमीर ग्रन्थमाला ग्रन्थ संख्या १२ के ग्रन्थ षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह के साथ हुआ है । इस ग्रन्थ का परिष्कृत संस्करण अपेक्षित है । शिवपुराण कैलाशसंहिता (१६।७०-८४) के श्लोकों से भी इस ग्रन्थ के परिष्कार में सहायता ली जा सकती है ।

कोऽर्थः ? अन्तः कुलाकुलबिन्दुद्वयान्तरालविलसदम्बिकाशान्ताख्यवह्न्यमृतकुण्डलिनीरूपशिखा[1]द्वयसदृशा शक्तिशिवाख्य[2]करद्वयमध्यमाङ्गुष्ठद्वयसंयोगबिन्दुद्वयाकारवर्तुलद्वयान्तर्गतकनिष्ठिकाद्वयमयी ज्येष्ठाशक्तिप्रधानत्वाद् ऋज्वाकृत्यनामातर्जनीद्वयाग्रसंयोगरूपा शिवशक्तिसामरस्यानुसन्धानलक्षणबन्धनरूपा सर्वोन्मादिन्याख्या मुद्रा बहिर्दशारचक्रमास्थाय स्थितेत्यर्थः ॥६४-६५॥

महाङ्कुशमुद्रामाह—

वामाशक्तिप्रधाना तु महाङ्कुशमयी पुनः ॥६५॥
[3]तद्वद् विश्वं वमन्ती सा द्वितीये तु दशारके ।
संस्थिता मोदनपरा मुद्रारूपत्वमास्थिता ॥६६॥

बिन्द्वन्तरालविलसत्सूक्ष्म[4]रूपशिखामयी ऋज्वाकृतितज्जन्यनामिकासंयोगरूपा [5]ज्येष्ठाशक्तिप्रधाना पूर्वं भवति । इदानीं वामाशक्तिप्रधाना, "वामा विश्वस्य

इदन्ता रूपी शत्रु का अहन्ता में विलय करने के प्रयास में लगा साधक सभी प्रकार के अमंगल का नाश कर देने वाले स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।

पूर्वोक्त ग्रन्थ का अभिप्राय यह है—शरीर के भीतर कुल और अकुल नामक दो बिन्दुओं के बीच में अम्बिका और शान्ता नाम की वह्नि और अमृत कुण्डलिनियाँ विराजमान हैं । इन कुण्डलिनियों से निकली दो सूक्ष्म दीपशिखाओं के समान ही यहाँ शक्ति और शिव नामक दो हाथों की दो मध्यमाओं और दोनों अंगुष्ठों के संयोग से दो बिन्दुओं का आकार बनता है । इन दो वर्तुलों के बीच में दोनों कनिष्ठिकाओं के संयोजन से उन्मादिनी मुद्रा का आकार बनता है । इसमें अनामा और तर्जनी अंगुलियाँ सीधी रहती हैं, अतः इसमें ज्येष्ठा शक्ति की प्रधानता रहती है । इस सर्वोन्मादिनी मुद्रा का बन्धन शिव और शक्ति के सामरस्य की खोज के लिये किया जाता है । यह बहिर्दशार चक्र में स्थित है ॥६४-६५॥

महांकुश मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

महांकुश मुद्रा में वामा शक्ति की प्रधानता है । वामा शक्ति के समान ही विश्व की सृष्टि में लगी यह मुद्रा द्वितीय दशार में स्थित है । मोदन व्यापार में प्रवृत्त होकर इसने मुद्रा का रूप धारण किया है ॥६५-६६॥

कुल और अकुल बिन्दुओं के बीच में स्थित वह्नि और अमृत कुण्डलिनियों से निकली दीपशिखाओं के समान आकृतिवाली मुद्रा का ऊपर वर्णन किया गया है । उसमें तर्जनी और अनामिका की आकृति सीधी रहती है, इसीलिये उसमें ज्येष्ठा शक्ति प्रधान मानी

---

१. 'शिखाद्वयसदृशा' नास्ति–ख. ग. ज. झ. उ. । २. ख्याद्वय–ने. ज. झ. उ. । ३. अधो–क. ग. ने. छ. ज. झ. उ. । ४. रेखा–क. ख. । ५. वामाशक्तिप्रधाना न भवति ऋज्वाकृतितज्जन्यनामिकासंयोगरूपा न भवति–क. ने. ज. झ. उ. ।

वमनादङ्कुशाकारतां गता" (१।३७) इति पूर्वोक्तरीत्या वामाशक्तिप्रधानत्वाद् वक्राकारतर्जनीबन्धनरूपा विश्वं वमन्ती[२], सृष्टिरूपत्वात्। तद्वत् परमशिववत्। द्वितीये तु दशारके अन्तर्दशारे। मोदनपरा परशिवसामरस्यलक्षणपरानुसन्धानमयी, अत एव मुद्रारूपत्वमास्थिता। अयमर्थः—पूर्वोक्तमुद्रालक्षणविमर्शमयचिच्छक्तिरेव [३]वामाशक्तिभूततर्जनीद्वयमयपरशिवसामरस्यपरानन्दप्रवणरूपा महाङ्कुशमुद्रा[४]ऽन्तर्दशारे स्थितेति ॥६५-६६॥

खेचरीमुद्रामाह—

धर्माधर्मस्य संघट्टादुत्थिता वित्तिरूपिणी।
विकल्पोत्थक्रियालोपरूपदोषविघातिनी ॥६७॥
विकल्परूपरोगाणां हारिणी खेचरी परा।
सर्वरोगहराख्ये तु चक्रे संविन्मयी स्थिता ॥६८॥

गई है। यही मुद्रा जब वामा शक्ति प्रधान हो जाती है, अर्थात् तर्जनी अंगुलि का आकार तिरछा हो जाता है, तो यह महांकुश मुद्रा कहलाती है। पहले (१।३७) यह बताया जा चुका है कि विश्व का वमन करने के कारण वामा शक्ति अंकुश के जैसा तिरछा आकार ग्रहण कर लेती है। सृष्टि स्वरूप वामा शक्ति की प्रधानता के कारण यह मुद्रा भी परम शिव के समान ही विश्व को सृष्टि में समर्थ है। यह अन्तर्दशार चक्र में स्थित है। परमशिव के सामरस्य स्वरूप के अनुसन्धान में लगी होने से यह जीवों में आनन्द की अभिव्यक्ति करती है और इसीलिये मुद्रा का स्वरूप धारण करती है। इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर बताए गये लक्षण वाली उन्मादिनी नामक विमर्शमय चित्-शक्ति ही जब वामा शक्ति स्वरूप तर्जनीद्वयमय परम शिव के साथ सामरस्य रूपी परमानन्द में लीन हो जाती है, तो अन्तर्दशार चक्र में स्थित महांकुश मुद्रा का स्वरूप धारण कर लेती है ॥६५-६६॥

खेचरी मुद्रा का स्वरूप बताते हैं—

धर्म (शक्ति) और अधर्म (शिव) के सामरस्य से उत्पन्न, संवित्स्वरूपा, विकल्प (असावधानी) के कारण नित्य, नैमित्तिक आदि कृत्यों के लोप से उत्पन्न दोषों को दूर करने वाली, विकल्पात्मक रोगों का नाश करने वाली खेचरी मुद्रा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। संविन्मयी यह मुद्रा सर्वरोगहर नामक चक्र में स्थित है ॥ ६७-६८ ॥

---

१. मुपाश्रिता—ग ने. उ.। २. वमन्ती स्थिता—ख ज. झ.। ३. वामाप्राधान्याद् व्यक्तीभूतेत्यर्थः। तेनाद्वयपर—ख. ग. ज. झ. उ.। ४. मुद्राख्याऽन्त—क. ख. ग. ज. झ. उ.। ५. चिति—ज. उ.।

धर्माधर्मस्य संघट्टात्। धर्मः शक्तिः, सृष्ट्यादिसकलधर्मपरत्वात्। अधर्मः शिवः, तत्तत्सकलधर्मरहितत्वात्। तयोः संघट्टः सामरस्यम्, तस्मादुत्थिता। वित्ति[१]रूपिणी। वित्तिः[२] संवित्तिः। विकल्पोत्थक्रियालोपरूपदोषविघातिनी। विकल्पः कोटिद्वयावलम्बनम् एवं वा न वेति संशयज्ञानम्, विकल्पोत्थाः क्रिया नित्यनैमित्तिककाम्यरूपाः, तल्लोपेन [३]प्रत्यवायः प्रायो जायते, तस्य विघातिनी। विकल्परूपरोगाणां हारिणी। परिपूर्णभावस्य शिवस्य ममैवमेतत्कर्तव्यं न वेति विकल्परूपा रोगा आधय एव व्याधयः, तदुक्तमभियुक्तैः—"अपूर्णम्मन्यता व्याधिः कार्पण्यैकनिदानभूः। क्लेशावहोऽ[४]तिकष्टश्च" इति, तेषां हारिणी खेचरी—

धर्म शक्ति को कहते हैं, क्योंकि सृष्टि, स्थिति आदि समस्त धर्म उसी से प्रवृत्त होते हैं। अधर्म शिव है, क्योंकि वह सकल धर्मों से अतीत है। इन दोनों के सामरस्य से उठी संवित्ति समस्त प्रत्यवायों का नाश कर देती है। 'यह ऐसा है या नहीं' इस तरह से दो कोटियों का सहारा लेने वाला संशयात्मक ज्ञान यहाँ विकल्प के नाम से कहा गया है। इस संशयात्मक ज्ञान के कारण नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों का लोप होने पर प्रत्यवाय (दोष) लगता है। इस तरह के सारे दोषों (विघ्नों) का नाश इस मुद्रा के प्रदर्शन से हो जाता है। जीव परिपूर्ण रूप से शिव ही है, किन्तु अपने इस स्वरूप का बोध न रहने से मुझे ऐसा करना चाहिये या नहीं, इस तरह के नाना प्रकार के विकल्प (संशय) रूपी रोग उसके तन और मन को घेर लेते हैं। [1]भट्ट गंगाधर मिश्र ने ठीक ही कहा है—

अपने को अपूर्ण मानना सब से बड़ा रोग है। इससे व्यक्ति की स्थिति दयनीय हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को नाना प्रकार के क्लेश घेर लेते हैं, जो कि उसको बहुत कष्ट देते हैं ॥

खेचरी मुद्रा इन सब विकल्पों को दूर भगा देती है। स्वयं ग्रन्थकार ने [2]चिद्विलास स्तव में कहा है—

---

१. चिति—ज. उ.। २. चितिः—ज. उ.। ३. पापं जायते—ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. जुगुप्सश्च—मु.।

1. भट्ट गंगाधर मिश्र और उसके किसी स्तोत्र ग्रन्थ का उल्लेख ऋजुविमर्शिनी (पृ० ६९, ८०, १३४) में हुआ है। इसके दो श्लोक दीपिका में भी अभियुक्त वचन करके उद्धृत हैं। ऋजुविमर्शिनी (पृ० ६९) के प्रमाण पर हमने यहाँ उनका नाम दे दिया है।

2. चिद्विलास स्तव का भी अनेक हस्तलेखों तथा मुद्रित प्रति के आधार पर किया गया परिष्कृत संस्करण नित्याषोडशिकार्णव के परिशिष्ट भाग (पृ० ३२२-३३०) में प्रकाशित हो चुका है। एक हस्तलेख में अमृतानन्द के गुरु पुण्यानन्द को इसका कर्ता माना गया है, जब कि दूसरे में अमृतानन्द को। इसके लिये देखिये—नित्या. षो., उपो. पृ. २३.

खे निरस्तसंकलक्रियाक्रमे या चितिश्चरति शाश्वतोदया[2] ।
सा शिवत्वसमवाप्तिकारिणी खेचरी [3]सकलखेदहारिणी ॥ (चि० ३८)

इति मदुक्तरीत्या निर्विकल्पबोधभूमिसंचारिणी चितिः चिच्छक्तिः परमशिवसामरस्यरूपा तदधिष्ठितत्वात् सर्वरोगहराख्ये चक्रे संविन्मयी स्थिता । कोऽर्थः ? शिवशक्तिमयदक्षवामबाहुद्वयपरिवर्तनरूपतर्जनोद्वयावलम्बितव्यत्यस्तकरद्वयकनिष्ठानामिकाद्वन्द्वतदुपरिस्थितमध्यमाद्वयाग्रसंयुक्ताङ्गुष्ठद्वयाग्रसंयोजनलक्षणबन्धनरूपा शिवशक्तिद्वयसंघट्टादुत्थिता परा निर्विकल्पबोधभूमिसंचारिणी, अत एव विकल्पजनितनित्यनैमित्तिककाम्यकर्मलोपरूपदोषविघातिनी, अत एव च विकल्परूपरोगाणामपूर्णम्मन्यतालक्षणानां हारिणी सर्वरोगहराख्ये चक्रे खेचरी मुद्रा स्थितेत्यर्थः ॥६७-६८॥

बीजमुद्रामाह—

शिवशक्तिसमाश्लेषस्फुरद्व्योमान्तरे पुनः ।
प्रकाशयन्ती विश्वं सा सूक्ष्मरूपस्थितं सदा ॥६९॥

कर्मकाण्ड का सारा प्रपंच जहाँ विलीन हो गया है, उस ज्ञानगगन में जो चिति शक्ति सदा प्रकाशमान होकर चलती है, उसी को खेचरी कहते हैं । यह समस्त क्लेशों का नाश करने वाली और शिवत्व की प्राप्ति में सहायता करने वाली है ॥

निर्विकल्प बोधभूमि (ज्ञानगगन) में संचरण करने वाली चिति शक्ति सदा परम शिव के साथ समरस होकर रहती है । अतः परम शिव के द्वारा अधिष्ठित सर्वरोगहर चक्र में भी यह संवित्स्वरूपिणी मुद्रा के रूप में स्थित है । इसका अभिप्राय यह है कि दाहिना और बांया हाथ क्रमशः शिव और शक्ति का प्रतीक है । दाहिने हाथ को बाँई तरफ और बायें हाथ को दाहिनी तरफ करके दोनों तर्जनियों से एक-दूसरे हाथ की कनिष्ठा और अनामिका को पकड़ कर और उसके ऊपर दोनों मध्यमाओं के अग्रभाग से दोनों अंगूठों के अग्रभाग को मिलाने से इस मुद्रा का स्वरूप बंधता है । इस तरह से शिव और शक्ति दोनों के संघट्ट से निर्विकल्प बोधभूमि में संचरण करने वाली यह परम उत्कृष्ट मुद्रा निष्पन्न होती है । इसीलिये यह विकल्पजन्य नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्मों के लोप से उत्पन्न होने वाले दोषों का नाश कर डालती है और इसीलिये विकल्प ज्ञान से उत्पन्न अपूर्णंमन्यता आदि रोगों को भी दूर करने वाली है । यह खेचरी मुद्रा सर्वरोगहर नामक चक्र में स्थित है ॥६७-६७॥

बीज मुद्रा का वर्णन करते हैं—

शिव और शक्ति के सामरस्य के बीच में स्फुरित हो रहे सूक्ष्म गगन में

१. निखिल-मु. । २. दधौ-ख. ग. ज. उ. । ३. निखिल-मु. ।

बीजरूपा महामुद्रा सर्वसिद्धिमये स्थिता ।

शिवशक्त्योः समाश्लेषः सामरस्यं तन्मध्ये स्फुरद्व्योमान्तरे प्रकाशविमर्श[2]रूपसूक्ष्मतरगगनान्तराले । सूक्ष्मरूपस्थितं कारणतावन्मात्रतया स्थितम् । विश्वं सदा सर्वदा [3]प्रकाशयन्ती, अत एव बीजरूपा महामुद्रा, तस्या [4]भाविचराचररूपविश्वोत्पत्तिहेतुत्वात् । सर्वसिद्धिमये विश्वोत्पत्तिहेतुभूतबीजमुद्राधारत्वात् सर्वस्य शिवादेर्भूम्यन्तस्य सिद्धिरुत्पत्तिः, तदुक्तं[5] श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये—"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (सू. १) इति, तन्मये चक्रे स्थिता । कोऽर्थः ? शिवशक्तिसंज्ञितोभयकरव्यत्यस्तकनिष्ठिकाद्वयाग्रावलम्बनवक्रोभयानामिकोभयपार्श्वप्रसृतसंयुक्ताग्रमध्यमाद्वयोपरिस्थितवक्राकारतर्जन्यङ्गुष्ठयुगलाग्रसमाश्लेषान्तरालप्रतीयमानगगनान्तराले कारण[6]तावन्मात्रतया स्थितं विश्वं प्रकाशयन्ती बीजमुद्रा सर्वसिद्धिमयाभिधे चक्रे स्थितेत्यर्थः ॥६९–७०॥

सूक्ष्म कारण के रूप में स्थित विश्व का सदा प्रकाश करने वाली यह बीज स्वरूपिणी महामुद्रा सर्वसिद्धिमय चक्र में स्थित है ।६९-७०॥

शिव और शक्ति का समाश्लेष ही सामरस्य है । इस सामरस्य में प्रकाश और विमर्शरूप सूक्ष्म बोधगगन शोभायमान है । इसमें सूक्ष्म कारणतन्मात्रा के रूप में सारा जगत् विद्यमान है । बीज रूप में स्थित इस विश्व को यह सदा प्रकाशित करती है । इसलिये इसको बीज रूप महामुद्रा कहते हैं । आगे बनने वाले चर और अचर सारे जगत् की उत्पत्ति इसी से होती है । यह मुद्रा सर्वसिद्धिमय चक्र में स्थित है । विश्व की उत्पत्ति में कारणभूत बीजमुद्रा का आधार होने से इस चक्र से शिव से लेकर भूमि पर्यन्त सारे जगत् की सिद्धि (उत्पत्ति) होती है । प्रत्यभिज्ञाहृदय में बताया गया है—"चिति शक्ति स्वतन्त्र रूप से विश्व की सिद्धि (उत्पत्ति) में कारण है" ॥ इस तरह से सारे जगत् की उत्पत्ति करने वाले सर्वसिद्धिमय चक्र में यह मुद्रा स्थित है । इसका अभिप्राय यह है कि शिव और शक्ति संज्ञा वाले दोनों हाथों को अदल-बदल कर दोनों कनिष्ठाओं के अग्रभाग को दोनों तिरछी अनामिकाओं से पकड़ कर और उसकी दोनों तरफ दोनों मध्यमाओं के अग्रभाग को संयुक्त करने के बाद उन दोनों के ऊपर तर्जनियों और अंगूठों को तिरछा रखने पर बीच में जो खाली जगह दिखाई पड़ती है, इस सूक्ष्म तन्मात्रारूप कारण में स्थित विश्व का प्रकाश करने वाली यह बीजमुद्रा सर्वसिद्धिमय नामक चक्र में स्थित है ॥६९-७०॥

१. तन्मये-ग. ज. झ. उ. । २. 'रूप' नास्ति-ख. ग. ज. झ. उ. । ३. प्रकाशात्मनि-ख. ग. ज. झ. उ. । ४. 'भावि' नास्ति-ख. ग ज. झ. उ. । ५. 'तदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्' इति पाठः-झ. विहाय सर्वत्र । ६. णतन्मात्र-ख. ग. ज. झ. उ. ।

योनिमुद्रामाह—

सम्पूर्णस्य प्रकाशस्य लाभभूमिरियं पुनः ॥७०॥

योनिमुद्रा कलारूपा सर्वानन्दमये स्थिता ।

सम्पूर्णस्य प्रकाशस्य प्रकाशात्मनः परशिवस्य । लाभभूमिः प्राप्तिस्थानम् । अत एव [1]इयं योनिमुद्रा, योनिरूपा मुद्रा योनिमुद्रा, योनिस्त्रिकोणम् । वामादीच्छादिशक्तित्रितयसामरस्यरूपा[2]न्तस्त्रिकोणान्तरालरूपिणी । कलारूपा हार्द्धकलात्मकविमर्श[3]शक्तिरूपा । अत एव सर्वानन्दमये शिवशक्तिसामरस्यसमुदितपरानन्दलक्षण[4]परमबिन्दुरूपसर्वानन्दमयनाम्नि चक्रे स्थिता । कोऽर्थः ? वामेच्छारूपवक्रतर्जनीद्वयाग्रगृहीतव्यत्यस्तानामिकाद्वयाग्रपरिगतज्येष्ठाज्ञानमय[5]ऋजुसंयुक्ताग्रमध्यमाद्वयमध्यगतरौद्रीक्रियात्मककनिष्ठिकाग्रयोजितसम्पूर्णप्रकाशरूपाङ्गुष्ठद्वयाग्ररूपा [6]विमर्शकलारूपमयी योनिमुद्रा प्रकाशविमर्शसामरस्यलक्षण[7]परबिन्दुमयसर्वानन्दमये चक्रे स्थितेत्यर्थः ॥७०–७१॥

अब योनिमुद्रा का वर्णन करते हैं—

सम्पूर्ण प्रकाश, परम शिव की प्राप्ति का स्थान यह योनिमुद्रा ही है। कामकलास्वरूपिणी यह मुद्रा सर्वानन्दमय चक्र में स्थित है ॥७०-७१॥

सम्पूर्ण प्रकाश, अर्थात् प्रकाशात्मक परम शिव की प्राप्ति का स्थान यह योनिमुद्रा ही है । यह मुद्रा योनिस्वरूपा है । यहां योनि का अर्थ त्रिकोण है । इस मुद्रा का आकार भी वैसा ही है । वामा आदि और इच्छा आदि तीन-तीन शक्तियों के सामरस्य से बने मध्यत्रिकोण के अन्तराल सरीखा इसका रूप है । यह मुद्रा हार्द्ध(काम)कलात्मक विमर्श शक्ति का अवतार है । इसीलिये यह सर्वानन्दमय चक्र में स्थित है । शिव और शक्ति के सामरस्य से उत्पन्न परमानन्द को लक्षित कराने वाला परम बिन्दु (त्रिकोणमध्यगत बिन्दु) ही सर्वानन्दमय चक्र है । इस चक्र में योनिमुद्रा स्थित है । इसका सार यह है कि वामा और इच्छा शक्ति स्वरूप दोनों तिरछी तर्जनियों से अलग-अलग दोनों अनामिकाओं को पकड़ना चाहिये । इन अनामिकाओं के ऊपर ज्येष्ठा और ज्ञान शक्तिमय मध्यमा अंगुलिओं को सीधी रखना चाहिये और इनके बीच में रौद्री और क्रियाशक्ति स्वरूपिणी कनिष्ठाओं को रखना चाहिये । सबसे आगे प्रकाशमय दोनों अंगुष्ठों का संयोजन करने से विमर्श कला स्वरूपिणी योनिमुद्रा का आकार बनता है । यह मुद्रा प्रकाश-विमर्श के सामरस्य के प्रतीक परबिन्दु स्वरूप सर्वानन्दमय चक्र में स्थित है ॥७०–७१॥

---

१. 'इयं' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । २. रूपा त्रिकोणरूपिणी–ख. ग. ज. झ. उ. । ३. शक्तिः-ख. । ४. 'परम' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ५. 'विमर्शकलारूपमयी' इति पाठोऽत्राधिकः–ग. उ. । ६. नास्ति–ग. उ. । ७. 'पर' नास्ति–ख. ग. ज. झ. उ. ।

उपसंहरति—

क्रियाचैतन्यरूपत्वादेवं चक्रमयं स्थितम् ॥७१॥

क्रिया, "क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात् तथा" (१।५७) इत्युपक्रान्ता क्रियाशक्तिरेव भेदेन विरचनामयी वामादिशक्तिप्राधान्यभेदात् संक्षोभिण्यादियोन्यन्ततत्तन्मुद्रारूपेण, चैतन्यरूपत्वात् चक्रमयं त्रैलोक्यमोहनादिसर्वानन्दमयान्तनवचक्रमयं स्थितमित्यर्थः ॥७१॥

ननु "यदा सा परमा शक्तिः स्वेच्छया विश्वरूपिणी" (१।९) इत्युपक्रान्तम्, कथं पुनः "क्रियाचैतन्यरूपत्वादेवं चक्रमयं स्थितम्" (१।७१) इत्युपसंह्रियते ? इत्याशङ्क्य[1] तर्हि महान् प्रकृतोपसंहारस्त्वयमित्याह—

इच्छारूपं परं तेजः सर्वदा भावयेद् बुधः ।

मुद्रा प्रकरण का अब उपसंहार होता है—

इस तरह से मुद्रा स्वरूपिणी क्रिया शक्ति ही चैतन्य (संवित्) का रूप धारण कर चक्रमय बन जाती है ॥७१॥

'क्रियाशक्तिस्तु' इत्यादि श्लोक से मुद्रा का प्रसंग प्रारम्भ होता है । इस तरह से क्रिया शक्ति ही अंगुलियों की विभिन्न स्थितियों के माध्यम से वामा प्रभृति शक्तियों की प्रधानता आदि के आधार पर संक्षोभिणी से लेकर योनि पर्यन्त मुद्राओं का स्वरूप धारण करती है । इन्हीं के साथ ज्ञानशक्ति चैतन्य का स्वरूप, अर्थात् त्रैलोक्यमोहन से सर्वानन्दमय पर्यन्त चक्रों का स्वरूप धारण कर लेती है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रिया शक्ति नौ मुद्राओं का स्वरूप धारण करती है और ज्ञानशक्ति नौ चक्रों का । इस तरह से उक्त दोनों शक्तियों की सहायता से श्रीचक्र का परिपूर्ण स्वरूप बनता है ॥७१॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'यदा सा परमा' इत्यादि श्लोक से इस प्रकरण का प्रारम्भ होता है, जिसमें कि परम शक्ति का विश्व रूप में विस्तार बताया गया है, अब उपसंहार में भी परम शक्ति की ही चर्चा होनी चाहिये, उसके स्थान पर यहाँ क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से मुद्रा और चक्र की सृष्टि का उल्लेख हो रहा है, ऐसा क्यों ? इसी प्रश्न का उत्तर आगे दे रहें है कि यह एक लम्बा प्रकरण है । ऊपर अवान्तर प्रकरण का उपसंहार बताया गया है, लम्बे प्रकरण का उपसंहार आगे इस तरह से बताया जा रहा है—

परम ज्योति इच्छा शक्तिमय है, बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिये कि वह उसी की भावना करे ॥

---

१. शङ्कायाम्–ख. ज. उ. ।

परं तेजः शिवशक्तिसामरस्यरूपपरामयं ज्योतिः । इच्छारूपं स्वेच्छागृहीत[1]-नानानामरूपप्रपञ्चमयम् । सर्वदा कालत्रयेऽपि । भावयेद् बुधः साक्षात् पर शिवरूप-निजगुरुकटाक्षपातेन ।

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमो ।
कुलं शीलं च जातिश्चेत्यष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्त[2]परिपाटितपाशाष्टकतया परिस्फुरत्परशिवाहंभावः स्वेच्छाकल्पितनाना[3]नामरूपप्रपञ्चमयं श्रीचक्ररूपेण परिणतं परामर्यं तेजः सर्वदा भावयेदित्यर्थः ।

पुनरस्यैव चक्रस्य प्रकारान्तरेण वासनान्तरमाह—

त्रिधा च नवधा चैव चक्रसंकेतकः पुनः ॥७२॥

स्पष्टम् ॥७२॥

पर तेज शिव और शक्ति के सामरस्य से उद्भूत परम प्रकाश को कहते हैं । यह पर तेज अपनी इच्छा से मुद्रा, चक्र आदि अनेक नामों और आकारों को धारण कर लेता है । विद्वान् साधक को चाहिये कि वह इसी तेजोमय रूप का सदा तीनों कालों में ध्यान करे । किसी प्रामाणिक[1] व्यक्ति ने कहा है—

घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील, और जाति—ये आठ प्रकार के पाश होते हैं ।।

परम शिव के प्रतिनिधि अपने गुरु की कृपादृष्टि प्राप्त कर लेने पर साधक के उक्त आठों पास टूट जाते हैं और उसमें 'मैं ही परशिव हूँ' इस तरह की प्रतीति जाग उठती है । ऐसे व्यक्ति को भी चाहिये कि वह अपनी इच्छा से नाना नाम और रूपमय प्रपंच को धारण करने वाले परम तेज को ही श्रीचक्र के रूप में परिणत जानकर उसकी उपासना करे ॥

फिर इसी चक्र की दूसरे प्रकार की भावना बताते हैं—

यह चक्रसंकेत पुनः त्रिधा और नवधा विभक्त होता है ॥७२॥

इसका अर्थ स्पष्ट है । अभिप्राय यह है कि यह श्रीचक्र कामेश्वर-कामेश्वरी की संकेत भूमि है, अर्थात् उनका यहाँ मिलन होता है । इस युगलस्वरूप के साक्षात्कार के अनेक उपाय पहले बताये गये हैं । अब पुनः यहाँ बताया जा रहा है कि उस युगलस्वरूप का साक्षात्कार करने के लिये इस श्रीचक्र की त्रिविध और नवविध भावना करनी चाहिये ॥७२॥

---

१. कृतनानारूप—ख. ग. झ. उ. । २. नरीत्या पाटित—क. ख. ग. ने. । ३. 'नाम' नास्ति—ख. ग. ज. झ. उ. ।

1. यह श्लोक कुलार्णवतन्त्र (१३।९०) में उपलब्ध है । अमृतानन्द यहाँ कुलार्णव का नाम न लेकर इसको किसी अभियुक्त व्यक्ति का वचन मानते हैं । पृ० ९ की टिप्पणी देखिये ।

तत्रादौ त्रिधात्ववासनामाह—

वह्निनैकेन शक्तिभ्यां द्वाभ्यां चैको[1]ऽपरः पुनः ।
तैश्च वह्नित्रयेणापि शक्तीनां त्रितयेन च ॥७३॥
पद्मद्वयेन चान्यः स्याद् भूगृहत्रितयेन च ।
पञ्चशक्तिचतुर्वह्निपद्मद्वयमहीत्रयम् ॥७४॥
परिपूर्णं महाचक्रं

एकेन वह्निना द्वाभ्यां शक्तिभ्यामेकः प्रकारः । तैश्च एकवह्निशक्तिद्वयरूपै-[3]स्त्रिकोणत्रयैः पुनर्वह्नित्रयेण शक्तीनां त्रितयेन चापरः प्रकारः । अयमर्थः—त्रिको-णानामेवोपरि विस्तारक्रमेण पुनर्वह्नित्रयेण शक्तित्रयेण[4] च जायतेऽयमेकः प्रकारः । पद्मद्वितयेन भूगृहत्रितयेन चान्यः प्रकारः । पद्मद्वय(यं) [5]वृत्तत्रयान्तरालयोरष्टदलं षोडशदलं चेति । भूगृहत्रितयं चतुरस्रत्रयम् । एवं कृते सति पञ्च शक्तयश्चत्वारो वह्नयः पद्मद्वयं महीत्रयं चेति परिपूर्णं महाचक्रं समष्टिरूपम् ॥७३-७५॥

इनमें से पहले त्रिविध भावना का उपदेश करते हैं—

पहले प्रकार में एक वह्नि और दो शक्तियों की भावना की जाती है । उनके साथ तीन वह्नि और तीन शक्तियों को मिला कर दूसरे प्रकार की भावना की जाती है । दो पद्मों और तीन भूगृहों को मिलाकर तीसरी भावना बनती है । इस तरह पाँच शक्ति, चार वह्नि, दो पद्म और तीन भूगृहों को मिलाने से यह श्रीचक्र परिपूर्ण हो जाता है ॥७३-७५॥

एक वह्नि और दो शक्तियों के संयोग से पहला प्रकार बनता है । अर्थात् श्रीचक्र की इस पहली भावना में बिन्दु, त्रिकोण और वसुकोण की भावना की जाती है । एक वह्नि और दो शक्तियों से निष्पन्न इन तीन त्रिकोणों के साथ फिर तीन वह्नि त्रिकोणों और तीन शक्ति त्रिकोणों के संयोग से दूसरा प्रकार बनता है । इसका भाव यह है कि उक्त तीन संख्या के त्रिकोणों के ऊपर ही पुनः तीन शक्ति त्रिकोणों और वह्नि त्रिकोणों का विस्तार होने पर भावना का दूसरा आधार तैयार हो जाता है । इसमें अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार चक्र की भावना की जाती है । पद्मद्वय और भूगृहत्रय से तीसरा प्रकार बनता है । तीन वृत्तों अर्थात् वृत्ताकार घेरों के बीच में अष्टदल और षोडश दल ये दो पद्म बनते हैं । भूगृहत्रय शब्द से तीन चतुरस्रों का ग्रहण होता है । इस तरह से इस तीसरे प्रकार में अष्टदल, षोडशदल और चतुरस्र चक्र की भावना की

---

१. चैकः परः—ख. ग. छ. ज. झ. । २. इति पूर्ण—ख. ग. च. छ. ज. झ. उ. । ३. स्त्रिकोणैः—ख. ग. ज. झ. उ. । ४. शक्तित्रये जातेऽपरः प्रकारो भवति—ख. ने. ज. झ. । ५. रेखात्रया—ख. ज. झ. उ. ।

तत्प्रकारत्रयमेव विविच्य विवृणोति—

तत्प्रकारः प्रदर्श्यन्ते ।
तत्राद्यं नवयोनि स्यात् तेन द्विदशसंयुतम् ॥७५॥
मनुयोनि परं विन्द्यात् तृतीयं तदनन्तरम् ।
अष्टद्व्यष्टदलोपेतं चतुरस्रत्रयान्वितम् ॥७६॥

जातावेकवचनम् । तत्प्रकाराः प्रदर्श्यन्त इत्यर्थः । तत्र तेषु प्रकारेषु । आद्यं नवयोनि । वह्निनैकेन शक्तिभ्यां द्वाभ्यामित्यस्य विवरणम् । एकस्य वह्नेर्द्वयोः शक्त्योश्च संयोगे सति बैन्दवत्रिकोणाष्टकोणैर्नवयोनिचक्रं [1]भवतीत्यर्थः । तेन द्विदशसंयुतं मनुयोनि परं विन्द्यात् । तेन नवयोनिचक्रेण[2] । द्विदशसंयुतं दशारद्वयसंयुतम् । मनुयोनि चतुर्दशकोणम् । परं द्वितीयं जानीयात् । [3]तेन वह्नित्रये शक्तित्रये च कृते सति दशारचक्रद्वयं चतुर्दशारचक्रं च चक्रत्रितयं द्वितीयं चक्रं भवतीत्यर्थः । तदनन्तरमष्टद्व्यष्टदलोपेतं चतुरस्रत्रयान्वितम् । [4]तेन चक्रद्वयेनान-

जाती है । इन तीन प्रकार की भावनाओं में पाँच शक्ति, चार वह्नि, दो पद्म और महीत्रय (चतुरस्रत्रय) से निष्पन्न यह महाचक्र (श्रीचक्र) परिपूर्ण हो जाता है ॥७३-७५॥

इन्हीं तीनों प्रकारों को और अधिक स्पष्ट करते हैं—

इस त्रिविध भावना की विधि अब बताते हैं । पहला प्रकार नवयोनि पर्यन्त चक्र का है । दूसरा दो दशारों और चतुर्दशार का है । इसके बाद तीसरा प्रकार अष्टदल, षोडश दल के साथ चतुरस्रत्रय के मिलने से बनता है ॥७५-७६॥

प्रकार शब्द में एकवचन जाति का सूचक है । इसका अर्थ होगा विविध जाति का प्रकार, अर्थात् अनेक प्रकार । यहाँ तीन प्रकार बताए गये हैं । पहला प्रकार नवयोनि पर्यन्त चक्रों का है । ७३वें श्लोक में एक वह्नि और दो शक्तियों की चर्चा आई है । नवयोनि पद उसी की तरफ संकेत करता है, क्योंकि नवयोनि चक्र एक वह्नि और दो शक्तियों के संयोग से ही बनता है । इस तरह से नवयोनि शब्द बैन्दव, त्रिकोण और अष्टकोण—इन तीनों चक्रों की ओर संकेत करता है । उस नवयोनि चक्र के साथ दो दशार और चतुर्दशार चक्र को मिलाने पर दूसरा प्रकार बनता है । नवयोनि चक्र के ऊपर तीन वह्नि और तीन शक्ति त्रिकोणों को मिलाने से अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार—इन तीन चक्रों के बनने से भावना का दूसरा प्रकार संपन्न होता है ।

१. भवेदि-ग. ज. झ. उ । २. चक्रेण संयुतं-ग. ने. ज. झ. उ. । ३. तैश्च-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ४. तदनन्तरं तेन-ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

न्तरमव्यवधानेन स्थितमत्यन्त[1]संनिहितम् । अष्टदलकमलेन [2]षोडशदलकमलेन चोपेतं चतुरस्रत्रयात्मकं तृतीयं चक्रमित्यर्थः ॥७५-७६॥

ननु[3] त्रयाणां चक्राणामेकैकप्रकारत्वं कथमिति ? उच्यते—"प्रत्येकमंशभेदेन सर्गस्थितिलयक्रमात्" इति संकेतपद्धत्युक्तरीत्या [4]एकैकचक्रावयवत्रितयस्य सृष्टिस्थितिसंहारभेदात् क्रोडीकारः[5] । तद्यथा—चतुरस्रत्रयं सृष्टिसृष्टिः, षोडशदलपद्मं सृष्टिस्थितिः, अष्टदलपद्मं सृष्टिसंहारः । एवं चक्रत्रयमयं सृष्टिमयत्वादेकम् । एवं चतुर्दशारं स्थितिसृष्टिः बाह्यदशारं स्थिति-स्थितिः, अन्तर्दशारं स्थिति-संहारः । एवं चक्रत्रयं स्थितिमयत्वादेकम् । एवमष्टकोणं संहारसृष्टिः, त्रिकोणं संहारस्थितिः, बैन्दवं संहारसंहारः । एवं चक्रत्रयं संहारमयत्वादेकम्[6] । इत्येतत् सर्वं मनसि निधायाह—

श्रीचक्र की भावना के उक्त दो प्रकारों के बन जाने के बाद इन्हीं से लगे हुए अष्टदल और षोडशदल कमलों से संयुक्त चतुरस्रत्रय से इस भावना का तीसरा प्रकार पूरा होता है ॥ ७५-७६॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि तीन-तीन चक्रों को मिलाकर एक-एक प्रकार कैसे बन सकता है ? इसका उत्तर यह है कि [1]संकेतपद्धति के अनुसार सृष्टि, स्थिति और संहार के भेद से प्रत्येक चक्र के तीन-तीन अंश बन जाते हैं । इस तरह से प्रत्येक चक्र के सृष्टि, स्थिति और संहार नामक अवयवों को मिलाकर उक्त त्रिविध भावना की जाती है । जैसे कि चतुरस्रत्रय सृष्टि-सृष्टि, षोडश दल सृष्टि-स्थिति और अष्टदल सृष्टि-संहार का प्रतीक है । इस तरह से ये तीनों चक्र सृष्टिमय होने से एक ही मान लिये जाते हैं । इसी तरह से चतुर्दशार स्थिति-सृष्टि, बाह्यदशार स्थिति-स्थिति और अन्तर्दशार स्थिति-संहार दशा वाला है । इस प्रकार ये तीन चक्र भी स्थितिमयता के आधार पर एक हैं । इसी तरह से अष्टकोण संहार-सृष्टि, त्रिकोण संहार-स्थिति और बैन्दव चक्र संहार-संहार दशा वाला है । इस तरह से ये तीन चक्र अपनी संहारमयता के आधार पर एक हैं । आगे भगवान्

१. अत्यन्तमव्यवहितम्-ने. ज. झ. उ. । २. 'षोडश····त्रयात्मकं' इत्यस्य स्थाने 'चतुरस्रत्रयोपेतं चक्रत्रयोपेतं चक्रत्रयात्मकं' इति पाठः-ग. ने. ज. उ. । ३. 'ननु···· रीत्या' नास्ति-ख. ने. ज. झ. । ४. एकेन चक्रावयवत्रितयस्य प्रत्येकस्य-ने. ज. झ. उ. । ५. कारतः-ने. ज. झ. उ. । ६. इतः परम्-'बैन्दवं चक्रमारभ्य चतुरस्रान्तोद्धारः सृष्टिरित्यर्थः' इति सार्वत्रिकः पाठोऽत्रानावश्यकः, अग्रे विद्यमानत्वात् ।

1. इस विशिष्ट ग्रन्थ का परिचय नित्या. षो., उपो. पृ. ४६-४७ से तथा लुप्ता. भा. २, पृ. ७३ से प्राप्त करना चाहिये । लगता है भास्करराय के समय में भी यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था । इस ग्रन्थ के कुछ वचनों की भास्करराय ने नित्या. षो. पंचम पटल का अंश मानकर व्याख्या की है ।

चक्रस्य त्रिप्रकारत्वं कथितं परमेश्वरि ।

स्पष्टम् ।

ननु चक्रस्य त्रैविध्यमुक्तं यदि तर्हीदं चक्रं मध्यचक्रमारभ्य किमुत्पादयितुं न शक्यत इत्यत आह—

सृष्टिः[1] स्यान्नवयोन्यादिपृथ्व्यन्तं संहृतिः पुनः ॥७७॥
पृथ्व्यादिनवयोन्यन्तमिति शास्त्रस्य निर्णयः ।

अत्र नवयोनिशब्देन [2]नवयोन्यन्तर्गतं बैन्दवं चक्रं लक्ष्यते । [3]तद् बैन्दवं चक्रमारभ्य चतुरस्रान्तोद्धारः सृष्टिः । संहृतिः पुनः पृथ्व्यादिनवयोन्यन्तमिति । तथा च चतुरस्रत्रयमारभ्य बैन्दवान्तमुद्धारः संहार इत्यर्थः । इति चतुःशतीशास्त्रस्य निर्णयः । अतो न [1]मध्यमादिचक्रमुद्धारयतीति तात्पर्यम् । यथा देवदत्तविष्णुमित्रयज्ञदत्तेषु प्रस्तुतेषु देवदत्तयज्ञदत्तयोः फलानि देयानीत्युक्ते विष्णुमित्रस्य न देयानीति गम्यते, तद्वत्[2] ॥७७-७८॥

पूर्वं श्रीचक्रमवयवशो विभज्य वासनामुक्त्वेदानीं समष्टिचक्रस्य वासनामाह—

एतत्समष्टिरूपं तु त्रिपुराचक्रमुच्यते ॥७८॥

एतत्समष्टिरूपं सृष्ट्यादित्रितयं समष्टिर्नाम । अवयवी तु तथा न भवति, सृष्टिपदेन स्थितिपदेन संहारपदेनापि च नाभिधीयते, किन्तु[3] त्रिपुराचक्रमुच्यते । त्रिपुरायाः सृष्ट्यादिभ्यः पुरा विद्यमानत्वात् तत्पदा[4]भिधेयाया अनाद्यन्तरूपायाः स्वसंविदश्चक्रमाविर्भावभूमिरित्युच्यते । तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—"वशिन्योऽष्टौ सान्तरालम्" इत्यादिना "अनाख्या सर्वगा ततः" इत्यन्तेन ॥७८॥

शिव कहते हैं कि इसी विभाग को मन में रखकर मैंने श्रीचक्र की त्रिविध भावना का प्रकार बताया है—

हे परमेश्वरि ! इस तरह से मैंने चक्र की त्रिविध भावना का कथन किया है ॥७७॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥७७॥

ऊपर चक्र की त्रिविधता का वर्णन है तथा चतुरस्र चक्र से इसका प्रारंभ बताया गया है । उसके स्थान पर किसी बीच के चक्र से भी इसकी भावना की जा सकती है, अतः इस विषय में शास्त्र की व्यवस्था बताई जा रही है—

नवयोनि से चतुरस्र पर्यन्त चक्र का उद्धार सृष्टिक्रम और चतुरस्र से नवयोनि पर्यन्त उद्धार संहारक्रम कहलाता है, शास्त्र का यही निर्णय है ॥७७-७८॥

यहाँ नवयोनि शब्द से तदन्तर्गत बैन्दव चक्र का ग्रहण किया जाता है । इस बैन्दव चक्र से चतुरस्र पर्यन्त चक्र का उद्धार सृष्टिक्रम कहलाता है और चतुरस्रत्रय से बैन्दव चक्र पर्यन्त उद्धार संहारक्रम के अन्तर्गत आता है । यह [1]चतुःशतीशास्त्र का निर्णय है । इसलिये उक्त दो क्रमों के अतिरिक्त किसी बीच के चक्र से श्रीचक्र का उद्धार नहीं किया जा सकता । जैसे देवदत्त, विष्णुमित्र और यज्ञदत्त की उपस्थिति में कोई कहे कि देवदत्त और यज्ञदत्त को फल दो, तो इससे यह निकलता है कि विष्णुमित्र को फल नहीं देना है, उसी तरह से चक्र के उद्धार की दो विधियों के बताने से यह निकलता है कि इनसे भिन्न कोई तीसरी विधि नहीं है ॥७७-७८॥

ऊपर श्रीचक्र को तीन अवयवों में विभक्त कर उसकी भावना का प्रकार बताया गया है, अब पूरे चक्र की एक साथ भावना करने की विधि बताई जा रही है—

सृष्टि आदि तीनों विभागों को एक साथ मिला देने पर त्रिपुराचक्र परिपूर्ण कहलाता है ॥७८॥

समष्टि शब्द का अर्थ है सृष्टि, स्थिति और संहार चक्र की एकाकारता । अवयवशः यह चक्र सृष्टि, स्थिति और संहार चक्र के नाम से जाना जाता है, किन्तु इन सब रूपों के एक साथ मिल जाने पर ऊपर वाला विभाग भी समाप्त हो जाता है । उस समय समष्टिभूत यह अवयवी चक्र उक्त तीनों अलग-अलग नामों से अभिहित न होकर केवल त्रिपुरा चक्र के नाम से जाना जाता है । त्रिपुरा चक्र का अर्थ है—सृष्टि आदि तीन अवस्थाओं से पहले विद्यमान, अनादि और अनन्त स्वरूपवाली संवित्स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा का आविर्भावक चक्र । संकेतपद्धति के कुछ श्लोकों में इन व्यष्टि और समष्टि

---

१. सृष्टिस्थं–ख. ग. च. छ. ज. झ. उ. । २. 'नव' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'तद् बैन्दवं....सृष्टिः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. नित्याषोडशिकार्णव को अमृतानन्द चतुःशतीशास्त्र के नाम से उद्धृत करते हैं । शिवानन्द के अनुसार इसमें पूरे चार सौ श्लोक हैं । वहाँ प्रथमतः (१।२९-४१) सृष्टिक्रम के अनुसार तथा बाद में (१।५९–७१) संहारक्रम के अनुसार श्रीचक्र का उद्धार बताया गया है । यहाँ अमृतानन्द का कहना है कि चतुःशतीशास्त्र में सृष्टिक्रम और संहारक्रम से श्रीचक्र का उद्धार बताया गया है, अतः इन दो क्रमों के अतिरिक्त किसी तृतीय क्रम से श्रीचक्र की उपासना नहीं की जा सकती । भास्करराय के अनुसार नित्याषोडशिकार्णव के १।४२ श्लोक में इस विषय की चर्चा हुई है । इस प्रसंग में यह अवधेय है कि संहारक्रम के उद्धारक श्लोक जयरथ अथवा विद्यानन्द की व्याख्या मे उपलब्ध नहीं हैं । नित्या. उपो. पृ० ९–११ में इस विषय की विस्तृत चर्चा की गई है ।

१. मध्यमारभ्य चतुःशतीशास्त्रस्य चक्रोद्धार इति–ख. ग. । २. 'तद्वत्' नास्ति–ख. ने. झ. । ३. 'किन्तु' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. । ४. नभिसन्धेयायाः–ख. ने. ज. झ. उ. ।

ननु स्वसंविद्रूपा त्रिपुरैव सा ज्ञायताम्, किमेतेन चक्रवासनालक्षणेन बकबन्धनप्रयासेनेत्यत आह—

यस्य विज्ञानमात्रेण त्रिपुराज्ञानवान् भवेत् ।

यस्य विज्ञानमात्रेण यस्मिन् विज्ञात एव, त्रिपुराचक्रज्ञानमात्रेण त्रिपुराज्ञानवान् ज्ञाता भवेत् । कोऽर्थः ? [1]शुद्धाया निराकारमूर्तेस्त्रिपुराया ज्ञानमशक्यम् । अत एवोक्तरीत्यैव एतच्चक्रवासनया[2] तन्मध्ये [3]बैन्दवचक्रे क्रोडीकृता सा ज्ञातुं शक्येत्यर्थः । तदुक्तमभियुक्तैः—

चक्रों का स्वरूप प्रदर्शित हैं । [1]ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली (नि. षो. पृ. ६५-६६) में इस विषय को देखना चाहिये ।।७८।।

अब प्रश्न उठता है कि जब श्रीचक्र में त्रिपुरा का निवास है, तो हम स्वसंवित्-स्वरूपिणी त्रिपुरा को जानने का हो प्रयास क्यों न करें, बगुले को पकड़ने के प्रयास सरीखे इस चक्र-वासना के चक्कर में पड़ने से क्या लाभ है ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

इस त्रिपुरा भगवती के चक्र को सही तरह से जान लेने वाले व्यक्ति को त्रिपुरा का ज्ञान अपने आप हो जाता है ॥७९॥

जिसके जान लेने पर, अर्थात् ऊपर वर्णित विविध वासनाओं के माध्यम से इस श्रीचक्र के स्वरूप को ठीक तरह से समझ लेने पर साधक त्रिपुरा के स्वरूप का ज्ञाता हो जाता है । इसका भाव यह है कि शुद्ध निराकार स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा को समझ पाना कठिन है । इसीलिये ऊपर बताई गई विविध वासनाओं के सहारे इस श्रीचक्र के मध्य में विराजमान बैन्दव चक्र में अपने स्वरूप को छिपा कर बैठी हुई भगवती को जाना जा सकता है, जैसा कि सुभगोदयवासनाकार[2] शिवानन्द ने कहा है—

---

१. शुद्धनिरा-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. नायास्त-ने. झ. उ. । ३. बैन्दवे क्रोडी-ख. ग ने. ज. झ. उ. ।

1. इस प्रसंग में ऋजुविमर्शिनीकार ने संकेतपद्धति के तीन श्लोक उद्धृत किये हैं । उनमें सृष्टि, स्थिति और संहार चक्र के निरूपण के बाद चतुर्थ अनाख्या चक्र की चर्चा की गई है । दीपिका में तृतीय श्लोक के प्रारंभ और अन्त का कुछ अंश मात्र उद्धृत है । इसमें अष्टकोण, त्रिकोण और बिन्दुचक्र की संहारात्मकता का तथा सम्पूर्ण चक्र की अनाख्यता का उल्लेख है । अर्थरत्नावली में उद्धृत वचनों में यह विषय भिन्न पद्धति से वर्णित है ।

2. इस ग्रन्थ का परिचय पृ० ७१ की पहली टिप्पणी में दिया जा चुका है ।

घृतकाठिन्यवच्चक्रमहायोनौ चिदम्बरम् ।
द्रुतहेमघनीभावमिव [1]मूर्तीकरोम्यहम् ॥ (सु० वा० ३६) इति ।

चक्रस्य पूर्वमुद्दिष्टं नवधात्वमिदानीं वक्तुं प्रतिजानीते—

चक्रस्य नवधात्वं च कथयामि तव प्रिये ॥७९॥

यतः प्रियतमाऽसि त्वम्, अतो रहस्यमपि कथयामीत्यर्थः ॥७९॥
इदानीं नवधा[2]त्वमेवाह—

आदिमं भूत्रयेण स्याद् द्वितीयं षोडशारकम् ।
अन्यदष्टदलं प्रोक्तं मनुकोणमनन्तरम् ॥८०॥
पञ्चमं दशकोणं स्यात् षष्ठं चापि दशारकम् ।
सप्तमं वसुकोणं स्यान्मध्ये[3]त्र्यस्रमथाष्टमम् ॥८१॥
नवमं त्र्यस्रमध्यं स्यात्

मैं चक्र की महायोनि में, अर्थात् बैन्दव चक्र में, जमे हुये घृत के[1] समान घनीभूत स्वरूप वाली संवित्कला का पिघले हुए सुवर्ण के घनीभूत स्वरूप-सदृश कान्ति वाली चिदम्बर की मूर्ति बना कर ध्यान करता हूँ ।।७९।।

चक्र की त्रिविध भावना के उपदेश के बाद अब पूर्वसूचित नवविध भावना का वर्णन करते हैं—

हे प्रिये, अब मैं चक्र की नवविध भावना को कहता हूँ ॥७९॥

तुम मेरी प्रियतमा हो, अतः इस रहस्य को भी अब मैं तुम्हारे सामने खोल रहा हूँ ।।७९।।

अब चक्र की नवविधता का वर्णन किया जाता है—

चतुरस्र त्रय से पहला प्रकार बनता है, षोडशार से दूसरा, अष्टदल से तीसरा, चतुर्दशार से चौथा, बाह्यदशार से पाचवां, अन्तर्दशार से छठा, अष्टकोण से सातवां, मध्यत्र्यस्र (मध्य त्रिकोण) से आठवाँ और त्र्यस्रमध्य (त्रिकोण मध्यगत बिन्दु) से नवाँ प्रकार बनता है ॥८०-८२॥

---

१. मूर्तिमिति सार्वत्रिकः पाठः । २. धात्वमाह-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. मध्य-च. छ. ज. झ. ।

1. प्रस्तुत श्लोक में संवित्कला के स्वरूप की घनीभूत घृत से तथा चिदम्बर मूर्ति की पिघले हुए सुवर्ण के घनीभूत स्वरूप से तुलना की गई है । इससे संवित्कला के घृत सदृश कोमल दयार्द्र स्वरूप की तथा चिदम्बर मूर्ति के तप्त हेमसदृश स्वरूप के आवाहन के बाद उसके निष्कल और सकल स्वरूप के ध्यान की विधि बताई गई है ।

भूत्रयेण चतुरस्रत्रयेण । मनुकोणं चतुर्दशारम् । वसुकोणम् अष्टकोणम् । स्पष्टमन्यत् ॥८०-८२॥

उक्तानां नवचक्राणां नामान्याह—

तेषां नामान्यतः शृणु ।
त्रैलोक्यमोहनं चक्रं सर्वाशापरिपूरकम् ॥८२॥
सर्वसंक्षोभणं गौरि[3] सर्वसौभाग्यदायकम् ।
सर्वार्थसाधकं चक्रं सर्वरक्षाकरं परम् ॥८३॥
सर्वरोगहरं देवि सर्वसिद्धिमयं तथा ।
सर्वानन्दमयं चापि नवमं शृणु सुन्दरि ॥८४॥

त्रैलोक्यमोहनम् । लोक्यत इति लोकः, लोक्यतेऽनेनेति लोकः, लोकयतीति लोक इति कर्मकरणकर्तृव्युत्पत्त्या मेयमानमातृलक्षणं त्रैलोक्यम्, तस्य मोहनं तिरोधायकमद्वैतप्रतीत्युत्पादनेन । सर्वाशापरिपूरकम् । आशा नाम अतृप्तस्य पदार्थान्तरेषु स्पृहा, तस्याः सर्वस्याः स्पृहायाः परिपूरकं नित्यपरिपूर्णतृप्तिलक्षणपरमशिवसामरस्यप्रतिपादनेन । [1]सर्वसंक्षोभणम् । सर्वस्य क्षित्यादेः शिवान्तस्योपर्युपरि तत्त्वक्रमेण [2]संक्षोभः, तस्य संहारलक्षणस्य कारकम्, भेदप्रपञ्चलयरूपत्वात् । सर्वसौभाग्यदायकम् । सर्वसौभाग्यं सर्वस्पृहणीयता, तस्या दायकम्, सर्वस्पृहणीयपरप्रेमास्पदपरशिवैक्यप्रतिपादनेन । सर्वार्थसाधकम् । सर्वेषां वैदिकानां तान्त्रिकाणां [3]क्रियाणामर्थः प्रयोजनं परशिवप्राप्तिः, तदुक्तं महाकविभिः—

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ (रघु० १०।२६) इति ।

तत्साधयति । सर्वरक्षाकरम् । रक्षा नाम प्रतिकूलपदार्थादुपहतिपरिहारः । षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं सर्वमेव प्रतिकूलपदार्थः, तस्मात् सर्वस्माद् रक्षां शिवाहम्भावभावनालक्षणां करोति । तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—

भूत्रय चतुरस्रत्रय को कहते हैं । [1]मनुकोण चतुर्दशार को और वसुकोण अष्टकोण को कहते हैं । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥८०-८२॥

उक्त नवचक्रों के नाम बताते हैं—

अब उनके नाम सुनो । त्रैलोक्यमोहन चक्र पहला और सर्वाशापरिपूरक चक्र दूसरा है । हे गौरि ! सर्वसंक्षोभण चक्र तीसरा, सर्वसौभाग्यदायक चौथा, सर्वार्थसाधक चक्र पाचवाँ और सर्वरक्षाकर छठा चक्र है । हे देवि ! सातवें चक्र का नाम सर्वरोगहर और आठवें का नाम सर्वसिद्धिमय है । हे सुन्दरि ! तुम सुनो कि नवें चक्र का नाम सर्वानन्दमय है ॥८२-८४॥

१. त्रैलोक्यमोहन शब्द में जो लोक शब्द है, उसकी कर्म, करण और कर्ता के अर्थ में त्रिविध व्युत्पत्ति की जाती है—जो देखा जाता है, जिससे देखते हैं और जो देखता है । इनसे क्रमशः मेय, मान और माता का ग्रहण होता है । इन तीनों के समाहार का नाम त्रैलोक्य है । यह चक्र इस त्रैलोक्य का मोहन करने वाला है, अद्वैत दृष्टि को उत्पन्न कर यह चक्र इस त्रैलोक्य को तिरोहित कर देता है । २. सर्वाशापरिपूरक पद में विद्यमान आशा शब्द का अर्थ है अतृप्त मन का नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति के लिये टकटकी लगाये रखना । इस तरह की सभी अभिलाषाओं की पूर्ति यह चक्र कर देता है, क्योंकि यह अपने उपासक को नित्य परिपूर्णतृप्ति से ओतप्रोत परमशिव के साथ एकरस कर देता है । ३. संहार दशा में पृथिवी से शिवपर्यन्त तत्त्वों का एक दूसरे में लय हो जाता है । सब तत्त्वों के संहारात्मक क्षोभ को करने वाला यह सर्वसंक्षोभण चक्र अपने साधक की समस्त भेददृष्टि का विलय कर देता है । ४. सबके द्वारा स्पृहणीय वस्तु को सर्वसौभाग्य कहते हैं । यह सर्वसौभाग्यदायक चक्र सभी के द्वारा अभिलषणीय परम प्रेम के स्थान परम शिव के साथ साधक को एकता प्रदान कर देता है । ५. सभी वैदिक और तान्त्रिक क्रियाकलाप का एक ही प्रयोजन है—परमशिव की प्राप्ति । जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

नाना प्रकार के शास्त्रों में पुरुषार्थ के साधक अनेक उपाय बताये गये हैं । किन्तु जैसे सभी नदियों का जल लेकर गंगा अन्ततः समुद्र में मिल जाती है, उसी तरह से इन सब उपायों से व्यक्ति अन्ततः आपके पास ही पहुँचता है ॥

इस प्रयोजन की सिद्धि करने वाला है सर्वार्थसाधक चक्र । (६) सर्वरक्षाकर चक्र सभी प्रकार के प्रतिकूल पदार्थों के सम्पर्क से होने वाले कष्ट से साधक को बचाता है । ३६ तत्त्वात्मक यह सारा जगत् प्रतिकूल पदार्थ है । इन सब में शिवाहंभाव की भावना का प्रसार कर यह चक्र उनके विपरीत प्रभाव से साधक की रक्षा करता है । अर्थात् सभी पदार्थों में शिव विराजमान है और मैं भी उस शिव से भिन्न नहीं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान का उदय हो जाने पर साधक जगत् में सभी प्रकार के प्रतिकूल पदार्थों से सुरक्षित हो जाता है । परापंचाशिका में बताया गया है—

१. चतुर्दशकोणं स्पष्ट–ख. ग. ज. झ. उ. । २. सर्वक्षोभकरं–ख. ग. च. छ. झ. उ. । ३. देवि–झ. उ. ।

१. सर्वक्षोभकरं–ख. ग. ज. झ. उ. । २. क्षोभस्य सं–ख. ग. ज. झ. । ३. णामप्यर्थः–ख ग. ने झ. ।

१. पुराणों में एक कल्प में १४ मनुओं की स्थिति मानी जाती है, अतः मनुकोण शब्द से यहाँ चतुर्दश कोणात्मक चतुर्दशार चक्र गृहीत होता है । इसी तरह से वसु देवों की आठ संख्या के आधार पर वसुकोण शब्द अष्टकोण का वाचक है ।

अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः ।
पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वभावमशिवापहम् ॥ (श्लो० ५०) इति ।

सर्वरोगहरम् । भेदलक्षणं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं सर्वमेव रोगः, तस्य हरम्, अभेदप्रतीतिहेतुत्वात् । अत्रैवोक्तम्—"विकल्परूपरोगाणां हारिणी खेचरी परा" (१।८६) इति । सर्वसिद्धिमयम् । सर्वस्य सिद्धिरुत्पत्तिः स्थितिः संहारश्च, तन्मयम्, त्रिकोणस्य सर्वसृष्टिस्थितिसंहारहेतुत्वात् । तदुक्तं[1] श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये—"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (सू० १) इति । सर्वानन्दमयम् । शिवशक्तिलक्षणप्रकाशविमर्शसामरस्यरूपत्वात् । अत्र सर्वत्र प्रवृत्तिनिमित्तभेदादद्वैतविश्रान्तिरेव परमार्थः ॥८२-८४॥

पूर्वोक्तवासनाचक्रस्य प्रयोजनमाह—

अत्र पूज्या महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी ।

इदन्तारूपी प्रतियोगी (शत्रु) का अहन्ता में विलय करने के प्रयास में लगा साधक अन्ततः सभी प्रकार के अमंगल का नाश कर देने वाले अपने शिवस्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥

(७) परस्पर भिन्न ३६ तत्त्व वाला यह सारा संसार ही एक रोग है। सर्वरोगहर चक्र परस्पर की भेद दृष्टि को मिटाकर सबमें अभेद प्रतीति को जगाकर सभी रोगों के निदानभूत इस मूल रोग को ही मिटा देता है। अभी (१।६८) मुद्रा के प्रकरण में भी बताया गया है कि "खेचरी मुद्रा सारे विकल्पात्मक रोगों का नाश करने वाली है।" (८) सर्वसिद्धिमय का अर्थ है सारे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाला। त्रिकोण चक्र ही सबकी सृष्टि आदि का कारण है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में बताया गया है कि "चिति शक्ति ही विश्व की सिद्धि में कारण है"। (९) शिव और शक्ति की, प्रकाश और विमर्श की समरसभाव से स्थिति सर्वानन्दमय चक्र में रहती है। इस तरह से यह चक्र सभी प्रकार के आनन्दों से ओतप्रोत है। ऊपर सभी नौ चक्रों के नामों की वासना बताई गई है। इन सबमें शब्दों की भिन्नता भले ही हो, किन्तु सबका वास्तविक अर्थ अद्वय शिवतत्त्व में विश्रान्ति प्राप्त करना ही है ॥८२-८४॥

ऊपर चक्र की जो त्रिविध और नवविध वासना बताई गई है, अब उसका प्रयोजन बताते हैं—

इस तरह से त्रिविध और नवविध वासना के द्वारा भावित श्रीचक्र में महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा करनी चाहिये ॥८५॥

१. त्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—झ. विहाय सर्वत्र ।

महादेवी । महती देशकालाकारैरनाकलितत्वात्, द्योतनादिति देवी, देवीपदाभिधेया विमर्शरूपा । अत्र "त्रिधा च नवधा च" (१।७२) इति पूर्वोक्तवासनाचक्रे । महात्रिपुरसुन्दरी । महती अनावरणा चिद्रूपिणी, त्रिपुरा [1]तुर्यरूपत्वात्, सुन्दरी स्वस्वात्मतया [2]सर्वस्य स्पृहणीयत्वात् । एवं विद्या स्वसंविद्देवता पूज्या वक्ष्यमाण(३।२-४)परादित्रिविधरूपया पूजया भावनीया ।

त्रैलोक्यमोहनादिनवचक्राणां स्वस्वनामानु[3]रूपार्थवासनालक्षणफलान्युक्त्वेदानीं समष्टिचक्रस्य फलमाह—

परिपूर्णं महाचक्रमजरामरकारकम् ॥८५॥

परिपूर्णं [4]नवचक्रसमष्टिरूपं महायोनि[5]मध्यमहाबिन्दु[6]चक्रस्फुरत्प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपपराप्रभापटलमयसर्वानन्दमयं [7]सर्वावरणसमग्रं च महाचक्रम् । विश्व-

महात्रिपुरसुन्दरी महादेवी इसलिये है कि यह देश, काल और आकार से अनाकलित है, अस्पृष्ट होने से महान् है और प्रकाशमान होने से विमर्शस्वरूपिणी देवी है। "त्रिधा च नवधा च" (१।७२) इत्यादि श्लोकों के द्वारा जिस चक्र की त्रिधा और नवधा भावना विधि का वर्णन किया गया है, उसी चक्र में महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा करनी चाहिये। यह देवी निरावरण चित्स्वरूपिणी है, इसका चित्स्वरूप सदा प्रकाशमान है, इसको कोई आवृत नहीं कर सकता, इसलिये यह महान् है। यह तुरीयस्वरूप वाली है, अतः त्रिपुरा है, तीन-तीन संख्या वाली सभी वस्तुओं को पैदा करने वाली होने से उनसे पहले विद्यमान है। यह सुन्दरी इसलिये है कि अपनी आत्मा के समान इसका स्वरूप सबको स्पृहणीय है, सभी साधक इस स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं। इन विशेषणों वाली अपनी ही संविति (ज्ञान) में भासित हो रही इस देवता की आगे (३।२-४) बताई गई परा, अपरा, परापरा नामक पूजा के त्रिविध प्रकारों से उपासना करनी चाहिये।

त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों का अपने नाम के अनुरूप अर्थ बताने से उनकी भावना का फल भी बता दिया गया है। अब समष्टि (सम्पूर्ण) चक्र की भावना का फल बताते हैं—

नवचक्रसमष्टिस्वरूप इस परिपूर्ण चक्र की भावना करने से साधक अजर और अमर हो जाता है ॥८५॥

परिपूर्ण महाचक्र का अर्थ है नवचक्रसमष्टि स्वरूप महायोनि (मध्यत्रिकोण) के मध्य में विराजमान बिन्दुचक्र। इसी सर्वानन्दमय चक्र में विराजमान प्रकाश और विमर्श

१. तुरीय—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. सर्वस्पृह—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. रूपलक्षणफला—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ४. 'नवचक्रसमष्टिरूपं' नास्ति—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. 'मध्य' नास्ति—ख. ने. । ६. 'चक्र' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ७. 'सर्वावरणसमग्रं च' नास्ति—ख. ज. झ. उ. ।

मयविश्वोत्तीर्णपरामयत्वाद् अजरामरकारकम्। अजरः कालत्रयातीतत्वात्, [1]अत एवामर उत्पत्तिविनाशरहितत्वात्, अजरामरः [2]परमशिवः। [3]कारकं स्वपूजकस्य [4]कालत्रयातीतोत्पत्तिविनाशरहितनित्यपरशिवत्वप्राप्तिलक्षणं मोक्षं करोतीत्यर्थः ॥८५॥

चक्रसंकेतमुपसंहरति—

एवमेष महाचक्रसंकेतः परमेश्वरि।
कथितस्त्रिपुरादेव्या जीवन्मुक्तिप्रवर्तकः[5] ॥८६॥

एवम् उक्तप्रकारेण। त्रिपुरादेव्याः पूर्वोक्त(१।६)लक्षणायाः। महाचक्रसंकेतः षट्-त्रिंशत्तत्त्वचक्ररूपत्वान्महाचक्रम्। जीवतो मुक्तिः जीवन्मुक्तिः। मुक्तिर्हि बन्धना[6]दुर्द्बन्धनं घृणादिपाशाष्टकेन। [7]कोऽर्थः? परशिवादिस्वगुरुपरदेवताधिगतपर-

---

के सामरस्य स्वरूप के परम तेजोमय प्रभापटल से अन्य सभी चक्रों और आवरण-देवताओं का प्रकाश चारों तरफ़ फैलता है। इस तरह से यह महाचक्र मूलदेवता और आवरण देवताओं के प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों स्वरूपों से संयुक्त होने से यह पराशक्तिमय चक्र अजरता और अमरता को प्रदान करने वाला है। तीनों कालों से अतीत होने से अजर और उत्पत्ति तथा विनाश से रहित होने से अमर वस्तुतः परम शिव ही है। यह चक्र अपनी पूजा करने वाले साधक को तीनों कालों से अतीत और उत्पत्ति-विनाश से रहित नित्य परमशिव पद (मोक्ष) को प्राप्त करा देता है ॥८५॥

अब चक्रसंकेत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

हे परमेश्वरि! इस तरह से मैंने तुमको जीवन्मुक्ति प्रदान करने वाले इस चक्रसंकेत प्रकरण का उपदेश किया है ॥८६॥

ऊपर बताई गई विधि से पूर्वोक्त लक्षण वाली त्रिपुरा देवी का यह महाचक्रसंकेत साधक को इसी जीवन में मुक्ति प्रदान कर देता है। श्रीचक्र को महाचक्र यहाँ इसलिये कहा गया है कि यह चक्र ही ३६ तत्त्वों के महाचक्र का स्वरूप धारण करता है। मनुष्य घृणा आदि पूर्व वर्णित (१।७२) आठ पाशों से बँधा रहता है। यह महाचक्र साधक को इन बन्धनों से छुड़ा देता है। इसका अभिप्राय यह है कि परम शिव से लेकर

---

१. अमरः, अत एवोत्पत्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। २. 'परम' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ३. 'कारकं' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. कालातीतनित्यपरशिवप्राप्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ५. प्रदायकः–क. उ.। ६. नादामोचनं–उ.। ७. 'कोऽर्थः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

मार्थश्चक्रसंकेतकः स्वपरामर्शकस्य हठादेव सकलपाशविनाशनेन शिवाहम्भावभावनां प्रवर्तयतीत्यर्थः ॥८६॥

इति श्रीपरमयोगीन्द्रपरमहंसपुण्यानन्दशिष्यपरमहंसामृतानन्द-
योगिप्रवरविरचितायां योगिनीहृदयदीपिकायां
चक्रसंकेतः प्रथमः ॥

●

अपने गुरु पर्यन्त चली आ रही परदेवतामय गुरुपरम्परा से इस चक्रसंकेत प्रकरण का वास्तविक अभिप्राय समझ कर और उस पर अमल कर साधक अनायास ही ऊपर बताए गये पाशों से मुक्त हो जाता है और अपने भीतर इस बात का अनुभव करने लगता है कि मैं तो शिव ही हूँ ॥८६॥

इस तरह से परमयोगीन्द्र परमहंस पुण्यानन्द के शिष्य परमहंस अमृतानन्द
योगिप्रवर विरचित योगिनीहृदयदीपिका का यह पहला चक्रसंकेत
प्रकरण पूरा हुआ ॥१॥

●

मन्त्रसंकेतो द्वितीयः

[1]अथ द्वितीयं मन्त्रसंकेतकं श्रोतृजनप्रवृत्तये फलप्रतिपादनपूर्वकं वक्तुं प्रतिजानीते—

मन्त्रसंकेतकं दिव्यमधुना कथयामि ते ।
यद्वेत्ता त्रिपुराकारो वीरचक्रेश्वरो भवेत् ॥१॥

दिव्यं प्रकाशविमर्शरूपपरशिवपराशक्तिप्रतिपादनपरत्वात् । मन्त्रसंकेतकम् । मननात् त्रायन्ते साधकमिति मन्त्राश्चिन्मरीचयः । तद्वाचकत्वाद् वैखरीवर्णविलासभूतानां सौभाग्यविद्यादीनां मननत्राणता । तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—"मननात् त्राणधर्मोऽसौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तितः" इति । संकेतकं[2] पूर्वोक्त(१।६)लक्षणम् । [3]अधुना कथयामीति । प्रकाशात्मकोऽहं ते विमर्शरूपिण्याः कथयामि, हृदयङ्गमतां नयामीत्यर्थः । यद्वेत्ता यस्य मन्त्रसंकेतकस्य[4] वेत्ता ज्ञाता । त्रिपुराकारो वेदनसपरिस्फुरत्परशिवभट्टारकः । वीरचक्रेश्वरो भवेत् । वीराः पूर्वोक्त(१।६५)लक्षणाः, तेषां

अब द्वितीय मन्त्रसंकेत प्रकरण प्रारंभ होता है । श्रोतागण इस ओर प्रवृत्त हों, इसके लिये इसकी फलश्रुति भी यहाँ दी जा रही है—

अब मैं दिव्य मन्त्रसंकेत प्रकरण का तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ । इसको जानने वाला वीरचक्र का स्वामी त्रिपुरास्वरूप हो जाता है ॥१॥

मन्त्रसंकेत दिव्य इसलिये है कि यहाँ प्रकाश-विमर्श स्वरूप परमशिव और पराशक्ति का प्रतिपादन किया गया है । मन्त्र शब्द का अर्थ है अपना मनन करने वाले साधक की रक्षा करने वाली चिच्छक्ति की किरणें । सौभाग्यविद्या प्रभृति मन्त्रों के वाचक वैखरी वाणी के विलास स्वरूप वर्णों में भी चिच्छक्ति का स्फुरण विद्यमान है । अतः इनमें भी मनन करने वाले का त्राण करने की शक्ति विद्यमान होने से ये मन्त्र कहलाते हैं । संकेतपद्धति में कहा गया है—"मनन करने से त्राण (रक्षा) करता है, इसलिये इसको मन्त्र कहते हैं" । संकेतक शब्द का अर्थ पहले (१।६) बता दिया गया है । अब मैं मन्त्रसंकेत को कह रहा हूँ, मैं प्रकाशात्मक शिव तुम जैसी विमर्शरूपिणी देवी के हृदय में बैठा रहा हूँ । इस मन्त्रसंकेत का जानकार त्रिपुराकार हो जाता है, उसको सदा अपने परशिवभट्टारक स्वरूप का भान होने लगता है । वह वीरचक्रेश्वर हो जाता है । वीर का लक्षण पहले (१।६५) बताया जा चुका है, उनका चक्र हुआ समूह । इस समूह का वह स्वामी

---

१. 'अथ' नास्ति–ग. ने. ज. झ. उ. । २. संकेतं–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'अधुना कथयामि' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. ड. । ४. संकेतस्य–ख. ने. ज. झ. उ. ।

चक्रं समूहः, तस्येश्वरः परशिवः । कोऽर्थः ? एतन्मन्त्रसंकेतप्रतिपादित[1]श्रीविद्यादिमन्त्ररहस्यभूतपरभावनाप्रणाशितमायाजालः परशिव एव भवेदित्यर्थः ॥१॥

[2]पूर्वोक्तत्रैलोक्यमोहनादिनवचक्रेश्वरीमन्त्रानेवोपक्रम्य मन्त्रसंकेतमारभते—

करशुद्धिकरी त्वाद्या द्वितीया चात्मरक्षिका ।
आत्मासनगता [3]देवी तृतीया तदनन्तरम् ॥२॥
चक्रासनगता पश्चात् सर्वमन्त्रासनस्थिता ।
साध्यसिद्धासना षष्ठी मायालक्ष्मीमयी परा ॥३॥

हो जाता है, परशिवभावापन्न हो जाता है । इसका भाव यह है कि इस मन्त्रसंकेत प्रकरण में प्रतिपादित श्रीविद्या नामक मन्त्र के रहस्य को ठीक तरह से जानकर और उसकी उपासना कर साधक परशिव-स्वरूप हो जाता है, क्योंकि इस मन्त्र का मनन करने से उस पर छाया माया का जाल छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥१॥

त्रैलोक्यमोहन प्रभृति नौ चक्रों का उल्लेख पहले (१।८२-८४) हो चुका है । इन नौ चक्रों की अधिष्ठात्री देवियों के मन्त्रों के उपक्रम के साथ अब मन्त्रसंकेत प्रकरण प्रारंभ होता है—

[1]करशुद्धिकरी विद्या पहली, आत्मरक्षिका दूसरी और उसके बाद आत्मासनगता देवी तीसरी विद्या है । बाद में चक्रासनगता चौथी, सर्वमन्त्रासनस्थिता

---

१. विद्यामन्त्रार्थभूतपरभावनाप्राशस्त्यशाली परशिव–ख. ग. ने. उ. । २. पूर्वमनन्तरोक्तत्रैलोक्य–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. देवि–च. छ. ज. झ. ।

१. नित्याषोडशिकार्णव (१।९७–११८) में करशुद्धिकरी से लेकर मूलविद्या पर्यन्त आठ विद्याओं (मन्त्रों) का उद्धार बताया गया है । वहाँ उनका विनियोग साधक की करशुद्धि, आत्मरक्षा, स्वात्मासनशुद्धि, चक्रासनशुद्धि, मन्त्रासनशुद्धि, साध्यसिद्धासन(आवरणदेवतासन)शुद्धि तथा मूलदेवी के आवाहन एवं आराधन (पूजन) के लिये किया गया है । इन आठ विद्याओं का वहाँ उद्धार बता दिया गया है, अतः यहाँ (योगिनीहृदय में) केवल एक (सातवीं) विद्या का उद्धार किया गया है और इन नौ विद्याओं का विनियोग नौ चक्रों की अधिष्ठात्री त्रिपुरा प्रभृति नौ नित्याओं के विन्यास के लिये किया गया है । यहाँ यह स्मरणीय है कि नित्या. षो. की व्याख्या अर्थरत्नावली (पृ० १०७) में संकेतपद्धति के वचन के प्रमाण से आठ नित्याओं की ही चर्चा की गई है । नव नित्याओं का उल्लेख नित्या. षो. में कहीं नहीं मिलता । क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि संकेतपद्धति की रचना के बाद योगिनीहृदय का प्रादुर्भाव हुआ ?

मूर्तिविद्या च सा देवी सप्तमी परिकीर्तिता ।
अष्टम्यावाहिनी विद्या नवमी भैरवी परा ॥४॥

करशुद्धिकरी—

आत्मतत्त्वगतयोरशुद्धयोरत्र कर्मकरणात्मनोर्द्वयोः ।
शुद्धतत्त्वलयभावनामयी शुद्धिरात्मकरयोः परा मता ॥ (चि० ११)

इत्यस्मदुक्तरीत्या कर्मेन्द्रियान्तःपातिनोः करयोरशुद्धतत्त्वान्तर्गतयोरशुद्धयोः शुद्धतत्त्वलयभावना शुद्धिः, तत्करीयं विद्या, पराहन्ताप्रतिपादनपरत्वात् । अत्रैव वक्ष्यति—"कर्मेन्द्रियाणां वैमल्यात् करशुद्धिकरी स्मृता" (३।१२५) इति । आद्या त्रैलोक्यमोहनचक्रेश्वरी [1]विद्येत्यर्थः । नन्वत्र करशुद्धयादिमन्त्राणां संख्यामेव करोति, किमिति नोद्धरति ? उच्यते, वामकेश्वरशास्त्र एवासामुद्धारः[2], अत्र त्वज्ञातार्थप्रतिपादनपरत्वादस्य शास्त्रस्येति न मन्त्रोद्धारः क्रियत इति । द्वितीया

पाँचवीं, साध्यसिद्धासना छठी और मूर्तिविद्या सातवीं है । माया, लक्ष्मी और पराबीज से इसका स्वरूप बनता है । आठवीं विद्या आवाहिनी और परा भैरवी नवीं विद्या है ॥ २-४॥

करशुद्धिकरी विद्या का स्वरूप स्वयं ग्रन्थकार ने अपने चिद्विलास स्तव में इस तरह से बताया है—

साधक के अपने दोनों हाथों की गिनती कर्मेन्द्रिय में होती है, जो कि अशुद्ध आत्मतत्त्व के अन्तर्गत आते हैं । इनकी शुद्ध शिवस्वरूप में लीन होने की भावना ही उत्कृष्ट शुद्धि मानी जाती है ॥

इस तरह से कर्मेन्द्रिय में गिने जाने वाले, अशुद्ध तत्त्व के अन्तर्गत स्थित होने से अशुद्ध हाथों को शुद्ध तत्त्व में लय की भावना को यहाँ शुद्धि कहा गया है । यह करशुद्धिकरी विद्या पराहन्ता का प्रतिपादन करके इस शुद्धि का संपादन करती है । आगे (३।१२५) यहीं बताया जायगा कि "कर्मेन्द्रियों की पवित्रता की संपादिनी यह विद्या करशुद्धिकरी नाम से जानी जाती है" । यह पहली विद्या पहले त्रैलोक्यमोहन चक्र की स्वामिनी है । यहाँ करशुद्धिकरी आदि विद्याओं की संख्या ही बताई गई है, उद्धार नहीं किया गया । इसका कारण यह है कि इनका उद्धार वामकेश्वर शास्त्र में ही कर दिया गया है । योगिनीहृदय शास्त्र का आरम्भ वामकेश्वर शास्त्र में अज्ञात विषयों के प्रतिपादन के लिये हो हुआ है, अतः पुनः उन विद्याओं के उद्धार की यहाँ आवश्यकता नहीं है । दूसरी विद्या आत्मरक्षिका है । चिद्विलास स्तव में स्वयं ग्रन्थकार ने बताया है—

१. 'विद्या' नास्ति—ने. ज. झ. उ. । २. 'उक्तः' इत्यधिकं—झ. ।

चात्मरक्षिका । "भेदलक्षणविपक्षसंकटोत्तारणं परमिहात्मरक्षणम्" (चि० ७) इत्यस्मदुक्तरीत्या भेदप्रपञ्चलक्षणप्रतिपक्ष[2]पराभवरूपसंकटाद्[1] रक्षामभेदप्रतीतिरूपां पराहन्ताप्रतिपाद[3]नेनात्मनः करोतीत्यात्मरक्षिका द्वितीया सर्वाशापरिपूरकाख्यद्वितीयचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः । आत्मासनगता देवी[4] तृतीया । "[5]आत्मचक्रमनुदेवतात्मनामासनं शिवमयत्वभासनम्" (चि० ४५) इत्यस्मदुक्तरीत्या साधकचक्रमन्त्रदेवतानां स्वसंविद्रूपतयाऽनुसन्धानलक्षणासनचतुष्टयविद्यानामादिभूताऽऽत्मासनगता विद्या तृतीया सर्वसंक्षोभकर[6]लक्षणतृतीयचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः । [7]तदनन्तरं चक्रासनगता । तदनन्तरोक्तचक्रासनगता चतुर्थी विद्या सर्वसौभाग्यदायकलक्षणचतुर्थचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः । पश्चात् सर्वमन्त्रासनस्थिता । अनन्तरोक्त[8]वासनापूर्वोक्त(२।१)लक्षणमननत्राणलक्षणचिन्मरीचिप्रसरै[9]णाखिलावरणदेवतामन्त्रासन-

"भेददृष्टि ही विपक्ष का संकट उपस्थित करती है, शत्रु का काम करती है । उस संकट से उबारना ही सबसे बड़ी आत्मरक्षा है" । इस तरह से भेददृष्टि-प्रधान इस संसाररूपी प्रपंच से, जो कि साधक के सामने पराजय का संकट उपस्थित कर देता है, अभेद प्रतीति रूप अद्वयदृष्टि प्रदान कर पराहन्ता का स्वरूप समझा कर यह विद्या उसकी रक्षा करती है । इसलिये यह दूसरी विद्या आत्मरक्षाकारी कहलाती है और दूसरे सर्वाशापरिपूरक नामक चक्र की स्वामिनी है । आत्मासनगता देवी तीसरी विद्या है । चिद्विलास स्तव में ही बताया गया है—"आत्मा, चक्र, मनु (मन्त्र) और देवता इनकी आसन के रूप में भावना का अर्थ इनमें शिवमयता की भावना करना है, अर्थात् ये चारों शिवमय ही हैं" । इस तरह से साधक, चक्र, मन्त्र और देवता ये सभी आसन के रूप में भगवती संवित् के ही स्वरूप हैं । अतः इन चारों आसनों की विद्याओं में पहली और ऊपर बताए गये क्रम से तीसरी यह आत्मासनगता विद्या सर्वसंक्षोभकर नामक तीसरे चक्र की अधिष्ठात्री है । इसके आगे चक्रासनगता विद्या है । अभी बताये गये चार आसनों में से दूसरे चक्रासन में विराजमान यह चौथी विद्या सर्वसौभाग्यदायक नामक चतुर्थ चक्र की स्वामिनी है । इसके बाद सर्वमन्त्रासनस्थिता विद्या है । अभी मन्त्रासन की भावना चिद्विलास स्तव के प्रमाण से बताई है और पहले (२।१) मनन और त्राण करने वाली मन्त्रशक्ति की किरणों का उल्लेख किया गया है । इन किरणों का फैलाव समस्त

१. संकटात्—मु. । २. 'पराभवरूप' नास्ति—ने. ज. झ. उ. । ३. नेन तथा—ने. ज., नेन चा—झ. उ. । ४. देवि—ज. झ. । ५. अष्ट''''सा विमर्शमनयत् स्वभास—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. 'कर' नास्ति—ख. ने. ज. झ. । ७. अनन्तरं चक्रसंकेतोक्तचक्रासनयुक्ता विद्या—ख. ग. ने. उ. । ८. वासनामननत्राणचिन्म—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ९. प्रसराखिल—ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

स्थिता पञ्चमी विद्या, सर्वार्थ[1]साधकाभिधानलक्षणपञ्चमचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः। साध्यसिद्धासना षष्ठी।

सर्वपीठनिवासिन्यः सर्वगाश्चिन्मरीचयः।
भैरव्यो[2] भरिताकारा रक्षन्तु कुलमातरः॥

इति प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या [3]चिन्मरीचिमयपरिणतावरणदेवताः साध्याः [4]सृष्टिस्थाः सप्तसंख्याकत्रिकोणादिषोडशदलान्तचक्रपदगताश्चतुरस्रत्रयपदगताश्च देवताः सृष्टिक्रमरूपत्वात् साध्याः। तदुक्तमत्रैव—"सृष्टिः [5]स्यान्नवयोन्यादिपृथ्व्यन्तम्" (१।७७) इति। साध्यास्ता एव संहृतिकाले सिद्धाश्चतुरस्रादिबैन्दवान्तक्रमेणोपसंहृताः। तदुक्तमत्रैव—"संहृतिः पुनः पृथ्व्यादिनवयोन्यन्तम्" (१।७७-७८) इति। अत्र सिद्धिः संहारः। तदुक्तं[6] श्रीप्रत्यभिज्ञाहृदये—"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः" (सू० १) इति। एवं सृष्टिसंहारक्रमेणानुसन्धीयमानानां साध्य-

आवरण देवताओं के मन्त्रासन तक है। इस तरह से यह पाँचवीं विद्या समस्त मन्त्रासनों में विराजमान है और सर्वार्थसाधक नाम के पाँचवें चक्र की अधिष्ठात्री देवी है। साध्यसिद्धासना छठी विद्या है। किसी प्रामाणिक व्यक्ति की उक्ति है—

सभी पीठों में निवास करने वाली, सर्वत्र विचरण करने वाली, चिति शक्ति की किरणों से अभिव्यक्त परिपूर्ण स्वरूप वाली भैरवियाँ कुलदेवियाँ मेरी रक्षा करें॥

इस तरह से चिति शक्ति की किरणें ही आवरण देवताओं का स्वरूप धारण कर लेती हैं। इन्हीं को यहाँ 'साध्य' नाम से कहा गया है। सृष्टि क्रम से त्रिकोण, वसुकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, मनुकोण, अष्टदल और षोडश दल इन सात चक्रों में और चतुरस्रत्रय में विद्यमान देवता सृष्टिक्रम का प्रतिनिधित्व करने के कारण साध्य कहे जाते हैं। नवयोनि से पृथ्वी पर्यन्त चक्रक्रम की सृष्टि संज्ञा है, यह बात यहाँ पहले (१।७७) ही बता दी गई है। ये साध्य देवता ही संहार क्रम से चतुरस्र से बैन्दव पर्यन्त चक्र में स्थित होकर 'सिद्ध' कहलाते हैं। पृथ्वी से नवयोनि पर्यन्त चक्र-क्रम की संहार संज्ञा है, यह भी पहले (१।७७-७८) ही बता दिया गया है। यहाँ सिद्धि का अर्थ संहार है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में बताया गया है—"चितिशक्ति स्वतन्त्र रूप से विश्व की सिद्धि (सृष्टि और संहार) करती रहती है"। इस तरह से सृष्टि और संहार के क्रम से जिनका अनु-

१. साधनलक्षण–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. रम्यास्ता वाक्पराकारा–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ३. चिन्मरीच्यावरण–ख. ग. ज. झ. उ.। ४. साधकदशायां सप्तषष्टिसंख्यात्रिको–क. ग. ज. उ.। ५. सृष्टिस्थं–ज. झ. उ.। ६. 'क्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्' इत्येव झ. विहाय सर्वत्र।

सिद्धानामावरणदेवतानामासने स्थिता विद्या साध्यसिद्धासना षष्ठी, सर्वरक्षाकरनामधेयषष्ठचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः। मायालक्ष्मीमयी परा मूर्तिविद्या च सा देवी[1] सप्तमी परिकीर्तितेति। अस्या विद्यायाश्चतुःशतीशास्त्रेऽनुद्धृतत्वादत्रोद्धारः क्रियते। माया [2]भुवनेश्वरीबीजम्, लक्ष्मीः श्रीबीजम्, तन्मयी तत्प्रचुरा। [3]तयोरूर्ध्वगता परा—

चतुर्दशयुतं भद्रे तिथीशान्तसमन्वितम्।
तृतीयं ब्रह्म सुश्रोणि हृदयं भैरवात्मनः॥ (श्लो० ९)

इति श्रीपरात्रिंशिकोक्त[4]बीजं परा[5], परावाचकत्वात्। तद्बीजत्रयात्मिका [[6]ब्रह्मविष्णुरुद्रात्मकत्वाच्च सा विद्या श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीमूर्तिकल्पनायां विनियुक्ता] सप्तमी सर्वरोगहराभिधानसप्तमचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः। अष्टम्यावाहिनी विद्या।

सन्धान (भावना) किया जाता है, उन सभी साध्य और सिद्ध देवताओं के आसन पर विराजमान यह छठी विद्या साध्यसिद्धासना कहलाती है। यह सर्वरक्षाकर नामक छठे चक्र की स्वामिनी है। सातवीं मूर्तिविद्या है। माया, लक्ष्मी और परा बीज से इसका उद्धार होता है। चतुःशती शास्त्र में इस विद्या का उद्धार नहीं बताया गया है, अतः यहाँ इसका उद्धार किया गया है। माया भुवनेश्वरी बीज को और लक्ष्मी श्रीबीज को बताते हैं। इस विद्या में इनकी प्रधानता है। इन दोनों के ऊपर परा बीज का उद्धार करने पर इस विद्या का स्वरूप बनता है। परा बीज का उद्धार परात्रिंशिका में बताया गया है—

हे भद्रे, हे सुश्रोणि, तृतीय ब्रह्म सकार को चतुर्दश स्वर (औ) से संयुक्त कर और उसके अन्त में तिथीशान्त (विसर्ग) को लगा कर जो बीज बनता है, वह भगवान् भैरव का हृदय है॥

इस तरह में माया, लक्ष्मी और परा बीज को मिलाकर इस विद्या का स्वरूप बनता है। यह विद्या तीन बीजों वाली है तथा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिये इसका उपयोग श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी की मूर्ति की कल्पना में किया जाता है। यह सातवीं विद्या सर्वरोगहर नाम के सातवें चक्र की अधिष्ठात्री है। आठवीं विद्या है आवाहिनी। आवाहन का आन्तर स्वरूप चिद्विलास में वर्णित है—

१. देवि–ज. झ.। २. भुवनेशी–क. ख. ने. ज. उ.। ३. तद्द्वयोर्ध्वगता–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. क्तरीत्या–क. ने. उ.। ५. 'परा' नास्ति–ज. झ. उ.। ६. 'मूर्तिविद्या च सा' इत्येव पाठः–ख. ग. ने. ज. झ. उ.।

आन्तरस्य निजसंविदात्मनो मातुरक्षकरणाध्वना बहिः ।
मेयसंविदि समर्पणं तदावाहनं समरसत्वलक्षणम् ॥ (चि० २०)

इत्यस्मदुक्तरीत्या स्वहृदयकमलकर्णिकामध्ये स्फुरन्त्याः संवित्कलायाः "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन" (न्या० भा० १।१।४) इति तन्त्रान्तरोक्तपरिपाट्या बहिरर्थप्रसरणलक्षणावाहिनो[1] विद्या सर्वसिद्धिप्रदा[2]ऽष्टमचक्रेश्वरी विद्येत्यर्थः । नवमी भैरवी परा । भैरवी विश्वस्य भरणात् स्थितिहेतुतया, रक्षणात् परचिन्मात्रपर्यवसानलक्षणसंहारकारणतया, वमनात् सृष्टिहेतुतया च ॥२-४॥

ननु भैरवी चतुःशतीशास्त्रे नोक्ता, किमित्यत्र नोद्धृता, सप्तमचक्रेश्वरी विद्या चोद्धृतेत्यत आह—

मूलविद्या तथा प्रोक्ता त्रैलोक्यवशकारिणी ।

निज संवित्ति स्वरूप आन्तर प्रमाता का अन्तःकरण और बहिरिन्द्रियों के माध्यम से प्रमेय पदार्थों के रूप में अपने को समर्पित कर देना ही, उनसे समरसता प्राप्त कर लेना ही आवाहन है । इसका अभिप्राय यह है कि साधक के आवाहन पर संवित्स्वरूपिणी भगवती चक्र, मूर्ति इत्यादि बाह्य प्रमेय पदार्थों में प्रतिष्ठित हो जाती है ।

इस तरह से अपने हृदयकमल की कर्णिका में स्फुरित हो रही संवित्कला, न्यायभाष्यकार वात्स्यायन की पद्धति से—"आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय बाह्य विषय से संयुक्त होती है" इस क्रम से बाह्य अर्थों में अपना प्रसार कर लेती है । आठवीं आवाहिनी विद्या के प्रभाव से यह कार्य सम्पन्न होता है । यह विद्या सर्वसिद्धिप्रद नामक आठवें चक्र की स्वामिनी है । आगे की नवीं विद्या भैरवी है । विश्व का भरण, रक्षण और वमन करने से यह भैरवी कहलाती है । यह देवी स्थितिकाल में विश्व का भरण करती है, संहारकाल में अपने परचित् स्वरूप में विश्राम देकर विश्व की रक्षा करती है और सृष्टिकाल में अपने स्वरूप में से इसको फिर निकाल देती है । इस तरह से भरण, रक्षण और वमन क्रियाओं के प्रथम अक्षरों को ग्रहण कर भैरवी का स्वरूप बनता है ॥२-४॥

प्रश्न उठता है कि यह नवीं भैरवी विद्या भी चतुःशती शास्त्र में उपदिष्ट नहीं है, तब इसका उद्धार यहाँ क्यों नहीं किया गया । यहाँ तो केवल सप्तम चक्रेश्वरी मूर्तिविद्या का ही उद्धार बताया गया है । इसका समाधान देते हैं—

यह नवीं भैरवी विद्या ही मूलविद्या कही गई है, जो सारे त्रैलोक्य को अपने वश में करने वाली है ।

---

१. प्रसारलक्षणावाहने विहिताऽष्टमी–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. प्रदाभिधाना–ख. ग. ने. ज. झ उ. ।

मूलं विश्वस्य शिवादेर्भूम्यन्तस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मनः प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपं परं[1] तेजो वेदयतीति मूलविद्या तथा प्रोक्ता भैरवी कथिता नान्या । अस्यास्तत्रैवोद्धृतत्वान्नात्रोद्धारः । अन्यथा सप्तमचक्रेश्वरीवदत्रोद्धरेत् । वक्ष्यति—"मूलेन व्यापकन्यासः कर्तव्यः परमेश्वरि" (२।७) इति । त्रैलोक्यमुक्त(१।८२) लक्षणं वशीकरोति [2]सर्जने संहारे च स्वायत्तं करोतीति ॥५॥

वक्ष्यमाणपूजासंकेते वक्तुं योग्यमपि न्यासं नवचक्रेश्वरीविद्यानां प्रसङ्गान्मण्डूकप्लुतिन्यायेनाह—

एवं नवप्रकारास्तु पूजाकाले प्रयत्नतः ॥५॥
एताः क्रमेण न्यस्तव्याः साधकेन कुलेश्वरि ।

एवमुक्तप्रकारेण । नवप्रकारा एताश्चक्रेश्वरीविद्याः । साधकेन एतद्विद्योपासकेन मोक्षमात्मनः साधयितुमिच्छता । कुलेश्वरी । कुलं मेयमानमातृरूपम् ।

शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों का मूल कारण प्रकाश और विमर्श का सामरस्यमय परम तेज ही है, इस विषय का ज्ञान कराने वाली होने से यह नवीं भैरवी विद्या ही मूलविद्या के नाम से चतुःशती शास्त्र में वर्णित है । यहाँ वर्णित भैरवी मूलविद्या ही है, कोई दूसरी नहीं । इस मूलविद्या का उद्धार वहाँ कर दिया गया है । यदि ऐसा न होता तो सप्तम चक्रेश्वरी विद्या के समान यहाँ इसका भी उद्धार बताया जाता । आगे (२।७) बताया गया है—"हे परमेश्वरि । मूलविद्या से व्यापक न्यास करना चाहिये" । यह नवीं भैरवी विद्या ही मूलविद्या है । त्रैलोक्य पद की व्याख्या कर दी गई है (१।८२) । इस त्रैलोक्य को यह मूलविद्या सृष्टि और संहार दोनों अवस्थाओं में अपने ही अधीन रखती है ।।५॥

आगे कहे जाने वाले तृतीय पूजासंकेत के न्यास-प्रकरण में ही न्यास का वर्णन करना उचित था, किन्तु नौ चक्रेश्वरी विद्याओं का प्रसंग होने से [1]मण्डूकप्लुति न्याय से उनसे संबद्ध न्यासों का वर्णन यहीं किया जा रहा है—

हे कुलेश्वरि ! साधक को चाहिये कि वह पूजा करते समय प्रयत्नपूर्वक क्रम से ऊपर बताई गई नौ प्रकार की विद्याओं का न्यास करे ॥५-६॥

इस तरह से इन नौ चक्रेश्वरी विद्याओं का यहाँ वर्णन किया गया है । साधक का अर्थ यहाँ मुक्ति की कामना वाला श्रीविद्या का उपासक है । कुलेश्वरि ! यह संबोधन

---

१. 'परं' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. सर्जनसंहारैः स्वा–ने. झ. उ. ।

1. मण्डूक-प्लुति न्याय का विवरण हमने विज्ञानभैरव भाषानुवाद, पृ. ३७ की टिप्पणी में दे दिया है । यहाँ विशेषता यह है कि यह मण्डूक-प्लुति आगे की ओर न बढ़कर उलटी हुई है, अर्थात् तृतीय संकेत में वर्णित न्यास प्रकरण का कुछ अंश प्रसंगवश यहाँ आ गया है ।

तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायाम्—"मेयमातृमितिलक्षणं[1] कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्" (श्लो० ७२) इति। तस्य सर्जने संहारे च ईश्वरि। अत्र श्रुतिः—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" (मु० उ० १।१।७) इति। आज्ञावतारेऽप्युक्तम्—"स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि" इति। पूजाकाले वक्ष्यमाणसंकेतोक्तसपर्यासमये[2]। प्रयत्नतः "प्रयत्न[3]स्तदवाप्तौ तु व्यापारोऽतित्वरान्वितः" (द० रू० १।२०) इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या [4]श्रद्धावेशितया क्रमेण न्यस्तव्याः ॥५-६॥

तत्स्थानान्याह—

पादाग्रजङ्घाजानूरुगुदलिङ्गाग्रकेषु च ॥६॥

स्पष्टम्[5] ॥६॥

आधारे विन्यसेन्मूर्तिं तस्यामावाहिनीं न्यसेत्।
मूलेन व्यापकन्यासः कर्तव्यः परमेश्वरि ॥७॥

पद है। कुल का अर्थ है मेय, मान और माता का समूह। चिद्गगनचन्द्रिका में बताया गया है—"यह मेय, मान और मिति लक्षण वाला कुल इस भगवती के एक अंश में विश्राम प्राप्त करता है"। इस कुल की सृष्टि और संहार में समर्थ भगवती यहाँ कुलेश्वरी कही गई है। यहाँ मुण्डक श्रुति का प्रमाण दिया गया है कि जैसे मकड़ी जाला बनाती है और उसको निगल लेती है, उसी तरह से यह भगवती सृष्टि और संहार व्यापार में स्वतन्त्र है। आज्ञावतार में भी कहा गया है—"अपनी इच्छा से ही यह सारे जगत् को निगलती और उगलती रहती है"। "अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये आतुरतापूर्ण व्यापार ही प्रयत्न है" दशरूपक के इस कथन के अनुसार साधक को चाहिये कि वह पूरी श्रद्धा के साथ आगे पूजासंकेत प्रकरण में बताई जाने वाली विधि से पूजा करते समय प्रयत्नपूर्वक क्रमशः इन विद्याओं का न्यास करे ॥५-६॥

न्यास के स्थानों का वर्णन आगे किया जा रहा है—

पादाग्र, जंघा, जानु, ऊरु, गुदा और लिंगाग्र—इन छः स्थानों में क्रमशः प्रथम छः विद्याओं का न्यास करे ॥६॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥६॥

आधार में मूर्तिविद्या का और इस मूर्तिविद्या में आवाहिनी विद्या का विन्यास करे। हे परमेश्वरि! मूलविद्या से व्यापक न्यास करना चाहिये ॥७॥

१. मान–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. संकेते। क्रमः पर्यायक्रमः–ख. ग. ने. झ. उ.। ३. स्तु तदप्राप्तौ–मु.। ४. शुद्धा–झ.। ५. नास्ति–ने. ज.।

आधारे विन्यसेन्मूर्तिम्। पादाग्रादीनां बाह्यत्वेन प्रसिद्धत्वात् पृथक्करण[1]माधारमूर्योरान्तरत्वद्योतनार्थम्। आधारे पूर्वोक्ते (१।२५) चतुर्दले [2]कमले। मूर्तिं मूर्तिविद्यां [3]सप्तमीं न्यसेत्[4]। तस्यां मूर्तिविद्यायाम् आवाहिनीं न्यसेत्। मूलेन व्यापकन्यासः कर्तव्यः परमेश्वरि। मूलेन नवमचक्रेश्वरीविद्यया, सौभाग्यविद्ययेति यावत्। स्पष्टमन्यत् ॥७॥

नवचक्रेश्वरीविद्यानां न्यासमुक्त्वा तदाधार[5]भूतनवचक्राणामपि[6] चिन्तालक्षणमान्तरन्यासमाह—

अकुलादिषु पूर्वोक्तस्थानेषु परिचिन्तयेत्।
चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रं पुरोदितम् ॥८॥

अकुलादिषु "अकुले विषसंज्ञे च" (१।२५) इत्यत्र पूर्वोक्तस्थानेषु। आदिशब्देनाष्टौ वह्नि-शाक्त-नाभि-अनाहत-विशुद्ध-लम्बिकाग्रभ्रुवोरन्तर-इन्दवो[7] गृह्यन्ते।

पादाग्र आदि छः पूर्वोक्त स्थान बाह्य अंग के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस श्लोक में आधार और मूर्ति का वर्णन किया गया है। इन दो स्थानों का यहाँ अलग से वर्णन इनकी आन्तरता का द्योतक है। आधार का अर्थ है पूर्व वर्णित (१।२५) मूलाधारस्थानीय चतुर्दल कमल। इसमें सप्तमी मूर्तिविद्या का विन्यास करना चाहिये। इस मूर्तिविद्या में आठवीं आवाहिनी विद्या का विन्यास करे। हे परमेश्वरि! मूलविद्या, अर्थात् नवम चक्रेश्वरी विद्या, सौभाग्यविद्या से व्यापक न्यास सम्पन्न करना चाहिये। बाकी शब्दावली का अर्थ स्पष्ट है ॥७॥

नौ चक्रेश्वरी विद्याओं के न्यास के बाद अब इन विद्याओं के आधारभूत नौ चक्रों के भी भावनात्मक आन्तर न्यास का वर्णन करते हैं—

पूर्वोक्त अकुल आदि स्थानों में चक्रेश्वरी सहित पूर्व वर्णित नौ चक्रों की भावना करनी चाहिये ॥८॥

अकुल आदि शब्द से पूर्व वर्णित (१-२५) [1]अकुल, वह्नि, शाक्त, नाभि, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र, भ्रूमध्य और बिन्दु का ग्रहण किया जाता है। पहले चक्रसंकेत प्रकरण

१. पृथग् ग्रहणम्–ज.। २. 'कमले मूर्ति' नास्ति–ख. ज. झ.। ३. 'सप्तमीं' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. न्यसेत् स्मरेत्–ख. ग. ने ज. झ. उ.। ५. 'भूत' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. 'अपि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ७. बिन्दवो–क. ख. ने. ज. झ. उ.।

1. पृ० ३६-३७ की टिप्पणी का अवलोकन कीजिये। यहाँ व्याख्याकार ने नौ संख्या पूरी करने के लिये बिन्दु का अलग से ग्रहण किया है। यह उचित नहीं लगता। वस्तुतः अकुल के बाद विषु स्थान का ग्रहण होना चाहिये। भास्करराय ने ऐसा ही किया है। तब भ्रूमध्य के अतिरिक्त ललाटस्थ बिन्दुस्थान की आधार के रूप में कल्पना नहीं करनी पड़ेगी।

पुरोदितं चक्रसंकेतोदितं नवचक्रं चक्रेश्वरीसमायुक्तं नवचक्रेश्वर्यधिष्ठितं परिचिन्तयेत्। [1]कोऽर्थः ? अकुले सुषुम्ना[2]मूलारुणसहस्रदलकमले त्रिपुराधिष्ठितं त्रैलोक्यमोहनचक्रम्, वह्न्यावाधारे चतुर्दलकमले [3]त्रिपुरेश्यधिष्ठितं सर्वाशापरिपूरणं चक्रम्, शाक्ते स्वाधिष्ठानस्थितषड्दलकमले त्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं सर्वसंक्षो[4]भणं चक्रम्, नाभौ दशदलकमले त्रिपुरवासिन्यधिष्ठितं सर्वसौभाग्यदायक[5]चक्रम्, अनाहते हृदि द्वादशदलकमले त्रिपुराश्रीसमधिष्ठितं सर्वार्थसाधकं चक्रम्, विशुद्धे षोडशदलकमले त्रिपुरमालिन्यधिष्ठितं सर्वरक्षाकरं चक्रम्, लम्बिकाग्रे [6]तालुमूलेऽष्टदलकमले त्रिपुरासिद्धयधिष्ठितं सर्वरोगहरं चक्रम्, भ्रुवोरन्तरे द्विदलकमले त्रिपुराम्बिकाधिष्ठितं सर्वसिद्धिप्रदं चक्रम्, इन्दौ ललाटे बिन्दौ महात्रिपुरसुन्दर्यधिष्ठितं सर्वानन्दमयं[7] चक्रं भावयेदित्यर्थः ॥८॥

पूर्वोक्तविद्यानां नवचक्रेश्वरीणां नामान्याह—

तासां नामानि वक्ष्यामि यथानुक्रमयोगतः ।
तत्राद्या त्रिपुरा देवी द्वितीया त्रिपुरेश्वरी ॥९॥

में वर्णित नौ चक्रों की, जो अभी हाल में वर्णित नौ चक्रेश्वरियों से अधिष्ठित हैं, इन नौ स्थानों में भावना करनी चाहिये। इसका अभिप्राय यह है—अकुल, अर्थात् सुषुम्ना के मूल में स्थित लाल वर्ण के सहस्रदल कमल में चक्रेश्वरी त्रिपुरा से अधिष्ठित त्रैलोक्यमोहन चक्र की, वह्नि अर्थात् चतुर्दल आधार कमल में त्रिपुरेशी से अधिष्ठित सर्वाशापरिपूरक चक्र की, शाक्त अर्थात् स्वाधिष्ठान में स्थित छः दल वाले कमल में त्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित सर्वसंक्षोभण चक्र की, नाभि स्थित दश दल वाले कमल में त्रिपुरवासिनी से अधिष्ठित सर्वसौभाग्यदायक चक्र की, अनाहत अर्थात् हृदय स्थित द्वादशदल कमल में त्रिपुराश्री से अधिष्ठित सर्वार्थसाधक चक्र की, विशुद्ध नामक षोडश दल कमल में त्रिपुरमालिनी से अधिष्ठित सर्वरक्षाकर चक्र की, लम्बिकाग्र अर्थात् तालु के मूल में स्थित अष्टदल कमल में त्रिपुरासिद्धि से अधिष्ठित सर्वरोगहर चक्र की, भ्रूमध्य स्थित द्विदल कमल में त्रिपुराम्बिका से अधिष्ठित सर्वसिद्धिप्रद चक्र की और इन्दु अर्थात् ललाट स्थित बिन्दु में चक्रेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी देवी से अधिष्ठित सर्वानन्दमय चक्र की भावना करनी चाहिये ॥८॥

पूर्वोक्त नौ चक्रेश्वरी विद्याओं के नाम ये हैं—

अब मैं यथोचित आनुपूर्वी से इनके नाम बताऊँगा। इनमें पहली त्रिपुरा

---

१. 'कोऽर्थः' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. मूलभागेऽरुण–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ३. त्रिपुरेश्वरीयुक्तं–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. क्षोभकं–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ५. दायकं–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. 'तालुमूले' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ७. करं–ज. झ. उ.। ८. श्लोकार्धो नास्ति–ख. ग. घ. ज. झ. उ.।

तृतीया च तथा प्रोक्ता देवी त्रिपुरसुन्दरी ।
चतुर्थी च महादेवि[1] देवी त्रिपुरवासिनी ॥१०॥
पञ्चमी त्रिपुराश्रीः स्यात् षष्ठी त्रिपुरमालिनी ।
सप्तमी त्रिपुरासिद्धिरष्टमी[2] त्रिपुराम्बिका ॥११॥
नवमी तु महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी ।

स्पष्टम् ॥९-१२॥

नन्वेताश्च विद्या नवचक्रेश्वर्यः पादाग्रादिष्वकुलादिस्थानेषु च भावनारूपेण क्रमेण न्यस्तव्या एव किम्[3] ? नेत्याह—

पूजयेच्च क्रमादेता नवचक्रे पुरोदिते ॥१२॥

एताः पुरोदितास्त्रिपुराद्या विद्या नवचक्रेश्वर्यः। पुरोदिते "त्रैलोक्यमोहनं चक्रम्" (१।८२–८४) इत्यादिपूर्वोक्ते। नवचक्रे इत्येकवचनमन्योन्याविश्लेषकथनार्थम्। अकुलादिनवस्थानेष्वन्योन्यसंयुक्ततयैव विभावितेषु नवचक्रेष्वित्यर्थः। क्रमात् पूजयेच्च त्रैलोक्यमोहनं चक्रमारभ्य प्रतिचक्रमेकैकां क्रमेण[4] पूजयेदित्यर्थः ॥१२॥

देवी है। दूसरी त्रिपुरेश्वरी और तीसरी का नाम त्रिपुरसुन्दरी कहा गया है। हे महादेवि ! चौथी देवी त्रिपुरवासिनी, पांचवीं त्रिपुराश्री, छठी त्रिपुरमालिनी, सातवीं त्रिपुरासिद्धि, आठवीं त्रिपुराम्बिका और नवीं महादेवी महात्रिपुरसुन्दरी है ॥९-१२॥

इन श्लोकों का अर्थ स्पष्ट है ॥९-१२॥

अब प्रश्न उठता है कि क्या इन नौ चक्रेश्वरी विद्याओं की पादाग्र आदि बाह्य और अकुल आदि आन्तर स्थानों में केवल न्यास और भावना ही क्रम से की जाती है ? इस प्रश्न का समाधान यह है—

पूर्वोक्त नौ चक्रों में न्यास और भावना के साथ ही इन चक्रेश्वरियों की पूजा भी करनी चाहिये ॥१२॥

अभी त्रिपुरा आदि नौ चक्रेश्वरी विद्याओं का वर्णन किया गया है। पहले (१।८२-८४) बताये गये नौ चक्रों में इनकी पूजा करनी चाहिये। नवचक्र पद में एकवचन इस अभिप्राय को प्रकट करता है कि ये चक्र नौ होते हुए भी एक ही हैं, एक दूसरे से मिले हुए हैं, इनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अकुल आदि स्थानों में इनके परस्पर मिले हुए स्वरूप की भावना की जाती है। इस तरह से अकुल आदि स्थानों में

---

१. देवी–क. ख. ग. ज.। २. सिद्धा त्वष्टमी–क. उ.। ३. 'किम्' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। ४. 'क्रमेण' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

ननु किमासां नवधात्वं स्वाभाविकम् ? नेत्याह—

एवं नवप्रकाराद्या पूजाकाले तु पार्वति ।
एकाकारा ह्याद्यशक्तिरजरामरकारिणी ॥१३॥

आद्या शिवादिक्षित्यन्तस्य जगतो निदानत्वात् । आद्या शक्तिराद्यशक्तिः । आद्यास्य सकलवर्णादिभूतस्य प्रकाशात्मनः परशिवस्य शक्तिर्विमर्शरूपिणी । एकाकारा परापूजाकाले तेन निरन्तरं सामरस्यमापन्ना । अपरापूजाकाले तु तथा न भवति । एवमुक्तप्रकारेण । नवप्रकारा नवविधा भिन्ना । एवंविधपूजकस्य अजरामरकारिणी । अजरामर उक्तलक्षणः (१।८५) शिवः, तत्त्वमस्य करोति । अत्रैव वक्ष्यति—"तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता" (३।२) इति ॥१३॥

प्रासङ्गिकमुपसंहृत्य प्रकृतमेव प्रधानं मन्त्रसंकेतमुद्दिशति—

मन्त्रसंकेतकस्तस्या नानाकारो व्यवस्थितः ।
नानामन्त्रक्रमेणैव पारम्पर्येण लभ्यते ॥१४॥

परस्पर संयुक्त रूप से विभावित इन नौ चक्रों में, त्रैलोक्यमोहन चक्र से लेकर सर्वानन्दमय पर्यन्त चक्रों में, क्रमशः एक-एक देवी का पूजन भी करे ॥१२॥

क्या चक्रेश्वरियों के ये नौ भेद स्वाभाविक हैं ? नहीं—

हे पार्वति ! यह आद्या शक्ति पूजा के समय ही ये नौ रूप धारण करती है। वस्तुतः यह शक्ति एक ही है और यही साधक को अजरामर शिव स्वरूप बना देती है ॥१३॥

शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जगत् का मूलकारण होने से यह शक्ति आद्या कहलाती है । जो आद्या है और शक्ति भी है, वह है आद्यशक्ति । यह आद्यशक्ति सकल मातृका वर्णों में प्रथम आने वाले अनुत्तर अकार स्वरूप प्रकाशात्मक परशिव के साथ विमर्शलिपि हकार के रूप में मिली रहती है, साधक जब परा पूजा में निरत रहता है, तो यह शक्ति शिव के साथ निरन्तर यामलभाव में विद्यमान रहती है । किन्तु अपरा पूजा में उसकी यह स्थिति नहीं रहती । उस समय तो यह ऊपर बताए नौ स्वरूप धारण कर लेती है । इस तरह की पूजा करने वाले साधक को यह शक्ति अजरामर बना देती है । अजरामर शब्द की व्याख्या हम पहले (१।८५) कर चुके हैं । तदनुसार परमशिव ही अजरामर हैं । जो साधक ऊपर बताई गई परा और अपरा पूजा का अनुष्ठान करता है, उसको यह देवी अजरामर शिवस्वरूप बना देती है । पूजा के इन प्रकारों का वर्णन आगे (३-२) किया जायेगा ॥१३॥

प्रसंगवश आई इन बातों का उपसंहार कर अब प्रस्तुत प्रधान विषय मन्त्रसंकेत का विवरण उपस्थित करते हैं—

उस परा भगवती का मन्त्रसंकेत अनेक रूपों में विभक्त है । अनेक मन्त्रों के क्रम से इसका ज्ञान गुरुपरम्परा से ही प्राप्त हो सकता है ॥१४॥

तस्याः परशिवसामरस्यरूपायाः परायाः यो मन्त्रः सौभाग्यविद्यारूपः, तस्य संकेतो गूढार्थप्रदर्शनम् । नानाकारः अनन्तरवक्ष्यमाणषड्विधरूपः । नानामन्त्रक्रमेणैव अनन्तरपूर्वोक्तकरशुद्ध्यादिनानाप्रपञ्चपरिपाट्यैव । पारम्पर्येण लभ्यते सोपानावरोहरीत्या शिवादिस्वगुरुपर्यन्तपरम्परोपदेशक्रमेण लभ्यते, नान्यथा । पारम्पर्यविहीनानामसम्प्रदायवतां चुम्बकवृत्त्या चौर्याविगताक्षरपाठमात्रपर्यवसितानामनर्थायैव केवलमित्यर्थः । अत्रैव वक्ष्यति—

पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः ।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः ॥ (२।८१) इति ॥१४॥

उद्दिष्टस्य मन्त्रसंकेतस्य विभागं प्रतिजानीते—

षड्विधस्तं तु देवेशि कथयामि तवानघे ।

परशिव के साथ समरसभाव में स्थित उस परा भगवती के सौभाग्यविद्या के नाम से प्रसिद्ध मन्त्र का संकेत (स्वरूप) अत्यन्त निगूढ, रहस्यमय अर्थों से भरा हुआ है । इनके छः प्रकारों का वर्णन अभी आगे किया जायेगा । इन अर्थों का ज्ञान अभी बताए गये करशुद्धिविद्या प्रभृति मन्त्रों की क्रमशः गुरुपरम्परा से प्राप्त विधि से उपासना करने पर ही हो सकता है । जैसे हम सीढियों की सहायता से प्रासाद से नीचे उतरते हैं, उसी तरह से शिव से लेकर अपने गुरु तक चली आई परम्परा से ही ज्ञान हमारे पास पहुँचता है । ज्ञान प्राप्ति का इसके सिवाय दूसरा कोई मार्ग नहीं है । जो व्यक्ति इस गुरुपरम्परा से ज्ञान प्राप्त नहीं करते, जिनका कोई सम्प्रदाय नहीं है और जो चुम्बक वृत्ति से, चौरी से कुछ अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके ही संतुष्ट हो जाते हैं, ऐसे व्यक्ति को इनसे कोई लाभ नहीं मिलता, उलटे ऐसा करने वाले को इससे हानि ही उठानी पड़ती है । यहीं आगे (२।८१) बताया जायेगा—

जिनको परम्परा से कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है और जो अपने स्वयंभू ज्ञान पर गर्व कर पारम्परिक ज्ञान को प्राप्त करना भी नहीं चाहते, समय (साम्प्रदायिक परम्परा) का लोप करने वाले, शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन करने वाले ऐसे व्यक्तियों को डाकिनी प्रभृति देवियां विद्रूप बना देती हैं ॥१४॥

नाम मात्र से उपदिष्ट मन्त्रसंकेत का अब विभाग बताते हैं—

हे अनघे देवेशि ! वह मन्त्रसंकेत छः प्रकार का है । उसे मैं तुम्हें कह रहा हूँ ॥१५॥

षड्विधः अनन्तरवक्ष्यमाणभावार्थादिप्रकारेण षड्विधः । अनघे परशिष्य-त्वादिदोषरहिते । तव मदंशभूताया विमर्शशक्तेः । प्रकाशात्मकोऽहं तं[2] तु षड्विधं कथयामि ॥

तद्विभागमाह—

भावार्थः सम्प्रदायार्थो निगर्भार्थश्च कौलिकः ॥१५॥

तथा सर्वरहस्यार्थो महातत्त्वार्थ एव च ।

वक्ष्यमाणलक्षणत्वात् स्पष्टोऽर्थः ॥१५-१६॥

[3]षोढा प्रकारेण लक्षणानि कथयिष्यन्नादौ भावार्थमाह—

अक्षरार्थो हि भावार्थः केवलः परमेश्वरि ॥१६॥

न क्षरन्तीत्यक्षराणि नित्यपरशिववाचकत्वात् । किञ्च, ताल्वोष्ठव्यापारोऽभिव्यञ्जकस्तेषाम् । अत एवाक्षराण्येवाक्षराणि । तेषामर्थोऽभिधेयः । श्रीसौभाग्य-विद्याऽवयवपञ्चदशाक्षराणामर्थो भावार्थः ॥१६॥

इसके भावार्थ आदि छः भेदों का वर्णन अभी आगे किया जा रहा है । 'अनघे' यह संबोधनात्मक विशेषण देवी में परशिष्यत्व आदि दोषों के अभाव का सूचक है । मैं प्रकाशात्मक शिव मेरी ही अंशभूत विमर्श शक्ति का नाम धारण करने वाली तुमको उन छः भेदों का वर्णन कर रहा हूँ ॥१५॥

उसी विभाग को अब बताते हैं—

भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ और कौलिकार्थ, सर्वरहस्यार्थ तथा महा-तत्त्वार्थ ये ही छः भेद हैं ॥१५-१६॥

इन सबके लक्षण आगे बताये जायेंगे, श्लोक का अर्थ स्पष्ट ही है ॥१५-१६॥

इन छः अर्थों का लक्षण आगे बताया जा रहा है । इनमें से सबसे पहले [1]भावार्थ का स्वरूप बताते हैं—

हे परमेश्वरि ! केवल मन्त्र के अक्षरों का अर्थ ही यहाँ भावार्थ कहा गया है ॥१६॥

अक्षर नित्य परशिव के वाचक हैं, अतः इनका भी स्वरूप अक्षर, अविनश्वर है । तालु, ओष्ठ आदि के व्यापार से इनकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, उत्पत्ति नहीं । इस तरह से ये अक्षर अविनश्वर हैं, इनकी उत्पत्ति नहीं होती । इन अक्षरों का जो अर्थ है, श्रीसौभाग्यविद्या नामक मन्त्र के अवयवभूत पन्द्रह अक्षरों का जो अभिधेय है, उसे ही भावार्थ कहते हैं ॥१६॥

१. तेन तव–ख. ने. ज. झ. । २. 'तं तु षड्विधं' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

३. षोढादिन्यासक्रमेण–ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. यहाँ १६ से २५ श्लोक पर्यन्त भावार्थ का वर्णन है ।

अक्षरार्थमेवाह—

योगिनीभिस्तथा वीरैर्वीरेन्द्रैः सर्वदा प्रिये ।

शिवशक्तिसमायोगाज्जनितो मन्त्रराजकः ॥१७॥

योगिन्यः, योगः शिवसंबन्धो नित्यं विद्यते आसामिति योगिन्यो विमर्शशक्त्यं-शभूतेच्छाज्ञानक्रियात्मकभारतीपृथ्वीरुद्राण्यः । वीरा उक्तार्थाः (१।६५), तद्योगिनी-नित्यसंबन्धभूताः प्रकाशांशभूता वामाज्येष्ठारौद्र्यात्मकब्रह्मविष्णुरुद्राः सृष्टिस्थिति-संहारकर्तारः । वीरेन्द्राः सृष्टिस्थितिसंहारपदातीताऽनाख्याधिकारिणस्ते शान्ताऽम्बिकात्मानः शिवशक्तिमिथुनत्रयसमष्टिरूपास्त्रिबीजशिखरवर्तिकामकलात्रया-भिधेयाः । एतैर्विद्याक्षराभिधेयमयैर्मिथुनचतुष्टयैः । शिवशक्तिसमायोगात् शिव-शक्त्योः समायोगः सम्पर्कस्तस्मात् । मन्त्रराजकः सौभाग्यविद्यारूपः, सकल-मन्त्रोत्तमत्वात् । जनितः जातः । आदिकर्मणि क्तः, जातो भावित इति यावत्, तस्यार्थस्य नित्यत्वात् । अयमेवार्थो मया सौभाग्यसुधोदये प्रपञ्चितः । यथा—

इन अक्षरों के अर्थ को ही बताया जा रहा है—

हे प्रिये ! योगिनियों, वीरों और वीरेन्द्रों के सदा रहने वाले संपर्क से तथा शिव और शक्ति के समायोग से मन्त्रराज की उत्पत्ति मानी जाती है ॥१७॥

जिनका शिव के साथ योग, नित्य संपर्क बना रहता है, वे योगिनियां कहलाती हैं । ये हैं विमर्श शक्ति की अंशभूत इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से अभिव्यक्त हुई भारती पृथ्वी और रुद्राणी नामक शक्तियां । वीर पद का अर्थ पहले (१।६५) बता दिया गया है । प्रकाश की अंशभूत वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियों से अभिव्यक्त ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक वीरों का उक्त भारती, पृथ्वी और रुद्राणी नामक योगिनियों से सदा संपर्क बना रहता है । ये क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार पद से अतीत तुरीय (चतुर्थ) अनाख्या पद के अधिकारी वीरेन्द्र कहलाते हैं । इनका स्वरूप शान्ता और अम्बिका शक्ति से अभिव्यक्त होता है और शिव एवं शक्ति से अभिव्यक्त अभी बताये गये तीनों मिथुनों का समवेत स्वरूप इनमें छिपा हुआ है । वाग्भव आदि तीन बीजों के शिखर पर विराजमान तीन [1]कामकलाक्षर इनके बोधक हैं । इस तरह से सौभाग्यविद्या में विद्यमान १५ अक्षरों से चार मिथुनों का बोध होता है । शिव और शक्ति का जो निरन्तर प्रवर्तमान सम्पर्क है, उसी से सभी मन्त्रों में उत्तम सौभाग्यविद्या नामक इस मन्त्रराज की निष्पत्ति होती है । 'जनितः' पद में आदि कर्म में क्त प्रत्यय होता है । इसका तात्पर्य यह है कि यह तत्त्व तो नित्य है, किन्तु इसमें उक्त प्रकार से इसकी उत्पत्ति हुई है, ऐसी भावना की

१. सम्पर्कस्तन्मिथुनीकृत–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. कामकलाक्षर का परिचय हम पृ० १६-१७ की टिप्पणी में दे चुके हैं ।

सेव महाविद्यात्मा माता चतुरन्वयैकविश्रान्तिः ।
चतुराननादिजननी जाता चतुरात्मवर्गफलदात्री ॥
अस्वरविमर्शरूपौ स्वांशौ [1]हित्वा चतुष्कलौ सेव ।
वामादीच्छादिमयान्यकरोद् द्वन्द्वान्यमूनि चत्वारि ॥
वामांशो ब्रह्मा स्यादिच्छैव तस्य भारती शक्तिः ।
अनयोरेतन्मिथुनं सृष्टिः प्रागन्वयात्म वाग्बीजम् ॥
ज्येष्ठांशो विष्णुः स्याज्ज्ञाना विश्वम्भरा तयोर्मिथुनम् ।
इदमेव दक्षिणान्वयरूपं श्रीकामराजमध्यास्ते ॥
रौद्र्यात्मकस्तु रुद्रः क्रियामयी शक्तिरस्य रुद्राणी ।
युगलमिदं तार्तीयं बीजं [2]पालयति पश्चिमाम्नायम् ॥
स्यादम्बिकास्वरूपः शम्भुः शान्तात्मिकाऽस्य शक्तिः स्यात् ।
मिथुनमिदं शिवशक्त्योरुत्तरसमयात्म तुर्यमधितिष्ठेत् ॥

जाती है। इस श्लोक में प्रदर्शित अर्थ का व्याख्याकार ने अपने [1]सौभाग्यसुधोदय नामक ग्रन्थ में विस्तार किया है, जैसे कि—

वह परा शक्ति ही चारों प्रकार के अन्वयों (आम्नायों) की विश्रामस्थली, चतुरानन ब्रह्मा आदि की जननी तथा चार प्रकार के वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का फल देने वाली माता महाविद्या का स्वरूप धारण कर लेती है ॥ वही परा शक्ति अस्वर (अकार लिपि) और विमर्श (हकार लिपि) स्वरूप चार-चार कलाओं वाले अपने अंशों को विभक्त कर वामा आदि के और इच्छा आदि के इन चार-चार मिथुनों की सृष्टि करती है ॥ ब्रह्मा वामा शक्ति के और भारती इच्छा शक्ति के अंश से उद्भूत हैं । वामा और इच्छा शक्ति से उत्पन्न यह ब्रह्मा और भारती का युगलस्वरूप सृष्टि, पूर्वाम्नाय और वाग्भव बीज का अधिपति है ॥ विष्णु ज्येष्ठा शक्ति के और विश्वम्भरा (पृथ्वी) ज्ञाना शक्ति के अंश से उद्भूत हैं । ज्येष्ठा और ज्ञाना शक्ति से उत्पन्न यह विष्णु और पृथ्वी का युगलस्वरूप स्थिति, दक्षिणान्वय और कामराज बीज का अधिपति है ॥ रुद्र रौद्री शक्ति के और रुद्राणी क्रिया शक्ति के अंश से उद्भूत हैं । रुद्र और रुद्राणी का यह युगल संहार, पश्चिमाम्नाय और तृतीय शक्ति बीज का अधिपति है ॥ शम्भु (शिव) अम्बिका शक्ति के और इसकी शक्ति शान्ता शक्ति के अंश से उद्भूत हैं । शिव और शक्ति का यह युगल उत्तराम्नाय तथा तुरीय अनाख्या तत्त्व का अधिपति है ॥ इस

१. भित्वा–ख. ग. ज. झ. उ. । २. जनयति–ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. नित्याषोडशिकार्णव के परिशिष्ट (पृ० ३०६-३२१) में प्रकाशित इस ग्रन्थ के द्वितीय प्रपंच में ये सभी श्लोक पाठान्तर के साथ देखे जा सकते हैं ।

एवमनुत्तरशक्त्योश्चतुरंशद्वन्द्वरूपिणी परा जाता ।
चतुरन्वयात्मिकेयं पश्यन्ती मातृकामयी विद्या ॥
सृष्टिः पूर्वाम्नायो वाग्भवबीजं तदात्मकं त्रिविधम् ।
सृष्टिस्थितिसंहारैर्भिन्ना सृष्टिस्त्रिमूर्तिमूर्तिः स्यात् ॥
ब्रह्माऽत्र सृष्टिसृष्टावधिपतिरेतस्य भारती शक्तिः ।
सोऽयं हस्यार्थः स्यात् स एव शिव शक्तिवाचकश्चापि[1] ॥
[2]हस्यार्थः स्यादत्र स्वशक्तिमयरूपसार्णसंयोगात् ।
सृष्टिस्थितौ तु विष्णुः कर्ता विश्वम्भराऽस्य शक्तिः स्यात् ॥
विष्णुः कलिपेरर्थो ललिपेरेतस्य शक्तिरर्थः स्यात् ।
रुद्रोऽधिपतिः शक्ती रौद्री स्यात् तत्र सृष्टिसंहारे ॥
हरवर्णयुगलमनयोर्वाचकमर्थोऽत्र रस्य रुद्रः स्यात् ।
रुद्राक्षरसम्पर्काद् रौद्री तच्छक्तिरत्र हस्यार्थः ॥

तरह से पराशक्ति अनुत्तर (अकार) और शक्ति (हकार) के चार-चार अंशों के संयोग से जब चार युगलस्वरूपों का रूप धारण कर लेती है, तब परा वाणी ही चार अन्वयों वाली [1]पश्यन्ती वाणी के रूप में परिणत हो जाती है ॥

इसका वाग्भव बीज सृष्टि दशा और पूर्वाम्नाय का सूचक है । सृष्टि दशा सृष्टि, स्थिति और संहार के भेद से विभक्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और और रुद्र रूप त्रिमूर्ति का स्वरूप धर लेती है ॥ यहां सृष्टि स्वरूप सृष्टि विभाग के अधिपति ब्रह्मा और उनकी शक्ति भारती है । मूलविद्या में स्थित हकार लिपि से इन्हीं का बोध होता है । यही अक्षर शिव और शक्ति का भी वाचक है । इस अर्थ को अभिव्यक्ति के लिये यह हकार लिपि सकार लिपि से संयुक्त हो जाती है, क्योंकि सकार लिपि हकार की शक्ति मानी जाती है ॥ सृष्टिस्थिति विभाग के अधिपति विष्णु और विश्वम्भरा (पृथ्वी) उनकी शक्ति है । मूलविद्या में स्थित क-लिपि विष्णु का और ल-लिपि इसकी शक्ति का बोध कराती है ॥ सृष्टिसंहार विभाग के अधिपति रुद्र और रुद्राणी उनकी शक्ति है । ह र वर्णयुगल इनके वाचक हैं । इनमें से रकार का अर्थ रुद्र और हकार का अर्थ रुद्राणी नामक उसकी शक्ति है । रुद्र (रकार) अक्षर के सम्पर्क के कारण ही यह शक्ति रौद्री कही जाती है । तृतीय बीज का नाम शक्ति-

१. वाचकस्यापि-क. ज. झ. उ. । २. सस्यार्थः–ग. ने. ज. झ. उ. ।

1. एकादशधा विभक्त पश्यन्ती वाणी का परिचय कामकलाविलास (श्लो० २३-२४) में तथा अर्थरत्नावली (पृ० ३५-३६) में दिया गया है । इस प्रसंग में अर्थरत्नावली में उद्धृत संकेतपद्धति के श्लोकों को यहाँ (२।६३-६४) दीपिकाकार ने भी उद्धृत किया है । सौभाग्यसुधोदय के इस लम्बे उद्धरण से इन सभी ग्रन्थों के प्रस्तुत विषय की भी व्याख्या हो जाती है ।

अत्र तु शक्त्यर्णस्य प्राथम्यं शक्तिबीजभूतत्वात् ।
अधिवसतः शिवशक्ती [1]संज्ञानाख्या तयोस्तु त्रित्वमयी ॥
कामकला कलयित्री तुर्यमयो रक्तशुक्लमिश्रतनुः ।
रक्तो बिन्दुः शक्तिः शुक्लः शम्भुः परस्तदैकात्म्यम्[2] ॥
एवं द्वितीयबीजं स्थितिरूपं दक्षिणान्वयात्म स्यात् ।
स्थिति सृष्ट्यादिविभेदाद् वसन्ति ता एव देवतास्तत्र ॥
अत्र कलवर्णमध्यस्थितो हकारः स्थितिस्वरूपत्वम् ।
अस्य द्योतयति परं[3] स्थितिरूपं संविदम्बिकाकारः ॥
संहारात्मकपश्चिमसमयमये तद्वदेव तार्तीये ।
संहृतिसृष्ट्यादिवशाद्[4] वसन्ति ता एव देवतास्तत्र ॥
सृष्टौ शक्तेर्नियतप्राधान्या[5]दस्य शक्तिबीजत्वात् ।
स्वात्मनि संहृतिसृष्टौ शिवमन्तर्भाव्य भासते शक्तिः ॥

बीज है । इसमें शक्ति की प्रधानता होती है, अतः शक्तिबीजात्मक सृष्टिसंहार विभाग में शक्ति के वर्ण हकार को प्राथमिकता दी गई है और शिव वाचक रकार की स्थिति बाद में है ॥ अनाख्या नामक तुरीय (चतुर्थ) विभाग में शिव और शक्ति का आधिपत्य है । यह युगलस्वरूप त्रिधा विभक्त होकर त्रिविध कामकलाओं का स्वरूप धारण कर लेता है । यह कामकला ही काल को कलन व्यापार सिखाती है । यह तुरीयस्वरूपा है तथा रक्त, शुक्ल और मिश्र बिन्दुओं से इसका स्वरूप बनता है । रक्त बिन्दु शक्ति का, शुक्ल बिन्दु शिव का और मिश्र बिन्दु शिव एवं शक्ति के सामरस्य स्वरूप का सूचक है ॥

इसी तरह से द्वितीय कामराज बीज स्थितिदशा और दक्षिणान्वय (दक्षिणाम्नाय) का सूचक है । स्थितिसृष्टि, स्थितिस्थिति, स्थितिसंहार और अनाख्या के भेद से इस बीज में भी पूर्वोक्त सभी देवता निवास करते हैं । यहाँ क और ल वर्णों के मध्य में विद्यमान हकार इस कामराज बीज की स्थिति-दशा को उजागर करता है, क्योंकि यह हकार सबका पालन करने वाली संवित्-स्वरूपिणी अम्बिका की प्रतिमूर्ति है ॥

इसी तरह से तृतीय शक्तिबीज संहारदशा और पश्चिमसमय (पश्चिमाम्नाय) का सूचक है । संहारसृष्टि, संहारस्थिति, संहारसंहार और अनाख्या के भेद से इस बीज में भी वे सभी देवता निवास करते हैं । सृष्टिदशा में शिव की अपेक्षा शक्ति की निश्चित ही प्रधानता रहती है और यह शक्तिबीज के नाम से प्रसिद्ध है । अतः संहारसृष्टि दशा में यह शक्ति शिव को तिरोहित कर स्वयं भासित होती है ॥

१. सर्गानाख्या–ग. ने. ज. झ. उ. । २. थ्यम्–ज. झ. उ. । ३. परध्वनिरूपः संविदम्बराकारः–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ४. त् ता एवात्रापि देवता न्यवसन्–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. च्चास्य–ख. ग. ज. झ. उ. ।

त्रिमये तुरीयबीजेऽनाख्यारूपोत्तरान्वयात्मनि तौ ।
शक्तिशिवावधिवसतो निरन्तरं सामरस्यमापन्नौ ॥
सृष्ट्यादिभेदभिन्नश्रीविद्यावर्णयुगलनवकात्मा ।
नवनादवर्गरूपा माता सा मध्यमाऽभिधा वितता ॥
शब्दस्पर्शौ रूपं रसगन्धौ चेति भूतसूक्ष्माणि ।
व्याप्यव्यापकभावात् पञ्चदश स्युः क्रमेण तत्संख्याः ॥

सृष्टि, स्थिति और संहार दशा की समष्टिभूत तुरीय (चतुर्थ) अनाख्या नामक दशा में, जो कि उत्तरान्वय (उत्तराम्नाय) को सूचित करती है, तुरीय युगल के रूप में ऊपर वर्णित शक्ति और शिव सामरस्यभाव से सम्पन्न होकर निरन्तर निवास करते हैं । सृष्टि आदि चार-चार अवस्थाओं के भेद से श्रीविद्या के वर्णयुगल (अकार और हकार लिपि) आठ प्रकार के हो जाते हैं । अनाख्या नामक तुरीय दशा में इन्हीं आठ वर्णों के समष्टि स्वरूप से एक नया नवां वर्ण भी प्रकट हो जाता है । इस तरह से नौ नाद और नौ वर्गों वाली [1]मध्यमा नामक माता (वाणी) का स्वरूप बनता है ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ [2]व्याप्यव्यापकभाव से पाँच महाभूतों में १५ प्रकार से विभक्त हो जाती हैं । ये ही पन्द्रह तिथियों, पन्द्रह तिथिनित्याओं

1. नवधा विभक्त मध्यमा वाणी और इसके स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों का परिचय कामकलाविलास (श्लो० २६-२७) में दिया गया है । अर्थरत्नावलीकार (पृ० ३६) ने संकेतपद्धति और हंसनिर्णय के प्रमाण से सूक्ष्म मध्यमा का निरूपण किया है और संकेतपद्धति के इस वचन को दीपिकाकार (पृ० २१६३-६४) ने भी उद्धृत किया है । भूतलिपि के रूप में स्थूल मध्यमा का परिचय दीपिकाकार ने पूजासंकेत (३।१३६-१३८) में दिया है ।

2. तन्त्रशास्त्र में सामान्यतः सांख्य प्रक्रिया का अनुसरण किया जाता है । प्रस्तुत प्रसंग में भी वेदान्त अथवा न्याय दृष्टि का अनुसरण न कर सांख्य दृष्टि को ही मान्यता दी गई है । तदनुसार शब्द(आकाश)तन्मात्रा अन्य सभी तन्मात्राओं में व्याप्त है, अर्थात् शब्दतन्मात्रा व्यापक तत्त्व तथा अन्य चार तन्मात्राएँ व्याप्य हैं । यही प्रक्रिया आगे भी चलती है । इस व्याप्य-व्यापकभाव प्रक्रिया का निष्कर्ष यह निकलता है कि आकाशतन्मात्रा के अतिरिक्त अन्य चार तन्मात्राओं में भी शब्द की स्थिति रहती है । स्पर्श की चार में, रूप की तीन में, रस की दो में और गन्ध की केवल एक पृथिवी में स्थिति रहती है । इस तरह से ये पाँच तन्मात्राएँ व्याप्य-व्यापकभाव (५ + ४ + ३ + २ + १ = १५) से पाँच महाभूतों में पन्द्रह प्रकार से विभक्त हो जाती हैं । पाँच महाभूतों के इन पन्द्रह गुणों की चर्चा बौद्ध योग के ग्रन्थ सेकोद्देशटीका (पृ० ५१) में भी आई है । वहाँ नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट और उष्णीष चक्र में क्रमशः पाँच, चार, तीन, दो और एक

तिथयश्च कला नित्यास्तदात्मिकाः स्युस्तथैव तत्संख्यैः ।
वर्णैः समष्टिरेषा विद्या व्याप्नोति तानि सर्वाणि ॥
सर्गादि[1]समष्टिरूपैः[2] स्वांश[3]रेभिस्तदात्मना विततैः[4] ।
सर्गेण कादिवर्णैरपि षट्त्रिंशद्भिरात्मनोऽवयवैः ॥
पुनरज्व्यञ्जनबिन्दुप्रभेदभिन्नांस्तदक्षरावयवान् ।
षट्त्रिंशत्संख्याकांस्तत्त्वमयानश्नुते हि सा माता ॥
व्यष्टिसमष्टिविभेदैश्चतुरात्मा तत्त्वबीजपीठमयी ।
चतुरन्वयात्मनाऽपि च माताऽष्टकमातृकामयी विद्या ॥ इति ॥१७॥

तुरीयमन्त्रस्यार्थमाह— (२।१-२५)

तन्मयीं परमानन्दनन्दितां स्पन्दरूपिणीम् ।
निसर्गसुन्दरीं देवीं ज्ञात्वा स्वैरमुपासते ॥१८॥

और पन्द्रह वैखरी स्वरों में परिणत हो जाती हैं । इन सबकी समष्टिस्वरूपिणी, षोडशी नित्या कला इन सबमें व्याप्त रहती है, क्योंकि सृष्टि का आरम्भ होने से पहले समष्टि रूप में स्थित अपने अंशों का ही वह सृष्टि करते समय इन रूपों में विस्तार कर देती है। विसर्गस्वरूपिणी यह षोडशी नित्या कला जब पुनः सृष्टि व्यापार में प्रवृत्त होती है, तो वह ककार आदि वर्णों से बने अपने छत्तीस[1] अवयवों वाले रूप का विस्तार करती है। इस तरह से यह माता भगवती स्वर, व्यंजन, बिन्दु आदि के भेद-प्रभेद वाले इन अक्षरों रूपी अवयवों से छत्तीस तत्त्वों वाले अपने नये रूप में व्याप्त हो जाती है । तब व्यष्टि और समष्टि के भेद से चार प्रकार से विभक्त हुई सबकी जननी यह मूलविद्या चार-तत्त्व, चार बीज, चार पीठ, चार अन्वय (आम्नाय) आदि का भी स्वरूप धारण कर लेती है ॥१७॥

अब [2]तुरीय मन्त्र का अर्थ बताते हैं—

तन्मयी, अर्थात् मिथुनत्रय समष्टिरूपिणी तुरीयस्वरूपा परमानन्द से ओत-

१. स्थिति—ख. ग. ज. झ. उ. । २. 'रूपः' इत्येव सार्वत्रिकः पाठः । ३. रणुभि—ख. ग. ने. ज. झ. । ४. 'विततः' ख. विहाय सर्वत्र ।

गुण की स्थिति मानी गई है । वेदान्त अथवा न्याय दृष्टि का अनुसरण करने पर यह नहीं हो सकता, क्योंकि वेदान्त दर्शन में पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार सभी भूत पाँचों गुणों से संयुक्त हैं और न्याय-वैशेषिक दृष्टि में ये पाँच गुण क्रमशः पाँच भूतों के विशेष गुण हैं, अतः उनकी अन्यत्र स्थिति नहीं मानी जा सकती ।

1. सम्प्रदायार्थ का निरूपण करते समय यह सारा विषय मूल ग्रन्थ में भी आगे (२।३२-३५) विवेचित है ।

2. तुरीय मन्त्र का अभिप्राय यहाँ सौभाग्यविद्या के तुरीय स्वरूप से है। सृष्टि,

तन्मयीं भारत्यादिब्रह्मादिमि[1]थुनत्रयवाचक[2]बीजत्रयसमष्टिरूपां [3]तुरीयमन्त्रवाच्याम् । परमानन्दनन्दितां परमशिवसामरस्यपरिस्फुरत्परमानन्दनिर्भराम् । स्पन्दरूपिणीं शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वस्पन्दरूपेण व्यक्तनिजविभवाम् । निसर्गसुन्दरीं सर्वप्राणिष्वात्मतया [5]परप्रेमास्पदीभूताम् । देवीं महात्रिपुरसुन्दरीं प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपिणीं[6] पराम् । ज्ञात्वा स्वात्मतया । स्वैरमुपासते स्वातन्त्र्येण विहरन्ति, स्वैराचारपरा भवन्तीत्यर्थः । अत्रैव वक्ष्यति—"स्वैराचारेण सम्पूज्या त्वहन्तेदन्तयोः समा" (३।१६४) इति ॥१८॥

मन्त्रशब्दार्थमाह—

शिवशक्त्याख्यसंघट्टरूपे ब्रह्मणि शाश्वते ।
तत्प्रथाप्रसराश्लेषभुवि त्वैन्द्रोपलक्षिते ॥१९॥

प्रोत स्पन्दस्वरूपा निसर्गसुन्दरी देवी को जान लेने के बाद साधक उसकी स्वच्छन्द उपासना करते हैं ॥१८॥

तन्मयी का अर्थ है भारती-ब्रह्मा आदि के तीन मिथुनों के वाचक तीन बीजों की समष्टिस्वरूपिणी चौथी सम्पूर्ण श्रीविद्या । यह श्रीविद्या परमानन्दनन्दिता है, परमशिव के सामरस्य से समुद्भूत परमानन्द से भरी हुई है । स्पन्दरूपिणी है, शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों के स्पन्दन के रूप में यह अपने ही वैभव का विस्तार करती है । निसर्गसुन्दरी है, सभी प्राणियों की अपनी आत्मा के रूप में यह सर्वत्र परम प्रेम का विस्तार करती है । यह देवी प्रकाश और विमर्श के सामरस्यमय स्वरूप में महात्रिपुरसुन्दरी के नाम से प्रकाशमान है । भगवती के इस तुरीय स्वरूप का, श्रीविद्या के इस चतुर्थ अर्थ का अपनी ही आत्मा के रूप में साक्षात्कार कर लेने के बाद साधक स्वतन्त्र रूप से आहार-विहार करने लगते हैं, अर्थात् यथेष्ट आचरण करने लगते हैं । यहीं आगे (३।१६४) बताया गया है—"अहन्ता और इदन्ता में समान रूप से विद्यमान भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना अपने मनोनुकूल पदार्थों से करनी चाहिये" ॥१८॥

मन्त्रशब्द का अर्थ बताते हैं—

प्रकाशविमर्श नामक संघट्ट (सामरस्य) के रूप में विराजमान, नित्य, विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार के साक्षी, महान् ऐश्वर्य सम्पन्न ब्रह्म (परमात्मा)

१. चतुर्मिथुन—क. ग. ने. ज. झ. उ. । २. पीठ—ने. । ३. 'तुरीयमन्त्रवाच्यां' नास्ति—ख. ने. ज. । ४. बिभेदिनीं—ने. ज. झ. उ., शालिनीं—ख. । ५. 'पर' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ६. रूपां—ने. ज. झ. उ. ।

स्थिति और संहार के प्रतीक वाग्भव, कामराज और शक्ति नामक व्यष्टि बीजों के अतिरिक्त सौभाग्यविद्या का एक समष्टि स्वरूप भी है । इसी को यहाँ समष्टि बीज कहा गया है और उसी का यहाँ तुरीय मन्त्र के रूप में वर्णन किया गया है ।

ज्ञातृज्ञानमयाकारमेननान्मन्त्ररूपिणी[२] ।

शिवशक्त्यात्मसंघट्टरूपे शिवशक्त्यात्मनोः प्रकाशविमर्शयोः संघट्टः सामरस्यम्, तद्रूपे ब्रह्मणि, "[३]बृह वृद्धौ" (७३५ भ्वा०) इत्यस्माद् धातोर्बृंहणत्वादात्मैव ब्रह्मेति [४]वैयाकरणोक्तरीत्या सर्वप्राणिष्वात्मनि । शाश्वते भूतभविष्यत्कालशालिनि । तत्प्रथाप्रसराश्लेषभुवि। तच्छब्देन प्रकाशात्मा परामृश्यते । श्रीभगवद्गीतायाम्—"ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" (१७।२३) इति । [५]तस्य शिवस्य [६]प्रकाशमयस्य प्रथा विमर्शशक्तिः, यथा दीपस्य[७] प्रभा तद्वत्, तस्याः प्रसरः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मना परिणामः, तस्याश्लेषः [८]शिवे तावन्मात्रतया पर्यवसानम्, तस्य भुवि विश्रान्तिस्थाने । अत्र श्रुतिः—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" (छा० उ० ३।१४।१) इति । ऐन्द्रोपलक्षिते, "इदि[१] परमैश्वर्ये" (६३ भ्वा०), परमैश्वर्यवानिन्द्रः। अत्र श्रुतिः—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (ऋ० ४।७।३३) इति । तत्संबन्धि ऐन्द्रं कर्म, तेनोपलक्षिते । काकवद् देवदत्तगृहमितिवद् विश्वसर्जनादिव्यवहारोऽस्योपलक्षणम्, न तु स्वरूपधर्म इति यावत् । प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपे नित्ये विश्वसृष्टिस्थितिसंहारकारिणि [२]साक्षिणि तत्प्रकृत्यात्मक[३]महदैश्वर्यपरामृष्टे परमात्मनि विषये [४]ज्ञातृज्ञानमयाकारमननाद् ज्ञातुरादरनैरन्तर्यपाटवाभ्याससद्भावतत्प्रकर्षलक्षणमननात्[५] तन्मयाकार[६]भावनालक्षणत्राणान्मन्त्ररूपिणी[७] । कोऽर्थः ? उक्तविशेषण[८]विशिष्टपरप्रकाशविषयमननात् स्वसाधकं तन्मयरूपताप्रतिपादनेन त्रायत इति निरुक्त्या तुरीयलक्षणमहामन्त्ररूपिणीयमित्यर्थः ॥१९-२०॥

के रूप में ज्ञाता के ज्ञानमय आकार की चिन्ता करने वाले साधक की रक्षा करने वाली होने से यह विद्या मन्त्ररूपिणी है ॥१९-२०॥

शिवशक्त्यात्मसंघट्टरूप का अर्थ है शिव और शक्ति स्वरूप प्रकाश और विमर्श का सामरस्यमय आकार । यह आकार ही ब्रह्म कहलाता है । वृद्धि अर्थ वाली बृह धातु से यह शब्द बनता है । व्याकरण शास्त्र में ब्रह्म पद की यही व्युत्पत्ति दी गई है । अपने विस्तार के कारण यह ब्रह्म सभी प्राणियों की आत्मा के रूप में स्थित है । यह शाश्वत है, भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान है । तत्प्रथा इत्यादि समस्त पद में विद्यमान तत् शब्द से ब्रह्म का प्रकाशात्मक स्वरूप बोधित होता है । भगवद्गीता में बताया गया है—"ॐ, तत् और सत्—इन तीन शब्दों से ब्रह्म का बोध होता है" । उस प्रकाशात्मक ब्रह्मस्वरूप शिव की प्रथा है विमर्श शक्ति । दीपक की प्रभा के समान यह शक्ति प्रकाशात्मक शिव की प्रभा है । यह प्रभा ही ३६ तत्त्वों के रूप में परिणत हो जाती है और इसका आश्लेष अर्थात् विलय भी शिव में ही होता है । इसका भाव यह है कि विमर्श शक्ति सृष्टि दशा में ३६ तत्त्वों के रूप में परिणत होती है और वही संहार दशा में केवल शिवस्वरूप में पर्यवसित (विलीन) हो जाती है । इस तरह यह प्रकाशात्मक शिव शक्ति की विश्रामस्थली है । छान्दोग्य श्रुति इसमें प्रमाण है—"यह सब कुछ ब्रह्म है । संयत-चित्त साधक को चाहिये कि वह इस प्रकार की भावना करे कि ब्रह्म से ही सब कुछ पैदा हुआ है, उसी में लीन होने वाला है और उसी की सामर्थ्य से यह सांस ले रहा है" ॥

'इदि' धातु का अर्थ परम ऐश्वर्य होता है । इन्द्र शब्द इसी धातु से बना है । इन्द्र परम ऐश्वर्य सम्पन्न होता है । ऋग्वेद में वर्णन आया है कि "इन्द्र अपनी माया से अनेक रूप धारण कर लेता है" । यह ब्रह्म भी इन्द्र के समान सभी शक्तियों से सम्पन्न है "कौवा वाला घर देवदत्त का है" इस वाक्य से देवदत्त के घर की पहचान मात्र कराई जाती है, उस घर से कौए का कोई नित्य संबन्ध नहीं है; उसी तरह से विश्व की सृष्टि आदि व्यापारों से ब्रह्म का परिचय मात्र कराया जाता है, ब्रह्म का यह शाश्वत स्वरूपधर्म नहीं है । संक्षेप में इसका अर्थ यह होगा कि प्रकाशविमर्शसामरस्यस्वरूप, नित्य, विश्व की सृष्टि, स्थिति और संहार के कर्ता और उसके साक्षी, अपनी शक्ति (प्रकृति) के रूप में महान् ऐश्वर्य से संपन्न इस परमात्मा के स्वरूप में जो ज्ञाता (साधक) आदर पूर्वक सावधानी से निरन्तर अपने चित्त को लगाता है और तन्मय होकर उसी में अपनी भावना को केन्द्रित किये रहता है, तो इस अवस्था में यह शक्ति उसकी रक्षा भी करती है । मनन करने वाले साधक की रक्षा करने वाली यह शक्ति उस समय मन्त्ररूपिणी हो जाती है, मन्त्र (श्रीविद्या) का स्वरूप धारण कर लेती है । इसका भाव यह है कि ऊपर बताये गये विशेषणों से विभूषित ब्रह्म के परम प्रकाशमय स्वरूप का मनन करने वाले साधक को ब्रह्ममयता प्रदान कर उसकी रक्षा करने वाली यह तुरीया स्वरूप महाविद्या मननत्राणरूप मन्त्र के धर्मों को धारण करती है, अतः मन्त्ररूपिणी कहलाती है ॥ १९-२० ॥

---

१. करणा-ख. ग. च. छ. ज. झ । २. णीम्-ख. ग. ने. च. छ. ज. झ. । ३. बृहि बृंहि-ने. ज. । ४. वैयासिकतन्त्रोक्त-ज. झ. उ. । ५. 'तस्य' नास्ति-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. प्रकाशस्य-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ७. दीपस्य तत्प्रथायाः प्रसरः-ख. ने. ज. झ. उ. । ८. शिवस्तावन्मात्रस्य-क. ख. ग. ने. ।

१. 'इदि परमैश्वर्ये' नास्ति-ख. ने. ज. उ. । २. 'साक्षिणि' नास्ति-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. माहैश्वर्य-ने. ज. झ. उ. । ४. 'ज्ञातृज्ञानमयाकारमननाद्' नास्ति-ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. मननवतस्त-ख. ने. झ. उ. । ६. करण-ख. ने. ज. झ । ७. णीमित्यर्थः-ने. । ८. 'विशिष्ट' नास्ति-ख. ज. झ. उ. ।

ननूक्तविशेषणविशेषिता तुरीयमन्त्ररूपिणीयं[1] किंलक्षणेत्यत आह—

तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिस्तु मातृका ॥२०॥

"तन्मयीम्" (२।१८) इति पूर्वोक्तमेव। तेषां ब्रह्मादीनां भारत्यादीनां च सृष्ट्यादिसमष्टिरूपलक्षणेन लक्षिता पराशक्तिः। तुरवधारणे। पराशक्तिरेव,

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(श्वे० उ० ६।८)

इतिश्रुतिप्रतिपादिता परैव मातृका,

अखिलमनाहतमूर्तिर्मात्युत्तीर्णस्वरूपिणी तरति।
कायति नानानामप्रपञ्चरूपेण मातृका देवी॥ (सौ० सु० १।६)

उक्त विशेषणों से विभूषित तुरीय मन्त्ररूपिणी श्रीविद्या के स्वरूप का अब वर्णन करते हैं—

ब्रह्मा-भारती आदि मिथुनों के सृष्टि आदि समस्त कार्यकलापों को अपने में समेटे हुए यह परा शक्ति हो मातृका (परा वाणो) है॥२०॥

तुरीय मन्त्र का स्वरूप पहले (२।१८) बताया गया है। यह मन्त्रस्वरूपिणी तुरीय विद्या ब्रह्मा-भारती आदि तीन मिथुनों के सभी तीन कृत्यों को अपने में समेटे हुए है। इसलिये यही परा शक्ति है। 'तु' शब्द का प्रयोग होने से यह अर्थ निकलता है कि परा शक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि उसमें ये तीनों कृत्य समष्टि रूप में स्थित हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में—

न वह किसी को पैदा करती है और न उसको कोई पैदा करता है। उसकी समानता करनेवाला जब कोई नहीं है तो भला उससे बढ़कर कौन दिखाई देगा। इस ब्रह्म की परा शक्ति ही ज्ञान, बल, क्रिया आदि विविध रूपों में सुनी जाती है॥

इस प्रकार वर्णित यह परा शक्ति ही परा मातृका है। इसका स्वरूप स्वयं व्याख्याकार ने अपने ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय में इस तरह से बताया है—

यह परा मातृका देवी अपनी [1]अनाहत मूर्ति से सबको व्याप्त कर लेती है, अपने उत्तीर्ण स्वरूप से सबसे ऊपर उठ जाती है और इस जगत् में आकर नाना प्रकार के

१. 'इयं' नास्ति—ख. ने. ज. उ.।

1. अनाहत, हत और उत्तीर्ण पद क्रमशः मध्यमा, वैखरी और पश्यन्ती वाणी के वाचक हैं। अतः अनाहत मूर्ति का अर्थ होगा मध्यमा वाणी, उत्तीर्णस्वरूपिणी पश्यन्ती तथा नाना नाम प्रपंचवाली होगी वैखरी वाणी। इस तरह से परा वाणी ही क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का स्वरूप धारण कर मातृका कहलाती है।

इत्यस्मदुक्तरीत्या [1]परा मातृका पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपेण व्यापृता। अत्र श्रुतिः—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ इति।
(ऋ० १।१६४।४५)

नामों (शब्दों) का शरीर धारण कर लेती है। इस तरह से माति, तरति और कायति इन तीन धातुओं से मातृका का स्वरूप बनता है।

परा मातृका ही इस तरह से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का स्वरूप धारण कर सबमें व्याप्त रहती है। ऋग्वेद में भी इनका वर्णन है—

[1]वाणी के चार प्रकार होते हैं। इनके स्वरूप को मनीषी ब्राह्मण ही जान पाते हैं। वाणी के तीन स्वरूप छिपे हुए हैं। इसके चतुर्थ वैखरीमय स्वरूप का ही मनुष्य उच्चारण करते हैं॥

१. 'परा' नास्ति—ख. ज. झ. उ.।

1. निरुक्त (१३।९) और महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में इस मन्त्र की व्याख्या मिलती है। सायण ने प्रथमतः निरुक्त के अनुसार इसकी व्याख्या कर बाद में आगम-तन्त्रशास्त्र संमत व्याख्या की है। महाभाष्य के व्याख्याकार कैयट ने पूरी तरह से महाभाष्य का अनुसरण किया है, किन्तु नागेश भट्ट व्याकरण संमत व्याख्या देने के बाद आगम-तन्त्रशास्त्र संमत व्याख्या भी करते हैं। निरुक्तकार ने यहां आर्ष (सायण के अनुसार वेदवादी), वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, ऐतिहासिक (निरुक्त में इस मत को 'एके' शब्द से संबोधित किया गया है) और आत्मवादियों के मत के अनुसार चार पदों का अलग अलग विवरण दिया है। इस सभी मतों में पूरे मन्त्र की व्याख्या में खींचतान करनी पड़ती है। नागेश भट्ट का कहना है कि नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चतुर्विध पदों में से, जो कि निरुक्त और व्याकरण में समान रूप से मान्य हैं, प्रत्येक के चार चार भेद होते हैं। वाणी के प्रथम तीन भेदों के समान इनके भी प्रथम तीन रूपों को विद्वान् ही जान सकते हैं। साधारण जन केवल चतुर्थ रूप से ही अपना व्यवहार चलाते हैं। वाणी के परा, पश्यन्ती और मध्यमा नामक तीन भेद जैसे छिपे हुए हैं और चतुर्थ वैखरी वाणी से ही सांसारिक व्यवहार चलता है, उसी तरह से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों के तीन छिपे हुए और एक प्रकट रूप का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। अतः इस मन्त्र की सायणकृत आगम-तन्त्र संमत व्याख्या ही उचित लगती है, जिसको नागेश भट्ट ने भी स्वीकार किया है।

[1]अयमर्थः—ब्रह्मादिभारत्यादिसमष्टिरूपतालक्षणा [2]पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-विस्तारप्रकाशविमर्शसाम स्यरूपा तुरीयमन्त्र[3]वाच्येति ॥२०॥

नन्वियमकारहकारसामरस्यरूपा परैव तुरीय[4]मन्त्रविशेषणविशेषिता तुरीय-पदवाच्येत्युक्तम्, तद्वर्णद्वयं मन्त्रे कुत्र निवसतीति (चेत्[5]), एतन्मन्त्रस्य तद्वर्ण-द्वयवाच्यायाः [6]परायाश्च कः संबन्ध इत्यत आह—

मध्यबिन्दुविसर्गान्तःसमास्थानमये परे ।
कुटिलारूपके तस्याः प्रतिरूपे वियत्कले ॥२१॥

तस्याः परायाः । मध्यबिन्दुविसर्गान्तःसमास्थानमये । मध्यबिन्दुरूर्ध्वबिन्दु-रकारहकारसामरस्यरूपः कामाख्यः । तदुक्तं कामकलाविलासे—

"बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः ।
कामः कमनीयतया" (श्लो० ७) इति ।

विसर्ग[7]स्तन्निरासरूपो बिन्दुद्वयात्मकः अःकारः षोडशस्वरः । तदुक्तं तत्रैव—

इसका भाव यह है कि ब्रह्मा-भारती आदि मिथुनों को समष्टि रूप में अपने में समेटे हुए यह प्रकाशविमर्शस्वरूपिणी परा वाणी ही पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का भी स्वरूप धारण करती है और यही अपने तुरीय स्वरूप में श्रीविद्या नामक परम मन्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है ॥ २० ॥

अकार (प्रकाश) और हकार (विमर्श) के सामरस्यमय स्वरूप वाली यह परा वाणी ही तुरीय मन्त्र के सभी विशेषणों से संयुक्त होने से तुरीय कही गई है । ये दो वर्ण विद्या में कहां हैं ? तथा इस मन्त्र और उक्त वर्णों से बोधित होने वाली परा वाणी का परस्पर क्या संबन्ध है ? इस विषय को अब समझाते हैं—

अकार और हकार नामक ये दो अक्षर मध्यबिन्दु और विसर्ग के बीच में स्थित हैं । उस परा वाणी का कुटिल आकार वाली अकुल और कुलकुण्डलिनी में प्रतिबिम्बित स्वरूप ही बिन्दु और कला के नाम से जाना जाता है ॥ २१ ॥

मध्यबिन्दु का अर्थ है ऊर्ध्व बिन्दु, अकार और हकार का समरस स्वरूप काम नाम का बिन्दु । इसका वर्णन कामकलाविलास में इस तरह से किया गया है—"यह बिन्दु अहंकार स्वरूप है । इसका नाम रवि है । इसमें दोनों बिन्दु समरस भाव से रहते हैं । यह समरसभाव सबके लिये कमनीय है, अतः इसे काम भी कहते हैं" । बिन्दुद्वयात्मक विसर्ग

१. एव—ख. ने. ज. उ. । २. परा-पश्यन्तो—ने. । ३. मन्त्रपद—ख. ने. ज. उ. । ४ 'तुरोयमन्त्रविशेषणविशेषिता' नास्ति—ख. ने. ज. उ. । ५. चेत्पदमनावश्यकम् । ६. 'परायाः' नास्ति—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ७. विसर्गश्च बिन्दुन्यासरूपं बिन्दुद्वयं न त्वकारः । तदुक्तं—ख. ग. ने. उ. ।

"कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू" (श्लो० ७) इति । तयोरन्तः [1]कामस्य कलायाश्च द्वयोरपि मध्ये समास्थानमये [2]निवासरूपे । परे अहाक्षरे । वर्णाना-माद्यन्तत्वादन्त्यापेक्षयाऽऽदेरकारस्य परत्वम्, आद्यापेक्षयाऽन्त्यस्य हकारस्य पर-त्वम् । तेन परे अक्षरे [3]वर्णानामाद्यन्ते अकारहकाररूपे [4]अक्षरे कथ्येते । कुटिलारूपके कुटिले अकुलकुलकुण्डलिन्यौ, कुटिलरूपत्वात् । [5]एते एव रूपे ययो-स्तयोः [6]प्रतिबिम्बरूपे वियत्कले । वियच्छब्देन शून्यं लक्ष्यते । तेन वियद् बिन्दुः, कला बिन्दुद्वयमात्रावती हकारलिपिः । कोऽर्थः ? [7]अकारः [8]शिवशक्तिसामरस्य-रूपाकारः तद्वासरूपकलाक्षरावयव[9]रूपबिन्दुद्वयान्तर्गतमात्रारूपे निवसति ।

उस मूल बिन्दु से [1]निकला रस है, जो कि सोलहवें स्वर अःकार का स्वरूप धारण करता है । इसका नाम कला है । कामकलाविलास में इसका भी स्वरूप वर्णित है—"अग्नि और चन्द्र (अग्नीषोम) नामक दो बिन्दु इस काम की कलाएं हैं" । इन दोनों के, काम और कला के मध्य में निवास करने वाले पर अक्षर हैं अकार और हकार । अकार और हकार की स्थिति वर्णों के आदि और अन्त में है । अन्त में विद्यमान हकार की अपेक्षा से आदिभूत अकार पर है और प्रथम अकार की अपेक्षा से अन्तिम हकार पर है । इस तरह से ये दोनों ही अक्षर परस्वरूप हैं । अकुल और कुल ये दोनों कुण्डलिनियां अपने कुटिल आकार के कारण ही कुण्डलिनी कहलाती हैं । वियत् (बिन्दु) और कला इन्हीं कुण्डलिनियों में प्रतिबिम्बित परा वाणी का स्वरूप है । वियत् (आकाश) शब्द शून्य का द्योतक है । अतः शून्याकार बिन्दु यहां वियत् शब्द से बोधित होता है । [2]बिन्दुद्वयात्मक मात्रा वाली हकार लिपि यहाँ कला शब्द से जानी जाती है । इसका अभिप्राय यह होगा कि अकार शिव और शक्ति के सामरस्य स्वरूप का द्योतक है । यह अपने निवास के रूप में कल्पित कला नामक अक्षर के अवयवभूत बिन्दुद्वय के अन्तर्गत विद्यमान मात्रा में निवास करता है । परा वाणी स्वरूप ये ही दोनों काम (अकार) और कला (हकार) नामक अक्षर अकुल और कुलकुण्डलिनी का स्वरूप धर लेते हैं, क्योंकि ये दोनों कुण्डलिनियां परा

१. कामाख्यकलयोर्द्वयोरपि-ख. ने. ज. झ. उ. । २. निरास—क. ग. ने. । ३. लिपीना—ख । ४. अहाक्षरे—ने. । ५. तत्स्वरूपे तयोः—ख. ने. ज. झ. उ. । ६. प्रतिरूपे बिम्बरूपे—ज. । ७. 'अकारः' नास्ति—ख. ज. झ. उ. । ८. शिवशक्तिसामरस्यरूपमयोर्ध्व-बिन्वन्तर्गतो निवसति हकारः, तस्य व्यासरूपकला—ख. ने. ज. झ. उ. । ९. 'रूप' नास्ति—ख. ने. झ. उ ।

1. टीकाकार ने यहाँ निरास पद का प्रयोग किया है । इसका अभिप्राय यह है कि बबूल, पीपल आदि के वृक्षों से जैसे गोंद, लाह आदि का उनके रस के रूप में प्रादुर्भाव होता है, उसी तरह से काम बिन्दु से उसके रस के रूप में कला (विसर्ग) प्रकट होती है ।

2. बिन्दुद्वयात्मक मात्रा वाली हकार लिपि से यहाँ विसर्ग का ग्रहण करना चाहिये ।

[1]अहौ एव द्वे अप्यक्षरे अकुलकुलकुण्डलिनीरूपे पराया रूपे, तदवयवत्वात्, तयोः परारूपयोः प्रतिबिम्बरूपे[2]अहकाराक्षरेऽकारहकारयोः स्फुरितत्वात् ॥२१॥

मन्त्रनिदान[3]भूतकामकलायामकारहकारयोः स्थितिं व्युत्पाद्येदानीं मन्त्रे तद्वर्णद्वयस्य स्थितिमाह—

मध्यप्राणप्रथारूपस्पन्दव्योम्नि स्थिता पुनः ।
मध्यमे मन्त्रपिण्डे तु तृतीये पिण्डके पुनः ॥२२॥
राहुकूट[4]द्वयस्फूर्जत्

मध्यमे मन्त्रपिण्डे वाग्भवशक्तिबीजयोर्मध्यगते कामराजबीजाख्ये षडक्षरपिण्डे । मध्यप्राणप्रथारूपस्पन्दव्योम्नि स्थिता पुनः[5] । मध्यप्राणः कामकलाधोगतबिन्दुद्वयमध्यगतप्राणो हकारः, तस्य प्रथा पृथुत्वेन प्रतीतिः, श्रुतिगोचरत्वात्, तद्रूपं स्पन्दव्योम हकारः, तस्मिन् व्योम्नि पुनः स्थिता, हकारस्य विमर्शशक्तिस्फूर्तिमयत्वात् । तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—"हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः" इति ।

वाणी की ही अंगभूत हैं और इन परा-स्वरूपा कुण्डलिनियों के प्रतिबिम्ब स्वरूप एक समरस अहकाराक्षर से ही अकार और हकार वर्णों की उत्पत्ति होती है ॥ २१ ॥

सभी मन्त्रों की उत्पत्ति में कारणभूत कामकला में अकार और हकार की स्थिति को स्पष्ट करने के बाद मन्त्र में उन दोनों वर्णों की स्थिति स्पष्ट की जाती है—

मध्यम मन्त्रपिण्ड(कामराज बीज) में मध्यप्राण की प्रथा के रूप में विद्यमान स्पन्द रूपी व्योम (हकार) में यह स्थित है। तृतीय पिण्ड (शक्ति बीज) में तो यह राहुकूट में तृतीय स्थान पर विद्यमान सकार के अकार के रूप में स्थित है ॥२२-२३॥

मध्यम मन्त्रपिण्ड में, वाग्भव और शक्तिबीज के मध्यवर्ती कामराज बीज नामक छः अक्षरों वाले पिण्ड मन्त्र में, मध्यप्राण, अर्थात् कामकलाक्षर के अधोगत दो बिन्दुओं के मध्य में स्थित प्राण (हकार) की जो स्थूल रूप में श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्रतीति होती है, उसी को स्पन्द व्योम (हकार) कहा जाता है । इसी स्थूल स्पन्दनात्मक हकार में वह विद्या स्थित है, अर्थात् इस प्रकार उक्त मन्त्रराज में कामकलागत हकार वर्ण स्थित है, क्योंकि हकार का स्वरूप विमर्श शक्ति से ही स्फुरित होता है । संकेतपद्धति में यह बताया गया है—"कलारूप अन्तिम वर्ण हकार विमर्श नाम से जाना जाता है" ।

---

१. सतो द्वे द्वे आद्याक्षरे–झ. उ. । २. बिन्द्वाकारा–ग. ने. झ. उ. । ३. निगम–ख. ग. । ४. कूटद्वय–च. छ. ज. उ. । ५. 'पुनः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. ।

तृतीये पिण्डके शक्तिबीजाख्ये चतुरक्षरपिण्डे । पुनस्त्वर्थे[1] द्वितीयबीजवत् स्फुटीभावेन न स्फुरति, किन्तु राहुकूटाद्वयस्फूर्जत् । राहुकूटः शषसहानां वर्णानां[2]वर्गकूटो वर्णसमूहः । यथा पञ्चकूटः षट्कूट इति । राहुकूटेऽद्वयो वर्णो द्वितीयादन्यस्तृतीयः सकारः, तद्वर्गतृतीयवर्णत्वात् । षोढान्यासे शषसहा राहुवर्गः । अत्रैव वक्ष्यति—"वक्त्रे शादिचतुर्वर्णैः सहितं राहुमेव च" (३।२५) इति । पुना राहुकूटाद्वयस्फूर्जदिति । राहुकूटे तृतीयसकारोपरि अविभागेन स्फूर्जत् प्रकाशमानं सकलवर्णाद्यमनुत्तर[3]मक्षरम् । तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—"अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः" इति । [4]कोऽर्थः ? परावयवभूतावकारहकारावेव कामकलोर्ध्वबिन्दौ मात्रायां च स्थित्वा पुनः स्थूलभावमासाद्य पृथग्भूतौ कामराजबीजान्तर्गतककारलकारमध्यगतहकारे शक्तिबीजादि[5]गतसकारादूर्ध्वगताकारे[6]चाधिवसत इत्यर्थः ॥२२-२३॥

ननु [7]प्रथमपिण्डे विद्यमानेऽपि मध्यपिण्डे तृतीयपिण्डे च परावयवभूतयोरकारहकारयोः[8]कथमवस्थानमुक्तम् ? प्रथमबीजे किमिति नोक्तम् ? उच्यते—दक्षिण-

---

शक्ति बीज नामक चार अक्षरों वाले तृतीय पिण्ड मन्त्र में तो द्वितीय बीज के समान अक्षर की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती, किन्तु राहुकूट में, अर्थात् श ष स ह नामक वर्णों के कूट (समूह) में, विद्यमान तृतीय वर्ण सकार के ऊपर अविभक्त रूप में स्थित सभी वर्णों के प्रथम अक्षर अकार के रूप में प्रकाशमान है । संकेतपद्धति में भी बताया गया है—"अकार सभी वर्णों में प्रथम है । यही प्रकाशात्मक परम शिव का प्रतीक है" । पंचकूट षट्कूट आदि शब्द पाँच, छः आदि संख्या वाले वर्णसमूह को कहते हैं । राहुकूट स ष स ह इन चार वर्णों के समूह से बना राहुवर्ग है । आगे (३।३४) राहुवर्ग के नाम से ही इन चार वर्णों का परिचय दिया गया है । राहुकूट (राहु वर्ग) का अद्वय अर्थात् दो से भिन्न तीसरा वर्ण सकार है । इस प्रकरण का वास्तविक अभिप्राय यह है कि परा वाणी के अवयवभूत अकार और हकार ही कामकलागत ऊर्ध्वबिन्दु और मात्रा में सूक्ष्म रूप से स्थित हैं । फिर स्थूल रूप में आकार ये अलग अलग हो जाते हैं ।और कामराज बीज में विद्यमान ककार और लकार के बीच में हकार के रूप में और शक्ति बीज के प्रारंभ में स्थित सकार के आगे अकार के रूप में अपनी स्थिति बना लेते हैं ॥ २२-२३ ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रथम पिण्ड के रहते हुए ही उसको छोड़कर यहाँ मध्य पिण्ड और तृतीय पिण्ड में परा वाणी के अवयवभूत अकार-हकार की स्थिति कैसे बता दी

---

१. श्चार्थः–ख. ग. ने. झ. । २. वर्गः । तथा च पञ्चकूटं षट्कूटमिति । राहुकूटे–ख ज. झ. उ. । ३. त्तराक्षरम्–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. 'कोऽर्थः' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. भूत–क. ख. ग. । ६. च निव–ख. ने. ज. झ. उ. । ७. 'प्रथमपिण्डे विद्यमानेऽपि' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ८. 'कथम्' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. ।

स्रोतःपक्षपातिन्याः सौभाग्यदेवतायाः परायाः परापरशक्तिप्रधानत्वात् स्थितेश्च परापरशक्त्यधिष्ठितत्वान्मध्यबीजस्य स्थितिरूपत्वात् तत्र विमर्शशक्तेरवस्थानमुक्तम्। शिवस्य संहाररूपत्वाच्छक्तिबीजस्य च संहारात्मकत्वात् प्रकाशस्य तत्रावस्थानमुक्तं विशेषेण। सामान्यतस्तु वाग्भवे। अत एव तदक्षरद्वयसंबन्धात् तद्विश्व[1]मयत्वं परायाः कथितमित्याह—

चलत्तासंस्थितस्य तु।

धर्माधर्मस्य वाच्यस्य विषामृतमयस्य च ॥२३॥

वाचकाक्षरसंयुक्तेः[2] कथिता विश्वरूपिणी।

तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिं तु मातृकाम् ॥२४॥

गई ? प्रथम बीज में इनका निरूपण क्यों नहीं किया गया ? इसका उत्तर यह है कि परा शक्तिस्वरूपिणी सौभाग्यविद्या की उपासना प्रधान रूप से दक्षिणाम्नाय की पद्धति से होती है। यहाँ परापर शक्ति प्रधान मानी गयी गई है। स्थिति नामक कृत्य को यह परापर शक्ति ही सम्पन्न करती है। मध्य बीज भी स्थिति का प्रतिनिधि माना गया है। इसीलिये सब से पहले यहाँ मध्य बीज में विमर्श शक्ति की, हकार की स्थिति बताई गई है। शिव संहार का अधिष्ठाता है। शक्ति बीज भी संहार का प्रतिनिधि है। अतः संहारात्मक प्रकाश की, प्रकाशात्मक शिव के प्रतिनिधि अनुत्तर अकार की स्थिति संहारात्मक शक्ति बीज में यहाँ बाद में बताई गई है। इस प्रकार अकार और हकार की उक्त विशेष स्थिति द्वितीय तथा तृतीय बीज में ही है। वाग्भव बीज में इनकी स्थिति सामान्य रूप में ही है। अब आगे यह बताया जा रहा है कि इन्हीं दो अक्षरों से संबद्ध होकर यह विश्वोत्तीर्ण परा वाणी विश्वमय हो जाती है, ३६ तत्त्वों वाले विश्व का रूप धारण कर लेती है—

स्पन्दावस्था की ओर उन्मुख, विष (संसार) और अमृत (मोक्ष) मय धर्म (शिव) और अधर्म (शक्ति) रूपी वाच्य अर्थ जब वाचक अक्षरों से संवलित हो जाता है, तो यह [1]विश्वोत्तीर्ण महाविद्या विश्वमय हो जाती है। तब तीन-तीन संख्या वाले सभी पदार्थों की समष्टिस्वरूपिणी यह परा मातृका तीन कूटों का

---

१. शक्त्यन्वित–ख. ने. ज. झ. उ.। २. रूपत्वं–क. ख. ने. ज. झ.। ३. संयोगात्–क., संबन्धात्–ङ।

१. विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय तत्त्व की चर्चा हम पहले (पृ० १५ की टिप्पणी) कर चुके हैं। यहाँ उसी विषय की स्पष्ट चर्चा हुई है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि शाक्त-मत, विशेष कर त्रिपुरादर्शन, तत्त्व को विश्वमयता का ही प्रतिपादक न होकर इस प्रसंग में पूरी तरह से त्रिक मत का अनुसरण करता है।

कूटत्रयात्मिकां देवीं समष्टिव्यष्टिरूपिणीम्।

आद्यां शक्तिं भावयन्तो भावार्थं[1] इति मन्वते ॥२५॥

चलतो भावश्चलत्ता, तस्यां संस्थितस्य। चलत्वं नामात्र नश्वरत्वम्। अत्र विशिष्टक्रियाविद्याचक्रतत्त्वादिसकलप्रपञ्चास्थितस्य धर्माधर्मस्य पूर्वोक्त(१।६७)-निर्वचनधर्माधर्मपदवाच्यस्य शिवशक्तिद्वयस्य। विषामृतमयस्य च। विषं संसारः, मोहहेतुत्वात्। अमृतं मृतं मरणं तद्रहितत्वान्मुक्तिः। अत्र श्रुतिः—"तमेवं विद्वानमृत इह भवति" (तै० आ० ३।१।३) इति। तन्मयस्य, तदुभयहेतुत्वात्। तयोर्वाच्यस्याभिधेयस्य वाचकाक्षर[2]संयुक्तेस्तदुभयात्मकशिवशक्तिमयवाच्यवाचकाकार-हकारसंयोगाद् विश्वरूपिणी विद्याचक्रतत्त्वादिमयरूपिणी। अत एव च तेषां सर्वेषां समष्टिरूपेण त्रित्रिमयेन सर्वेण पराशक्तिं विश्वोत्तीर्णस्य परशिवस्य मातृकामुक्(२।२०)निर्वचनाम्। [3]कूटत्रयात्मिकां वाग्भवकामराजशक्ति[4]बीजात्मिकाम्। देवीं प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपाम्। अत एव समष्टिव्यष्टिरूपिणीं

स्वरूप धारण कर व्यष्टिस्वरूपिणी बन जाती है। इस तरह से समष्टि और व्यष्टि स्वरूपिणी इस आद्या शक्ति की ऊपर बताई गई विधि से भावना करना ही भावार्थ कहलाता है ॥२३-२५॥

चलने वाला स्वभाव चलत्ता (स्पन्दनशीलता) कहलाता है। यहाँ चलत्ता का अर्थ नश्वरता है। इस चलत्ता में जो संस्थित हैं, विशिष्ट क्रिया, विद्या, चक्र, तत्त्व आदि समस्त स्पन्दनशील नश्वर प्रपंच में जो भलीभाँति बैठे हुए हैं, वे धर्म और अधर्म पद के वाच्य शिव और शक्ति अपनी मोहकता के कारण इस विषमय संसार के और मरण धर्म से रहित अमृत पद, मुक्ति के भी प्रदाता हैं। वाच्य (अभिधेय) स्वरूप का जब वाचक अक्षरों से संयोग हो जाता है, अर्थात् शब्द और अर्थ इन दोनों रूपों में विद्यमान शिव और शक्ति जब वाच्य रूप में स्थित होकर इनके वाचक अकार और हकार अक्षरों से संयुक्त हो जाते हैं, तो यह परा विद्या विद्या, चक्र, तत्त्व आदि का स्वरूप धारण कर विश्वमय बन जाती है, विश्व में उतर आती है। धर्म पद शक्ति का और अधर्म पद शिव का वाचक है, इसकी व्युत्पत्ति पहले (१।६७) बता चुके हैं। अमृत पद मुक्ति का वाचक है, इसमें यहाँ तैत्तिरीयारण्यक का प्रमाण दिया गया है। इस प्रकार यह विश्वत्तीर्ण परा शक्ति विश्वमय हो जाती है। इसी लिए तीन तीन संख्या वाले उन समस्त पदार्थों की समष्टिस्वरूपिणी यह विश्वोत्तीर्ण शिव की पराशक्ति मातृका, जिसका निर्वचन पहले (२।२०) किया जा चुका है, वाग्भव, कामराज और शक्ति बीज स्वरूप तीन कूटों वाली प्रकाश-विमर्श के सामरस्य से परिपूर्ण देवी का स्वरूप धारण कर लेती है। इन दो विशेषताओं के कारण ही यह

---

१. र्थमिति–क. ख. ने. उ.। २. संयोगात्–क. ग.। ३. 'कूटत्रयात्मिकाम्' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. त्रया–क. ग.।

सामरस्याकारेण समष्टिरूपिणीं कूटत्रयात्मना व्यष्टिरूपिणीमिति । आद्यां शक्तिं सकलजगदादितयेति पूर्वोक्त(२।१३)क्रमेण भावयन्तो योगिनो भावार्थं मन्वते ॥२३-२५॥

भावार्थमुक्त्वेदानीं सम्प्रदायार्थमाह—

सम्प्रदायो महाबोधरूपो गुरुमुखे स्थितः ।
विश्वाकारप्रथायास्तु महत्त्वं च यदाश्रयम् ॥२६॥

सम्यग् याथार्थ्येन कर्णे शिष्यस्य प्रदीयत इति सम्प्रदायः । महाबोधरूपः महतो देशकालाकारैरनवच्छिन्नस्य प्रकाशस्य बोधः परिज्ञानं रूपं यस्य तादृशः । गुरुमुखे स्थितः

[1]गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृतजगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या [2]स्वात्मपरमार्थप्रकटनपरो गुरुः, तस्यैव मुखे स्थितः,

समष्टिव्यष्टिरूपिणी है, अपने सामरस्यमय स्वरूप के कारण समष्टिरूपिणी और कूटत्रयात्मक रूप के कारण व्यष्टिरूपिणी है । आद्यशक्ति की व्युत्पत्ति पहले (२।१३) बताई गई है । उस आद्या शक्ति को यहाँ बताये गये क्रम से श्रीविद्या के प्रत्येक अक्षर के अर्थ के रूप में भावना करने को ही योगी जन भावार्थ मानते हैं ॥२३-२५॥

भावार्थ का उपदेश कर अब [1]'सम्प्रदायार्थ' का वर्णन करते हैं—

महाबोध रूपी सम्प्रदायार्थ गुरु के मुख में स्थित है, क्योंकि तीन बीजों का स्वरूप धारण कर विश्वमय बनी श्रीविद्या का रहस्य वहीं छिपा हुआ है ॥२६॥

सम्प्रदाय शब्द का अर्थ है सम्यक् विधिपूर्वक जो शिष्य के कान में दिया जाता है । यह सम्प्रदाय महाबोध रूप है, देश, काल, आकार से अपरिच्छिन्न महान् प्रकाशात्मक शिव का परिज्ञान कराना इसका लक्ष्य है । यह गुरु के मुख में स्थित है । किसी अभियुक्त ने गुरु को इस तरह से प्रणाम निवेदन किया है—

सारे जगत् को अपनी ही आत्मा के रूप में देखने-दिखाने वाले अपने ज्ञान को जो अपने शिष्य के कान में शब्द के रूप में देता है और जो स्वयं शिवस्वरूप भी है, उपाय बताने वाला और उपेय (प्राप्तव्य) भी जो स्वयं ही है, उस गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ ॥

इस तरह से स्वात्मस्वरूप के वास्तविक अभिप्राय को गुरु ही प्रकट करता है । यह ज्ञान शिवस्वरूप गुरु के मुख में ही रहता है, किसी अन्य के मुख में नहीं । इसका

१. गृणते—ग. ने. ज. झ. उ. । २. आत्मपरमात्मप्रक—ख. ने. ज. उ. ।

1. श्लोक २६ से ४८ तक सम्प्रदायार्थ का वर्णन किया गया है ।

नान्यस्यानाकलितागमशास्त्रस्यानधिगताखिलवेद[1]वेदाङ्गस्यानवधारितपरमार्थस्य [2]परप्रतारणपरस्य मुखे स्थितः । अत्र प्रमाणवचनम्—

सर्वज्ञो हि शिवो वेत्ति सदसच्चेष्टितं नृणाम् ।
तेनासौ नानुगृह्णाति किञ्चिज्ज्ञस्य गुरोर्गिरा ॥ इति ।

अत्र गुरोरिति गुरुमानिनः, किञ्चिज्ज्ञस्य गुरुत्वाभावात् । [3]विश्वाकारप्रथायाः । विश्वं शिवादिक्षित्यन्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकम्, तदाकारप्रथा चिच्छक्तिः, अत्र श्रुतिः—"स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति" (ऐ० उ० १।१) इति, तस्या महत्त्वं [4]तदाकारकारित्वम्, यदाश्रयम् । कोऽर्थः ? परशिवसामरस्यरूपाया[5] बीजत्रयरूपेण परिणताया विश्वमयतावासना गुरुमुखेनैव लभ्यत इत्यर्थः ॥२६॥

विश्वाकारप्रथायास्तु महत्त्वं च यदाश्रयमित्यस्यैवार्थं विवृण्वन् वक्तव्यार्थस्य महत्त्वादत्यन्तसावधानतया त्वया श्रोतव्यमित्याह—

अभिप्राय यह है कि जिसने आगम शास्त्र का और वेदांगसहित समस्त वेदों का अध्ययन नहीं किया है तथा जिसने परमार्थ तत्त्व का विचार नहीं किया है, जो दूसरों को मात्र ठगने में लगा रहता है, उसके पास से यह ज्ञान नहीं मिल सकता । निम्न श्लोक इसमें प्रमाण है—

शिव सर्वज्ञ है । वह मनुष्यों की सभी अच्छी और बुरी हरकतों को जानता है । इसलिये वह अल्पज्ञ गुरु की वाणी के द्वारा किसी पर अनुग्रह नहीं करता ॥

इस श्लोक में विद्यमान गुरु शब्द उस मिथ्याभिमानी गुरु के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो दूसरों को ठगने में लगा है, क्योंकि अल्पज्ञ व्यक्ति सही अर्थ में गुरु नहीं हो सकता । यह विश्व शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों से बना है । चिच्छक्ति ही इस विश्व का रूप धारण कर लेती है । ऐतरेयोपनिषद् कहती है—"उस ब्रह्म ने विचार किया कि मैं इस विश्व की सृष्टि करूँ" । विश्वमय बनी इस चिच्छक्ति के स्वरूप को पहचानना गुरुकृपा पर ही निर्भर है । इसका भाव यह है कि परशिव के साथ सामरस्य रूप में अवस्थित परा वाणी ही तीन बीजों वाली श्रीविद्या के रूप में परिणत होती है । उसके इस विश्वमय स्वरूप को समझने-विचारने की कुंजी गुरुमुख से ही प्राप्त हो सकती है ॥२६॥

अब शिव पूर्व श्लोक के उत्तरार्ध की स्पष्ट व्याख्या करना चाहते हैं । यह विषय अत्यन्त गम्भीर है, अतः भगवान् सावधानी से सुनने का निर्देश दे रहे हैं—

१. वेदान्त—क. ख. ग. उ. । २. 'परप्रतारण' नास्ति—ख. ने. ज झ. । ३. 'विश्वाकारप्रथायाः' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ४. तदाकारत्वं—ख. ज. झ. उ. । ५. रूपायाः परायाः—ख. ज. झ. उ. ।

शिवशक्त्याद्यया मूलविद्यया परमेश्वरि ।
जगत्कृत्स्नं तया व्याप्तं शृणुष्वावहिता प्रिये ॥२७॥

शिवः अकारः, शक्तिर्हकारः, तावाद्यौ हेतुभूतौ यस्याः सा, तथाविधया पूर्वोक्तरीत्या प्रथाभूतया मूलविद्यया कृत्स्नं [1]जगदुक्तरूपं व्याप्तम् । शृणुष्वावहिता अत्यन्तसावधाना शृणुष्व ॥२७॥

विद्यायां[3] विश्वव्याप्तिमेव प्रतिजानीते—

पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सदाऽनघे ।
तन्मयी मूलविद्या च तत्तथा कथयामि ते ॥२८॥

पञ्चभूतमयं विश्वं भूतानि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशास्तन्मयं[5] विश्वम् उक्त-

हे परमेश्वरि ! शिव (अकार) और शक्ति (हकार) से उत्पन्न यह मूलविद्या सारे जगत् को कैसे व्याप्त किये हुए है, इस बात को अब तुम बहुत सावधानी से सुनो ॥२७॥

यहाँ शिव शब्द अकार का और शक्ति शब्द हकार का वाचक है । ये ही दोनों वर्ण उस मूलविद्या के कारण हैं, अर्थात् इन्हीं दो वर्णों के विस्तार से मूलविद्या का स्वरूप बनता है । इस मूलविद्या का जब विस्तार होता है, तो यह ३६ तत्त्वों से बने इस सारे जगत् को व्याप्त कर लेती है । कैसे व्याप्त कर लेती है, यही अब मैं बताने जा रहा हूं । इस विषय को तुम बहुत सावधानी से सुनो ॥२७॥

अब विद्या की इस विश्वव्याप्ति को हो बताते हैं—

यह विश्व पंचभूतमय है । हे अनघे ! वह परा देवता भी पंचभूतमयी है और यह मूलविद्या परा देवता और पंचभूत दोनों का बोध कराती है, इसी विषय को अब मैं तुम्हें कह रहा हूँ ॥२८।

यह विश्व [1]पंचभूतमय है, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन भूतों से बना

१. यथा–ख. ग. च. छ. ने. ज. झ. । २. जगदेवंभूतं यथा व्याप्तमुक्तप्रकारेण रूपेणेति, अत एव तास्ववहिता अत्यन्त–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. यां विश्वव्याप्तं तत्त्वमेव–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. सदातनी–ख. ग. ने. ज., सनातनी–छ. झ. । ५. 'तन्मयं' नास्ति–ख. ने. झ. उ. ।

1. शिव पंचमंत्रतनु है । पाशुपत मत के अनुसार वामदेव आदि पाँच मंत्रों से ही पाँच तत्त्वों के रूप में पंचमहाभूतों की उत्पत्ति मानी जाती है । इनका स्वरूप अन्य दर्शनों में प्रतिपादित स्वरूप से भिन्न है । आगे स्वयं दीपिकाकार ने स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से बताया है कि जल से प्रकृति पर्यन्त भावों में जलतत्त्व की, पुरुष से मायान्त

(१।४१) लक्षणम् । [1]सा परा सौभाग्यदेवता तन्मयी पञ्चभूतात्मिका । मूलविद्याऽपि तन्मयी तद्वाचिका देवतावाचिका पञ्चभूतवाचिका च । अत एव तदुभयमयी । तत्प्रकारं कथयामीत्यर्थः । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद् वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी" (तै० उ० २।१।१) इत्युपनिषदुक्तरीत्या प्रकाशात्मकात् परमशिवात् पञ्चभूतानामुत्पत्तिः, [2]विमर्शात्मिकायाः शक्तेस्तद्वाचकानां विद्यावर्णानामुत्पत्तिरिति हि स्थितिः ॥२८॥

एवं स्थितेऽस्याः किं वाच्यं किं वाचकमिति शङ्कां परिहरन् वर्णभूतसृष्टिप्रतिपादनपुरःसरं विश्वमयतामेवाह—

हकाराद् व्योम संभूतं ककारात्तु प्रभञ्जनः ।
रेफादग्निः सकाराच्च जलतत्त्वस्य संभवः ॥२९॥

हुआ है । पहले (१।४१) बताया जा चुका है कि शिव से पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों का समष्टिभत नामरूपात्मक जगत् ही विश्व है । सौभाग्यदेवता परा भगवती महात्रिपुरसुन्दरी है । यह परा सौभाग्यदेवता पंचभूतमयी बन जाती है । उस सौभाग्यदेवता की वाचिका सौभाग्यविद्या भी तन्मयी हो जाती है, अर्थात् परा देवी की पंचभूतात्मकता के कारण यह विद्या पांच भूतों को भी सौभाग्यदेवता के साथ ही प्रतीति कराने लगती है । इसीलिये यह सौभाग्यविद्या सौभाग्यदेवता और पंचभूत दोनों को वाचिका है । यह कैसे होता है, उसी को मैं कह रहा हूँ । तैत्तिरीयोपनिषत् का कहना है—"उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई । आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई" । इस उपनिषत् के प्रमाण से प्रकाशात्मक[1] परम शिव से पांच महाभूतों की उत्पत्ति हुई और विमर्शात्मक शक्ति से इन पांच महाभूतों के वाचक विद्यागत वर्णों की उत्पत्ति हुई, यही वास्तविक स्थिति है ॥२८॥

विद्यागत वर्णों और पांच भूतों के इस वाच्यवाचकभाव संबन्ध को स्पष्ट करते हुए अब बताया जा रहा है कि विद्यागत वर्णों से ही पंचभूतों की सृष्टि होती है और इस तरह से यह विद्या विश्व के रूप में अपना विस्तार कर लेती है—

हकार से आकाश की उत्पत्ति होती है । ककार से वायु, रेफ से अग्नि और

१. लक्षणा–क. ग. ज. । २. विश्वात्मिकाया विमर्शशक्तेः–क. ग. ।

भावों में तेजस्तत्त्व की, विद्या, ईश्वर और सदाशिव में वायुतत्त्व की तथा शक्ति और शिव में व्योम तत्त्व की अभिव्याप्ति है । पंचतत्त्वदीक्षा के प्रसंग में स्वच्छन्दतन्त्र (५।१३) में इन पाँच तत्त्वों की व्याप्ति निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि कलाओं की व्याप्ति के अनुसार बताई है । प्रायः सभी शैवशास्त्र के ग्रन्थों में दीक्षा के प्रसंग में यह विषय वर्णित है ।

1. प्रकाशविमर्शात्मक यामल स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन विज्ञानभैरव भाषानुवाद की पृ० ४-५ की टिप्पणी में देखिये ।

लकारात् पृथिवी जाता तस्माद् विश्वमयी च सा ।

हकाराद् व्योम संभूतं प्रथमं विमर्शशक्तेराकाशवाचको हकारो जातः, [1]हकारानन्तरं तद्वाच्यं व्योम प्रकाशात्मनः परशिवात् संभूतम् । पश्चाद् वायुवाचकः ककारो जातः, ककारानन्तरं ककारवाच्यः प्रभञ्जनः संजातः । तत्पश्चादग्निवाचको रेफः संजातः, तदनन्तरं रेफवाच्योऽग्निः [2]संजातः । ततो जलतत्त्ववाचकः सकारः संजातः, [3]तदनन्तरं तद्वाच्यजलतत्त्वस्य संभवः । तदनन्तरं पृथिवीवाचको लकारो जातः, [4]तदनन्तरं तद्वाच्या पृथिवी जातेत्यर्थः । [5]तस्मात् शिवशक्तिसामरस्यरूपपरावयवप्रकाशविमर्शाभ्यां [6]पञ्चमहाभूतानि तद्वाचकान्यक्षराणि च यस्माज्जातानि, तस्मात्तदुभयसामरस्यरूपा सा परा स्वावयवभूतवर्ण[7]मयी विश्वमयीत्यर्थः । तदुक्तं कामकलाविलासे—

[8]स्फुरितादरुणाद् बिन्दोर्नादब्रह्माङ्कुरो[9] रवो व्यक्तः ।
तस्माद् गगनसमीरणदहनोदकभूमिवर्णसंभूतिः ॥९॥

सकार से जलतत्त्व उत्पन्न होता है । लकार से पृथिवी पैदा होती है । इस तरह से वह परा देवी विश्वमय हो जाती है ॥२९-३०॥

हकार से व्योम पैदा हुआ, अर्थात पहले विमर्श शक्ति से आकाशवाचक हकार वर्ण की और तब उस हकार के वाच्य व्योम की उत्पत्ति प्रकाशात्मक परम शिव से हुई । बाद में वायु का वाचक ककार और तदनन्तर ककार के वाच्य वायु की उत्पत्ति हुई । इसके बाद अग्नि का वाचक रेफ और उस रेफ का वाच्य अग्नि उत्पन्न हुआ । इसी क्रम से जलतत्त्व का वाचक सकार और तब सकार के वाच्य जलतत्त्व की और तब पृथिवीवाचक लकार और लकार के वाच्य पृथ्वीतत्त्व की उत्पत्ति हुई । इस तरह से शिव और शक्ति के सामरस्यमय स्वरूप परा भगवती के प्रकाश और विमर्श नामक अवयवों से पांच महाभूत और उनके वाचक अक्षरों की भी उत्पत्ति होती है, अतः शिवशक्तिसामरस्यस्वरूपा परा भगवती के ये पाँच महाभूत और उनके वाचक वर्ण अवयव हैं । इस तरह से यह परा भगवती [1]शब्दात्मक और अर्थात्मक विश्व का स्वरूप धारण कर लेती है । कामकलाविलास में भी इस विषय का वर्णन किया गया है—

---

१ तदनन्तरं–ने. ज. झ. उ. । २. संभूतः । पुनर्जलतत्त्व–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. सकाराज्जलतत्त्वं संभूतम्-ख. ने. ज. झ. उ. । ४. लकारात् पृथिवी–ख. ने. झ. उ. । ५. यस्मात्–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. पञ्चभूतानि पञ्चभूताक्षराणि च जातानि-ख. ने. ज. झ. उ. । ७ मयविश्व-ख. ने. ज. । ८. स्फुटिता–क. ग. मु. । ९. ह्वयो-ख. ने. ज. झ. ।

1. शास्त्रों में षडध्व के विवेचन के प्रसंग में इस विषय की चर्चा आई है । विज्ञानभैरव के ५५वें श्लोक की व्याख्या में यह विषय देखा जा सकता है ।

अथ विशदादपि बिन्दोर्गगनानिलवह्निवारिभूमिजनिः ।
एतत्पञ्चक[1]विकृतिर्जगदिदमण्वाद्यजाण्डपर्यन्तम् ॥१०॥
माता मानं मेयं बिन्दुत्रयभिन्न[2]बीजरूपाणि ।
धामत्रयपीठत्रयशक्तित्रयभेदभावितान्यपि च ॥१३॥
तेषु क्रमेण लिङ्गत्रितयं तद्वच्च मातृकात्रितयम् ।
इत्थं त्रितयमयी[3] सा तुरीयपीठादिभेदिनी विद्या ॥१४॥ इति ॥२९-३०॥

नन्वेवंविधक्रमेण विद्यायां वर्णाः किमिति न स्थिताः ? उच्यते—सत्यमेवंविधक्रमो न भवति, तथापि पूर्वोक्तसृष्टिस्थितिसंहारानाख्यावभासनार्थं विद्यायामक्रमेण वर्णाः पठ्यन्ते । तेन भूतवर्णक्रमो वर्णवासनाक्रमं बाधितुं नोत्सहते,

---

अरुण (रक्त) बिन्दु में स्फुरण (स्पन्दन) होने पर नादब्रह्म (शब्दब्रह्म) रूपी अंकुर से शब्द की पश्यन्ती आदि के क्रम से अभिव्यक्ति होती है । इसी शब्द से गगन, पवन, ज्वलन, सलिल और पृथिवी के वाचक वर्णों की उत्पत्ति होती है ॥ अब शुक्ल बिन्दु में स्पन्दन होने पर गगन, अनिल, वायु, जल और भूमि इन पाँच भूतों की सृष्टि होती है । इन पाँच महाभूतों के परिणामस्वरूप अणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि पूरी हो जाती है ॥ माता (ज्ञाता) महेश्वर, मान (ज्ञान) विद्या, मेय (ज्ञेय) भगवती त्रिपुरसुन्दरी—ये तीनों स्वरूप रक्त, शुक्ल और मिश्र बिन्दुओं के रूप में विभक्त तुरीय स्वरूप को, समष्टि स्वरूप को जानने के साधन हैं । तीन धाम, तीन बीज, तीन शक्तियाँ इत्यादि रूपों में भी इनकी भावना की जाती है ॥ इन्हीं में क्रम से तीन लिंगों और तीन मातृकाओं की भी भावना की जाती है । इस तरह से इन तीन-तीन संख्या वाले पदार्थों का स्वरूप धारण करने वाली यह विद्या वास्तव में तुरीय स्थान में रहती है और इस तरह तुरीय धाम, पीठ आदि में निवास करने वाली यह परा विद्या तीन संख्यावाले सारे प्रपंच को तिरोहित कर देती है ॥२९-३०॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि विद्या के वर्णों से ही पाँच महाभूतों की उत्पत्ति हुई है, तो विद्या में वर्णों का क्रम वही होना चाहिये ? प्रश्नकर्ता की बात सही है कि विद्या में वर्णों का वह क्रम नहीं है, जिस क्रम से पाँच भूतों की सृष्टि हुई है, तो भी सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या क्रम की ऊपर चर्चा आई है । इसी क्रम से विद्या में वर्णों की स्थिति है । वर्णों की भावना इसी क्रम से की जाती है, अतः वासना क्रम ही यहाँ प्रधान है । वर्णों की वासना के इस क्रम को भूतों की उत्पत्ति बताने वाला वर्णों का क्रम बाधित नहीं कर सकता, क्योंकि यहाँ वर्णों की वासना ही प्रधान है, भूत क्रम गौण । पुनः प्रश्न उठता है कि तब विद्या में पाँच ही अक्षर होने चाहिये, जिनसे

---

१. वितति–ज. । २. त्रयविश्व–ख. ज. झ. । ३. पुरी या–मु. ।

वासनार्थत्वाद् वर्णानाम्। ननु तर्हि भूत[1]संख्याकान्यक्षराणि किमिति न भवन्ति, अन्यान्यपि बहूनि श्रूयन्त एवेत्यत आह—

गुणाः पञ्चदश प्रोक्ता[2] भूतानां तन्मयी शिवा ॥३०॥

भूतानां पञ्चानां व्याप्यव्यापकभावेन पञ्चदश गुणाः स्युः। अतस्तन्मयी तदात्मिका तत्संख्यावर्णवतीयं विद्या, शिवा शोकमोहमयसंसाररूपाऽमङ्गलपरिपन्थिपरमाद्वैतप्रथा[3]परमार्थरूपा, परममङ्गलात्मकत्वात् ॥३०॥

ननु विद्याक्षरसंख्यया[4] यावन्तः परिगणिताः पदार्थाः[5], किं तन्मयतावासना वक्तुं शक्यते? [6]इत्यत आह—

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता।
सा सा सर्वेश्वरी देवी स स सर्वो महेश्वरः ॥३१॥

लोके यस्य यस्य पदार्थस्य [7]यत्किञ्चित्करणसामर्थ्यलक्षणा या या शक्तिर्विद्यते, सा सा शक्तिः सर्वेश्वरी देवी सर्वस्य शिवादिक्षित्यन्त[8]स्येश्वरी नियामिका देवी परा, स स सर्वः पदार्थो महेश्वरो विश्वजगन्नियामकः परमशिवः। [1]लोके यद्यद्वस्तु यत्किञ्चित्करणसामर्थ्यशालि तत्सामर्थ्यरूपेण परैव परिणता, तत्तत्सामर्थ्यवद्वस्तुरूपेण परमशिवः परिणत इति वक्तुं शक्यते। किं वक्तव्यमेतदुभयमयविद्यावर्णसमानसंख्यावत्पदार्थरूपेण तावेव परिणतावित्यर्थः। तदुक्तमभियुक्तैः—

त्वं चन्द्रिका शशिनि तिग्मरुचौ रुचिस्त्वं
त्वं चेतनासि पुरुषे पवने बलं त्वम्।
त्वं स्वादुताऽसि सलिले शिखिनि त्वमूष्मा
निःसार[2]मम्ब निखिलं त्वदृते यदि स्यात् ॥ इति ॥३१॥
(अ० स्त० २०)

पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। यहाँ तो और भी बहुत से वर्ण सुनाई पड़ते हैं? इस प्रश्न का अब उत्तर देते हैं—

पाँच भूतों के पन्द्रह गुण होते हैं। अतः पंचभूतमयी यह कल्याणी विद्या भी पन्द्रह अक्षरों वाली है ॥३०॥

पाँच भूतों की व्याप्यता और व्यापकता के आधार पर इनमें गुणों की संख्या १५ हो जाती है। अतः पंचभूतात्मिका यह विद्या भी उतने ही संख्या के वर्णों वाली है। यह विद्या शिवा है, शोक और मोह से भरे इस अमंगलमय संसार का समूल नाश कर देने वाले परम अद्वय ज्ञान के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करा देने वाली यह विद्या परम मंगलमय है ॥३०॥

अब प्रश्न उठता है विद्या के इन पन्द्रह अक्षरों से क्या सभी ३६ पदार्थों की विद्यामयता की भावना की जा सकती है? इसका उत्तर है—

जिस जिस पदार्थ को जो जो शक्ति कही गई है, उनमें की सभी शक्तियाँ सर्वेश्वरी परा देवी और सभी पदार्थ महेश्वर शिव के स्वरूप हैं ॥३१॥

लोक में जिस जिस पदार्थ की जो जो कार्य करने की सामर्थ्य प्रसिद्ध है, वे सब शक्तियाँ (सामर्थ्य) सर्वेश्वरी देवी के, शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त समस्त पदार्थों का नियमन करने वाली परा देवी के और वे सब पदार्थ महेश्वर के, सारे जगत् का नियमन करने वाले परम शिव के स्वरूप हैं। लोक में जिस किसी वस्तु में जो कुछ विशेष कार्य करने की शक्ति दिखाई पड़ती है, वह सामर्थ्य परा शक्ति का ही परिणाम है और उस उस सामर्थ्य से सम्पन्न पदार्थ परम शिव का परिणाम है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वरूप परम शिव का और उस पदार्थ की सामर्थ्य परा शक्ति का परिणाम है, उनसे अभिन्न है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ शिवमय और उसकी सामर्थ्य शक्तिमय है। ऐसी स्थिति में यह कौन असंभव बात है कि शिवशक्तिमय इस विद्या के वर्णों के और समान संख्या वाले पदार्थों के रूप में परम शिव और परा शक्ति ही परिणत होते हैं। [1]अम्बास्तव में कहा गया है—

तुम चन्द्रमा में चाँदनी के रूप में, सूर्य में प्रभा के रूप में, पुरुष में चेतना के रूप में, पवन में वेग के रूप में, जल में स्वाद के रूप में और अग्नि में उष्णता के रूप में निवास करती हो। ओ मा! तुम्हारे बिना यह सारा जगत् सूना हो जायगा ॥३१॥

---

१. संख्ययैवाक्षराणि–ख. ने. झ. उ.। २. ख्याताः–ख., शाख्याताः–ग. च. छ. ज. झ.। ३. प्रथारूपपरममङ्गलार्थत्वात्–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. संख्याया–क. ग. झ.। ५. 'पदार्थाः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. इत्याह–ख. ने. ज. झ. उ.। ७. या या शक्तिः किञ्च–ख. ज. झ उ.। ८. स्येयमेवेश्वरी–ख. ने. ज. उ.।

१. सर्वलोके–ख. ज. झ. उ.। २. मेतदखिलं–ख. ने., मेव–ज. झ.।

1. पंचस्तवी के विषय में हम अन्यत्र (आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ० ८६-८७) लिख चुके हैं कि लघुस्तव के कर्ता धर्माचार्य ही इसके रचयिता हैं। इन पाँच स्तवों में से तीन स्तवों (लघुस्तव, चर्चास्तव और सकलजननीस्तव) के पंडित हरभट्ट शास्त्री कृत पाडित्यपूर्ण टीका के साथ कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित श्री दीनानाथ यक्ष द्वारा संपादित संस्करण प्रकाश में आ चुके हैं। यह दुःख का विषय है कि बाकी के दो स्तव (घटस्तव और अम्बास्तव) अभी प्रकाशित नहीं हो सके। अम्बास्तव का अठारहवां श्लोक (लक्ष्मीवशीकरण) भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण (निर्णयसाग र प्रेस, द्वितीय संस्करण, पृ. ७१३-७१४) में उद्धृत है।

ननु भूतगुणमयी शिवेत्युक्तम्, शिवायां[1] तत्संख्या कुत [2]इत्यत आह—

व्याप्ता पञ्चदशार्णैः सा विद्या भूतगुणात्मिका ।

पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः ।।३२।।

सा शिवा [3]परैव विद्या, वाच्यवाचकयोरभेदात्[4] । पञ्चभिरक्षरैर्वाग्भवबीजस्यावयवैः, षड्भिरक्षरै कामराजबीजस्यावयवैः, चतुर्भिरक्षरैः शक्तिबीजस्यावयवैः । न क्षरन्तीक्षरणानि, तेषां नित्यत्वात् । [5]स्वांशैर्नाशरहितैः पञ्चदशार्णैर्व्याप्ता, अत एव [6]भूतगुणात्मिका ॥ ३२ ॥

बीजत्रयमक्षरशो विभज्य भूतगुणात्मकतावासनामुक्त्वेदानीमक्षराण्यवयवशो विभज्य षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकतावासनामाह—

स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनी ।

सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी ॥ ३३ ॥

तत्त्वातीतस्वभावा च विद्यैषा भाव्यते सदा ।

इस पर प्रश्न उठता है कि विद्या में तो पन्द्रह अक्षर हैं, तब यहाँ ३६ संख्या कहाँ से आवेगी ? इसका उत्तर आगे देते हैं—

वह भूतगुणात्मिका विद्या पन्द्रह वर्णों से व्याप्त है । यह पाँच, छः और चार अक्षरों के तीन बीजों में विभक्त है ।।३२।।

वाच्य और वाचक की अभिन्नता के कारण परा शक्ति और परा विद्या में कोई भेद नहीं है । पाँच अक्षर वाग्भव बीज के, छः अक्षर कामराज बीज के और चार अक्षर शक्ति बीज के अवयव हैं । अक्षर शब्द का अर्थ है जिसका क्षरण (नाश) न हो । अक्षर नित्य हैं, अतः इनका क्षरण नहीं होता । यह विद्या इन नाशरहित पन्द्रह वर्णों से व्याप्त है, इसलिये प्रधानतः यह भूतगुणात्मिका कहलाती है ।।३२।।

इस प्रकार यहाँ तीन बीजों के क्रम से अक्षरों का विभाग और उनकी पन्द्रह भूतगुणों के रूप में भावना को बताने के बाद अब इन अक्षरों के भी अवयवों का विभाग कर कर उनकी ३६ तत्त्वों के रूप में वासना बताई जा रही है—

स्वर और व्यंजन के भेद से यह विद्या ३७ अवयवों वाली हो जाती है । विद्या के ये सैंतीस अवयव परा देवी के छत्तीस तत्त्वों वाले विश्वमय स्वरूप का और एक तत्त्वातीत विश्वोत्तीर्ण स्वरूप का बोध कराते हैं । इस तरह से श्रीविद्या की सदा इन्हीं रूपों में भावना करनी चाहिये ।।३३-३४।।

---

१. शिवायाः–ख. ज. झ. उ. । २. इत्याह–ज. झ. उ. । ३. परैवाम्बिका या वाच्य–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. रभेदिनी–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. एवंविधस्वांशैः–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. भूतात्मिका–ख. ने. ज. झ उ. ।

स्वरव्यञ्जनभेदेन प्रथमबीजेऽकारचतुष्टयमीकारश्चेति पञ्च स्वराः, शिष्टानि षड् व्यञ्जनानि, एवमेकादश । द्वितीयबीजेऽकारपञ्चकमीकारश्चेति षट् स्वराः, शिष्टानि व्यञ्जनानि सप्त, एवं त्रयोदश । तृतीयबीजेऽकारत्रयमीकारश्चेति चत्वारः स्वराः, शिष्टानि व्यञ्जनानि पञ्च, एवं नव । इत्येवं विभागेनाक्षरावयवास्त्रयस्त्रिंशत् । बीजत्रयान्ते बिन्दवस्त्रय इति षट्त्रिंशत् । तत्समष्टिरेका । एवं सप्तत्रिंशत्प्रभेदिनो विद्या समष्टिरूपा । एवं सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी तत्त्वातीतस्वभावा च विद्यैषा । व्यष्टिसमष्टिभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मिका तदतीता (च) इयम् । षट्त्रिंशत्तत्त्वान्यवयवभूतानि, तेषां रूपवती, सप्तत्रिंशत्प्रभेदेन तत्त्वातीतस्वभावा च । स्वस्य भावः स्वभावः, शिवस्य यादृशो भावस्तादृशोऽस्या[1] इति भावयितव्यमित्यर्थः । तत्त्वानां लक्षणानि मयैव सौभाग्यसुधोदये निरूपितानि । यथा—

स्वर और व्यंजन के भेद से विद्या में ३७ वर्ण होते हैं । जैसे प्रथम बीज में चार अकार और ईकार मिलकर पाँच स्वर हुए, बाकी छः व्यंजन हैं । इस तरह से प्रथम बीज में ११ अक्षर हुए । द्वितीय बीज में पाँच अकार और ईकार मिल कर छः स्वर हुए, बाकी सात व्यंजन हैं । दोनों मिलकर द्वितीय बीज में १३ अक्षर हुए । तीसरे बीज में तीन अकार और ईकार मिलकर चार स्वर और बाकी पाँच व्यंजन हैं । इस तरह से यहाँ अक्षरों की संख्या ९ हुई । सब मिलाकर अक्षरों की संख्या ३३ हुई । तीन बीजों के अन्त में तीन बिन्दु हैं । इनको भी मिलाने से यह संख्या छत्तीस हुई । इन सबकी समष्टि भी एक है । इस तरह से यह समष्टि विद्या ३७ भेद वाली है । इन ३७ भेदों के कारण यह विद्या ३६ तत्त्वों वाली और तत्त्वातीत स्वभाव वाली भी है । व्यष्टि रूप में यह ३६ तत्त्वों वाली और समष्टि रूप में तत्त्वातीत है । यह ३६ तत्त्वों को अपना अवयव बनाकर उनका स्वरूप धारण कर लेती है और ३७ वें स्वरूप में प्रवेश कर उनसे ऊपर उठ जाती है, तत्त्वातीत विश्वोत्तीर्ण स्वरूप धारण कर लेती है । स्वभाव शब्द का अर्थ है अपना भाव । अपना, अर्थात् शिव का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप इस विद्या का भी है, ऐसी भावना करनी चाहिये । तत्त्वों के लक्षण मैंने ही [1]सौभाग्यसुधोदय में बताये हैं । जैसे कि—

---

१. स्याः स्वभाव–ख. ने. ज. उ. ।

1. यह विस्तृत उद्धरण भी नित्याषोडशिकार्णव के परिशिष्ट (पृ० ३०६-३२१) में प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रथम प्रपंच (श्लो० २८-४८) में पाठभेदों के साथ उपलब्ध है । इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण सन् १९६८ में प्रकाशित हो चुका था । यह खेद का विषय है कि कश्मीर ग्रन्थमाला में सन् १९१४ में प्रकाशित श्री जगदीश चन्द्र चटर्जी के ''कश्मीर शैविज्म'' के तथा सन् १९१८ में प्रकाशित सटीक षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह के आधार

यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया निखिलमपि जगत् स्रष्टुम् ।
[1]पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमं शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥
इच्छा सैव स्वच्छा सन्ततसमवायिनी [2]सती शक्तिः ।
सचराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निज[3]निलीनस्य ॥
स्वेच्छाशक्त्युद्गीर्णं [4]जगदात्माहन्तया समाच्छाद्य ।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिमतः ॥
[5]विश्वं स एव पश्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जातः ।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः ॥
माया विभेदबुद्धिर्निजांशभूतेषु[6] निखिलभूतेषु[7] ।
नित्यं तस्य निरङ्कुशविभवं वेलेव [8]वारिधिं रुन्धे ॥
स तया परिमितमूर्तिः संकुचितसमस्तशक्तिरेष पुमान् ।
रविरिव सन्ध्यारक्तः संहृतरश्मिः स्वभासनेऽप्यपटुः ॥

यह जो अनुत्तरमूर्ति परम शिव है, वह अपनी इच्छा से इस सारे जगत् को बनाने के लिये जब स्पन्दनशील होता है, तो इस स्पन्दनव्यापार को ही आगम शास्त्र के ज्ञाता प्रथम शिवतत्त्व के नाम से जानते हैं । उस अनुत्तर तत्त्व की स्वच्छ इच्छा शक्ति शिव के साथ सदा अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़ी रहती है । यही शक्तितत्त्व है । अपने में छिपे हुए सारे स्थावरजंगमात्मक जगत् को यही पैदा करती है । अपनी इच्छा शक्ति से निकले हुए इस जगत् को अपनी अहन्ता से आच्छादित कर, अर्थात् अपना ही स्वरूप मान कर सब पर अनुग्रह करने में लगा हुआ तत्त्व सदाशिव माना गया है । इस सारे जगत् को इदन्ता के रूप में देखने वाला, अर्थात् अपने से भिन्न मानने वाला तत्त्व ईश्वर कहलाता है। ऊपर बताई गई अहन्ता और इदन्ता में अभेद दृष्टि को जगाने वाला तत्त्व शुद्धविद्या है । अपने ही अंग से उत्पन्न हुए समस्त प्राणियों में भेद बुद्धि को पैदा करने वाला तत्त्व माया है । समुद्र की वेला (किनारा) जैसे समुद्र को आगे बढ़ने से रोक देती है, उसी तरह से यह माया उस परम शिव के समस्त वैभव को छिपा देती है । इस माया शक्ति के कारण परिमित स्वरूप वाले पुरुष की समस्त शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं । उसकी स्थिति सन्ध्याकालीन उस सूर्य के समान हो जाती है, जो कि अपनी ललाई में

१. प्रस्यन्दे स स्यन्दः–क. ख. ने. । २. परा–मु. । ३. विली–क. ख. । ४. जगदात्मतया–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. विश्वं पश्चात् पश्यन्–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. जातेषु–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ७. जीवेषु–ख. ने. ज. झ. उ. । ८. वारिधे–ख. ग. ने. ज. झ. उ. ।

पर कुछ विद्वान् अब भी इसको क्षेमराज की कृति मान कर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में इसके प्रकाशन और अनुसन्धान में प्रवृत्त हैं ।

सम्पूर्णकर्तृताद्या या बह्व्यः सन्ति शक्तयस्तस्य ।
संकोचात् संकुचिताः कलादिरूपेण रूषयन्त्येनम् ॥
[1]तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमातृपरा ।
किञ्चित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कलानाम्ना[2] ॥
सर्वज्ञताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमातृपरा ।
ज्ञानमुपपादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः ॥
नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्तस्यैव परिमिता तु सती ।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं रागतत्त्वतां याता ॥
या नित्यताऽस्य शक्तिर्निकृष्य निधनोदयप्रदानेन ।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालतत्त्वरूपेण ॥

छिपा हुआ स्वयं अपने को भी प्रकाशित करने में असमर्थ हो जाता है । सम्पूर्णकर्तृता आदि जो इसकी अनेक शक्तियाँ हैं, स्वयं इसके इस स्वरूप-संकोच के कारण वे भी संकुचित हो जाती हैं और वे ही कला आदि का स्वरूप धारण कर इसको घेर लेती हैं ।

उस परम शिव की सर्वकर्तृता शक्ति जब संकुचित होती है, तो यह कुछ विषयों तक ही सीमित हो जाती है । इसी के कारण पुरुष की कर्तृशक्ति भी सीमित हो जाती है । [1]सर्वकर्तृता का किंचित्कर्तृता के रूप में कलन करने वाली यह शक्ति कलातत्त्व के नाम से जानी जाती है । सर्वज्ञता शक्ति जब अपने स्वरूप का संकोच करती है, तो वह कुछ ही विषयों को जान पाती है । ज्ञान के इस संकोच को पैदा करने वाली शक्ति को आगमशास्त्र के प्राचीन विद्वानों ने 'विद्या' नाम दिया है । उसी परम शिव की नित्यपरिपूर्णतृप्ति नामक शक्ति जब परिमित (संकुचित) होती है, तो वह पुरुष को सदा भोगों में लगाये रहती है । अपनी इसी रंजकता के कारण इस तत्त्व का नाम 'राग' पड़ गया है । इसकी नित्यता शक्ति जब निकल जाती है, तो पुरुष जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ जाता है । तब हम उसे नियत (निश्चित) समय में ही देख पाते हैं । पुरुष के इस समयकृत संकोच को करने वाली शक्ति ही 'कालतत्त्व' के रूप में प्रकट होती है । इस परम शिव की निरावरण स्वातंत्र्य शक्ति जब संकुचित हो जाती है, तो वह पुरुष को

१. यत्–मु. । २. नाम–ख. ग. ने. झ. उ. ।

1. शिव के सर्वज्ञता आदि छः गुणों का वर्णन आगम-तन्त्रशास्त्र, पुराण आदि में अनेक स्थानों पर मिलता है । प्रथमतः उसका अनादि बोध माया के कारण लुप्त हो जाता है और कला आदि के कारण बाकी बचे पाँच गुण भी संकुचित हो जाते हैं । इसीलिये अनेक आचार्यों ने माया का भी कंचुकों में समावेश कर उनकी संख्या छः मानी है । इस प्रसंग में विज्ञानभैरव भाषानुवाद, पृ० ८ की पहली टिप्पणी भी देखिये ।

याऽस्य स्वतन्त्राख्या शक्तिः संकोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमयन्त्यभून्नियतिः ॥
इच्छादित्रिसमष्टिः[1] शक्तिः शान्ताऽस्य संकुचद्रूपा ।
[2]संकुचितेच्छाद्यात्मकसत्त्वादिसाम्यरूपिणी तु सती ॥
बुद्ध्यादिसामरस्य[3]रूपा चित्तात्मिका मता प्रकृतिः ।
इच्छाऽस्य रजोरूपाऽहङ्कृतिरासीदहंप्रतीतिकरी ॥
ज्ञानाऽस्य सत्त्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः ।
तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिर्मनं इत्युच्यते विकल्पकरी ॥
[4]वामादिपञ्चभेदः स एव संकुचितविग्रहो देवः ।
ज्ञानक्रियोपरागप्राधान्याद् विविधविषय[5]रूपोऽभूत् ॥
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनजिह्वाघ्राणानि बोधकरणानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्था[6]ख्याकानि कर्मकरणानि ॥

भले-बुरे की पहचान से भी वंचित कर देती है। इस तरह से पुरुष का नियमन करने वाली यह शक्ति 'नियति' के नाम से जानी जाती है।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति को अपने में समेटे हुए शान्ता शक्ति जब अपने स्वरूप को संकुचित करती है, तो उसमें विद्यमान संकुचित इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ सत्त्व, रज और तमोगुण के रूप में और स्वयं शान्ता शक्ति साम्यावस्था वाली प्रकृति के रूप में परिणत हो जाती है। यह प्रकृति बुद्धि, मन और अहंकार को अपने में समेटे हुए चित्त का स्वरूप धारण करती है। इच्छा शक्ति ही पहले रजोगुण के रूप में और बाद में अहंकार के रूप में परिणत होती है। यह अहंकार ही अहमात्मक अभिमान है। ज्ञानशक्ति पहले सत्त्वगुण के रूप में और बाद में बुद्धि के रूप में परिणत होती है। यह निश्चयात्मक ज्ञान की जननी है। क्रियाशक्ति पहले तमोगुण के रूप में और बाद में मन के रूप में परिणत होती है। यह मन संकल्पविकल्पात्मक व्यापार का साधन है। [1]वामदेव आदि पाँच मन्त्रों का शरीर धारण करने वाला संकुचित स्वरूप का यह शिव ज्ञान और क्रियाशक्ति की छाया पड़ने पर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय बन जाता है। श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शन, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ

१. ष्टिशक्ति–क. ग. उ. । २. संकलिते–ख. ग. ने. झ. उ. । ३. रस्यस्वरूप–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ४. वागादिपञ्चभेदैः–क. ख. मु. । ५. विषयि–ख. ग. ने. ज. उ. । ६ स्थकनामानि–ख., स्थाख्यानि–मु. ।

1. पृ० १३८-१३९ की टिप्पणी देखिये ।

शब्दस्पर्शौ रूपं रसगन्धौ चेति भूतसूक्ष्माणि ।
अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनाऽपि भूतेशः ॥
गगनमनिलश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि ।
श्रोत्रादिकरणवेद्याः शब्दाद्यास्तानि वेदकान्येषाम् ॥
वचनकरी वागासीत् पाणिः स्यात् करणभूतमादाने ।
गमनविसर्गानन्दत्रितये पादा[1]दिकत्रिकं करणम् ॥
गन्धवती भूमिः स्यादापः सांसिद्धिकद्रवास्तेजः ।
उष्णस्पर्श[2]मरूपस्पर्शो वायुरम्बरं शब्दः ॥ इति ॥३३-३४॥
(सौ० सु० १।२८-४८)

पुनरपि सिंहावलोकनन्यायेन भूतगुणानां पञ्चदशतां विद्यायाश्च तन्मयरूपतां विवृणोति—

पृथिव्यादिषु भूतेषु व्यापकं चोत्तरोत्तरम् ॥३४॥
भूतं त्वधस्तनं व्याप्यं

पृथिव्यादिषु । आदि[3]शब्देनाप्तेजोवाय्वाकाशा गृह्यन्ते । [4]तेषूत्तरोत्तरं व्यापकमधिकवृत्ति । अधस्तनं भूतं व्याप्यं न्यूनवृत्ति । कोऽर्थः ? आकाशमध-

ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच सूक्ष्मभूत (तन्मात्राएँ) हैं। यही भूतेश शिव अपनी अत्यन्त निकृष्ट (जड़) अवस्था में आकर स्थूल भूतों का भी स्वरूप धारण कर लेता है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँच भूत हैं। शब्द आदि विषयों का ज्ञान श्रोत्र आदि इन्द्रियों से होता है। इस तरह से ये विषय वेद्य और इन्द्रियाँ वेदक कही जाती हैं। वागिन्द्रिय वचन की और पाणि आदान क्रिया की साधन है। पाद, पायु और उपस्थ क्रमशः गमन, विसर्ग और आनन्द के साधन हैं। भूमि गन्ध गुणवाली, जल सांसिद्धिक (स्वभावसिद्ध) द्रव (रस) वाला, तेज उष्ण स्पर्शवाला, वायु अरूप स्पर्शवाला और आकाश शब्द गुणवाला है ॥३३-३४॥

प्रस्तुत प्रकरण का सिंहावलोकन करते हुए पुनः पाँच भूतों के पन्द्रह गुणों और विद्या के पन्द्रह वर्णों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

पृथिवी आदि पाँच महाभूतों में ऊपर ऊपर के भूत व्यापक रूप में और नीचे के भूत व्याप्य रूप में रहते ३४-३५ ॥

पृथिवी शब्द के साथ जो आदि शब्द लगा है, वह जल, तेज, वायु और आकाश का संग्राहक है। इन सबमें आगे आगे का तत्त्व व्यापक है, अधिक जगह घेरता है और

१. दिकं–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. विशिष्टं सस्पर्शो–मु. । ३. शब्दाद–ने. ज. झ. उ. । ४. पृथिव्यादिषु भूतेषूत्तरं भूतं व्यापक–ख. ने. ज. झ. ।

स्तनानां भूतानां व्यापकम्, अधिकवृत्तित्वात्। अन्यान्यपि चत्वारि भूतानि व्याप्यानि, न्यूनवृत्तित्वात्। एवं वायुरग्न्यादीनां त्रयाणां व्यापकः, तानि त्रीणि व्याप्यानि। एवं तेजोऽप्यधस्तनयोर्व्यापकम्, ते द्वे व्याप्ये। एवमापः पृथिव्या व्यापिकाः, पृथ्वी व्याप्येत्यर्थः ॥३४-३५॥

तेन व्यापकगुणा व्याप्ये[1] स्थिता इत्याह—

तद्गुणा व्यापकाश्रयाः ।

व्याप्येष्ववस्थिता देवि स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ॥३५॥

व्यापकाश्रयास्तद्गुणा व्यापकगुणाः, व्याप्येष्ववस्थिताः स्थूलसूक्ष्मविभेदतः। स्थूलमधिकवृत्ति व्यापकम्, सूक्ष्ममल्पवृत्ति व्याप्यम्। व्यापकव्याप्ययोः स्थूलसूक्ष्मविभेदाद् व्यापकगुणा व्याप्येषु तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥३५॥

नीचे-नीचे का भूत व्याप्य है, कम जगह घेरता है। इसका अभिप्राय यह है कि आकाश अपने नीचे के सभी भूतों में व्यापक रूप से रहता है। सभी में इसकी स्थिति रहने से यह सभी तत्त्वों को घेरे हुए है। इसकी अपेक्षा अन्य चार भूत व्याप्य हैं, क्योंकि आकाश में रहने से उनका घेरा आकाश की अपेक्षा कम है। इसी तरह वायु शेष तीन अग्नि आदि की दृष्टि से व्यापक है और वे तीन भूत व्याप्य हैं। इसी प्रकार तेज नीचे के दो भूतों की अपेक्षा व्यापक है और वे दोनों व्याप्य हैं। इन दोनों में भी जल पृथिवी की अपेक्षा से व्यापक है और पृथिवी व्याप्य है ॥ ३४-३५ ॥

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि व्यापक भूत के गुण व्याप्य भूत में रहते हैं। इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

हे देवि ! व्यापक भूत में रहने वाले उसके गुण व्याप्य भूत में भी रहते हैं, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म के भेद से इनमें परस्पर व्याप्यव्यापकभाव संबन्ध है ॥ ३५ ॥

व्यापक आश्रय (भूत) के गुण भी व्यापक होते हैं, अर्थात् व्याप्य आश्रिय (भूत) में भी वे रहते हैं, क्योंकि ये [1]स्थूल और सूक्ष्म के भेद से विभक्त हैं। स्थूल शब्द का अर्थ यहाँ व्यापक है, जो कि अधिक जगह घेरता है। सूक्ष्म का अर्थ व्याप्य है, जो कि कम जगह घेरता है। व्यापक और व्याप्य भूत की इस स्थूलता और सूक्ष्मता के कारण व्यापक भूत के गुण व्याप्य भूत में भी रहते हैं ॥ ३५ ॥

---

१. व्याप्येष्वर्थेषु–ख. ने. ज. झ. उ.।

1 इस प्रकरण में अनेक स्थलों पर स्थूल और सूक्ष्म शब्दों का प्रयोग प्रचलित अर्थ से सर्वथा भिन्न रूप में हुआ है। दर्शन शास्त्र में सर्वत्र स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म तत्त्व श्रेष्ठ

ननु कस्य कस्य भूतस्य गुणाः केषु केषु भूतेषु स्थिताः ? विद्यायाः[1] कानि कान्यक्षराणि [2]कस्य कस्य भूतस्य गुणान् लक्षयन्तीत्यत आह—

तस्माद्व्योमगुणः शब्दो वाय्वादीन्व्याप्य संस्थितः ।

व्योमबीजैस्तु विद्यास्थैर्लक्षयेच्छब्दपञ्चकम् ॥३६॥

तस्माद् व्योम्नः [3]स्वेतरभूतेभ्यः स्थूलत्वाद् व्यापकत्वम्, तेन व्योमगुणः शब्दो वाय्वादीन् वायुतेजःसलिलपृथिव्यात्मकान् व्याप्य स्थितः। विद्यास्थैर्व्योमबीजैः पञ्चभिः पञ्चभूतेषु स्थितानां शब्दानां पञ्चकं लक्षयेत्, व्योमवाचकत्वाद् हकारपञ्चकं तद्गुणं शब्दपञ्चकं लक्षयतीत्यर्थः ॥३६॥

ननु विद्यायां षड् हकाराः [4]सन्ति, अन्यस्य हकारस्य किं प्रयोजनमित्यत आह—

तेषां कारणरूपेण स्थितं ध्वनिमयं परम् ।

किस किस भूत के गुण किन किन भूतों में रहते हैं और विद्या के कौन कौन से अक्षर किस किस भूत के गुणों को लक्षित करते हैं, इस विषय का वर्णन अब किया जा रहा है—

ऊपर बताये व्याप्यव्यापक भाव के कारण आकाश का गुण शब्द वायु प्रभृति में भी रहता है। विद्या स्थित पाँच हकार इन्हीं गुणों के सूचक हैं ॥ ३६ ॥

ऊपर बताई गई पद्धति से आकाश अपने से भिन्न भूतों की अपेक्षा स्थूल है, व्यापक है। इसलिये आकाश का गुण शब्द वायु, तेज, जल और पृथ्वी को भी व्याप्त करके स्थित है। विद्या में स्थित पाँच व्योम बीज पाँच भूतों में स्थित पाँच प्रकार के शब्दों को लक्षित करते हैं। इसका भाव यह है कि हकार आकाश का वाचक होता है। विद्या में पाँच हकार वर्ण हैं। पाँच वर्ण आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी में विद्यमान शब्दों की ओर इंगित करते हैं ॥ ३६ ॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि विद्या में तो छः हकार हैं, इस बचे हुए छठे हकार का क्या प्रयोजन है ? इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

उन पाँच शब्दों का कारणभूत तत्त्व ध्वनिमय नाद है। यह छठा हकार इसी को लक्षित करता है ॥

---

१. विद्यायां–ख. ज. झ. उ.। २. 'कस्य कस्य भूतस्य गुणान्'–नास्ति–ख. ज. उ.। ३. स्वेतरेभ्यः–ख. ने. ज. उ.। ४. निवसन्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

माना जाता है, किन्तु यहाँ स्थूल का अर्थ व्यापक तथा सूक्ष्म का अर्थ व्याप्य करने के कारण व्याप्य (सूक्ष्म) पृथिवी आदि की अपेक्षा से जल आदि तत्त्वों की व्यापकता (स्थूल) के आधार पर स्थूल (व्यापक) तत्त्वों को वरीयता दी गई है।

तेषां शब्दानां कारणरूपेण स्थितः कारणात्मना स्थितो ध्वनिर्नादः शब्दानां कारणम् । तदुक्तमभियुक्तैः—

पिण्डो वाचकविस्तरस्य महतः संस्कारशेषा[1] स्थिति-
र्नादोऽसौ तव देवि मूर्ध्नि समनासीमानमुल्लङ्घयन् ।
[2]घण्टाक्वाण इव क्रमेण विरम[3]न्नन्त्यामणीयस्तनी-
माजिघ्रन् परचिद्दशामनुभवन् मूर्ति पुराणीमुमे[4] ॥ इति ।

तन्मयं [5]तल्लक्षकत्वात् । परं कामराजबीजस्थितककारलकारमध्यगतहकाराक्षरम् । कोऽर्थः ? कामराजमध्यस्थितः षष्ठो हकार आकाशादिपञ्चभूतगतशब्दपञ्चककारणनादरूपः कामराजबीजस्य स्थितिरूपतां लक्षयतीत्यर्थः ॥

ऊपर बताये गये पाँच प्रकार के शब्दों को उत्पन्न करने वाला ध्वनिमय नाद ही इन सबका कारण है । जैसा कि किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने कहा है—

वर्ण, पद, वाक्यरूप इस विशाल शब्द विस्तार की जहाँ संस्कार के रूप में स्थिति बनी रहती है, उसी का नाम पिण्ड है । इसको नाद कहते हैं । इसका भाव यह है कि नाद के रूप में परिणत हुए पिण्ड मन्त्र में वर्ण, पद, वाक्य रूप शब्दप्रपंच की संस्कार के रूप में स्थिति रहती है । सारा शब्दप्रपंच यहाँ आकर शान्त हो जाता है । हे देवि उमे ! यह नाद ललाट से ऊपर बढता हुआ जब समना की सीमा को लांघकर उन्मनावस्था में पहुँचता है, तब वह एक अनोखी सूक्ष्मतर अवस्था को स्पर्श करता हुआ परचिद्दशा रूप अपने पुराने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है । यह कैसे होता है, इसका उदाहरण है—घण्टा ध्वनि । जैसे घण्टे को बजाने से उत्पन्न हुई ध्वनि धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई सनसनाहट के रूप में बदल कर अन्ततः विलीन हो जाती है, उसी तरह से नाद भी समना पर्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था में पहुँचता हुआ अन्त में विलीन हो जाता है, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ।।

कामराज बीज के ककार और लकार के बीच में विद्यमान छठा हकार इसी नादमय शब्द को लक्षित करता है । इसका अभिप्राय यह है कि कामराज बीज में स्थित छठा हकार आकाश आदि पाँच भूतों में विद्यमान पाँच शब्दों के कारणभूत छठे नादरूप शब्द का बोधक है । इससे कामराज बीज स्थिति का प्रतिनिधि है, इस बात की पुनः[1] पुष्टि हो जाती है ।

---

१. दोषा—ख. ग. ने. ज. झ. ब. उ. । २. 'घण्टा ''मुमे' नास्ति—क. ग. उ. । ३. न्नन्त्यां—ब. । ४. णीं मम—ख. ब. । ५. तल्लक्ष्यत्वात्—ख. ने. ज. झ. ।

1. कामराज बीज की स्थितिरूपता का प्रतिपादन पहले (२।२२-२३) किया जा चुका है ।

ननु हकारादिवर्णा आकाशादिभूतवाचका इत्युक्तम्, कथं शब्दादिपञ्चभूतगुणानामपि वाचका इत्युच्यन्त इत्यत आह—

भवेद् गुणवतां बीजं गुणानामपि वाचकम् ।।३७।।

गुणवताम्, गुणाः शब्दादयः पञ्च, तद्वतामाकाशादीनां पञ्चभूतानां बीजम् । जातावेकवचनम् । अत्र विद्यायां हकारादीनि पञ्चभूताक्षराणि व्यञ्जनानि । अत्रैवोक्तम्—"हकाराद् व्योम संभूतम्" (२।२९) इत्यादिना[1] । अतो बीजान्युच्यन्ते । ककारादिक्षकारान्तानां व्यञ्जनानां बीजत्वमुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

षण्ढवर्जमहिमद्युतेः [2]स्वरा बिन्दुसर्गरहिताश्च ये शुचेः ।
सर्व एव शशिनः कलाः[3] शिवे योनयो विधृतबीजतः स्वराः[4] ॥ इति ।
(श्लो० ४०)

फिर प्रश्न उठता है कि पहले यह बताया गया था कि विद्यागत हकार आदि वर्ण आकाश आदि भूतों के वाचक हैं, अब कहा जा रहा है कि ये वर्ण भूतगत शब्द आदि गुणों के भी वाचक हैं । यह कैसे होगा ? इसी का उत्तर देते हैं—

गुणवान् आकाश आदि के वाचक बीजभूत हकार आदि अक्षर आकाशादिगत गुणों के भी वाचक हो जाते हैं ।।३७।।

यहाँ एकवचन में प्रयुक्त बीज शब्द बीज जाति का वाचक है । विद्या में विद्यमान बीजाक्षर शब्द आदि गुणों से युक्त आकाश आदि के तो वाचक हैं ही, वे आकाश आदि में विद्यमान गुणों के भी वाचक हो जाते हैं । यहाँ विद्या में पाँच भूतों के वाचक हकार आदि अक्षर व्यंजन हैं । पहले (२।२९) ही इस विषय का वर्णन किया जा चुका है । हकार आदि से आकाश आदि की इस उत्पत्ति के कारण ही इनको 'बीज' कहा गया है । ककार से क्षकार पर्यन्त व्यंजनों को चिद्गगनचन्द्रिका में 'बीज' नाम दिया गया है । जैसे कि—

षण्ढ (ऋ ॠ ऌ ॡ) स्वरों को छोड़कर बाकी बारह स्वर सूर्य की बारह कलाओं के, बिन्दु और विसर्ग को भी छोड़कर बाकी दस स्वर अग्नि की १० कलाओं के और सभी

---

१. इत्यादि—ख. ने. ज. झ. उ. । २. कला—ख. ने. ज. उ. । ३. कलाश्च ये योनयो—ख. ज. झ. उ. । ४. बीजकास्तदा—ख. ने. ज. उ. ।

परापञ्चाशिकायामप्युक्तम्—"द्विधेयं मातृका देवी बीजयोन्यात्मना स्थिता" (श्लो० ४०) इति । तानि तद्गुणानां शब्दादीनां वाचकानि लक्षकाणि, हकाराद्यक्षराण्याकाशार्थेषु संकेतितत्वात्तद्गुणेषु शब्दादिषु लक्षकाण्येव । तदुक्तमभियुक्तैः—"साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः" (का० प्र० २।७) इति । कोऽर्थः ? शब्दादिगुणवतामाकाशादिभूतानां यानि बीजानि वाचकानि [1]हकारादीनि, तानि तद्गुणानां शब्दादीनां लक्षकाणीत्यर्थः[2] ॥३७॥

सोलह स्वर चन्द्र की १६ कलाओं के द्योतक हैं । हे देवि ! ये सभी स्वर[1] बीजाक्षरों को धारण करने वाले हैं, अतः इनको 'योनि' कहा जाता है ॥

परापंचाशिका में भी बताया गया है—"बीज और योनि के भेद से यह मातृका देवी दो रूपों में स्थित है" । आकाश आदि के अभिव्यंजक ये हकार आदि बीजाक्षर उन आकाश आदि के शब्द आदि गुणों को भी लक्षित करते हैं । हकार आदि अक्षरों का साक्षात् संकेतित (अभिधेय) अर्थ तो आकाश आदि ही है, किन्तु लक्षणा वृत्ति के द्वारा ये आकाशादिगत गुणों को भी लक्षित कर देते हैं । इस विषय में अभियुक्तों की उक्ति है—"साक्षात् संकेतित अर्थ को बताने वाला शब्द वाचक होता है" । इससे यह अभिप्राय निकलता है कि शब्द आदि गुणों से संपन्न आकाश आदि भूतों के वाचक जो हकार आदि बीजाक्षर हैं, वे आकाशादिगत शब्द आदि गुणों का भी लक्षणा वृत्ति के द्वारा बोध कराते हैं ॥३७॥

१. 'हकारादीनि' नास्ति—ख. ने. ज. उ. । २. त्युक्तम्—ख. ।

1. सूर्य की १२, अग्नि की १० तथा सोम की १६ कलाओं की चर्चा योगिनीहृदय (३।१००-१०१) में हुई है और दीपिकाकार ने स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण से इनके नाम दिये हैं । वहाँ चन्द्र की १६ कलाओं में १६ स्वरों का, वह्नि की १० कलाओं में यादि क्षान्त दस वर्णों का तथा सूर्य की १२ कलाओं में ककार से ठकार पर्यन्त वर्णों का अनुलोम क्रम से तथा भकार से डकार पर्यन्त वर्णों का प्रतिलोम क्रम से विन्यास प्रदर्शित है । अतः चिद्गगनचन्द्रिका के प्रस्तुत श्लोक में द्वादश और दश स्वर केवल संख्या के सूचक माने जाने चाहिये । यहाँ स्वरों को योनि तथा व्यंजनों को बीज माना गया है । कर्रा अग्निहोत्र शास्त्री ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है । किन्तु मालिनीविजय (३।१०-११) में स्वरों को बीज तथा व्यंजनों को योनि बताया गया है । अभिनवगुप्त (तन्त्रसार,पृ० १५) इसी मत का अनुसरण करते हैं । आगे (३।१५३) दीपिकाकार भी स्वरों को बीज ही मानते हैं ।

सूर्य, वह्नि और सोम की ३८ कलाओं के समान अघोर आदि पाँच मन्त्रों की भी ३८ कलाएँ हैं । उनके नाम स्वच्छन्दतन्त्र (१।५३-५९) तथा नेत्रतन्त्र (२२।२६-३४) में देखे जा सकते हैं ।

लक्षणायां निमित्तमाह—

कार्यकारणभावेन तयोरैक्यं विवक्षया ।

तयोः गुणगुणिनोः । कार्यकारणभावेन । गुणी कारणम्, गुणः कार्यम् । अतः कार्यकारणभावेन [1]कत्वविवक्षया विवक्षितमेवैकत्वम्, न तु तात्त्विकम् । गुणगुणिनोः कार्यकारणभावादेकत्वमारोप्य तत्संबन्धं निमित्तीकृत्य लक्षणया गुणिशब्दा गुणेषु योज्यन्त[2] इत्यर्थः । तदुक्तं [3]महास्वच्छन्दसंग्रहे—

शब्दः [4]शान्तत्वघोरत्वविशेषा[5]पन्नरूपकः ।
शब्दस्तु शब्दतन्मात्रं मृदूष्णकठिनश्चलः ॥

लक्षणा में कोई निमित्त होना चाहिये, उसी को बताते हैं—

गुण और गुणी का कार्यकारणभाव संबन्ध होता है । उनकी एकता की ओर इंगित करना ही मात्र यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है ॥

गुण और गुणी का कार्यकारणभाव संबन्ध होता है । इनमें से गुणी कारण और गुण कार्य है । अतः इस कार्यकारणभाव को एकता को बताना मात्र यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है । अर्थात् यहाँ एकता की विवक्षामात्र है, इनमें वास्तविक एकता नहीं है । गुण और गुणी में कार्यकारणभाव संबन्ध के आधार पर इनमें एकता का आरोप कर देते हैं । इस एकता संबन्ध को ही निमित्त बना कर लक्षणा वृत्ति के द्वारा गुणी के वाचक शब्दों का प्रयोग गुणों में भी कर दिया जाता है । इस विषय का विस्तार महास्वच्छन्दसंग्रह में इस तरह से किया गया है—

स्थूल रूप में शब्द [1]शान्त, घोर और मूढ नामक विशेष दशा को धारण कर लेता है । सूक्ष्म रूप में विद्यमान यही शब्द शब्दतन्मात्र कहलाता है । [2]मृदु, उष्ण, कठिन,

१. एकत्वं विवक्षितं न तु—ख. ने. ज. उ. । २. योज्याः—ख. उ. । ३. 'महा' नास्ति—झ. । ४. सा(शा)न्तद्वयोरर्थविशे—ख. ने. ज. उ. । ५. षोऽयं न रूपकः—ख. ज. उ., षः पञ्चरूपकः—ने. ।

1. सांख्यकारिका (श्लो० ३८) में पाँच तन्मात्राओं को अविशेष तथा उनसे उत्पन्न पाँच महाभूतों को विशेष संज्ञा दी गई है तथा इन विशेषों को शान्त, घोर और मूढ स्वभाव का बताया गया है । वाचस्पति मिश्र सत्त्वगुणमय सुखात्मक प्रकाशात्मक और लघुस्वभाव को शान्त, रजोगुणमय दुःखात्मक अव्यवस्थित स्वभाव को घोर तथा तमोगुणात्मक निराशा से भरे हुए भारी स्वभाव को मूढ बताते हैं । शान्त, घोर और मूढ स्वभाव के भोग्य विषयों का भोक्ता पुरुष भी इन स्वभावों से आक्रान्त हो जाता है ।

2. इस विषय का विस्तार और संक्षेप मतङ्गपारमेश्वर (वि० १९-२३ पटल), स्वच्छन्दतन्त्र (१२।१५-३०), मृगेन्द्रागम (वि० १२।१९-२९), तत्त्वसंग्रह (श्लो० २-४), भोगकारिका (श्लो० ५-२०), तत्त्वप्रकाश (श्लो० ६१-६३) आदि में देखा जा सकता है ।

विशिष्टस्पर्शरूपश्च स्पर्शतन्मात्रसंज्ञकः ।
नीलपीतत्वशुक्लत्वविशिष्टं रूपमेव च ॥
रूपतन्मात्रमित्युक्तं [1]मधुरत्वादिसंयुतम् ।
रसतन्मात्रसंज्ञं तु सौरभ्यादिविशेषितः ॥
गन्धः स्याद् गन्धतन्मात्रं तेभ्यो वै भूतपञ्चकम् ।
आकाशं शब्दतन्मात्रं नित्यं शब्दगुणं महत् ॥
व्यापकं निर्मलं तत्त्वमवकाशप्रदानकम् ।
स्पर्शतन्मात्रतो वायुश्चलद्रूपोऽनिलोऽभवत् ॥
जगत्प्राणोऽनिलो व्यूहप्रेरणं च लघुर्भवेत् ।
शब्दस्पर्शगुणः प्रोक्तो गमागमनकर्मकृत् ॥
शब्दस्पर्शरूपगुणं तेजस्तत्त्वं तु भास्वरम् ।
रूपतन्मात्रकार्यं च पाककर्मकरं शिवे ॥
रसतन्मात्रतो जातं वारितत्त्वं द्रवात्मकम् ।
शब्दस्पर्शरूपरसगुणं संग्रहकर्मकृत् ॥

चल आदि विशेष स्पर्शवाला तत्त्व स्पर्शतन्मात्र कहलाता है। नील, पीत, शुक्ल आदि विशिष्ट रूपों वाला तत्त्व रूपतन्मात्र कहा गया है। मधुरत्व आदि गुणों से विशिष्ट रसतन्मात्र और सुरभि (सुगन्ध) आदि से विशिष्ट गन्धतन्मात्र कहा गया है। इन्हीं से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है। शब्दतन्मात्र से आकाश की अभिव्यक्ति होती है। शब्द गुण वाला यह आकाश नित्य, महान्, व्यापक और निर्मल है। अन्य सभी तत्त्वों को यह अवकाश देने वाला है, अर्थात् अन्य सभी भूत आकाश के द्वारा प्रदत्त अवकाश में ही स्थित हैं। स्पर्शतन्मात्र से वायु की उत्पत्ति होती है। यह वायु चंचल गति वाला है, जगत् का प्राण है, [1]व्यूहन और प्रेरण इसकी वृत्ति है और यह बहुत हलका है। शब्द और स्पर्श ये दो गुण इसमें है। श्वास-प्रश्वास के रूप में गमन (बाहर जाना) और आगमन (भीतर आना) की क्रिया यही करता है। शब्द, स्पर्श और रूप गुण वाला भास्वर तेजस्तत्त्व रूपतन्मात्र का कार्य है। हे शिवे! यह तत्त्व पाक क्रिया का निष्पादक है। रसतन्मात्र से द्रवात्मक जल तत्त्व निकलता है। इसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस

---

१. मधुरत्वोष्णसं–ख. ज. झ. उ.।

1. ऊपर उद्धृत स्थलों का अवलोकन कीजिये। टीकाकारों ने व्यूहन का अर्थ अवयव-घटन, अवयव-विरचन, विविध-वहन अथवा पुंजीकरण किया है। पांच भूतों में वायु पहला तत्त्व है, जो कि जागतिक पदार्थों को योजना बद्ध रूप से जुटाने में लगता है। वायु के इस व्यूहन और प्रेरण व्यापार की ही चर्चा प्रस्तुत उद्धरण में भी हुई है।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धपञ्च[1]गुणान्वितम् ।
पृथिवीतत्त्वमाख्यातं [2]कठिनं सर्वधारणम् ॥
पृथ्व्यादिव्योमतत्त्वान्त[3]पञ्चकं पूर्वपूर्वकम् ।
कार्यदृष्ट्या[4] समावृत्य वर्तते पञ्चकं क्रमात् ॥ इति[5] ॥

पूर्वं विद्यास्थहकारपञ्चकस्य पञ्चभूतस्थितशब्दपञ्चक[6]लक्षकतामुक्त्वेदानीं [7]वाय्वादिभूतचतुष्टयगतं स्पर्शचतुष्टयं वायुवाचकबीजैर्लक्षयति—

महामायात्रयेणापि कारणेन च बिन्दुना ॥ ३८ ॥
वाय्वग्निजलभूमीनां स्पर्शानां च चतुष्टयम् ।
उत्पन्नं भावयेद् देवि स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ॥ ३९ ॥

महामाया ईकारः, तेषां त्रयं बीजत्रयशिखरवर्तिनामीकाराणां बिन्दुद्वयहार्धमात्रामयानां त्रयम्। कारणेन च बिन्दुना तदक्षर[8]त्रयकारणेनाकारहकारसामरस्यरूपेण कामाख्येनोर्ध्वबिन्दुना। वाय्वग्निजलभूमीनां स्पर्शानां चतुष्टयमुत्पन्नं

ये चार गुण रहते हैं। यह तत्त्व संग्रह क्रिया का निष्पादक है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच गुणों से युक्त पृथिवी तत्त्व है। यह कठोर है और सबको धारण करने वाला है। पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त पाँच तत्त्वों में पहला तत्त्व अपने कार्य तत्त्व को अपने में समेटे हुए रहता है॥

विद्यास्थित पाँच हकार पाँच भूतों में स्थित पाँच शब्दों को लक्षित करते हैं, इस विषय का वर्णन करने के उपरान्त अब बताया जा रहा है कि विद्यागत वायुवाचक बीजों से वायु प्रभृति चार भूतों के चार प्रकार के स्पर्शों को लक्षित किया जाता है—

हे देवि! तीन महामायाओं और कारण बिन्दु से वायु, अग्नि, जल और भूमिगत चार स्पर्शों की उत्पति हुई है, ऐसी भावना करनी चाहिये, क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म भूत के क्रम से स्पर्श गुण की अनुवृत्ति चार भूतों में मानी जाती है॥३८-३९॥

महामाया शब्द यहाँ ईकार का वाचक है। श्रीविद्या में तीन ईकार हैं। इनकी स्थिति तीनों बीजों के अन्त में है तथा इनका आकार दो बिन्दु और हार्धकला से बना है। इनके अतिरिक्त एक कारण बिन्दु भी है। यह तीनों ईकाराक्षरों का कारण है और इसकी स्थिति अकारहकारसामरस्यमय ऊर्ध्व बिन्दु के रूप में है, जिसको काम बिन्दु

---

१. गुणात्मकम्–ख. ने. ज. उ.। २. कथितं–ख. ज. उ.। ३. तत्त्वान्तं–ज. झ. उ.। ४. कार्यं व्यत्यास–ने. ज. झ.। ५. इतः परं केवलं कपुस्तके विद्यमानः पाठोऽग्रे सूक्ष्माक्षरेषु स्थापितः। ६. पञ्चकं पूर्वं कथयित्वे–क. ग.। ७. वायुवाचकैरक्षरैस्तद्गुणं स्पर्शचतुष्टयं लक्ष–ख. ने. ज. झ. उ.। ८. 'त्रय' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

लक्ष्यं भावयेत् । स्थूलसूक्ष्मविभेदतः । सूक्ष्माणि पृथिव्यप्तेजांसि, स्थूलो वायुरर्वाचीनेभ्यः । अत एव एवंविधेन ईकारत्रयेणापि लक्षिता बिन्दवः [1]षट्संख्याकाः । कारणं बिन्दुः समष्टिवृत्तं हि, षड्बिन्दुलाञ्छितवृत्तात्मकत्वाद् वायुमण्डलस्य । तदुक्तमभियुक्तैः—"कण्ठादितालुपर्यन्तं वृत्तं षड्बिन्दुलाञ्छितम् । धूम्रम्" इति । [एवमन्यत्रापि—

समष्टिबिन्दुना वायुः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।] तद्वायुमण्डलवाचकेन ईकारत्रयेण समष्टिबिन्दुना च स्थूलसूक्ष्मविभेदतो वाय्वादि[2]भूतचतुष्टयस्थितं स्पर्शचतुष्टयं लक्षयेदित्यर्थः ॥ ३८-३९ ॥

वायुवाचकैर्वायुगुणं स्पर्शचतुष्टयं लक्षयित्वेदानीं तेजोवाचकैरक्षरैस्तद्गुणं रूपत्रयं लक्षयति—

कहते हैं । इन तीन ईकारों और कारण बिन्दु से वायु, अग्नि, जल और भूमिगत चार प्रकार के स्पर्श उत्पन्न हुए हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये । इन चतुर्विध स्पर्शों की उत्पत्ति स्थूल-सूक्ष्म के भेद से होती है । इनमें पृथिवी, जल और तेज सूक्ष्म तथा वायु इनसे स्थूल है । ऊपर बताया गया है कि ईकार का स्वरूप दो बिन्दुओं से बना है । तीन ईकारों में मिलकर छः बिन्दु हुए और कारण बिन्दु समष्टि वृत्त का स्वरूप धारण कर लेता है । इस तरह से छः बिन्दुओं से लांछित वृत्ताकार [1]वायुमण्डल का स्वरूप इससे बन जाता है । किसी अभियुक्त ने वायुमण्डल का स्वरूप बताया है—"कण्ठ से तालु पर्यन्त वृत्ताकार छः बिन्दुओं से लांछित वायुमण्डल होता है । यह धूम्र वर्ण का है" । [2][अन्यत्र भी कहा गया है—"स्थूल और सूक्ष्म के भेद से समष्टि बिन्दु वायुमण्डल का बोध कराता है ।"] इस तरह से वायुमण्डल के वाचक तीन ईकार और समष्टि बिन्दु में स्थूल और सूक्ष्म के भेद से वायु प्रभृति चार भूतों में विद्यमान चार स्पर्शों की भावना करनी चाहिये ॥३८-३९॥

विद्यागत वायुवाचक अक्षरों से वायु के गुणभूत चार स्पर्शों को लक्षित करने के बाद अब तेजोवाचक अक्षरों में तेजोगत रूपत्रय की भावना बताते हैं—

---

१. षट् सन्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'भूत' नास्ति—ख. ने. ज झ. उ. ।

1. वायुमण्डल का यह स्वरूप मूल ग्रन्थ (१।४२) में भी बताया गया है ।

2. कोष्ठक में संस्कृत के जिस अंश की व्याख्या की गई है, वह केवल एक मातृका में उपलब्ध है और पूर्व श्लोक की व्याख्या में महास्वच्छन्दसंग्रह के उद्धरण के बाद रखा गया है । वहाँ उसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है, अतः हमने प्रसंग के अनुसार इसको यहाँ रखकर उसका भाषानुवाद किया है ।

रूपाणां त्रितयं तद्वत् त्रिभी रेफैर्विभावितम् ।

रूपाणां त्रितयं वह्निवारिभूमिष्ठानां रूपाणां त्रितयं त्रिभी रेफैर्विभावितं लक्षितम् ॥

ननु रूपं पृथिव्यप्तेजसां साधारणम्, कथं तेजोबीजेन रेफेण लक्षितमित्यत आह—

प्रधानं तेजसो रूपं तद्बीजेन हि जन्यते ॥४०॥

[1]सत्यं त्रिष्वपि भूतेषु विद्यते रूपम्, तथापि वाय्वाकाशयोरभावात् प्रथमं तेजस एव[2] रूपं प्रधानम् । पश्चादितरयोर्भूतयोस्तद्बीजेन रेफेण जन्यते [3]प्रकाश्यते । जननं प्रादुर्भावः ॥४०॥

एवं तेजोवाचकैरक्षरैस्तेजोगुणं रूपत्रयं लक्षयित्वेदानीमब्वाचकैरक्षरैस्तद्गुणं रसद्वयं लक्षयति—

विद्यास्थैश्चन्द्रबीजैस्तु स्थूलः सूक्ष्मो रसः स्मृतः ।

इसी तरह से विद्यागत तीन रेफों में तीन रूपों को भावना करे ॥

तेज, जल और पृथिवीगत रूप ही रूपत्रय के नाम से वर्णित है । विद्यागत तीन रेफों से इनकी उत्पत्ति हुई है, ऐसी भावना करनी चाहिये ॥

रूप गुण पृथिवी, जल और तेज तीनों में रहता है, तब इसकी उत्पत्ति अग्निबीज रेफ से कैसे मानी जाती है ? इसका समाधान करते हैं—

रूप गुण प्रधानतः तेजस्तत्त्व में हो रहता है, अतः उसकी उत्पत्ति अग्निबीज से ही मानी जाती है ॥४०॥

आपका यह कहना ठीक है कि तीनों भूतों में रूप रहता है, तो भी वायु और आकाश में तो यह है नहीं । उसके बाद प्रधानतः इसकी स्थिति सर्वप्रथम अग्नि में ही मानी जाती है । जल और पृथिवी में रूप की उत्पत्ति इसके बाद ही होती है और वह भी अग्निबीज रेफ के द्वारा ही लक्षित होती है । इस तरह अग्निबीज रेफ ही तीनों तत्त्वों में रूप को प्रकाशित करता है । इस पूरे प्रकरण में उत्पत्ति का अर्थ प्रादुर्भाव करना चाहिये ॥४०॥

इस तरह से अग्नितत्त्व के वाचक अक्षरों से त्रिविध रूपों की उत्पत्ति बताने के बाद अब जलतत्त्व के वाचक अक्षरों से दो प्रकार के रसों की उत्पत्ति बताते हैं—

विद्यागत चन्द्रबीजों से स्थूल और सूक्ष्म रस की निष्पत्ति होती है ॥

---

१ 'सत्यं' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'एव' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. ।
३. 'प्रका···भाव.' नास्ति—ख. ने. ज. उ. ।

[1]विद्याबीजस्थैश्चन्द्रबीजैः सकारैः । अभिधानमात्रमेतत् । तदुक्तमभियुक्तैः—

व्योमेन्दुवह्न्यधरबिन्दुभिरेकमन्य[2]द्रक्ताच्छकेन्द्रशिखिभिः सरमार्धचन्द्रैः ।
अन्यद् द्युशीतकरपावकमन्वमन्तैर्बीजैरमोभिरुदिता त्रिपुरेति विद्या ॥ इति ।
(प्र० सा० ९।३)

स्थूलः सूक्ष्मः । स्थूलो रसोऽप्तत्त्वगतः, व्यापकत्वात् । सूक्ष्मो रसो भूतत्त्वगतः, व्याप्यत्वात् । स्मृतः भावितः । स्मृतिर्हि भावना ॥

ननु विद्यायां[3] सकारत्रयमस्ति, अप्पृथिव्योस्तु रसद्वयमेव, इतरेण सकारेण किमुच्यत इत्यत आह—

श्रीविद्या के बीजों में चन्द्रबीज (सकार) भी है । चन्द्रबीज सकार का [1]अभिधान है, इसमें प्रपंचसार का यह वचन प्रमाण है—

व्योम हकार, इन्दु सकार, वह्नि रेफ, अधर ऐकार, बिन्दु अनुस्वार–इन सबके मिलने पर त्रिपुरा विद्या का प्रथम बीज; रक्त हकार, अच्छ सकार, ककार, इन्द्र लकार, शिखी रेफ, रमा ईकार, अर्धचन्द्र बिन्दु—इन सबके मिलने पर द्वितीय बीज तथा द्यु हकार, शीतकर सकार, पावक रेफ, मनु औकार, अमन्त विसर्ग—इन सबके मिलने पर तृतीय बीज बनता है । इन तीन बीजों वाली विद्या ही [2]त्रिपुरा विद्या कही जाती है । जलतत्त्वगत रस स्थूल (व्यापक) और पृथिवी तत्त्वगत सूक्ष्म (व्याप्य) है, क्योंकि पृथिवी की अपेक्षा जलतत्त्व अधिक व्यापक (बड़ा) है । अतः जलगत रस की स्थूल (व्यापक) रूप में और पृथिवीगत रस की सूक्ष्म (व्याप्य) रूप में भावना की जाती है ॥

प्रश्न उठता है कि विद्या में तो तीन सकार हैं, जल और पृथ्वी में रस दो ही प्रकार का है, तब तीसरे सकार का क्या प्रयोजन है—

---

१. 'विद्याबीजस्थैः' नास्ति–ख. ने. ज. ब. उ. । २. 'रक्ताच्छ····विद्या' नास्ति–ख. ग. ने. ज. ब. । ३. विद्यायामस्यां–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. इसका अभिप्राय यह है कि चन्द्र शब्द से सकार का बोध होता है । प्रपंचसार के जिस वचन को यहाँ प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया है, उसमें चन्द्र शब्द से विद्यागत सकार का उद्धार बताया गया है ।

2. नि० षो० की व्याख्या ऋजुविमर्शिनी (पृ० १०६) में इस श्लोक को आवाहनी विद्या के प्रसंग में उद्धृत किया गया है । इस विद्या का विनियोग त्रिपुरा के आवाहन के लिये किया जाता है, अतः प्रपंचसार में यह त्रिपुरा के नाम से ही संबोधित कर दी गई है ।

संबन्धो विदितो लोके रसस्याप्यमृतस्य च ॥४१॥

अमृतस्य सुधाया रसस्यापि संबन्धो लोके विदितः सुरासुरैरपांनिधौ मथ्यमाने तत्सारभूतममृतं समुदितमिति पुराणप्रसिद्ध्या[1] लोके विदितः[2] परिज्ञातः[3] । अत्राप्तत्त्वसारभूतत्वात् तद्गुणो रसस्तृतीयसकारेण लक्ष्यते । कोऽर्थः? अप्तत्त्वं स्थूलम्, अमृतं तत्सारभूतं सूक्ष्मम्, तद्व्याप्या पृथिवी च सूक्ष्मा । तेन सलिलामृतपृथिव्यन्तरे[4] त्रिधा स्थितो रसो विद्यास्थैस्त्रिभिः सकारैर्लक्ष्यत इत्यर्थः ॥४१॥

पूर्वमब्वाचकैरक्षरैरब्गुणं रसत्रयं लक्षयित्वेदानीं पृथिवीवाचकैर्वर्णैः पृथिवीगुणं गन्धं लक्षयति—

[5]वसुन्धरागुणो गन्धस्तल्लिपिर्गन्धवाचिका ।

वसुन्धरायाः पृथिव्याः, गुणो गन्धः । तल्लिपिः पृथिवीवाचकवर्णो लकारः । गन्धवाचिका गन्धस्य[6] परिभाषणकरी ।

लोक में अमृत रस का भी संबन्ध विदित है । इस अमृत का ही तृतीय सकार से बोध होता है ॥४१॥

अमृत (सुधा) के रस का भी संबन्ध लोक में विदित है कि देव और दानवों ने मिलकर क्षीरसमुद्र का जब मन्थन किया था, तो समुद्र के जल से उसके सार के रूप में अमृत निकला था । पुराणवर्णित यह कथा लोक में प्रसिद्ध है । यह अमृत जलतत्त्व का सार है । अतः जल का यह अमृतमय रस विद्यागत तृतीय सकार से लक्षित होता है । इनमें जलतत्त्व स्थूल (व्यापक) है । जलतत्त्व का सारभूत अमृत सूक्ष्म (व्याप्य) है और जलतत्त्व की व्याप्य पृथिवी का रस भी सूक्ष्म (व्याप्य) है । इस तरह जल, अमृत और पृथिवी में विद्यमान त्रिविध रस विद्यागत तीन सकारों से लक्षित होता है ॥४१॥

इस तरह जलतत्त्व के वाचक अक्षरों से त्रिविध रस को लक्षित करने के बाद अब पृथिवीवाचक वर्णों से पृथिवीगत गन्ध गुण की वासना बताते हैं—

गन्ध पृथिवी का गुण है । पृथिवी का वाचक वर्ण इस गन्ध को लक्षित करता है ॥

वसुन्धरा (पृथिवी) का गुण गन्ध है । उसकी लिपि, अर्थात् पृथिवी तत्त्व का वाचक वर्ण लकार, गन्ध की वाचिका है, पृथिवीवाचक वर्ण तद्गत गन्ध को भी लक्षित करता है ॥

---

१. प्रसिद्धं–ख. ने. ज. उ. । २. 'विदितः' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ३. ज्ञातम् । अतोऽमृतसार–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. न्तरस्थितो–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. वसुधायाः–क. ग. । ६. 'गन्धस्य····करी' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. ।

ननु विद्यायां लकारत्रयमस्ति, तत्रैकेन लकारेण पृथिवी [1]संस्थितो गुणो गन्धो लक्षितः, शिष्टाभ्यां [2]लकाराभ्यां किं क्रियत इत्यत आह—

भुवनत्रयसंबन्धात् त्रिधात्वं तु महेश्वरि ॥४२॥

भुवनत्रयं लोकत्रयम्, तत्संबन्धात् लोकत्रयाधारत्वात्, आधाराधेयभावः[3] संबन्धः, तस्मात् संबन्धाद्धेतोः पृथिव्या[4]स्त्रिधात्वम्। तेन पृथिवी[5]भागत्रयगत-गन्धत्रयलक्षकं लकारत्रयमित्यर्थः ॥४२॥

"हकाराद् व्योम संभूतं ककारात्तु प्रभञ्जनः" (२।२९) [6]इत्यत्र वायुवाचक-तयोक्तस्य[7] ककारस्य प्रमातृवाचकत्वेनापि वक्तुं शक्यत्वादन्यैरक्षरैः स्पर्शचतुष्टयं लक्षयित्वेदानीं ककारत्रयेण प्रमातृत्रयं लक्षयति—

अशुद्धशुद्धमिश्राणां प्रमातॄणां परं वपुः ।
क्रोधीशत्रितयेनाथ विद्यास्थेन प्रकाश्यते ॥४३॥

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि विद्या में तो तीन लकार हैं, इनमें से एक से पृथिवीगत गुण गन्ध लक्षित हो जायगा, बाकी दो लकारों का क्या प्रयोजन है ? अब इसी का उत्तर देते हैं—

हे महेश्वरि ! भुवन (लोक) तीन होते हैं। इन तीनों भुवनों को लक्षित करने के अभिप्राय से विद्या में तीन लकार स्थित हैं ॥ ४२ ॥

पृथिवी तीनों भुवनों (लोकों) से संबद्ध है। तीनों लोक इसी पर ठहरे हुए हैं, अतः इनमें परस्पर आधाराधेयभाव संबन्ध है। इस संबन्ध के कारण पृथिवी तीन लोकों के रूप में विभक्त मान ली जाती है। पृथिवी के इन तीन भागों में विद्यमान तीन गन्धों को लक्षित करने के लिये ही विद्या में तीन लकार स्थित हैं ॥ ४२ ॥

पहले (२।२९) बताया गया है कि हकार से आकाश और ककार से वायुतत्त्व की अभिव्यक्ति हुई। वायुतत्त्व के वाचक विद्यागत ककार तीन प्रमाताओं के भी वाचक हो सकते हैं, अतः महामाया प्रभृति वर्णों से स्पर्शचतुष्टय की वासना (२।३८) बता कर अब यहाँ विद्यागत तीन ककार वर्णों से तीन प्रमाताओं को लक्षित करते हैं—

अशुद्ध, शुद्ध और मिश्र स्वभाव वाले त्रिविध प्रमाताओं का वासनात्मक स्वरूप विद्यागत तीन क्रोधीश (ककार) वर्णों से लक्षित होता है ॥ ४३ ॥

---

१. 'संस्थितो' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'लकाराभ्यां' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'भावः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. स्त्रित्वम्–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. भागत्रयाल्लोकत्रय–क. ग. । ६. इत्येवं–ख. ने. ज. झ. उ. । ७. क्तस्यापि–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ८. नास्य–ख. ग. ने. च. छ. ज. झ. ।

अशुद्धाः प्रमातारो भेद[1]धीमात्रसाराः शिवाहम्भावभावनाविहीनाः सकलाः पशवः । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

पशवस्त्रिप्रकाराः स्युस्तेष्वेके सकला मताः ।
प्रलयाकलनामानस्तेषां केचिन्महेश्वरि ॥
विज्ञानकेवलास्त्वन्ये तेषां रूपं क्रमाच्छृणु ।
अनादिमलसंच्छन्नो मायाकर्मावृतोऽविभुः ॥
शरीरी शिवतत्त्वाज्ञो[2] भेदैकरसिको लघुः ।
सर्वदा कर्मकर्ता[3] च स्वकर्मफलभोजकः ॥
नित्यं विषयसंसक्तो[4] बोध्यः शोध्यः पुमानयम् । इति ।

शुद्धाः प्रमातारः पक्वमलविज्ञानाः शिवतावन्मात्रसारा [5]विज्ञानकेवलाः पशवः । तदुक्तं [6]स्वच्छन्दसंग्रहे—

मात्र भेदबुद्धि की हो जिनमें प्रधानता रहती है, ऐसे प्रमाता अशुद्ध वर्ग के अन्त-र्गत आते हैं। मैं शिव ही हूँ, इस तरह की भावना वे नहीं कर पाते। इनको सकल पशु कहा जाता है। स्वच्छन्दसंग्रह में ये इस तरह से वर्णित हैं—

पशु तीन प्रकार के होते हैं। कुछ सकल पशु होते हैं। हे महेश्वरि ! इनमें से कुछ प्रलयाकल नाम वाले और दूसरे [1]विज्ञानकेवल नाम वाले बन जाते हैं। तुम इन तीनों पशुओं के स्वरूप को क्रमशः सुनो। अनादि आणव मल से घिरा हुआ, मायीय और कार्म मल से भी आवृत पशु अपने विभु (व्यापक) स्वरूप को खो बैठता है। वह अपने शरीर तक ही सीमित हो जाता है। शिवतत्त्व को वह नहीं जान पाता। उसमें भेदबुद्धि (द्वैत दृष्टि) की ही प्रधानता रहती है। वह बहुत लघु हो जाता है, अपने चंचल (हलके) स्वभाव के कारण अपनी गंभीरता को खो बैठता है। वह सदा अच्छे-बुरे कर्म करता रहता है और फिर अपने किये इन कर्मों का फल भी भोगता रहता है। विषयों में सदा आसक्त रहने वाले इस सकल नाम के पशुप्रमाता का बोधन और शोधन आवश्यक है, मन्त्रोपदेश और दीक्षा द्वारा गुरु को इनका बोधन और शोधन करना चाहिये ॥

मायीय और कार्म मल जिनके परिपक्व हो गये हैं, द्वैत दृष्टि के हट जाने से जो अपने को शिवमय ही समझते हैं, ऐसे शुद्ध प्रमाता विज्ञानकेवल नामक पशु कहलाते हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में ये इस तरह से वर्णित हैं—

---

१. 'धी' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । २. तत्त्वज्ञो–ख. ग. झ. उ. । ३. कान्तारे–ज. । ४. संरक्तो भाव्यः साध्यः–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ५. ज्ञान–ख. ने. ज. झ. । ६. महास्व–ख. ग. झ. उ. ।

1. सिद्धान्त शैव ग्रन्थों में वर्णित विज्ञानाकल को ही यहाँ विज्ञानकेवल नाम दे दिया गया है। अशुद्ध, शुद्ध और मिश्र प्रमाताओं के क्रम के आधार पर यहाँ सकल, विज्ञान-

मलमात्रेण संच्छन्नः[1] पशुर्विज्ञानकेवलः ।
सुपक्वमलविज्ञानकेवलः स स्वयं प्रिये ॥
[2]सुतीव्रशक्तिपातेन कुरुते [3]तान् स केवलान् । इति ।

मिश्राः प्रमातारः पुर्यष्टकसूक्ष्मशरीरमात्रसंबद्धाः प्रारब्धकर्मानुभवार्थमनेकयोनिषु संभूय तत्तत्कर्म[4]फलानुभवेन कर्मद्वयसाम्ये सति सुपक्वमलकर्माणो गुरुं विनाऽपि[5] शिवानुग्रहशालिनः क्रियाज्ञानसाधारणाः प्रलयाकलाः पशवः । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

मिश्राः प्रमातृरूपाः स्युः प्रलयाकलसंज्ञकाः ।
पुर्यष्टकशरीराश्च स्वस्वकर्मवशात् प्रिये ॥

जो केवल आणव मल से घिरा हुआ है, ऐसे पशु को विज्ञानकेवल कहते हैं । मायीय और कार्म मल के परिपक्व हो जाने से यह विज्ञानकेवल अपने को शिव से अभिन्न मानने लगता है । हे प्रिये ! भगवान् शिव स्वयं हो ऐसे व्यक्तियों को [1]तीव्रतम शक्तिपात के द्वारा इस तरह की केवलता प्रदान करते हैं ॥

मिश्र प्रमाता वे हैं, जो कि [2]पुर्यष्टक के नाम से प्रसिद्ध सूक्ष्मशरीर से संबद्ध हैं । अपने प्रारब्ध कर्मों के फलों का उपभोग करने के लिये अनेक योनियों में जन्म लेकर इन्होंने अन्ततः अपने अनुभव के आधार पर शुभ और अशुभ कर्मों में समता दृष्टि प्राप्त कर ली है और इस तरह से इनका कार्म मल पूर्ण परिपक्व हो गया है । बिना गुरु के भी इनके ऊपर शिव का अनुग्रह हो जाता है और ऐसे व्यक्ति कर्म और ज्ञान में कोई भेद नहीं देखते । इनको प्रलयाकल पशु कहा जाता है । इनका स्वच्छन्दसंग्रह में इस तरह का वर्णन है—

मिश्र स्वरूप वाले प्रमाता प्रलयाकल कहलाते हैं । पुर्यष्टक नाम से वर्णित सूक्ष्मशरीर मात्र से ये संबद्ध रहते हैं । हे प्रिये ! अपने-अपने कर्मों के कारण ये अनेक योनियों में जन्म

१. संबद्धः–क. ख. । २. स्वतीव्र–ख. ने. झ. उ । ३. ज्ञांश्च–उ. । ४. 'फल' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. 'अपि' नास्ति–ख. ज. झ. ।

केवल और प्रलयाकल यह क्रम दिया गया है । वस्तुतः सकल, प्रलयाकल, विज्ञानकेवल यही क्रम शास्त्रसंमत है ।

1. तन्त्रसार (पृ० ११९-१२०), तन्त्रालोक (१३।२११-२५४) आदि में प्रथमतः मृदु, मध्य और तीव्र के भेद से तीन प्रकार का तथा इनमें से प्रत्येक के तीन भेद कर नौ प्रकार का शक्तिपात वर्णित है । तीव्रतीव्र शक्तिपात को ही यहाँ तीव्रतम शक्तिपात कहा गया है ।

2. पुर्यष्टक शब्द की संक्षिप्त और विस्तृत व्याख्या के लिये क्रमशः विज्ञानभैरव (पृ० ५३-५४) की तथा लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ० १३२-१३३) की टिप्पणियाँ देखिये ।

सर्वयोनिषु संभूय[1] भोगार्थं स्वस्वकर्मणाम् ।
भुक्त्वा भोगानि तेषां तु कर्मसाम्ये शिवः स्वयम् ॥
सुपक्वमलकर्माणस्तान् किञ्चिदनुगृह्य च ।
जलतत्त्वादितत्त्वानां मध्ये लोकेश्वरास्त्रिधा ॥ इति ।

[2]तेषां त्रिविधानां प्रमातृणाम् । वपुः स्वरूपम् । परमन्यत् । क्रोधीशत्रितयेन श्रीकण्ठन्यासपरिपाट्या क्रोधीशः ककारः, तेषां त्रितयेन । विद्यास्थेन बीजत्रितयस्थेन । प्रकाश्यते व्यज्यते । कोऽर्थः ? बीजत्रयगतककारत्रयेण सकल-विज्ञान-

लेते हैं और अपने अपने कर्मों का फल भोगते हैं । भोगों का उपभोग पूरा हो जाने पर इनके शुभ और [1]अशुभ कर्म एकसे हो जाते हैं । उस समय भगवान् शिव स्वयं ही इनके ऊपर अनुग्रह करते हैं, क्योंकि इनका कार्म मल पूर्ण परिपक्व हो जाता है । ये तीनों प्रमाता [2]जल, तेज और वायु नामक तीन तत्त्वों के अधिपति बन जाते हैं ॥

इन त्रिविध प्रमाताओं का उत्कृष्ट स्वरूप, दीक्षा के बाद उत्पन्न हुआ वागीश्वरी देह, विद्यागत तीन ककार वर्णों से लक्षित होता है । [3]श्रीकण्ठ न्यास की पद्धति से क्रोधीश ककार का सूचक है । विद्या में तीन क्रोधीश (ककार) हैं । विद्यास्थित इन तीन बीजों से

१. संप्राप्य भोगार्थं–ख. ने. ज. उ. । २. एषां–ख. ने. उ., एवंविधानां–ज. ।

1. शुभ और अशुभ कर्मों की समान स्थिति को शैव शास्त्रों में कर्मसाम्य नाम दिया गया है । इसके लिये लुप्ता. द्वि. के उपोद्घात (पृ० १५६-१५७) की टिप्पणी देखिये ।

2. अभी पृ० १३८-१३९ की टिप्पणी में जल से प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों में जलतत्त्व की, पुरुष से मायान्त तत्त्वों में तेजस्तत्त्व की तथा ऊपर के तीन तत्त्वों में वायु तत्त्व की स्थिति बताई गई है । तदनुसार दीक्षाप्राप्त सकल जीव प्रकृत्यण्ड का और प्रलयाकल मायाण्ड का अधिपति बन जाता है । विज्ञानकेवल महामाया के साम्राज्य में पहुँच जाता है । सकल प्रमाता तीनों मलों से घिरा हुआ है । प्रलयाकल का कार्म मल परिपक्व हो जाता है और विज्ञानकेवल के मायीय और कार्म दोनों मल । इसका आणव मल बना रहता है । मलों की इस स्थिति के आधार पर भी सकल, प्रलयाकल और विज्ञानकेवल यही क्रम सिद्ध होता है ।

3. प्रपंचसार (३।३९-४४) में श्रीकण्ठ से संवर्त पर्यन्त पचास नाम दिये गये हैं । ये अकार से क्षकार पर्यन्त पचास वर्णों के सूचक हैं । मन्त्रोद्धार के प्रसंग में अकार आदि वर्णों का प्रयोग न कर श्रीकण्ठ आदि पदों का ही प्रायः शास्त्रों में उल्लेख रहता है । इस तरह से अकार से क्षकार पर्यन्त मातृका (वर्णमाला) के न्यास को ही यहाँ दीपिकाकार ने श्रीकण्ठ न्यास के नाम से स्मरण किया है । तदनुसार क्रोधीश पद ककार का सूचक है ।

केवल-प्रलयाकलाख्यत्रिविधपशुरूपाऽशुद्ध-शुद्ध-मिश्रप्रमातृत्रयस्वरूपं व्यज्यत इत्यर्थः ॥४३॥

पूर्वं विद्यास्थककाधीशत्रितयेन प्रमातृत्रयं लक्षयित्वेदानीं विद्यास्थश्रीकण्ठद्वादश-मध्ये आद्यदशकेनाव्यक्तम्, अनन्तरेण प्राणम्, चरमेणेशं च लक्षयति—

श्रीकण्ठदशकं तद्वदव्यक्तस्य हि वाचकम् ।
प्राणरूपेः स्थितो देवि तद्वदेकादशः परः ॥४४॥

श्रीकण्ठदशकं हृल्लेखात्रयवर्जितहकारादिद्वादशाक्षरोपरिगतानामकाराणां मध्ये श्रीकण्ठदशकम्, श्रीकण्ठा अकाराः, तेषां दशकम् । अव्यक्तो [3]जीवोऽनादि-मलसंच्छन्नतया स्वशिवत्वापरिज्ञानकारणेन्द्रियादिजडवर्गान्तःपातितया विन्यस्तः। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

अनादिमलसंच्छन्नो मायाकर्मावृतोऽविभुः ।
शरीरी शिवतत्त्वाज्ञो[4] भेदैकरसिको लघुः ।। इति ।

त्रिविध प्रमाताओं का दीक्षा परिशुद्ध स्वरूप लक्षित होता है । इसका भाव यह है कि विद्या के तीन बीजों में विद्यमान तीन ककारों से सकल, विज्ञानकेवल और प्रलयाकल नामक अशुद्ध, शुद्ध और मिश्र नामक तीन प्रमाताओं का स्वरूप व्यक्त होता है ॥४३॥

विद्यास्थित तीन ककारों से तीन प्रमाताओं को लक्षित करने के बाद अब विद्यास्थित बारह श्रीकण्ठ (अकार) अक्षरों में से प्रथम दस में अव्यक्त को, ग्यारहवें में प्राण और बारहवें श्रीकण्ठ में ईश की भावना बताते हैं—

विद्यागत दस श्रीकण्ठ (अकार) वर्ण परशिव के समान अव्यक्त जीव के भी वाचक हैं । हे देवि ! ग्यारहवाँ श्रीकण्ठ प्राणरूप है और बारहवाँ परपुरुष स्वरूप है ॥४४॥

तीन हृल्लेखाओं को छोड़कर हकार आदि बारह अक्षरों के आगे बारह अकार विद्या में विद्यमान हैं । इनमें से दस श्रीकण्ठ (अकार) अव्यक्त जीव के वाचक हैं । अनादि मल से घिरा हुआ जीव अपने शिवत्व को पहचान न पाने के कारण यहाँ अव्यक्त के नाम से कहा गया है, क्योंकि वह इन्द्रिय आदि जड़ पदार्थों के अधीन होकर स्वयं भी जड़सदृश हो गया है । स्वच्छन्दसंग्रह के एक श्लोक में इसका स्वरूप बताया गया है । इसका अर्थ

---

१. भूतः—ख. ग. ने. च. छ. ज. झ. । २. इतः परम्—'परो द्वादशकस्तद्वत् पुरुषस्य च वाचकः' इति श्लोकार्धं उमातृकायां दृश्यते । ३. जीवः करणेन्द्रियसंच्छन्नतया स्वशिवत्वं जडवर्गान्तःपातितया च केवलचिन्मात्रतया न मन्यते, अनादिमलसंच्छन्नतया स्वशिवत्वा-परिज्ञानात् । तदुक्तं—क. ग. । ४. तत्त्वज्ञो—झ. ।

तस्य वाचकम् । "अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः" इति संकेतपद्ध-त्युक्तरीत्याऽकारवाच्यः परमशिवः, परमशिवांशत्वात् । तद्वत् परशिववत् । यथा परमशिवोऽकारवाच्यः, तथा तदंशभूतो जीवोऽप्यकारदशकेनोच्यत इत्यर्थः । तद्वद् जीववत् । यथा शिवांशो जीवः परमशिववाचकश्रीकण्ठेन लक्ष्यते, तद्वद् जीववत् एकादशश्च श्रीकण्ठो जीवाधारभूतप्राणरूपः स्थितः । प्राणो हि जीवस्याधारः, प्राणेन विना जीवस्यानवस्थानात् । परः परो द्वादशः श्रीकण्ठः पुरुषस्य वाचकः, विश्वस्य पूरणात् परमशिवः पुरुषः । तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायाम्—

विश्वसद्मनि [2]चिदात्मनीश्वरे पूरणात् पुरुषतामुपेयुषि ।
ये मनः प्रणिदधुर्महर्षयस्तान् पतञ्जलिमुखानुपास्महे ॥९॥ इति ।

श्रुतिरपि—"पुरुष एवेदं सर्वम्" (ऋ०१०।९०।२) इति ॥ ४४ ॥

ननु श्रीकण्ठद्वादशकं विद्यायां विद्यते, एकेन शिवः कथ्यते, एकेन जीवः, एकेन प्राण इति त्रिभिरेवालम्, किमन्यैरित्यत आह—

एकः सन्नेव पुरुषो बहुधा जायते हि सः ।

हम अभी अशुद्ध (सकल) प्रमाता के प्रसंग में कर चुके हैं । संकेतपद्धति के प्रमाण से सभी वर्णों का आदिभूत अकार प्रकाशात्मक परमशिव का वाचक है । जैसे यह प्रकाशात्मक परमशिव का वाचक है, उसी तरह से उसके अंशभूत जीव को भी यह बोधित करता है और जैसे शिवांश जीव परमशिव के वाचक श्रीकण्ठ से लक्षित होता है, उसी तरह से ग्यारहवें श्रीकण्ठ से जीवन का आधारभूत प्राण भी लक्षित होता है । इस जीवात्मा का आधार प्राण ही है । प्राण के बिना जीव जीवित नहीं रह सकता । इसके आगे का बारहवाँ श्रीकण्ठ पुरुष का वाचक है । यह पुरुष विश्व का पूरण करने वाला परमशिव है । चिद्गगनचन्द्रिका में यह वर्णित है—

चिदात्मा परमेश्वर जब इस विश्वरूपी घर में अपने को पूरित कर देता है, तो वह (विराट्) पुरुष का स्वरूप धारण कर लेता है । ऐसे पुरुष में जिन्होंने अपने चित्त को समाहित कर दिया है, उन [1]पतंजलि प्रभृति को हम प्रणाम करते हैं ॥

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भी कहा गया है—"यह पुरुष ही सब कुछ है" ॥४४॥

यहाँ शंका उठती है कि विद्या में १२ श्रीकण्ठ हैं । इनमें से एक से शिव, दूसरे से जीव और तीसरे से प्राण का बोध हो जायेगा, ऐसी स्थिति में बाकी के श्रीकण्ठों का क्या प्रयोजन है ? इसी का समाधान करते हैं—

पुरुष तो एक ही है, किन्तु वह अनेक रूपों में उत्पन्न होता रहता है, अनेक स्वरूप धारण करता रहता है ॥

---

१. कारेणोच्यते—ख. ने. ज. झ. उ. । २. शिवात्प—ख. ने. ज. झ. उ., सदात्म—मु. ।

1. पातंजल योगसूत्र के "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" और "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (१।२३-२४) इन दो सूत्रों की ओर यहाँ इंगित किया गया है ।

सत्यमेकेन शिव[1] उच्यते, द्वाभ्यां जीवप्राणौ, तथापि स एकः सन्नेव "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (त्रि० म० ना० ३।३), "सच्च त्यच्चाभवत्" (तै० उ० २।६) इत्युपनिषदुक्तरीत्या सद्रूप[2]एको हि पुरुषो बहुधा जायते। हिशब्दः प्रसिद्धौ। [3]अपि चास्मिन्नर्थे प्रमाणम्—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (ऋ० ४।७।३३) इति।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ (ब्र० वि० उ० ११)

इति रीत्या[4] सत्यमेक एव[5] शिवो भवति, [6]तथापि जीवप्राणात्मना [7]बहुधा भिन्न इतीममर्थं द्योतयितुं विद्यायां बहवः श्रीकण्ठाः स्थिता इत्यर्थः॥

अक्षराणां वासनामुक्त्वा बिन्दूनां नादादीनां च वासनामाह—

रुद्रेश्वरसदेशाख्या देवता मितविग्रहाः॥४५॥
बिन्दुत्रयेण कथिता अमितामितविग्रहाः।
शान्तिः शक्तिश्च शम्भुश्च नादत्रितयबोधनाः॥४६॥

यह शंका ठीक ही है कि एक से पुरुष और बाकी दो अकारों से जीव और प्राण का बोध हो सकता है, किन्तु एक ही सद्रूप पुरुष अनेक रूपों में प्रकट होता रहता है, यह बात अनेक श्रुतियों में वर्णित है और लोक में भी प्रसिद्ध है। महानारायणोपनिषद् कहती है कि "ब्रह्म एक ही है, दूसरा कोई नहीं है"। तैत्तिरीयोपनिषद् का कहना है—"वह ब्रह्म मूर्त और अमूर्त स्वरूप में अभिव्यक्त होता है"। ऋग्वेद का कहना है—"परमैश्वर्य संपन्न ईश्वर अपनी माया शक्ति के सहारे अनेक रूप धारण कर लेता है"। ब्रह्मबिन्दूपनिषद् का कहना है—"एक अकेला ही भूतात्मा प्रत्येक प्राणी में विराजमान है। जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब के समान यह एक और अनेक रूपों में भासित होता रहता है"। इन प्रमाणों के आधार पर जैसे यह सही है कि शिव एक ही है, उसी तरह से यह भी ठीक ही है कि वह जीव, प्राण आदि के रूप में बहुधा भिन्न भी दिखाई पड़ता है। इसी अर्थ को बताने के लिये विद्या में अनेक श्रीकण्ठ (अकार) वर्णों की स्थिति है॥

अक्षरों की वासना को बताने के बाद अब बिन्दु और नाद की भावना का प्रकार बताते हैं—

परिच्छिन्न स्वरूप वाले रुद्र, ईश्वर और सदाशिव की वासना विद्यागत तीन बिन्दुओं में की जाती है और अनन्त अपरिच्छिन्न स्वरूप वाले शान्ति, शक्ति और शिव की वासना तीन नादों में की जाती है॥४५-४६॥

१. पुरुषः कथ्यते–ख. ग. ने. ज. झ. उ.। २. एकोऽपि–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. 'अपि च' नास्ति–क. ज. झ. उ.। ४. 'रीत्या' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. 'एव' नास्ति–ख. ने. ज. उ.। ६. 'तथापि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ७. 'बहुधा' नास्ति–ख. ने. ज. उ.।

रुद्रस्तेजस्तत्त्वाधिपतिः। तेजस्तत्त्वान्तर्भूतं पुरुषरागविद्यानियतिकालकलामायान्तम्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—"पुरुषादिकमायान्तं तेजस्तत्त्वं महेश्वरि" इति। [1]शुद्धविद्येश्वरसदाशिवा वायुतत्त्वात्मकाः। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—"विद्या चेश्वरसादाख्यौ वायुतत्त्वं समीरितम्" इति। अतो रुद्रेश्वरसदेशाख्या देवता मितविग्रहाः परिच्छिन्नरूपाः। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—"यत् सदाशिवपर्यन्तं विनाशोत्पत्तिसंयुतम्" इति। बिन्दुत्रयेण कथिताः। बिन्दुत्रयं त्रिबीजशिखरवर्तिकामकलोर्ध्वगतानां बिन्दूनां त्रितयम्। अमितामितविग्रहाः शान्तिः शक्तिश्च शम्भुश्च नादत्रितयबोधनाः। शान्तिरव्यक्तध्वनिलक्षणो नादोऽखिलं जगदधरीकृत्य यत्र लयमेति सा ब्रह्मरन्ध्रावसानभूमिः, ऊर्ध्वशक्तीनां प्रशान्तिस्थानहेतुत्वात्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

नाड्याधारस्तु [2]नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत्।
अधःशक्त्या [3]विनिर्गत्य ऊर्ध्वशक्त्यवसानकः॥

यहाँ रुद्र तेजस्तत्त्व का अधिपति है। इस तत्त्व में पुरुष, राग, विद्या, नियति, काल, कला और माया ये सात तत्त्व अन्तर्भूत हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—"हे महेश्वरि! पुरुष से माया पर्यन्त तत्त्व तेजस्तत्त्व का विस्तार है"। शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव वायुतत्त्वात्मक हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में इसका भी प्रतिपादन है—"विद्या, ईश्वर और सादाख्य तत्त्व वायुतत्त्वात्मक हैं"। तेजस्तत्त्व और वायुतत्त्व के अन्तर्गत होने से रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक देवता परिच्छिन्न स्वरूप वाले हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—"सदाशिव पर्यन्त सभी तत्त्व उत्पत्तिविनाशशील हैं"। इनका बोध विद्यागत तीन बिन्दुओं से कराया गया है। ये तीन बिन्दु तीनों बीजों के शिखर पर विराजमान कामकला के ऊपर स्थित हैं। अनन्त अपरिच्छिन्न स्वरूप वाले शान्ति, शक्ति और शम्भु का बोध तीन नादों से होता है। अव्यक्त ध्वनिस्वरूप नाद समस्त जगत् को लांघ कर जहाँ लीन होता है, वह ब्रह्मरन्ध्र की अवसानभूमि यहाँ [1]शान्ति के नाम से कही गई है, क्योंकि ऊपर की सभी शक्तियाँ यहाँ पूर्ण शान्ति (विश्राम) का अनुभव करती हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में यह इस तरह से वर्णित है—

नाडियों के सहारे उठने वाला नाद इस सारे जगत् को भेद कर आधार शक्ति से निकल कर ऊपर सहस्रदल कमल में स्थित शक्ति में लीन हो जाता है। अव्यक्त ध्वनि

१. ईश्वरसदाशिवौ वायुतत्त्वात्मकौ–ख. ने. ज. झ. उ.। २. नादान्तो–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. विनिर्भिद्य–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. ब्रह्मरन्ध्र की अवसान भूमि में स्थित शान्ति नामक नाडी की चर्चा अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। इस प्रसंग में भास्करराय की शान्ति पद की ब्रह्मपरक व्याख्या सम्प्रदाय सम्मत नहीं जान पड़ती।

[1]नाड्यां ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिलक्षणः । इति ।

शक्तिरूर्ध्वशक्तिः, उपरिगतं शक्तितत्त्वम् । तदुक्तमत्रैव—

ब्रह्माणी त्वपरा शक्तिर्ब्रह्मणोत्सङ्गगामिनो ।
द्वारं सा मोक्षमार्गस्य रोधयित्वा व्यवस्थिता ।।
तां भित्त्वा तु वरारोहे ऊर्ध्वशक्तिं परां शिवाम् ।
शक्तितत्त्वात्मिकां देवीं प्रसुप्तभुजगाकृतिम् ।।
शक्तितत्त्वं समाख्यातं भुवनैरावृतं महत् । इति ।

शम्भुः[2] शिवतत्त्वं शक्तितत्त्वोपरि स्थितम् । तदुक्तमत्रैव—"शिवतत्त्वं समाख्यातं तदूर्ध्वं शक्तितत्त्वतः" इति । अमितामितविग्रहाः । एतेऽनन्ता अपरिच्छिन्नरूपाः, व्योमतत्त्वान्तर्गतत्वात् । तदुक्तमत्रैव—"[3]शक्तितत्त्वं शिवो व्योम" इति । नादत्रितयबोधनाः । वाग्भवकामराजशक्तिबीजोपरिगतबिन्दुत्रयोपरिगतरोधिनीत्रितयोर्ध्व[4]गतानां नादानां त्रयमेषां क्रमेण बोधकं लक्षकम्, तेन नादत्रितयबोधनाः । वाग्भवबीजोपरिगतबिन्दूपरिवर्तिना नादेन शान्तिः, कामराजबीज-

वाला यह नाद ब्रह्मबिल (ब्रह्मरन्ध्र) में स्थित नाडी (शान्ति) में लीन हो जाता है ।।

शक्ति का अर्थ है ऊर्ध्वशक्ति, ऊपर स्थित सहस्रदल कमल में विद्यमान शक्ति । इसका भी वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह में मिलता है—

ब्रह्मा की गोद में बैठी ब्रह्माणी अपरा शक्ति मानी जाती है । यह मोक्ष के मार्ग के द्वार को रोक कर बैठी रहती है । हे वरारोहे ! इस शक्ति को भेद कर ऊर्ध्वशक्ति के पास पहुँचना चाहिये । यह परा शक्ति सोये हुए सर्प की सी आकृति वाली है । इसी को शक्तितत्त्व भी कहते हैं । यह शक्तितत्त्व अनेकों भुवनों से आवृत है । यह महान् विस्तार वाला है ।।

शम्भु का अर्थ है शिवतत्त्व । यह शक्तितत्त्व के ऊपर स्थित है । इसका भी वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह में है—"इसको शिवतत्त्व कहते हैं । यह शक्तितत्त्व से ऊपर है" । शान्ति, शक्ति और शम्भु ये तीनों अपरिमित अनन्त स्वरूपों वाले हैं, क्योंकि इनका अन्तर्भाव व्योमतत्त्व में बताया गया है । जैसा कि स्वच्छन्दसंग्रह में कहा गया है—"शक्तितत्त्व और शिवतत्त्व व्योममय (आकाशमय) हैं" । इन तीनों का स्वरूप तीन नादों से बोधित होता है । वाग्भव, कामराज और शक्ति बीज के ऊपर तीन बिन्दु हैं । इन तीनों के ऊपर, तीनों रोधिनी कलाओं के ऊपर, तीन नाद स्थित हैं । ये तीन नाद ही इनके बोधक हैं । इनमें

१. नाड्या–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. शम्भुः शिवः–ख. ज. झ. उ. । ३. शिव–ख. ने. । ४. भागगतानां–ख. ने. ज. झ. उ. ।

शिखरवर्तिना नादेन शक्तिः, तार्तीयबीजशिखरवर्तिना नादेन च शिवो व्यज्यत इत्यर्थः ।।४५-४६।।

पूर्वं विद्याया बिन्दुनादमयवासनामुक्त्वेदानीं सर्वमन्त्रमयवासनामपि सोदाहरणामाह—

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः ।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः ।।४७।।

"वागुरा मृगबन्धनी" (अ० को० २।१०।२६) । अत्र तु वागुराशब्देन मत्स्यग्रहणहेतुर्जालं लक्ष्यते, प्राणिग्रहणसामान्यात् । अन्यथा मूलवलये [1]सूत्राद्या इत्यनुपपन्नं स्यात्, मृगबन्धन्या मूलवलयस्याभावात्, रज्जुनिर्मितत्वात् सूत्रादीनामप्यभावात् । सूत्राद्याः सूत्राणि तन्तवः, आद्यशब्दाज्जालप्रान्ते आयसगुलिकाः प्रोता गृह्यन्ते । यथा लोहमये वलये जालावयवानां तन्तूनां मूलं कवलितम्, तथा समस्तमन्त्राणां मूलभूता[2] वैखर्यपि विद्यायामस्यां विश्रान्ता । अतोऽत्र विद्यायां समस्तमन्त्राः स्थिता इत्यर्थः ।।४७।।

से वाग्भव बीज के ऊपर स्थित बिन्दु के ऊपर विद्यमान नाद शान्ति का, कामराज बीज का शिखरवर्ती नाद शक्ति का तथा तृतीय बीज का शिखरवर्ती नाद शिव का व्यंजक है ।।४५-४६।।

विद्यागत बिन्दु और नाद की वासना को बताने के बाद अब उदाहरण के साथ यह बताया जा रहा है कि इसी विद्या में सारे मन्त्र प्रतिष्ठित हैं—

वागुरा (जाल) के मूलवलय में जैसे सूत्र आदि जुड़े हुए हैं, उसी तरह से समस्त मन्त्र इस विद्या में स्थित हैं ।।४७।।

अमरकोश के अनुसार पशुओं को फँसाने वाले जाल को वागुरा कहते हैं । प्रस्तुत रूपक में इस शब्द का प्रयोग मछली पकड़ने वाले जाल के लिये किया गया है । प्राणियों को फँसाना दोनों का सामान्य धर्म है । ये प्राणी स्थलचर, नभचर अथवा जलचर भी हो सकते हैं । मूलवलय और सूत्र इन दो शब्दों की सार्थकता के लिये यहाँ वागुरा शब्द का अर्थ मछली पकड़ने वाला जाल किया जायगा, क्योंकि पशुओं को फँसाने वाले जाल में मूलवलय नहीं होता । वह रस्सी से बना रहता है, इसलिये उसमें सूत्र भी नहीं रहते । सूत्र शब्द का अर्थ महीन धागा होता है । आद्य शब्द से जाल के किनारे पिरोई गई लोहे की गोलियाँ गृहीत होती हैं । जैसे लोहे के कड़े में जाल के धागे बँधे रहते हैं, उसी तरह से समस्त मन्त्रों की जननो वैखरी वाणो इस विद्या में जुड़ी हुई है । अतः इस विद्या में समस्त मन्त्र विद्यमान हैं ।।४७।।

१. 'सूत्राद्या' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. भूतायां वैखरीवि–ख. ने. ज. झ. उ. ।

गुरूपदेशक्रमेणायमर्थः संप्राप्यत इत्याह—

गुरुक्रमेण संप्राप्तः सम्प्रदायार्थ ईरितः ।

गुरुक्रमः पारम्पर्यक्रमः, तदुपदेशक्रमेणैव

शिवादिविग्रहात् पूर्णात् सर्वकारणकारणात् ।
ध्वनिरूपं परं सूक्ष्मं शुद्धं सकलतेजसाम् ॥
वाग्रूपं प्रसृतं तत्त्वमुन्मनाशक्तिकेवलम् ।
अव्यक्तं व्यक्तरूपेण निष्कलं क्रमकारणम् ॥
परानन्दस्वरूपं तत् स्वच्छन्दादिप्रभेदतः ।
अनुष्टुप्छन्दसा बद्ध्वा प्राह स्वच्छन्दभैरवः ॥
तद्विमृश्य प्रपञ्चेन प्रोवाचानाश्रितेश्वरः ।
तत्सर्वं शान्त्यतीतांशे कथितं बहुविस्तरम् ॥

अब भगवान् शिव बताते हैं कि इस विषय का ज्ञान गुरु-परम्परा से ही प्राप्त हो सकता है—

गुरुओं की सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त इस अर्थ को सम्प्रदायार्थ के नाम से कहा जाता है ॥

गुरु क्रम से, अर्थात् गुरु-परम्परा के क्रम से, एक गुरु के द्वारा दूसरे के कान में उपदिष्ट ज्ञान की परम्परा से ही इस सम्प्रदायार्थ का ज्ञान हो सकता है। स्वच्छन्दभैरव में यह गुरु-परम्परा इस तरह से वर्णित है—

सभी कारणों के कारण परिपूर्ण स्वरूप शिव से, जो कि शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों का स्वरूप धारण करते हैं, सभी प्रकाशात्मक पदार्थों के भी प्रकाशक, शुद्ध शब्दब्रह्म स्वरूप, परम सूक्ष्म ध्वनिरूप, परा वाणीमय तत्त्व का प्रसार होता है। प्रथमतः इसकी स्थिति उन्मना में ही रहती है। यह अव्यक्त अवस्था में स्थित ज्ञान क्रमशः व्यक्त होता है, निष्कलावस्था से निकल कर यह कालकृत क्रम को अभिव्यक्त करता है। परम आनन्द की अभिव्यक्ति का साधन यह ज्ञान स्वयं भी परमानन्द स्वरूप है। स्वच्छन्दभैरव [1]स्वच्छन्द आदि शास्त्रों के रूप में अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध कर इस ज्ञान का उपदेश करते हैं। इसको भलीभाँति समझ कर अनाश्रित शिव अपनी शान्त्यतीत कला को इस सारे ज्ञान का विस्तार से उपदेश देते हैं। इसी ज्ञान को अपने पर

1. स्वच्छन्द आदि ६४ भैरव तन्त्रों के नाम तन्त्रालोक की जयरथ निर्मित विवेक नामक टीका (भा० १, पृ० ४२-४३) में उद्धृत श्रीकण्ठीसंहिता में मिलते हैं। वैरोचन शिवाचार्य के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२।११६-१२०) में केवल ३२ भैरवागमों के ही नाम हैं। वहाँ भी पहला नाम स्वच्छन्द ही है।

तदेतत् पररूपेण सदाख्येन शिवेन तु ।
मन्त्रसिंहासनस्थेन पञ्चमन्त्रशरीरिणा ॥
[1]कौलिकादिषु सिद्धान्तपूर्वाद्यखिलमागमम् ।
साधनं पुरुषार्थस्य कौलिकं चातिकौलिकम् ॥
असंख्यमप्रमेयं च शिवेन कथितं पुरा ।
तज्ज्ञानमीश्वरे दत्तमीश्वरेण शिवेच्छया ॥
विद्यायामादितो दत्तं विद्येशाय च तत्त्वतः ।
विद्येश्वरेण दत्तं तज्ज्ञानं नियमितं क्रमात् ॥
दत्तं रुद्रेभ्य एतच्च गुणतत्त्वेश्वराय च ।
श्रीकण्ठायेश्वरेणैव दत्तं तेन ततः परम् ॥
श्रीकण्ठेन [2]प्रधानादिदशरुद्रान्तिकं क्रमात् ।
दीक्षयित्वा विधानेन दत्तं वै ज्ञानमम्बिके ॥
दीक्षयित्वाऽभिषिच्याथ श्रीकण्ठेन मयाऽपि च ।
दत्तं श्रीदक्षिणं [3]सर्वं सर्वकामार्थसाधनम् ॥

रूप में स्थित मन्त्ररूपी सिंहासन पर विराजमान पंचमन्त्रतनु सदाशिव सिद्धान्त, पूर्व, कौलिक आदि विभागों में विभक्त कर समस्त शास्त्रों का उपदेश करते हैं, जो कि समस्त पुरुषार्थों के साधक हैं। कौलिक, अतिकौलिक आदि असंख्य भेदों में विभक्त इस अद्भुत ज्ञान का उपदेश पहले शिव ने ईश्वर को किया था। शिव की इच्छा से प्रेरित ईश्वर ने इस ज्ञान का उपदेश सारे रहस्य को समझाते हुए शुद्धविद्या और विद्येशों को किया। विद्येश्वरों ने गुरु-परम्परा से प्राप्त इस नियमित ज्ञान को रुद्रों को और गुणतत्त्वों के ईश्वरों को दिया। ईश्वर ने यह ज्ञान श्रीकण्ठ को दिया और तब श्रीकण्ठ ने प्रधान[1] आदि दस रुद्रों के पास क्रम से इस ज्ञान को पहुँचाया। हे अम्बिके! विधिपूर्वक दीक्षा देने के बाद ही इस ज्ञान का उपदेश किया गया था। श्रीकण्ठ ने और स्वयं मैंने (भैरव) भी दीक्षित और अभिषिक्त शिष्यों को ही सभी कामनाओं और प्रयोजनों की सिद्धि के लिये इस ज्ञान का उपदेश किया है ॥

१. कालिकादिषु–ख. ने. ज. उ.। २. प्रदानादि–ख. ने. ज. उ.। ३. पूर्वं–ने.।

1. अट्ठाईस सिद्धान्त शैवागमों के प्रवर्तक प्रणव आदि दस शिवों तथा अनादि आदि अठारह रुद्रों की नामावली किरणागम (वि० १०।४-२७) में मिलती है। स्वच्छन्दतन्त्र (१०।११९६-११९९) में भी ये नाम मिलते हैं। लगता है प्रणव नाम ही लिपिदोष के कारण यहाँ प्रधान बन गया है। प्रणव शिवभेद के अन्तर्गत है, रुद्रभेद के नहीं।

इति स्वच्छन्दभैरवोक्तरीत्या मयोदितः स्वगुरुपारम्पर्योपदेशक्रमेणैव विषमपदैरसम्प्रदायविद्भिरपरिज्ञातार्थश्लोकैः पूर्वोक्तरीत्या कथितः सम्प्रदायार्थो विना गुरूपदेशं व्युत्पत्तिबलेन पुराणादिश्लोकवद् ग्रहीतुमशक्य इत्यर्थः ॥

अथ क्रमप्राप्तं निगर्भार्थमाह—

निगर्भोऽपि महादेवि शिवगुर्वात्मगोचरः ॥४८॥

निगर्भो[2] निगर्भार्थः । शिवो वाङ्मनसागोचरः सकल-निष्कल-सकलनिष्कल-भेदविशेष्यः, [[3]आत्मादिसकलगुणाभिधस्तादृशमेव स्वात्मतया वीक्षमाणो विदिताखिलागमार्थो गुरुः, तादृशगुरुकरुणाकटाक्षपातविगलितसकलपाशविशद]चिद्रूपानुभवः [4][शिष्य] आत्मा । तदुक्तं [5]स्वच्छन्दसंग्रहे—

इस प्रकार मेरे द्वारा बताई गई गुरु-परम्परा के क्रम से ही यह अर्थ प्राप्त होता है, इसलिये सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त इस अर्थ को सम्प्रदायार्थ कहा जाता है । इस गुरु-परम्परा के बिना निगूढ़ अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग कर रचे गये इन श्लोकों का अर्थ पुराण आदि के श्लोकों की तरह व्याकरण आदि की व्युत्पत्ति के सहारे नहीं लगाया जा सकता ॥

अब क्रमप्राप्त [1]निगर्भार्थ का वर्णन करते हैं—

हे महादेवि ! शिव, गुरु और आत्मा में एकता का अनुसन्धान करना ही निगर्भार्थ कहलाता है ॥४८॥

श्लोक में निगर्भ शब्द से निगर्भार्थ का ग्रहण किया जाता है । वाणी और मन के अगोचर सकल, निष्कल और सकलनिष्कल भेदों वाला परम तत्त्व है शिव । आत्मा[2] आदि समस्त गुणों से अभिहित होने वाला, अपने को इस परम तत्त्व से अभिन्न मानने वाला, उसको अपना ही स्वरूप समझने वाला और समस्त शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला है गुरु । ऐसे गुरु की कृपादृष्टि पड़ने से जिसके सारे पाशजाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं और जिसके ज्ञानचक्षु खुल गये हैं, ऐसा शिष्य यहाँ आत्म-शब्द से अभिहित है । स्वच्छन्दसंग्रह इसमें प्रमाण है—

१. निगर्भार्थो—क. ग. ज. । २. 'निगर्भो' नास्ति—क. ग. ज. । ३. 'आत्मादि···विशद' नास्ति—ख. ग. ज. ब. उ. । ४. 'शिष्य' नास्ति—ख. ग. ने. ज. उ.। ५. महास्व—ख. ग. ने. ज. उ. ।

1. यहाँ ४८ से ५१ श्लोक तक निगर्भार्थ का स्वरूप बताया गया है ।

2. यहाँ दीपिका का सूक्ष्माक्षरों में दिया गया पाठ केवल क. मातृका में मिलता है । गुरु के लक्षण के प्रसंग में दिये गये "आत्मादिसकलगुणाभिधः" इस अंश का अभिप्राय अस्पष्ट सा लगता है ।

तत्त्वातीतं वरारोहे वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
[1]अनिष्कलं चासकलं नीरूपं निर्विकल्पकम् ॥
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम् । इति ।
सर्वविद्याविदाचार्यो मोक्षधर्मपरायणः ।
गुरुवक्त्रप्रयोगेण पशुं तत्रैव योजयेत् ॥ इति ।

गुरुः—
गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृतजगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥

इत्युक्तलक्षणः । एवंविध[2]शिवगुर्वात्मैक्यगोचरानुसन्धानात्मको निगर्भार्थं इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

ननु[3] केन प्रकारेण शिवगुर्वात्मनामैक्यमनुसन्धीयत इत्यत आह—

तत्प्रकारं च देवेशि दिङ्मात्रेण वदामि ते ।
शिवगुर्वात्मनामैक्यानुसन्धानात् तदात्मकम् ॥ ४९ ॥

हे वरारोहे ! यह शिव नामक परम पद तत्त्वातीत है, अतः वाणी और मन का विषय नहीं बन सकता । यह अनिष्कल, असकल, रूपरहित, निर्विकल्पक, निर्द्वन्द्व परम तत्त्व है ॥ मोक्ष की प्राप्ति के लिये धर्म के आचरण में लगे हुए सभी विद्याओं में निष्णात [1]आचार्य को चाहिये कि अपने पशुप्राय शिष्य को भी गुरुमुख से प्राप्त ज्ञान का उपदेश कर परम तत्त्व की तरफ उन्मुख कर दे ॥

गुरु के स्वरूप को बताने वाले श्लोक की व्याख्या पहले (२।२६) की जा चुकी है । इस तरह से शिव, गुरु और आत्मा की एकता की खोज में प्रवृत्त कराने वाला अर्थ ही निगर्भार्थ के नाम से यहाँ प्रतिपादित है ॥४८॥

अब इनकी एकता का अनुसन्धान कैसे किया जा सकता है, इसका प्रकार बताते हैं—

हे देवेशि ! शिव, गुरु और आत्मा की एकता के अनुसन्धान की विधि अब मैं संक्षेप में बता रहा हूँ ॥४९

१. सुनिष्कलं वा सक—ख. ज. झ. उ. । २. विघगुर्वात्मशिष्यपरानु—ख. ने. ज. उ. । ३. 'ननु' नास्ति—ख. ने. ज. उ. ।

1. यहाँ उद्धृत तीन वचनों में से पहले स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में शिव की चर्चा स्पष्ट है । दूसरे वचन में, जिसके आकर के विषय में कोई निश्चित सूचना नहीं है, आचार्य द्वारा अज्ञ जीव के उद्धार की चर्चा है । तीसरा वचन दीपिका में अनेक स्थानों पर अभियुक्तवचन के नाम से उद्धृत है । इसमें गुरु की चर्चा है । यहाँ शिव और गुरु के बाद आत्मा (पशु) की चर्चा आनी चाहिये थी, किन्तु पशु की पराधीनता को दिखाने के लिये यहाँ आचार्य की पृष्ठभूमि में उसकी चर्चा पहले की गई है ।

तत्प्रकारं शिवगुर्वात्मनामैक्यानुसन्धानात्मकम्, दिङ्मात्रेण वदामि न[1] विशेषप्रतिपादनप्रपञ्चेनेत्यर्थः ॥ ४९ ॥

तत्प्रकारमाह—

निष्कलत्वं शिवे बुद्ध्वा तद्रूपत्वं गुरोरपि ।
तन्निरीक्षणसामर्थ्यादात्मनश्च शिवात्मताम् ॥५०॥
भावयेद् भक्तिनम्रः सन् शङ्कोन्मेषाकलङ्कितः ।

कला अवयवाः, तद्रहितत्वं निष्कलत्वं निरवयवत्वम्, शिवे पूर्वोक्तलक्षणे, बुद्ध्वा,

गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृतजगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या निष्कलं [2]निष्कलात्मकं शिवं स्वात्मतया वीक्ष्यमाणस्यैव गुरुत्वाद् गुरोरपि तद्रूपत्वं शिवात्मकत्वं बुद्ध्वा, तन्निरीक्षणसामर्थ्यात्

शिव, गुरु और आत्मा की एकता के अनुसन्धान के प्रकार को अब मैं संक्षेप में बता रहा हूँ । इस विषय का विशेष विस्तार यहाँ नहीं किया जा रहा है ॥४९॥

अब उसकी संक्षिप्त विधि का वर्णन किया जा रहा है—

शिव में निष्कलता को जान लेने के बाद गुरु में भी निष्कलात्मक शिवता को पहचानना चाहिये । इसके बाद गुरु की कृपादृष्टि से प्राप्त ज्ञान के सहारे सभी प्रकार की शंकाओं से मुक्त होकर शिष्य भक्तिश्रद्धापूर्वक अपने में भी शिवता को पहचानने का प्रयत्न करे ॥५०-५१॥

कला का अर्थ है अवयव । कलाओं से जो रहित है, वह है निष्कल, निरवयव । अभी ऊपर जो शिव का स्वरूप बताया गया है । वह निष्कल है, ऐसा जान लेने के बाद किसी अभियुक्त के वचन में, जिसकी व्याख्या पहले (२।२६) की जा चुकी है, बताये गये लक्षणों वाले गुरु में भी निष्कल शिवात्मता की बुद्धि को जगाना चाहिये । निष्कलात्मक शिव को स्वात्मस्वरूप में देखने वाला ही गुरु हो सकता है, अतः इस प्रकार के गुरु में, शिवात्मता की अनुभूति शिष्य के लिये आवश्यक है । इस तरह के शिष्य के विषय में किसी ने कहा है—

१. नाशेषविशेष–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. निखिला–ख. ने. ज. झ. उ. ।

गुरोराज्ञा[1]प्रभावेण केवलं निष्प्रपञ्चकम् ।
निरीक्ष्यैतादृशाद्वैतचिदम्बुधिसुधार्द्रया ॥
यथा विशुद्धः [2]शिष्योऽपि लीयेतानन्दचिद्घनः ।

इत्यादिवाक्योक्तरीत्या [3]तस्य गुरोर्निरीक्षणं निखिलपाशच्छेदनसमर्थम् । तत्सामर्थ्यवशाद् विशुद्धः शिष्यो भक्तिनम्रः प्रत्युत्पन्नपरमशिवाहंभावनावेशः प्रत्यहमादरनैरन्तर्यपटूवभ्यासवशात् शङ्कोन्मेषाकलङ्कितः । शङ्का संकोचः संसारित्वाभिमानः, तस्योन्मेषः पुत्रभार्यादिबाह्यार्थाभिरतिः, तेनाकलङ्कितो विगताहंममताभिमानः, आत्मनश्च शिवात्मतां भावयेत् । जपाकुसुमसामीप्यविगमात् स्फटिकस्य नैर्मल्यमिवात्माद्वैतभावनाभावितगुरुकटाक्षपातपाटितपाशपटलः परिपूर्ण[4]स्वभावः स्यादित्यर्थः ॥ ५०-५१ ॥

गुरु की आज्ञा के प्रभाव से, अर्थात् गुरु की कृपादृष्टि से प्राप्त ज्ञान की सहायता से शिष्य केवल निष्प्रपञ्च स्वात्मस्वरूप को पहचान लेता है । गुरु जब इस तरह की अद्वैत ज्ञानरूपी समुद्र से निकली सुधा (अमृत) के समान करुणा भरी दृष्टि से शिष्य को देखता है, तो सभी प्रकार के मलों से छुटकारा मिल जाने से विशुद्ध स्वभाव वाला शिष्य भी अपने आनन्दमय चिद्घन स्वरूप में लीन हो जाता है ॥

स्पष्ट है कि ऐसे गुरु की कृपादृष्टि सभी प्रकार के पाशों के उन्मूलन में समर्थ है । गुरु के उस सामर्थ्य से विशुद्ध स्वभाव का हुआ शिष्य भक्तिपूर्वक विनम्र भाव से मैं परमशिव स्वरूप ही हूँ, इस प्रकार की अपने में अभिव्यक्त भावना को प्रतिदिन निरन्तर[1] आदरपूर्वक गहरे अभ्यास के द्वारा जगाये रखने में समर्थ होकर शंका के उन्मेष से अस्पृष्ट रह कर स्वयं अपनी भी शिवरूप में भावना करे । शंका का अर्थ है संकोच, अपने को सांसारिक जीव के संकुचित स्वरूप में देखना । जब यह संकोच प्रबल हो जाता है, तो सांसारिक जीव पुत्र, भार्या आदि बाह्य विषयों में अनुरक्त हो जाता है । शिष्य को चाहिये कि वह इस शंका के उन्मेष से अपने को अस्पृष्ट रखे, अहन्ता और ममता के अभिमान को छोड़ दे और अपनी शिवात्मता को भावना को जगावे । जपा पुष्प के हटा लेने पर जैसे स्फटिक निर्मल हो जाता है, उसी तरह अद्वैत भावना के अभ्यास और गुरु की कृपादृष्टि के पड़ने से शिष्य का सारा पाशजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा उसका परिपूर्ण स्वभाव, शिवभाव प्रकाशित हो जाता है । इस प्रकार शिव में, गुरु में और अपने में भी शिवात्मता दृष्टि की भावना का निरन्तर अभ्यास ही निगर्भार्थ कहलाता है ॥५०-५१॥

१. पालनेन–ख. ने. ज. उ. । २. शिष्यस्तु–ने. ज. झ. उ. । ३. 'तस्य' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. स्वभावं पश्येदि–क. ।

1. इस प्रसंग में पातंजल योग दर्शन के—"तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः, स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः" (१।१३-१४) ये दो सूत्र स्मरणीय हैं।

[1]अथ क्रमप्राप्तं कौलिकार्थमाह—

कौलिकं कथयिष्यामि चक्रदेवतयोरपि ॥५१॥

विद्यागुर्वात्मनामैक्यं

कौलिकं कौलि[2]कार्थम्, कथयिष्यामि । चक्रदेवतागुरुविद्यासाधकानामैक्यानुसन्धानं कौलिकार्थं इत्यर्थः । अक्षरार्थः [3]स्फुटः ॥५१॥

तत्प्रकारमाह—

तत्प्रकारः प्रदर्श्यते ।

"तत्प्रकारः प्रदर्श्यते" इत्यादिना "इत्येवं कौलिकार्थस्तु कथितो वीरवन्दिते" (२।६८) इत्यन्तेन ॥ ५२ ॥

[4]आदौ विद्याचक्रयोरैक्यमाह—

लकारैश्चतुरस्राणि वृत्तत्रितयसंयुतम् ॥५२॥

सरोरुहद्वयं शाक्तैरग्नीषोमात्मकं प्रिये ।

हृल्लेखात्रयसंभूतैरक्षरैर्नवसंख्यकैः ॥५३॥

अब क्रमप्राप्त [1]कौलिकार्थ को समझाते हैं—

अब मैं कौलिकार्थ का वर्णन करूँगा । चक्र, देवता, विद्या, गुरु और स्वयं साधक की भी एकता का अनुसन्धान ही कौलिकार्थ है ॥५१॥

कौलिक शब्द यहाँ कौलिकार्थ का ज्ञापक है । इसका अब मैं वर्णन करूँगा। चक्र, देवता, गुरु, विद्या और साधक इन पाँचों में एकता का अनुसन्धान ही कौलिकार्थ है । इन सभी अक्षरों का अर्थ स्पष्ट है ॥५१॥

अब उसकी पद्धति बताते हैं—

चक्र आदि में एकता का अनुसन्धान कैसे किया जाय ? अब इसकी विधि बताते हैं ॥

आगे के ५१-६८ श्लोकों में इसकी विधि बताई गई है ॥

पहले विद्या और चक्र की एकता बताई जा रही है—

विद्यागत लकार बीजों से चतुरस्रों की, शाक्त (सकार) बीजों से वृत्तत्रितय और तदन्तर्गत षोडशदल तथा अष्टदल नामक पद्मों की अभिव्यक्ति होती है । हे प्रिये ! ये दोनों पद्म अग्नीषोमात्मक हैं । तीन हृल्लेखाओं में स्थित तीन-

---

१. अनन्तरं क्रम–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. कार्थ्यम्–झ. । ३. स्पष्टः–ने. ज. झ. । ४. तत्रादौ–ज. ।

1. कौलिकार्थ का निरूपण यहाँ ५१ से ६८ श्लोक पर्यन्त हुआ है ।

बिन्दुत्रययुतैर्जातं नवयोन्यात्मकं प्रिये ।

लकारैः विद्याबीजत्रयगतैः । चतुरस्राणि भूगृहाणि, "पृथिवीमण्डलं पीतं चतुरस्रं सुशोभनम्" इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या भूमण्डलस्य चतुरस्ररूपत्वाद् भूतत्त्ववाचकैर्लकारैश्चतु[1]रस्रत्रयं जातमित्यर्थः । शाक्तैः [[2]सकारैः । तदुक्तं चतुःशतीशास्त्रे—"मादनं तदधः शक्तिः" (१।१११) इति । हंसपारमेश्वरेऽप्युक्तम्—"शिवो हकार इत्युक्तः सकारः शक्तिरव्यया" इति । विद्याबीजत्रयगतैः] सकारैर्वृत्त-[3]त्रितयसंयुतं सरोरुहद्वयम् । चतुरस्रान्तरेण एकं वृत्तम्, तद्वृत्तान्तः षोडशदलं सोमात्मकं पद्मम् । तदन्तश्च द्वितीयं वृत्तम्, तदन्तश्चाष्टदलं पद्ममग्न्यात्मकम् । तदन्तश्च तृतीयं वृत्तम् । एवं वृत्त[3]त्रितयसंयुतमग्नीषोमात्मकं सरोरुहद्वयम् । "जलबिम्बं सुवृत्तं च श्वेतं[4] वै पद्मलाञ्छितम्" इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या जलबिम्बस्य पद्मलाञ्छितवृत्तरूपत्वाज्जलतत्त्ववाचकैः सकारैर्वृत्तत्रयसंयुतं सरोरुहद्वयं जातमित्यर्थः । बीजत्रयशिखरगतहृल्लेखात्रयावयव-

---

तीन, अर्थात् नौ अक्षरों से, जो कि तीन बिन्दुओं से सुशोभित हैं, हे प्रिये ! नौ योनिवाला चक्र निष्पन्न होता है ॥५२-५४॥

विद्या के तीन बीजों में स्थित तीन लकारों से तीन चतुरस्र आकार की रेखाओं वाले भूगृह चक्र की निष्पत्ति होती है । स्वच्छन्दसंग्रह में पृथिवी-मण्डल को सुन्दर चतुरस्र आकार वाला और पीत वर्ण का बताया गया है । भूमण्डल चतुरस्र आकार वाला है, अतः पृथिवी तत्त्व के वाचक तीन लकार अक्षरों से तीन चतुरस्रों की अभिव्यक्ति होती है । [चतुःशती शास्त्र (१।१११) में शक्ति शब्द से सकार का ग्रहण किया गया है, अतः यहाँ भी शाक्त पद का अर्थ सकार हो है । हंसपारमेश्वर तन्त्र में भी शिव को हकार और शक्ति को सकार कहा गया है ।] विद्या के तीन बीजों में तीन सकार हैं । इन सकारों से तीन वृत्तों के साथ दो पद्मों की निष्पत्ति मानी जाती है । चतुरस्र के बाद एक घेरा है । इस वृत्त (गोलाई) में षोडशदल सोमात्मक पद्म स्थित है । इसके बाद दूसरा घेरा है । इसके भीतर अष्टदल वह्न्यात्मक पद्म विद्यमान है। इसके बाद तीसरा घेरा है । इस तरह से तीन वृत्तों से संवलित अग्नीषोमात्मक दो पद्मों की निष्पत्ति विद्यागत तीन सकारों से होती है । स्वच्छन्दसंग्रह में जलबिम्ब को मण्डलाकार श्वेत वर्ण और पद्म से संवलित माना गया है । तदनुसार पद्म से संयुक्त वृत्ताकार जलतत्त्व के वाचक तीन सकारों से वृत्तत्रय से संवलित दो पद्मों की निष्पत्ति हुई है, ऐसी भावना करनी चाहिये । तीन बीजों के शिखर भाग में तीन हृल्लेखाएँ विद्यमान हैं । इन हृल्लेखाओं के अवयवभूत अक्षर हैं हकार, रेफ और ईकार । तीन बीजों की तीन हृल्लेखाओं में मिलकर नौ अक्षर

---

१. रस्रं जात–ख. ने. ज. उ. । २. 'सकारैः····बीजत्रयगतैः' नास्ति–ख. ने. ज. ब. उ. । ३. त्रय–ने. ज. झ. उ. । ४. ज्ञेयं–ख. ने. ज. उ. ।

भूतैरक्षरैर्हंकाररेफेकाराख्यैर्बिन्दुत्रययुतैर्नवसंख्यात्मकैर्नवयोन्यात्मकं चक्रं जातमित्यर्थः ॥५२-५४॥

ननु पद्यद्वयानन्तरं चतुर्दशारदशारद्वयात्मकचक्र[1]त्रयस्य कथने युक्ते [2]किमिति तदुल्लङ्घ्य नवयोनिचक्रं [3]कथितम् ? उच्यते—नवयोनिचक्रस्योपरिष्टात् प्रस्तारे कृते [4]सति तिसृभिः शक्तिभिर्वह्निभिश्च द्विदशचतुर्दशकोणात्मकं चक्रत्रयं जातम्, अतो नवयोनिचक्रानन्तरमेतच्चक्रत्रयं जायत इत्येत मनसि निधायाह—

मण्डलत्रययुक्तं तु चक्रं शक्त्यनलात्मकम् ॥५४॥
व्योमबीजत्रयेणैव प्रमातृत्रितयान्वितम् ।
इच्छाज्ञानक्रियारूप[5]मादनत्रयसंयुतम् ॥५५॥
सदाशिवासनं देवि महाबिन्दुमयं परम् ।
इत्थं [6]मन्त्रात्मकं चक्रं

मण्डलत्रययुक्तं तु [7]वृत्तत्रयान्तर्गतशक्त्यनलात्मकं चक्रम् । नवयोनिचक्रस्योपरिष्टात् प्रस्तारे कृते सति तिसृभिः शक्तिभिरनलैश्च त्रिभिर्निष्पन्नत्वा[8]च्चतु-

हो जाते हैं । तीन बिन्दुओं से संयुक्त इन नौ संख्या के अक्षरों में नवयोनिमय चक्र की निष्पत्ति माननी चाहिये ॥५२-५४॥

यहाँ शंका उठती है कि दो पद्यों के बाद चतुर्दशार, बाह्यदशार और अन्तर्दशार चक्रों की निष्पत्ति होती है, उन्हीं का वर्णन यहाँ पहले होना चाहिये । ऐसा न कर नवयोनिचक्र का वर्णन कैसे कर दिया गया ? इसका समाधान यह है कि नवयोनिचक्र का जब आगे विस्तार होता है, तो उसी में तीन शक्तियों और तीन वह्नियों के मिलने से दो दशारचक्रों तथा चतुर्दशार चक्र की निष्पत्ति होती है, अतः ये तीन चक्र नवयोनिचक्र के बाद ही निष्पन्न होते हैं, इस अभिप्राय की सूचना देने के लिये यहाँ ऐसा कहा गया है—

शक्तित्रिकोण और वह्नित्रिकोण से निष्पन्न तीन मण्डलों (वृत्तों) से अलंकृत चक्र की उत्पत्ति विद्यागत तीन व्योमबीजों (हकार) से होती है । तीन प्रमाताओं से संवलित सदाशिवासन की उत्पत्ति हे देवि ! इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप तीन ककारों से और महाबिन्दु से होती है । इस तरह से यह पूरा चक्र मन्त्रात्मक है ॥५४-५६॥

शक्तित्रिकोण और वह्नित्रिकोण से बना चक्र तीन वृत्तों के अन्तर्गत है, अर्थात् नवयोनिचक्र का जब आगे विस्तार करेंगे तो तीन शक्तित्रिकोणों और तीन वह्नि-

१. त्रितयस्य–क. ग. । २. 'किमिति' नास्ति–क. ग. । ३. कथं कथ्यत इति चेत्–क. ग. । ४. 'सति' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. रूपं–ङ. ज. झ उ. । ६. मन्त्रमयं–ख. ने. च. छ. झ. । ७. 'वृत्त'''चक्रम्' नास्ति–ख. ने. ज. ब. उ. । ८. वाद् द्विदशारचतु–क. ।

र्दशारादिचक्रत्रयं व्योमबीजत्रयेणैव हकारत्रयेणैव, हकारस्य व्योमवाचकत्वात् । हृल्लेखात्रये हकारत्रयं गतम्, शिष्टेन हकारत्रयेण चतुर्दशारादिचक्रत्रयं जातमित्यर्थः ।

प्रमातारस्त्रिविधा[1] उक्तरूपा अशुद्धशुद्धमिश्रात्मानः, तेषां त्रयेणान्वितम् । पश्चात् शिवानुग्रहतो मलकर्मविपाकात् पृथिव्यप्तेजोवाय्वधिपतीनां[2] तेषां त्रयेण व्यष्ट्या[3] समष्ट्या चेदमन्वितं प्राप्तम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

मलादीनामपाके तु सामान्यानुग्रहो भवेत् ।
आधिकारिकमैश्वर्यं शिवानुग्रहमात्रतः ॥
पशवस्त्रिप्रकारास्तु प्राप्नुयुः परमेश्वरि ।
ये[4] पक्वमलकर्माणस्तान् किञ्चिदनुगृह्य च ॥
जलतत्त्वादितत्त्वानां मध्ये लोकेश्वरास्त्रिधा । इति ।

इच्छाज्ञानक्रियाशक्तिप्रधानप्रमातृत्रयरूपाणां त्रयाणां मादनानां ककाराणां त्रयेण संयुक्तं संमिश्रितं सदाशिवासनं पृथिव्यादिवायुतत्त्वान्तचतुस्तत्त्वाधिपतिभि-

त्रिकोणों के मिलने से तीन चक्रों की निष्पत्ति होती है । चतुर्दशार, बाह्यदशार और अन्तर्दशार नामक इन तीन चक्रों की उत्पत्ति तीन व्योमबीजों (हकारों) से होगी । हकार को व्योम (आकाश) का वाचक माना जाता है । तीन हृल्लेखाओं के हकारों के अतिरिक्त विद्यागत बीजों में भी तीन हकार हैं । हृल्लेखागत बीजों से नवयोनि चक्र की निष्पत्ति ऊपर बता दी गई है । अब बचे हुए इन तीन हकारों से चतुर्दशार आदि तीन चक्रों की निष्पत्ति यहाँ बताई गई है ।

अशुद्ध, शुद्ध और मिश्र नामक तीन प्रमाताओं का वर्णन पहले (२।४३) किया जा चुका है । इन तीनों से यह अन्वित (संयुक्त) है । इन तीनों की व्यष्टि और समष्टि को लेकर इनके चार रूप हो जाते हैं । शिव की कृपादृष्टि का उन्मीलन होने के बाद मल और कर्म का परिपाक हो जाने पर ये ही पृथिवी, जल, तेज और वायु तत्त्वों के अधिपति (स्वामी) हो जाते हैं । स्वच्छन्दसंग्रह में यह विषय इस तरह से वर्णित है—

मल आदि का परिपाक न होने पर ईश्वर का अनुग्रह परिपूर्ण नहीं होता । हे परमेश्वरि ! तीनों प्रकार के पशु शिव का अनुग्रह होने पर ही आधिकारिक ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकते हैं । जिनके मल और कर्म परिपक्व हो गये हैं, ऐसे उक्त पशुओं को ईश्वर जल आदि तत्त्वों के मध्य में त्रिविध लोकेश्वरों के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं ॥

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति-प्रधान तीन प्रमाताओं को लक्षित करने वाले तीन मादन (ककार) अक्षरों से संयुक्त सदाशिवासन पृथिवी से वायु तत्त्व पर्यन्त चार तत्त्वों

१. त्रिधा–ख. ने. ज. उ. । २. पतयः–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. व्यष्टिसमष्टितया वा–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. सुपक्व इति प्राक्तनः पाठः ।

ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरैश्चतुर्भिः पादरूपेण धृतं पञ्चमभूताकाशाधिपतिसदाशिवरूपपञ्चमयासनम् । महाबिन्दुमयं परम्,

परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे ।
प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः ॥ (श्लो० ४)

इति कामकलाविलासोक्तरीत्या परशिवप्रतिबिम्बमहाबिन्द्वात्मकं परमुत्कृष्टम्, शिवशक्त्योरधिवासयोग्यत्वात् । तदुक्तं ज्ञानदीपविमर्शिन्याम्—ओड्याणपीठमध्ये कदम्बवनान्तःश्रीमञ्चचतुष्पादके लं[1] पृथिव्यधिपतये ब्रह्मणे नमः, वं अपामधिपतये विष्णवे नमः, रं तेजोऽधिपतये रुद्राय नमः, यं वाय्वधिपतये ईश्वराय नमः । एतानभ्यर्च्य हं आकाशाधिपतये पञ्चवक्त्रसदाशिवमहाप्रेतासनाय नम इति [2]श्रीमञ्चाकारं सदाशिवमभ्यर्च्य'' इति । इत्थमुक्तप्रकारेण मन्त्रात्मकं चक्रं सौभाग्यविद्यामयमित्यर्थः ॥५४-५६॥

के अधिपति ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वररूपी चार पायों पर रखा हुआ है । पंचम भूत आकाश के अधिपति सदाशिव से यह आसन बना हुआ है । यह उत्कृष्ट आसन महाबिन्दुमय है । इस महाबिन्दु के स्वरूप का वर्णन करने वाले 'परशिव' आदि श्लोक की व्याख्या पहले (१।११) की जा चुकी है । परशिव का प्रतिबिम्ब यह महाबिन्दु परम श्रेष्ठ आसन है, क्योंकि शिव और शक्ति के निवास का यह उत्कृष्ट स्थान है । [1]ज्ञानदीपविमर्शिनी में इसका वर्णन मिलता है—''ओड्याण पीठ के मध्य में कदम्ब वन में स्थित चार पायों वाले श्रीमंच में लं बीज से पृथिवीतत्त्व के अधिपति ब्रह्मा को, वं बीज से जलतत्त्व के अधिपति विष्णु को, रं बीज से तेजस्तत्त्व के अधिपति रुद्र को, यं बीज से वायुतत्त्व के अधिपति ईश्वर को नमनपूर्वक प्रतिष्ठित करना चाहिये । इनकी पूजा करने के बाद हं बीज से आकाशतत्त्व के अधिपति पाँच मुँह वाले सदाशिव नामक महाप्रेतासन को नमन कर वहाँ श्रीमंचाकार सदाशिव की पूजा करनी चाहिये'' । इस तरह से चक्र की सौभाग्यविद्या से अभिन्नता होने से चक्र को मन्त्रात्मकता स्पष्ट है ॥५४-५६॥

१. लां वां रां यां हां—इत्येवं पाठः—ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. 'श्रीमञ्चा''' मभ्यर्च्य' इति नास्ति—ख. ज. उ. ।

1. ज्ञानदीपविमर्शिनी नि० षो० की अर्थरत्नावली टीका के कर्ता विद्यानन्द की कृति है । अर्थरत्नावली के बाद उन्होंने इस पद्धति ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके प्रत्येक प्रकरण में अपने प्रतिपाद्य विषय के आन्तर और बाह्य स्वरूपों का एक साथ वर्णन किया गया है । इस ग्रन्थ की बड़ोदा, त्रिवेन्द्रम् तथा उदयपुर से प्राप्त मातृकाएँ हमारे पास हैं । इन तीनों मातृकाओं में संक्षेप और विस्तार की दृष्टि से परस्पर अत्यन्त भिन्नता है । नेपाल में उपलब्ध अन्य दो मातृकाएँ हमें फ्रांस के तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ० आन्द्रे पादु के सहयोग से मिली हैं । बड़ोदा की मातृका इन सबमें प्राचीन तथा संक्षिप्त है । उसमें उक्त उद्धरण हमें देखने को नहीं मिला ।

इदानीं चक्रेण देवताया ऐक्यमाह—

देवतायाः परं वपुः ॥५६॥

चक्रं देवतायाः परम् अन्यद् वपुः । ''ततः पद्मनिभां देवीम्'' (नि० षो० १।१३०) इत्यत्र देवतायाः करचरणादिमद् वपुरुक्तम् । तदेव त्रिकोणादिभूगृहान्तश्रीचक्रपदनिवास्यावरणदेवतारूपेणावयवशो विभज्य बैन्दवनिवासिनी स्वसंविद्देवता श्रीचक्रवपुषा स्थितेत्यर्थः । तदुक्तमत्रैव—

[2]एवंरूपं परं तेजः श्रीचक्रवपुषा स्थितम् ।
तदीयशक्तिनिकरस्फुरदूर्मिसमावृतम् ॥ (१।५५) इति ॥५६॥

एतदेवोपपादयति—

एकादशाधिकशतदेवतात्मतया पुनः ।

[3]एकादशोत्तरशतदेवतास्त्रिकोणाग्रदक्षवामकोणेषु कामेश्वर्यादिकास्तिस्रः, तद्बहिरष्टकोणान्तराले त्रिकोणं परितश्चतुर्दिक्षु अष्टौ कामेश्वरकामेश्वर्यायुध-

अब चक्र से देवता की एकता बताई जा रही है—

यह चक्र देवता का दूसरा शरीर है ॥५६॥

श्रीचक्र देवता (महात्रिपुरसुन्दरी) का दूसरा स्वरूप है । नित्याषोडशिकार्णव (१।१३०-१४९) में देवता परा भगवती का हाथ-पैर वाला स्वरूप वर्णित है । अपने उसी स्वरूप को त्रिकोण से भूगृह पर्यन्त श्रीचक्र के विभिन्न स्थानों में निवास करने वाले आवरण देवताओं के रूप में विभक्त कर बैन्दवचक्र में निवास करने वाली यह स्वसंवित्स्वरूपिणी महात्रिपुरसुन्दरी श्रीचक्रमय एक दूसरा ही अनोखा स्वरूप धारण कर लेती है । भगवती के इस श्रीचक्र रूपी देह का वर्णन पहले (१।४९-५५) हो चुका है । यहाँ उद्धृत श्लोक का अर्थ वहीं कर दिया गया है ॥५६॥

अब इसी विषय को समझा रहे हैं—

फिर यह श्रीचक्र एक सौ ग्यारह (आवरण) देवताओं का भी स्वरूप है, परा भगवती के अतिरिक्त इनका भी यहाँ निवास है ॥५७॥

इस चक्र में एक सौ ग्यारह देवता निवास करते हैं । जैसे कि त्रिकोण के अग्र, दक्ष और वाम कोणों में [1]कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी निवास करती हैं । उसके बाहर अष्टकोण के अन्तराल में त्रिकोण के चारों तरफ चार दिशाओं में कामेश्वर और

१. श्रीचक्रपरव—क. ग. ने. झ. उ. । २. इतः पूर्वम्—'स्वेच्छा, इच्छा, आश्रया' इत्यादिकं श्लोकत्रयम् (१।५०, ५३-५४) अपि दृश्यते—क. । ३. एता एका—ख. ने. झ. उ. ।

1. नि० षो० (१।१५३-१७६) में संहार क्रम से अणिमा आदि दस, ब्राह्मी आदि आठ, कामाकर्षिणी आदि सोलह, अनंगकुसुमा आदि आठ, सर्वसंक्षोभिणी आदि चौदह,

देवताः, अष्टकोणेऽष्टौ वशिन्याद्याः, अष्टकोणान्तराले षडङ्गदेवताः, अन्तर्दशारे सर्वज्ञाद्या दश, द्वितीयदशारे सर्वसिद्धिप्रदाद्या दश, चतुर्दशारे सर्वसंक्षोभिण्याद्याश्चतुर्दश, अष्टदलेऽष्टानङ्गकुसुमाद्याः, षोडशदले कामाकर्षिण्याद्याः षोडश, अन्तश्चतुरस्रे मुद्रादेवता दश, मध्यचतुरस्रे ब्राह्म्याद्या अष्टौ, बाह्यचतुरस्रेऽणिमाद्या दश। एवमेकादशोत्तरशतदेवतात्मतया तासामाधारभूता [2]श्रीचक्ररूपिणी देवतेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

नन्वयं कौलिकार्थो वामकेश्वरतन्त्रे कुत्र सूचित इत्याशङ्कां परिहरन् देवताविद्याचक्रगुरुशिष्याणामैक्यार्थमेव "गणेश" (नि० षो० १।१) इत्यत्र सूचितं कौलिकार्थं विवृणोति—

कामेश्वरी के आठ आयुध देवताओं की स्थिति है। अष्टकोण में वशिनी आदि आठ देवियाँ, अष्टकोण के अन्तराल में छः अंगदेवता, अन्तर्दशार में सर्वज्ञा आदि दस देवियाँ, द्वितीय दशार में सर्वसिद्धिप्रदा आदि दस, चतुर्दशार में सर्वसंक्षोभिणी आदि चौदह, अष्टदल में अनङ्गकुसुमा आदि आठ, षोडशदल में कामाकर्षिणी आदि सोलह, अन्तश्चतुरस्र में दस मुद्रादेवता, मध्यचतुरस्र में ब्राह्मी प्रभृति आठ और बाह्यचतुरस्र में अणिमा आदि दस देवियां निवास करती हैं। इस तरह से सब मिल कर एक सौ ग्यारह आवरण देवताओं का इसमें निवास होने से उनका आधारभूत यह श्रीचक्र देवतामय ही है ॥५७॥

यहाँ शंका उठती है कि [1]वामकेश्वर तन्त्र में इस कौलिकार्थ को कहाँ सूचित किया गया है, इस शंका के परिहार के लिये कहते हैं कि वहाँ "गणेशग्रहनक्षत्र०" (१।१) प्रभृति श्लोक में इस विषय की सूचना दे दी गई थी कि देवता, विद्या, चक्र, गुरु और शिष्य में एकता की भावना करना ही कौलिकार्थ है। इसी विषय को आगे स्पष्ट किया जा रहा है—

---

१. सिद्धयाद्या–ख. ने. ज. उ.। २. श्रीचक्रदेवते–ख. ने. ज. झ. उ.।

सर्वसिद्धिप्रदा आदि दस, सर्वज्ञा आदि दस आवरण देवताओं के नाम दिये गये हैं। वशिनी आदि आठ देवताओं के नाम बीजोद्धारपूर्वक वहीं (१।७७-९५) मिलते हैं। आयुध देवता वहाँ (१।१७९-१८०) चार ही हैं। अन्त में (१।१८२) त्रिकोण स्थित तीन आवरण देवताओं तथा मध्यबिन्दु स्थित मूलदेवता का नाम है। आठ आयुध देवताओं का उल्लेख योगिनीहृदय (१।५४) में है। यहीं (३।४८-४९) अन्तश्चतुरस्र स्थित दस मुद्रादेवताओं की चर्चा है। इन सभी आवरण देवताओं का उल्लेख पूजासंकेत में अनेक बार हुआ है। छः अंगदेवताओं की चर्चा ऋजुविमर्शिनी (पृ० १३२) तथा सुभगोदय (पृ० २८६) में मिलती है।

1. दीपिकाकार ने यहाँ भी वामकेश्वर तन्त्र का पृथक् उल्लेख किया है।

गणेशत्वं महादेव्याः ससोमरविपावकैः ॥५७॥

इच्छाज्ञानक्रियाभिश्च गुणत्रययुतैः पुनः।

ग्रहरूपा च सा देवी

[1]पुनःशब्दादेकादशाधिकशतदेवतात्मतयाऽस्या गणेशत्वम्। गणेशत्वं महादेव्या इत्यनेनापि काकाक्षि[2]न्यायवदन्वयः। पूर्वोक्तत्रिकोणादिचतुरस्रान्तश्रीचक्रपदनिवास्यैकादशाधिकशतदेवतात्मतया [3]महादेव्यास्तु तत्संख्याकदेवता[4]समुदायो गणः। देव्याः सोमरविपावका नेत्ररूपेण स्थिताः,

इच्छा शिरःप्रदेशस्था ज्ञाना च तदधोगता।
क्रिया पादगता ह्यस्याः

इति संकेतपद्धत्युक्तरीत्या इच्छादिका मूर्धाद्यवयवाः, गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, एवं स्वावयवभूतैस्तैर्नवभिर्ग्रहरूपा च सा देवी ॥ ५७-५८ ॥

ज्ञानकर्मेन्द्रियैरपि ॥ ५८ ॥

तदर्थैरेव देवेशि करणैरान्तरैः पुनः।

देवताओं के १११ संख्या वाले गण की स्वामिनी होने से महादेवी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी यहाँ गणेश के नाम से अभिहित है। उस भगवती के सोम, रवि और पावक (अग्नि) नेत्र रूप में हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया तथा सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को भी मिलाने पर यह देवी ग्रहरूपा भी कही जाती है ॥५७-५८॥

'पुनः' शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है। इसका अभिप्राय यह है कि वही परा भगवती फिर एकसौ ग्यारह देवताओं के गण की स्वामिनी होने से गणेश भी कहलाती है और ग्रहरूपा भी हो जाती है। महादेवी पद का काकाक्षिन्याय से गणेश और ग्रहरूपा दोनों से अन्वय होता है। पूर्वोक्त त्रिकोण से चतुरस्र पर्यन्त श्रीचक्र के अवयवों में निवास करने वाली १११ देवताओं के रूप में यह महादेवी ही स्थित है। अतः यह उस देवतासमुदाय की स्वामिनी है। इस देवी के चन्द्र, सूर्य और अग्नि नेत्र के रूप में स्थित हैं। संकेतपद्धति के अनुसार इस देवी का इच्छाशक्ति से शिरोभाग, ज्ञानशक्ति से मध्यभाग और क्रियाशक्ति से अधोभाग बना है और सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण इसमें स्थित हैं। इस प्रकार अपने इन नौ अवयवों के कारण यह देवी नवग्रहात्मिका भी है ॥५७-५८॥

हे देवेशि! पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, १० इनके अर्थ, चतुर्विध अन्तः-

---

१. 'पुनः……गणेशत्वं……देवतात्मतया' नास्ति–ख.। २. न्यायतः–क. ग. ज.। ३. 'महादेव्यास्तु' नास्ति–क. ग.। ४. समूहो–ने. ज. झ. उ.।

प्रकृत्या च गुणेनापि[1] पुंस्त्वबन्धेन चात्मना ॥ ५९ ॥
नक्षत्रविग्रहा जाता

ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि बोधकरणानि, कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, तेषामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्च, करणानि मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तान्यान्तराणि च, प्रकृतिः गुणसाम्यमव्यक्तम्, गुणो गुणतत्त्वं सुखदुःखमोहानां मूलम्, पुंस्त्वबन्ध आत्मा पुरुषतत्त्वम्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

> एभिर्मायादिभिः षड्भिः परिपूर्णः पशुः पुमान् ।
> भुङ्क्ते भोगान् यथा देवि तथा पुरुषसंज्ञकः ॥
> सैव मायाऽथ भोगार्थं पशोरव्यक्तसंज्ञकम् ।
> मूलप्रकृतिर्विश्वस्य गणत्रितयरूपकम् ।।
> अभूत् तस्यां प्रकृत्यां तु गुणतत्त्वं बभूव ह ।
> तद् दुःखसुखमोहानां मूलं सत्त्वं रजस्तमः ॥

करण, प्रकृति, गुण और पुरुष तत्त्व इन सत्ताईस पदार्थों के समवाय के कारण यह देवी नक्षत्रों का स्वरूप भी धारण कर लेती है ॥५८-६०॥

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द ये दस विषय; मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त ये चार अन्तःकरण, प्रकृति अर्थात् गुणों की साम्यस्वरूपिणी अव्यक्त अवस्था, सुख-दुःख-मोहात्मक गुणतत्त्व और पुरुष को बाँधने वाला आत्मा पुरुषतत्त्व है। इन २७ तत्त्वों का वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह में इस तरह से किया गया है—

इन माया आदि छः[1] कंचुकों से आवृत होने पर पुरुष का पशुस्वरूप परिपूर्ण हो जाता है। हे देवि ! पुरुषतत्त्व के रूप में स्थित होकर यह नाना प्रकार के भोगों को भोगता है। वही मायातत्त्व पशु के भोग का संपादन करने के लिये अव्यक्त नामक तत्त्व का रूप धारण कर लेता है। यह अव्यक्त तत्त्व विश्व की मूलप्रकृति है। तीनों गुण इसमें छिपे हुए हैं, साम्यावस्था में विद्यमान हैं। इस प्रकृति से [2]गुणतत्त्व की सृष्टि

१. नाथ–ख. च. छ. ज. झ. ।

1. पाँच अथवा छः कंचुकों की चर्चा हम पहले पृ० १४७ की टिप्पणी में कर चुके हैं।

2. प्रकृति से गुणतत्त्व की उत्पत्ति प्रायः सभी शैव शास्त्रों में वर्णित है। साथ ही वहाँ यह भी बताया गया है कि ये तीनों गुण प्रकृति से अभिन्न हैं। देखिये—मृगेन्द्रागम

> बुद्धिव्यापारनिचयरूपं व्यक्तगुणात्मकम् ।
> [1]विषयाध्यवसायात्मा बुद्धिः स्याद् गुणतत्त्वतः ॥
> गुणत्रयानुसारेण त्रिधा कर्मानुसारतः ।
> तया बुद्ध्या सम्[2]द्भूतोऽहङ्कारस्त्रिप्रकारकः ॥
> सर्वजीवनसंरम्भरूपेण कमलासने[3] ।
> [4]विषयास्तस्य भेदाश्च त्रिधा कर्मानुसारतः ॥

होती है। सुख, दुःख और मोह के कारणभूत सत्त्व, रज और तम नामक गुणों की अभिव्यक्ति इसी से होती है। यह गुणतत्त्व बुद्धि के सभी व्यापारों से युक्त है तथा इसमें सभी गुण व्यक्त अवस्था में रहते हैं। गुणतत्त्व से विषयों का निश्चय करनेवाली बुद्धि अभिव्यक्त होती है। तीन गुणों और कर्मों के अनुसार इस बुद्धि से त्रिविध अहंकार की उत्पत्ति होती है। हे कमलासने ! यह अहंकार ही सभी प्राणियों में जीवन और [1]संरम्भ का संचार करता है। कर्म के अनुसार जब इसके त्रिविध भेद और विषय हो

१. विषयात्मा तु बुद्धिः स्याद् गुणास्तत्र प्रयोजकाः–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. त्पन्नो–ज. । ३. सनम्–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ४. विशतस्तत्र भेदेन–ख. ने. ज. झ. उ. ।

(वि० १०।२०-२१), तत्त्वसंग्रह (श्लो० ९), भोगकारिका (श्लो० ८७-८८), तत्त्वप्रकाश (श्लो० २३-२४, ५१)। मतंगपारमेश्वर, विद्यापाद के पन्द्रहवें पटल में अव्यक्त का तथा १६वें में गुणतत्त्व का निरूपण है।

1. मृगेन्द्रागम (वि० ११।२०) में बुद्धितत्त्व से गर्व (अहंकार) की उत्पत्ति बताकर कहा गया है कि इसी के व्यापार से शरीर स्थित पंचविध प्राण अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। गर्व की इस वृत्ति को व्याख्याकार ने संरम्भ नाम दिया है। तत्त्वसंग्रह (श्लो० ६) और भोगकारिका (श्लो० ३३) में भी इसका यही नाम है। भोगकारिकाकार का कहना है कि शरीरधारण (जीवन) के लिये आवश्यक प्राण आदि पाँच वायुओं की प्रवर्तक अहंकार की संरम्भ नामक वृत्ति है। टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि अहंकार के इस संरम्भ नामक प्रयत्न से ही शरीर स्थित प्राण आदि पाँच वायु तथा कालोत्तरागम (१०।५-१३) में वर्णित नाग आदि अन्य पाँच वायु सभी प्राणियों के शरीर को धारण करने में समर्थ होते हैं। इनके नाम योगिनीहृदय (२।६२) में भी उल्लिखित हैं। तत्त्वप्रकाशकार (श्लो० ५३) ने अहंकार के जीवन, संरम्भ और गर्व नामक तीन भेद किये हैं और टीकाकारों ने संरम्भ का अर्थ पाँच प्राणों का प्रवर्तक प्रयत्न किया है। प्रस्तुत उद्धरण में जीवन और संरम्भ पदों का प्रयोग इन्हीं अर्थों में किया गया है।

सोऽयं तैजसवैकारिभौतिकाख्यास्वरूपतः ।
विकाराश्च[१] स्व(स)भेदाश्च[१] वागादीन्द्रियसंहतौ[२] ॥
वाचकार्थाः[३] स्युरीशानि तत्र तत्र [४]नियन्तृतः ।
प्राप्नोति [५]सात्त्विकाद्याभिरवस्थाभिरगात्मजे ॥
संकल्पकारकं[६] [७]चेच्छारूपं तैजसतो मनः ।
जातं वैकार्यवस्थाभिर्ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च ॥
[८]भूततन्मात्रशब्दस्पर्शरूपरसगन्धकाः ।
जाता [९]वागादीन्द्रियाणां व्यापाराः परमेश्वरि ॥
श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनाघ्राणान्येतानि पञ्च च ।
बुद्धीन्द्रियाणि[१०] व्यापारास्तेषामेकैकशः क्रमात् ॥

जाते हैं, तब यह [1]तैजस, वैकारिक और भौतिक अहंकार ने नाम से प्रख्यात होता है। सभी भेदों और उपभेदों के साथ सोलह विकारों की, वाचक अर्थों के साथ [2]वाक् प्रभृति इन्द्रियों की उत्पत्ति इसी से होती है। हे पार्वति ! इन विषयों से नियन्त्रित होकर ही वह सात्त्विक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है। तैजस (सात्त्विक) अहंकार से संकल्प के कारण इच्छारूप मन की और वैकारिक (राजस) भेद से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। हे परमेश्वरि ! भूतादि (तामस) अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है, जिनसे कि वाक् प्रभृति इन्द्रियों के विषय विकसित होते हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण ये पाँच बुद्धीन्द्रियाँ हैं। हे प्रिये !

१. च्च–ख. ग. ज. उ. । २. संभवैः–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ३. वाचिकाद्याः स्युरेतानि–क. ग. । ४. नियन्त्रिभिः–क. ख. ग. ने. झ. उ. । ५. सा तु विद्याभिः–ख. झ. उ. । ६. कारणं वर्ष्म–ख. ज. झ. ब. उ. । ७. 'चेच्छा····स्थाभिः' नास्ति–ख. ज. झ. ब. उ. । ८. भूतादीन्यथ तन्मात्राः शब्दस्पर्शरूपरसाः । गन्धाद्याः पञ्चका जाताः । देहेन्द्रियाणां व्यापाराः प्रोच्यन्ते परमेश्वरि-क. । ९. दृगा–ज. झ. । १०. याणां–ज. ।

1. तैजस, वैकारिक और भौतिक शब्दों का प्रयोग ऊपर उद्धृत सभी ग्रन्थों में क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस के अर्थ में किया है, किन्तु सांख्यकारिकाकार (श्लो० २५) सात्त्विक के लिये वैकृत और राजस के लिये तैजस शब्द का प्रयोग करते हैं। मतंगपारमेश्वर (वि० १८।४३-४४) में सांख्यकारिका का अनुसरण किया गया है।

2. मतंगपारमेश्वर में अहंकार का निरूपण करते समय (वि० १८।१२-१५) उसकी ज्ञानसत्ता और क्रियासत्ता का विवरण दिया है। तदनुसार ज्ञानसत्ता का बुद्धीन्द्रियों से तथा क्रियासत्ता का वागादि इन्द्रियों से सम्बन्ध है। इसी विषय की यहाँ चर्चा की गई लगती है। यहाँ भी अहंकार के सात्त्विक आदि भेदों के निरूपण से पहले इस विषय की चर्चा है।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्रहणं प्रिये ।
कर्मेन्द्रियाणि[१] वाक्पाणिपादपायुरुपस्थकाः ॥
वचनादानगमनविसर्गानन्दकं क्रमात् ।
कर्मेन्द्रियाणां व्यापाराः पञ्चानां[२] परिकीर्तिताः ॥
एतानि दश बाह्यानि [३]क्रमेणाभ्यन्तरत्रयम् ।
मनो बुद्धिरहङ्कारो ह्यन्तःकरणसंज्ञकम् ॥ इति ।

एतैः स्वावयवभूतैः सप्तविंशतिभिर्नक्षत्रविग्रहा जाता देवी [४]स्वेच्छागृहीतविग्रहा ॥५८-६०॥

[५]योगिनीत्वमथोच्यते ।
त्वगादिधातुनाथाभिर्डाकिन्यादिभिरप्यसौ ॥ ६० ॥
वर्गाष्टकनिविष्टाभिर्योगिनीभिश्च संयुता ।
योगिनीरूपमास्थाय राजते विश्वविग्रहा[६] ॥ ६१ ॥

[[७]त्वगादिधातवस्त्वगसृङ्मांसमेदोमज्जाशुक्राणि धातवः, तेषां नाथा अधिष्ठात्र्यो डाकिन्याद्याः—डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी, हाकिनी[८] च । वर्गा

इन इन्द्रियों से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक विषय गृहीत होते हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियों से क्रमशः वचन, आदान, विहरण, विसर्ग, आनन्द नामक विषयों का ग्रहण होता है। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय बाह्य इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं॥

अपने ही अवयवों के रूप में अभिव्यक्त इन तत्त्वों के कारण यह देवी अपनी ही इच्छा से २७ नक्षत्रों के रूप में दिखाई पड़ती है ॥५८-६०॥

अब इस देवी के योगिनीस्वरूप का वर्णन किया जा रहा है। यह विश्वविग्रहा देवी त्वक् आदि धातुओं की स्वामिनी डाकिनी आदि से तथा आठ वर्गों की अधिष्ठात्री योगिनियों से संवलित होने के कारण योगिनी के रूप में भी विराजमान है ॥६०-६१॥

त्वक्, असृक्, मांस, मेदा, मज्जा और शुक्र ये छः धातु हैं। इनकी स्वामिनियाँ हैं—डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी और हाकिनी[1]। अ क च ट त प य

१. याणां–झ. उ. । २. नामपि–ज. झ. उ. । ३. करणान्यन्तरं त्रयम्–झ. उ. । ४. स्वयं–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. योगिनीनाम्–ने. च. छ. ज. झ. । ६. मोहिनी–ङ. च. उ. । ७. 'त्वगादि ····तत्तद्' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. ब. उ. । ८. इतः परम्–'याकिनी' इत्यधिकः पाठः सार्वत्रिकः ।

अकचटतपयशाः, तेषामष्टके निविष्टा ब्रह्माण्याद्या योगिन्यः । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

सर्ववाङ्मयमूला या वर्गाष्टकसमावृता ।
विश्वोत्पत्तिक्रमान्ताष्टशक्तिप्रसृतभैरवैः ॥
शक्तिभिश्च समायुक्ता अक्षान्ता मातृकावलिः । इति ।

चतुःशत्यामप्युक्तम्—"वर्गानुक्रमयोगेन यस्यां मात्रष्टकं स्थितम्" (नि० षो० १।११) इति । एभिः संयुक्ता । षडाधारेषु [1]डाकिन्यादिभिः, "मातृकास्थूलरूपत्वात् त्वगादिव्यापकत्वतः । योगिन्यः प्रकटा ज्ञेयाः" (३।११४) इति वक्ष्यमाणरीत्या त्वगादि-

---

और श ये आठ वर्ग हैं । ब्रह्माणी प्रभृति आठ योगिनियाँ क्रमशः प्रत्येक वर्ग की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं । स्वच्छन्दसंग्रह में इनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त मातृका की माला सारे वाङ्मय की मूलकारण है । आठ वर्गों में विभक्त यह वर्णमाला आठ शक्तियों और आठ भैरवों के अधिकार में स्थित होकर सारे जगत् की उत्पत्ति करती है ॥

चतुःशती शास्त्र में भी प्रदर्शित है—"इस पूर्णाहन्तास्वरूपिणी परा भगवती में आठ वर्गों के अनुक्रम से ब्रह्माणी प्रभृति आठ माताएँ स्थित हैं" । इन सभी योगिनियों से यह देवी संयुक्त है । मूलाधार प्रभृति छः आधारों में भी डाकिनी प्रभृति का निवास है । आगे (३।११४) बताई गई पद्धति से त्वक् आदि धातुओं की अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति

---

1. यद्यपि यहाँ दोपिका के सभी हस्तलेखों में हाकिनो के बाद याकिनी का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु आगे (३।३२) यह नाम नहीं दिया गया है । यद्यपि धातुओं की संख्या वहाँ सात है । आयुर्वेद के ग्रन्थ अष्टांगहृदय (सू. १।१८) में भी सात ही धातु वर्णित हैं । तदनुसार धातु देवता सात ही होनी चाहिये । भास्करराय ने भी आगे (३।३३) इसी मत को स्वीकार किया है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वे सात चक्रों की अधिष्ठात्री सात योगिनियों के प्रतिपादक मत की समालोचना करते हैं । आगे योगिनीहृदय (३।३२) में छः चक्रों का ही उल्लेख है और ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने "डरलकसहदेवीभिर्द्वादशार्धदेवताभिः" (पृ० १८२) यहाँ छः योगिनियों का ही उल्लेख किया है । दीपिकाकार ने प्रस्तुत प्रसंग में छः धातुओं की ही गणना की है और आगे "योगिन्यश्च डाकिन्याद्याः षट्" (२।६६) इस तरह से वे छः योगिनियों का स्पष्ट उल्लेख करते हैं । अतः याकिनी नाम की अनावश्यकता को देखते हुए हमने उसको मूल में नहीं रखा है ।

धातुषु ब्राह्म्यादिभिः सेविता सर्वसमष्टिरूपत्वाद् योगिनीरूपमास्थाय राजते विश्वविग्रहा तत्तद्]योगिनीरूपेण विहरति । अत्रैव वक्ष्यति—

अष्टाष्टकं तु कर्तव्यं वित्तशाठ्यविवर्जितम् ।
त्वमेव तासां रूपेण क्रीडसे विश्वमोहिनी ॥ (३।१९४) इति ॥६०-६१॥

प्राणापानौ समानश्चोदानव्यानौ तथा पुनः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥६२॥
जीवा[3]त्मापरमात्मा चेत्येतै[1] राशिस्वरूपिणी ।

प्राणादिधनञ्जयान्ता दश वायवः, जीवात्मा उक्तलक्षणः पशुः, परमात्मा "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" (बृ० उ० ३।७।३) इत्युपनिषदुक्तः सर्वभूतानामन्तर्यामी । एतैर्द्वादशभी [2]राशिस्वरूपिणी ॥६२-६३॥

गणेशेत्यादिपदं विद्यापदेऽपि योजयति—

अकथादित्रिपङ्क्त्यात्म[3]तार्तीयादिक्रमेण सा ॥६३॥
गणेशोऽभून्महाविद्या परावागादिवाङ्मयी ।

देवियों से सेवित यह सर्वसमष्टिरूपिणी परा भगवती योगिनी का स्वरूप धारण कर उन उन योगिनियों के रूप में सारे विश्व को व्याप्त कर विराजमान है । भगवती के इस अष्टाष्टक स्वरूप की उपासना लोभ का परित्याग कर उदार भावना से करनी चाहिये, क्योंकि उन सभी स्वरूपों में विश्वमोहिनी परा देवी ही क्रीडा करती है । इस विषय का वर्णन आगे (३।१९४) किया जायेगा ॥६०-६१॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय नामक दस प्राणों के साथ जीवात्मा और परमात्मा को मिलाकर यह परा देवी राशिस्वरूपिणी बन जाती है ॥

प्राण से धनंजय पर्यन्त दस वायु हैं, जो इस शरीर को धारण किये रहते हैं । जीवात्मा पूर्वोक्त लक्षण वाला त्रिविध पशु है । बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार सारी आत्माओं के अन्दर निवास करने वाला अमृतमय अन्तर्यामी ही परमात्मा है । इन बारह स्वरूपों के कारण यह परा भगवती राशिस्वरूपिणी बन जाती है ॥६२-६३॥

गणेश आदि पदों की अब विद्या में भी संगति बैठाते हैं—

परा, पश्यन्ती आदि चतुर्विध वाणीस्वरूपिणी महाविद्या आदि, कादि और थादि के क्रम से विन्यस्त तार्तीय (शक्ति बीज) आदि तीनों बीजों के वर्णगणों की स्वामिनी होने से गणेश कही जाती है ॥६३-६४॥

---

१. तैर्वा राशिरू–ङ. । २. राशिरू–ख. ने. ज. उ. । ३. त्मा–क. ग. ।

अकारहकारसामरस्यरूपा परा वाग् आदिर्यासां ताः पश्यन्तीमध्यमावैखर्यो वाचश्चतस्रः परावागादिवाचः। तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः।
हकारोऽन्त्यः कलारूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः॥
अनयोः सामरस्यं यत् [1]परस्मिन् महसि स्फुटम्।
वामाद्यैः [2]पिण्डितो योऽसाववर्णः परिकीर्तितः॥
[3]आदावस्य शिरो रौद्री वक्त्रं वामा प्रकीर्तिता।
अम्बिका बाहुरित्युक्ता ज्येष्ठा चैव[4] नखाग्रगा॥
[5]एता हार्धकलारूपा रूपपञ्चतया स्थिताः।
अवर्णः सर्ववर्णानां न पृथग् भासते बहिः॥
इच्छा शिरःप्रदेशस्था [6]ज्ञाना च तदधोगता।
क्रिया[7] पादगता ह्यस्य शान्ता [8]हृन्मध्यगा भवेत्॥

अकार और हकार जहाँ समरस रूप में छिपे रहते हैं, वह परा वाक् कहलाती है। आदि शब्द से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी का ग्रहण किया जाता है। महाविद्या में वाणी के ये चारों स्वरूप विद्यमान हैं। उनका वर्णन संकेतपद्धति में इस तरह से मिलता है—

अकार सभी वर्णों का अग्र है, सबसे पहले विद्यमान है। यह प्रकाशात्मक परम शिव का वाचक है। अन्तिम हकार विमर्शात्मक शक्तिकला का वाचक है। ये दोनों वर्ण परमप्रकाशमय अहन्ता में, परा वाणी में समरसभाव से स्थित हैं। यही प्रकाशमय अवर्ण [1]पश्यन्ती (उत्तीर्ण) अवस्था में वामा प्रभृति शक्तियों से संपिण्डित हो जाता है, तब [2]रौद्री शक्ति से इसका शिर, वामा से वक्त्र (मुँह), अम्बिका से बाहु और ज्येष्ठा से नखाग्र का निर्माण होता है। व्यष्टि और समष्टि के भेद से हार्धकलास्वरूपिणी ये शक्तियाँ पाँच रूपों में विभक्त हो जाती हैं। अकार सभी वर्णों में अनुस्यूत रहता है, अतः इसकी बाहर अलग से प्रतीति नहीं होती। अकार की ही भाँति हकार भी इच्छा प्रभृति शक्तियों में संपिण्डित हो जाता है, तब इच्छा शक्ति से इसका शिर, ज्ञान शक्ति से अधोगत देह, क्रिया से पाद भाग की निष्पत्ति होती है। शान्ता शक्ति हृदय के मध्य

१. परस्मिन्नहमि–चि.। २. पञ्चभिर्योऽसावीश्वरः–क. ग.। ३. अकारस्य–तवि.। ४. चैवायुधं स्मृता–तवि.। ५. अ इच्छार्धकलारूपः पञ्चधा यो व्यवस्थितः–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. क्रिया–ख. ने. ज. झ. उ.। ७. ज्ञाना–ख. ने. ज. झ. उ.। ८. हार्धार्धमध्यगा–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. पृ० १२१ की टिप्पणी देखिये।

2. संकेतपद्धति के इस श्लोक को तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने (भा० ३, पृ० ८०) आगम वचन कहकर उद्धृत किया है।

अष्टधाऽनाहतः प्रोक्तः शून्यादि[1]प्रविभागतः।
शून्यः स्पर्शस्तथा नादो ध्वनिर्बिन्दुस्तथैव च॥
शक्तिबीजाक्षरं चेति ह्यष्टधाऽनाहतः स्मृतः।
चत्वारिंशत्सप्तसंख्यो हतः स परिकीर्तितः॥
क्षकारः कथितो योऽसौ संयोगो[2] द्विविधः स्मृतः।
सप्तषष्ट्याख्यमेवं हि मातृकापीठमुत्तमम्॥
[3]अनाहतहतोत्तीर्णैस्त्रिभिर्भेदैः समन्ततः।
स्थितो योऽसौ महापीठो[4] मातृकाख्यो जयत्यसौ॥ इति।

में विराजमान है। शून्य आदि के भेद से अनाहत (मध्यमा वाक्)[1] आठ प्रकार का होता है। शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज, अक्षर ये अनाहत के आठ भेद होते हैं। [2]हत नाद (वैखरी वाक्) के ४७ भेद होते हैं। क्षकार संयुक्ताक्षर है, अतः इसके दो भेद (क् ष्) हो जाते हैं। [3]इन सबको मिलाकर ६७ वर्णों वाले उत्तम मातृका पीठ की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार परा वाणी में समरस रूप से स्थित अकार-हकार वर्णों से ही अनाहत (मध्यमा), हत (वैखरी) और उत्तीर्ण (पश्यन्ती) के क्रम से त्रिधा विभक्त होकर यह मातृका पीठ सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, सारे वाङ्मय को व्याप्त कर लेता है॥

१. प्रतिभेदतः–ख. ने. ज. झ. उ.। २. संयोगादिति सार्वत्रिकः पाठः। अर्थरत्नावलीधृतः पाठोऽत्र स्थापितः। ३. अनाहतहतैर्मन्त्रैस्त्रिभिर्भेदैः समन्ततः–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. पीठमकाराख्यो–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. पृ० १२३ की पहली टिप्पणी देखिये। अर्थरत्नावलीकार (पृ० ३६) ने संकेतपद्धति के प्रस्तुत श्लोक की नवनादपरक व्याख्या की है। वहीं उद्धृत हंसनिर्णय में स्पष्ट ही नौ नादों का उल्लेख है। वर्णों की ६७ संख्या तभी पूरी हो सकती है।

2. अर्थरत्नावलीकार (पृ० ३६) वैखरी वाणी के ४७ भेदों में आकार से लेकर सकार पर्यन्त वर्णों की गणना करते हैं। अकार और हकार की प्रकाशविमर्शात्मकता के कारण इनका परा और पश्यन्ती वाणी में समावेश हो जाता है। ककार और षकार के संयोग से बने क्षकार की अलग से गणना नहीं की जाती और ळकार का वे लकार में ही अन्तर्भाव मानते हैं।

3. पश्यन्ती के ११, मध्यमा के ९ और वैखरी के ४७ भेदों के योग से यहाँ मातृका पीठ के ६७ वर्ण माने गये हैं।

एवमेतत्परादिचतुर्विधतया वाङ्मयी, "अस्वरविमर्शरूपौ स्वांशौ हित्वा[1] चतुष्कली सैव" (२।२) इत्यादिसौभाग्यसुधोदयप्रतिपादितरीत्या परापश्यन्तीमध्यमावैखरीमयत्वाद् विद्यायाः। अकथादित्रिपङ्क्त्यात्म[2]तार्तीयादिक्रमेण। अकथादीत्यादिशब्दोऽकारककारथकारैस्त्रिभिः संबध्यते। आदयो विसर्गान्ताः स्वराः षोडश, कादयस्तान्ताः षोडश, थादयः सान्ताः षोडश। एवमकथादिवर्णा[3]त्मकतार्तीयादिकामराजादिवाग्भवादिक्रमेण अकारादिपङ्क्तिमयं तार्तीयम्, ककारादिपङ्क्तिमयं कामराजम्, थकारादिपङ्क्तिमयं वाग्भवमिति क्रमेण। पङ्क्तिशब्दो गणपरः, चतुर्विधमातृकामयत्वात्, अकथादिवैखर्यादि[4]वर्गगणत्रयबीज[5]त्रयावयवत्वाच्च सेयं महाविद्या गणेशोऽभूदित्यर्थः ॥६३-६४॥

बीजबिन्दुध्वनीनां च त्रिकूटेषु ग्रहात्मिका ॥६४॥
हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तिथिसंख्यैस्तथाक्षरैः ।
अन्यैर्द्वादशभिर्वर्णैरेषा नक्षत्ररूपिणी ॥६५॥

इस तरह से महाविद्या चारों वाणियों में व्याप्त होकर वाङ्मयी कहलाती है। सौभाग्यसुधोदय में भी इस विषय का विस्तार से वर्णन हुआ है और इसकी व्याख्या पहले (२।१७) की जा चुकी है। तदनुसार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणीमय यह विद्या अ क थ अक्षरों से बने तीन पंक्तिवाले तार्तीय आदि बीजों के क्रम से रखे गये वर्णगणों की स्वामिनी, अर्थात् गणेश का स्वरूप धारण कर लेती है। यहाँ अकार से विसर्ग पर्यन्त १६ स्वरों का प्रथम गण, ककार से तकार पर्यन्त सोलह अक्षरों का द्वितीय गण तथा थकार से सकार पर्यन्त सोलह अक्षरों का तृतीय गण बनता है। ये तीनों गण तीन पंक्तियों में रखे जाते हैं और क्रमशः ये महाविद्या के तार्तीय (शक्ति) बीज, कामराज और वाग्भव बीज का स्वरूप धारण करते हैं। अर्थात् अकारादि पंक्तिमय शक्ति बीज, ककारादि पंक्तिमय कामराज बीज और थकारादि पंक्तिमय वाग्भव बीज के क्रम से ये स्थित होते हैं। पंक्ति शब्द का अर्थ यहाँ गण किया गया है। इस तरह से यह सब चतुर्विध वाणी का ही विस्तार है और अन्ततः वैखरी अवस्था में अ क थ के वर्गों के तीन गणों से इस महाविद्या के तीन बीजों वाले अवयवों की निष्पत्ति होती है, अतः यह महाविद्या गणेश का स्वरूप धारण करती है ॥६३-६४॥

तीन कूटों में विद्यमान बीज, बिन्दु और ध्वनियों के कारण यह विद्या ग्रहात्मिका तथा तीन हृल्लेखाओं से उत्पन्न पन्द्रह अक्षरों और अन्य बारह अक्षरों के योग से यह विद्या नक्षत्ररूपिणी बन जाती है ॥६४-६५॥

१. भित्वा–ख. ग. ज. उ. । २. त्मकत्वं–क. ग. । ३. वर्णाः पङ्क्तित्रयात्मता–क. ग. । ४. 'वर्ग' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. त्रयत्वाच्च–ख. ने. ज. झ. उ. ।

कूटशब्दोऽत्राक्षरपिण्ड[1]परः। यथोक्तमभियुक्तैः—"कूटेषु त्रिषु कार्यगौरववशादीकारशृङ्गक्रमात्" इति। सौभाग्यविद्याक्षरपिण्डेषु बीजबिन्दुध्वनीनां च, बीजम् ईकारान्ताक्षरजातम्, बिन्दुरुक्त(१।२८)लक्षणः, ध्वनिर्नादः, बीजबिन्दुध्वनीनां चेति तृतीयार्थे छान्दसः प्रयोगः। कूटत्रयबीजानि त्रीणि, बिन्दवस्त्रयः, नादास्त्रय इति नवभिर्ग्रहात्मिका विद्येत्यर्थः।

बीजत्रयशिखरवर्ति[2]हृल्लेखात्रयसंभूतैस्तथाक्षरैर्हकाररेफेकारबिन्दुनादात्मकैस्तिथिसंख्यकैः पञ्चदशभिः, अन्यैर्हृल्लेखात्रयवर्जितैर्द्वादशवर्णैः कूटत्रयावयवैरेवं[3] पञ्चदशभिर्द्वादशभिश्च[4] सप्तविंशतिवर्णैः सर्वैर्नक्षत्ररूपिणीत्यर्थः ॥६५॥

विद्यान्तर्भूतशाक्त्याद्यैः शाक्तैः षड्भिस्त[5]थाक्षरैः ।
योगिनीत्वं च विद्याया राशित्वं चान्त्यवर्जितैः ॥६६॥

विद्यायाः पञ्चदशाक्षर्या अन्तर्भूताः शक्तयो हृल्लेखास्तिस्रः, तदाद्याश्च लकारास्त्रयः। [6]शाक्तैरेतैः षड्भिरक्षरैर्विद्याया योगिनीत्वम्। योगिन्यश्च डाकि-

कूट शब्द यहाँ अक्षरपिण्ड (समूह) का वाचक है। "कूटेषु त्रिषु" इस अभियुक्त वचन में कूट शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है। सौभाग्यविद्या के अक्षरसमूह में ईकार पर्यन्त अक्षर बीज कहलाते हैं। बिन्दु का लक्षण पहले (१।२८) बता दिया गया है। ध्वनि नाद को कहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में तृतीया के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग वैदिक पद्धति से किया गया है। तीन कूटों के तीन बीज, तीन बिन्दु और तीन नादों को मिलाकर विद्या का नवग्रहात्मक स्वरूप परिपूर्ण होता है। इसी तरह से तीन बीजों के शीर्ष स्थान में विराजमान तीन हृल्लेखाओं के हकार, रेफ, ईकार, बिन्दु और नादात्मक पन्द्रह अक्षरों और इन हृल्लेखाओं को छोड़कर तीन कूटों के बाकी बचे बारह अक्षरों को मिलाकर सत्ताईस वर्ण वाली यह महाविद्या नक्षत्ररूपिणी बन जाती है ॥६४-६५॥

पंचदशाक्षरी विद्या में अन्तर्भूत शक्ति वर्ण तीन हृल्लेखाओं और उनसे पहले स्थित तीन लकारों के कारण यह विद्या योगिनीस्वरूपिणी और अन्तिम तीन वर्णों को छोड़ देने पर राशिस्वरूपिणी बन जाती है ॥६६॥

पंचदशाक्षरी विद्या के अन्तर्भूत शक्तियाँ हैं तीन हृल्लेखायें और इन हृल्लेखाओं के पहले तीन लकार स्थित हैं। ये सभी वर्ण शाक्त कहलाते हैं। इन शाक्त अक्षरों के कारण यह विद्या योगिनी कहलाती है। अर्थात् डाकिनी प्रभृति छः योगिनियों का स्वरूप

१. 'पिण्ड' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. ह्रींकार–ख. ने. ज. । ३. 'एवं' नास्ति–क. ख. ग. ने. । ४. 'च सप्तविंशति' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ५. रथा–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ६. 'शाक्तैः' नास्ति–ख. ने. झ. उ. ।

न्याद्याः षट् । अस्या[1] विद्यायाः पञ्चदशाक्षर्या अन्त्या हृल्लेखास्तिस्रः, तद्वर्जितैर्द्वादशभिर्वर्णै राशित्वं भवेदित्यर्थः । [2]राशयो मेषाद्या द्वादश ॥६६॥

उक्तमर्थं चक्रे व्यतिदिशति—

एवं विश्वप्रकारा च चक्ररूपा महेश्वरी ।

एवमुक्तरीत्या योजितगणेशादिविश्वप्रकारा महेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी चक्ररूपा देवता[3] । विद्यापक्षवत् चक्रपक्षेऽपि गणेशत्वादिकं योज्यमित्यर्थः । योजनाप्रकारस्तु—अकथादि[4]मयमध्यत्रिकोणरेखया गणेशत्वम्, नवकोणैर्ग्रहरूपत्वम्, वृत्तत्रयचतुर्दशकोणबहिर्दशार[5]कोणैश्च नक्षत्ररूपत्वम्, अष्टकोणैर्ब्राह्म्यादियोगिनीसंख्यैर्योगिनीत्वम्, पञ्चशक्तिचतुर्वह्निपद्मद्वयभूगृहै राशित्वम् ॥६७॥

पुनश्च पूर्वोक्तलक्षणमेवार्थं गुरुशिष्ययोरप्यतिदिशति—

देव्या देहे[6] यथा प्रोक्तो गुरुदेहे[7] तथैव हि[8] ॥ ६७ ॥

धारण कर लेती है। इसी पंचदशाक्षरी विद्या की अन्तिम तीन हृल्लेखाओं को हटा देने पर विद्या में बारह अक्षर रह जाते हैं। इनसे विद्या का राशिमय स्वरूप बनता है। मेष, वृष आदि राशियाँ भी बारह होती हैं ॥६६॥

विद्या के बाद अब चक्र में भी इसी विषय का निरूपण करते हैं—

इसी तरह से चक्ररूपा महेश्वरी भी विश्व के गणेश आदि प्रकारों को धारण करती है ॥६७॥

उक्त पद्धति से महेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी जब श्रीचक्र का स्वरूप धारण करती है, तब भी उसमें गणेश, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी प्रकारों का संनिवेश किया जा सकता है। अर्थात् विद्या के पक्ष में जैसे गणेश आदि पदों की योजना बताई गई, वैसे ही चक्र के पक्ष में भी इन सबकी योजना की जा सकती है। जैसे कि अकथादिमय मध्यत्रिकोण की तीन रेखाओं के कारण चक्र की गणेशस्वरूपता, नवकोणों के कारण ग्रहरूपता, तीन वृत्त, चतुर्दश कोण और बहिर्दशार कोण को मिलाकर नक्षत्ररूपता, ब्राह्मी आदि आठ योगिनियों की संख्या वाले अष्टकोण के कारण योगिनीस्वरूपता तथा पाँच शक्ति, चार वह्नि, दो पद्म और भूगृह के योग से राशिस्वरूपता सिद्ध होती है ॥६७॥

अब इसी अर्थ का अतिदेश गुरु और शिष्य में भी किया जा रहा है—

देवी के देह में जैसे गणेश आदि स्वरूपों की योजना की गई, उसी तरह से

---

१. 'अस्याः' नास्ति–ख. ने. झ. उ. । २. 'राशयो''''सुन्दरी चक्ररूपा' नास्ति–ख. ज. उ. । ३. भवेदित्यर्थः । देवतामन्त्रविद्यापक्षवदेव, चक्रपक्षे तु–झ., देवताविद्यापक्षे । देवताचक्रपक्षे तु–ख. ज. उ. । ४. मयत्रिरेखामध्य–क. ग. । ५. रूपेण–ख. ने. ज. उ. । ६. देहो–ख. ने. ङ. च. छ. ज. झ. उ. । ७. देहस्त–ख. ने. ङ. च. छ. ज. झ. उ. । ८. च–ख ङ. च. छ. ज. झ. उ. ।

तत्प्रसादाच्च शिष्योऽपि तद्रूपः संप्रकाशते[1] ।

देव्याः त्रिपुरसुन्दर्याः, देहे[2] स्वेच्छागृहीतलीलाविग्रहे[3], यथा प्रोक्तः—"एकादशाधिकशतदेवतात्मतया पुनः । गणेशत्वं महादेव्याः" (२।५७) इत्यादिना ।

गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृतजगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या देवतादेह[4]स्यैव गुरुत्वाद् गुरुदेहेऽपि[5], यथा देव्या देहे गणेशत्वादिकं योजितं [6]तथैव तद्रूपस्य[7] गुरोरपि देहे तद् योज्यमित्यर्थः । तत्प्रसादात्

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति पदार्थमस्तके ।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः[8] ॥ (चि० ३१)

इत्यस्मदुक्तरीत्या प्राप्तगुरुप्रसादः शिष्यस्तद्रूपो देवतारूप एव संप्रकाशत इति । अतो यथा देव्या गुरोश्च देहे गणेशत्वादिकं योजितम्, तथैव शिष्यदेहेऽपि योजनीयमित्यर्थः ॥६७-६८॥

गुरु के देह में भी इन सबकी भावना करनी चाहिये। अन्ततः गुरु के प्रसाद से शिष्य में भी इन सब स्वरूपों की अभिव्यक्ति हो जाती है ॥६७-६८॥

देवी त्रिपुरसुन्दरी के अपनी इच्छा से परिगृहीत लीलामय शरीर में जैसे एक सौ ग्यारह देवताओं के गण की स्थिति होने से उसकी गणेशता स्वीकार की गई है, उसी पद्धति से गुरु के देह में भी इन सबकी भावना करनी चाहिये। किसी अभियुक्त के "गृणीते" प्रभृति वचन के प्रमाण से गुरु की शिव से अभिन्नता बताई जा चुकी है (२।२६)। तदनुसार देवता ही गुरुदेह के रूप में अवतरित होती है। अतः जैसे देवी के देह में गणेश आदि की योजना की गई, उसी तरह से देवीस्वरूप गुरु के देह में भी इन सबकी योजना करनी चाहिये। गुरु के प्रसाद (कृपा) से ही—

अपने प्रकाशमय स्वरूप के कारण यह शिवस्वरूप गुरु जिस पर प्रसन्न हो जाता है, जिस शिष्य के मस्तिष्क में अपनी कृपादृष्टि से ज्ञान का प्रकाश फैला देता है, तब ज्ञानचक्षु के खुल जाने से वह साधक सभी बाह्य तत्त्वों का शोधन कर परमानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है ॥

स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित चिद्विलास स्तव के इस वचन के अनुसार स्वयं शिष्य भी देवता के स्वरूप में प्रकाशित हो उठता है। अतः जैसे देवी और गुरु के देह में गणेश

---

१. संप्रजायते–क. ग. । २. 'देहे' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ३. गृहीतविग्रहो–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. रूप–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. देहोऽपि देव्या देहवद् गणेश–ख. ने. ज. उ. । ६. 'तथैव' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ७. तद्रूपो गुरुदेहोऽपि तथेष्ट इत्यर्थः–ख. ने. ज. झ. उ. । ८. भावतः–ख. ग. ज. झ. उ., भावितः–ने. ।

कौलिकार्थमुपसंहरति—

इत्येवं कौलिकार्थस्तु कथितो वीरवन्दिते ॥६८॥

इतिशब्दः प्रसङ्गपरिसमाप्तिपरः । एवंशब्दः पूर्वोक्ता[1]नुवादपरः । शेषं स्पष्टम् ॥६८॥

अथ क्रमप्राप्तं सर्वरहस्यार्थं वक्तुं प्रतिजानीते—

तथा सर्वरहस्यार्थं कथयामि तवानघे ।

तथाशब्दः पूर्वोक्तार्थप्रकारपरामर्शार्थः । सर्वरहस्यार्थं पूर्वोक्तसर्वेभ्यो रहस्यम्, परप्राप्तिरूपत्वात् ॥६९॥

सर्वरहस्यार्थमेवाह—

मूलाधारे तडिद्रूपे वाग्भवाकारतां गते ॥६९॥

अष्टात्रिंशत्कलायुक्तपञ्चाशद्वर्णविग्रहा ।

विद्या[2] कुण्डलिनीरूपा मण्डलत्रयभेदिनी ॥७०॥

आदि स्वरूपों की भावना की जाती है, उसी तरह से शिष्य को अपने देह में भी इन सबकी भावना करनी चाहिये ॥६७-६८॥

अब कौलिकार्थ का उपसंहार करते हैं—

हे वीरवन्दिते ! इस तरह से मैंने यह कौलिकार्थ तुमको सुनाया है ॥६८॥

इति शब्द यहाँ प्रस्तुत कौलिकार्थ प्रकरण की समाप्ति का सूचक है। एवं शब्द पूर्वोक्त प्रकार का निर्देशक है। बाकी पदों का अर्थ स्पष्ट है ॥६८॥

इसके उपरान्त क्रमप्राप्त सर्वरहस्यार्थ को कहा जा रहा है—

हे अनघे ! अब मैं तुम्हें सर्वरहस्यार्थ को समझा रहा हूँ ॥६९॥

तथा शब्द यहाँ पूर्वोक्त षड्विध अर्थ का सूचक है। पहले छः प्रकार के अर्थों की चर्चा कर उनमें से कुछ का वर्णन कर दिया गया है। अब सर्वरहस्यार्थ का स्वरूप बताया जा रहा है। परम स्वरूप की प्राप्ति कराने वाला यह अर्थ पूर्व की अपेक्षा अधिक रहस्यमय है, अतः इसे सर्वरहस्यार्थ नाम दिया गया है ॥६९॥

अब [1]सर्वरहस्यार्थ का वर्णन किया जा रहा है।

बिजली के समान कान्ति वाले, वाग्भव (त्रिकोण) के रूप में परिणत मूलाधार में अड़तीस कलाओं से युक्त पचास वर्णों का शरीर धारण करने वाली विद्या कुण्डलिनी के रूप में विराजमान है। तीन मण्डलों का भेदन करने वाली, करोड़ों विद्युत्पुंजों के समान कान्तिवाली, कमलनाल में विद्यमान तन्तुओं के समान

---

१. वतप्रकारा–क. ग. । २. कुल–ख. ।

1. यहाँ सर्वरहस्यार्थ का निरूपण ६९-७२ श्लोकों में किया गया है।

तडित्कोटिनिभप्रख्या बिसतन्तुनिभाकृतिः ।

व्योमेन्दुमण्डलासक्ता सुधास्रोतःस्वरूपिणी ॥७१॥

सदा व्याप्त[1]जगत्कृत्स्ना सदानन्दस्वरूपिणी ।

एषा स्वात्मेति बुद्धिस्तु रहस्यार्थो महेश्वरि ॥७२॥

मूलाधारे पूर्वोक्त(१।२५)लक्षणे, तडिद्रूपे [2]विद्युद्वर्णे, वाग्भवाकारतां गते, वाचः परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः, ताभिर्वाग्भिर्भवतीति वाग्भवं त्रिकोणम्, तदुक्तमत्रैव—"आत्मनः स्फुरणम्" (१।३६) इत्यादिना "क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा" (१।४०)इत्यन्तेन। तदाकारतां गते तद्रूपेण परिणते। अष्टात्रिंशत्कलाः, वह्नेर्धूम्रार्चिराद्या दश, सूर्यस्य तपिन्याद्या द्वादश, सोमस्यामृताद्याः षोडश, एवमेता अष्टात्रिंशत्कलाः, [3]ताभिर्युक्तैः पञ्चाशद्वर्णैरकारादिक्षकारान्तैः, वह्निकलाभिर्दशभिर्युक्ता यादयो दश वर्णाः, सूर्यकलाभिर्द्वादशभिर्युक्ताः क्रमोत्क्रमकभा-

---

अत्यन्त सूक्ष्म आकृति वाली यह कुण्डलिनी शक्ति जब शून्यगगन में चन्द्रमण्डल से संयुक्त होती है, तो अमृतरस बरसने लगता है। सदा आनन्दस्वरूपिणी यह शक्ति अपने इस अमृतरस से सारे संसार को आप्यायित किये रहती है। यह शक्ति स्वयं मेरी ही आत्मा है, ऐसी बुद्धि ही रहस्यार्थ के नाम से यहाँ बताई गई है ॥६९-७२॥

मूलाधार का स्वरूप पहले (१।२५) बताया जा चुका है। बिजली के समान कान्ति वाला यह मूलाधार यहाँ वाग्भव (त्रिकोण) के आकार में परिणत हो गया है। [1]परा, पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी वाणियों से जो उत्पन्न होता है, उसे वाग्भव कहते हैं। यह वाग्भव त्रिकोण है। त्रिकोण की उत्पत्ति उक्त वाणियों से होती है, इस विषय का वर्णन पहले (१।३६-४०) किया जा चुका है। यहाँ बताया गया है कि मूलाधार ही वाग्भव (त्रिकोण) के रूप में परिणत हो जाता है। वह्नि की धूम्रार्चि आदि दस, सूर्य की तपिनी आदि बारह और सोम की अमृता आदि सोलह कलाएँ मिलकर कुल [2]अड़तीस कलाएँ होती हैं। पचास वर्ण इन कलाओं से इस तरह से संबद्ध है—यादि दस वर्ण वह्नि की दस कलाओं

---

१. व्याप्तं जगत्कृत्स्नं–ख. ने. च. छ. ज. झ. । २. विद्युत्सवर्णवर्णे–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. ताभिर्युक्ताः पञ्चाशद्वर्णाः–क. ग. झ. ।

1. आगे (३।५) भी वाग्भव पद की व्याख्या दी गई है। वहाँ वाग्भव से परा प्रभृति वाणियों की उत्पत्ति बताई गई है। वाग्भव पद में तत्पुरुष और बहुव्रीहि समास मान कर दोन ही अर्थ किये जा सकते हैं, क्योंकि बिन्दु और त्रिकोण की अलग अलग रेखाओं से परा प्रभृति वाणियों की उत्पत्ति मानी जाती है और त्रिकोण की परिपूर्णता इसकी अलग अलग रेखाओं से वाणियों की उत्पत्ति के उपरान्त ही होती है।

2. पृ० १५४ की टिप्पणी देखिये।

द्याश्चतुर्विंशतिवर्णाः, सोमकलाभिः षोडशभिर्युक्ता अकारादयः षोडश स्वराः, एवमेते पञ्चाशद्वर्णा विग्रहो यस्याः सा तथा । विद्या[1] सौभाग्यविद्या । "स्वरव्यञ्जनभेदेन[2]....षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी" (२।३३) इति पूर्वोक्तरीत्या षट्त्रिंशत्तत्त्वावयववत्पञ्चाशदक्षरमयी वैखर्यात्मिका [3]कुण्डलिनीरूपा

तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥
नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा[4] ।
नीवारशूकवत् तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा ॥
(तै० आ० १०।११।११-१२)

[5]इति श्रुत्युक्तरीत्या भुजङ्गभोगसदृशी ज्योतिर्लता । मण्डलत्रयभेदिनी, मण्डलत्रयं[6] मूलहृदयभ्रूमध्यस्थितानां वह्निसूर्यसोममण्डलानां त्रयम्, तद्भेदिनी । मण्डलत्रयं भित्वा तन्मध्यमार्गेणाकुलं प्रवेष्टुमुद्यतेत्यर्थः । तडित्कोटिनिभप्रख्या तडित्कोटीनां निभा सदृशी प्रख्या कान्तिर्यस्याः सा । बिसतन्तुनिभाकृतिः बिसतन्तुवत् सूक्ष्मरूपा । व्योमेन्दुमण्डलासक्ता

से संबद्ध हैं, सूर्य की बारह कलाओं से क्रम से कादि बारह वर्ण ओर उत्क्रम (विपरीत क्रम) से [1]भादि बारह वर्ण और सोम की सोलह कलाओं से अकारादि सोलह स्वर संयुक्त हैं । इस तरह से अड़तीस कलामय पचास वर्णों से इस सौभाग्दविद्या का स्वरूप बनता है । पहले (२।३३) विद्यागत स्वर और व्यंजन के भेद से छत्तीस तत्त्वों के अवयव वाली विद्या का निरूपण किया गया है । वही विद्या पचास वैखरी वर्णों वाली कुलकुण्डलिनी कहलाती है ।

समस्त शरीर में व्याप्त उस अग्नि के बीच में से सुषुम्ना नाडी के सहारे ऊपर उठती हुई अत्यन्त सूक्ष्म आकृति वाली एक ज्वाला (कुण्डलिनी) ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त व्याप्त हो जाती है । वर्षा ऋतु के काले बादलों के बीच में चमकने वाली बिजली की सी इसकी चकाचौंध होती है । नीवार शूक [जौ की बाल] के समान सूक्ष्म आकृति वाली यह ज्वाला (कुण्डलिनी शक्ति) अत्यन्त सूक्ष्म और चमकीले पीले वर्ण की होती है ॥

इस तैत्तिरीय आरण्यक श्रुति में इसी का वर्णन किया गया है । इसका आकार सांप के फण के समान होता है । यह ज्योतिर्लता मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य में स्थित वह्नि सूर्य और सोम नामक तीनों मण्डलों का भेदन करने वाली है । इन तीनों मण्डलों को भेद कर वह सुषुम्ना के मध्य मार्ग से अकुल कमल में प्रवेश पाने को उद्यत रहती है ।

---

१. 'विद्या' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. सम्पूर्णः श्लोकः–क. ग. । ३. कुलकुण्ड–ख. ग. ज. झ. उ. । ४. भासुरा–ने. ज. । ५. इत्यस्मदुक्त–ख. ग. ने. ज. झ. उ., इत्युपनिषदुक्त–ब. । ६. त्रयमाधार–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. यहाँ भी मकार का समावेश कहीं नहीं किया गया है। इसके लिये पृ० २६ की टिप्पणी देखिये ।

[1]ललाटोर्ध्वं समारभ्य कपालोर्ध्वावसानकम् ।
[2]त्र्यङ्गुलोर्ध्वे शिरोदेशे परं व्योम प्रकीर्तितम् ॥

इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या परे व्योम्नि यदिन्दुमण्डलं चिच्चन्द्रबिम्बम्, तत्रासक्ता । सुधास्रोतःस्वरूपिणी तद्विगलितामृतप्रवाहरूपा । सदा [3]व्याप्तजगत्कृत्स्ना सदा कालत्रयेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं जगत् कृत्स्नं व्याप्तं ययेति शेषः । सदानन्दस्वरूपिणी [4]सदानन्दः परशिवः स्वरूपं यस्याः सा सदानन्दस्वरूपिणी । एषा [5]चिन्मयी कुण्डलिनीशक्तिः[6] स्वात्मेति बुद्धिस्तदात्मतया समावेशो रहस्यार्थ इत्यर्थः । तदुक्तं चतुःशतीशास्त्रे—

यदोल्लसति शृङ्गाटपीठात् [7]कुण्डलरूपिणी ॥
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् ।
तदुद्भवामृतस्यन्दपरमानन्दनन्दिता ॥
कुलयोषित् कुलं त्यक्त्वा परं पुरुषमेति सा ।

करोड़ों बिजलियों की सी इसकी चकाचौंध रहती है । कमलनाल में विद्यमान तन्तुओं के समान यह अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप वाली है । यह व्योमेन्दुमण्डल में आसक्त है,

ललाट के ऊर्ध्वभाग से लेकर कपाल के ऊर्ध्व भाग पर्यन्त स्थान को शिरःप्रदेश कहा जाता है । इसमें दो अंगुल ऊँचा स्थान परम व्योम कहा गया है ॥

स्वच्छन्दसंग्रह के इस वचन के प्रमाण पर परम व्योम में जो ज्ञानस्वरूप चन्द्रमण्डल विद्यमान है, इसको प्राप्त करने के लिये वह लालायित रहती है । उसको प्राप्त कर लेने पर वह चन्द्रमण्डल से निकलने वाले अमृत से ओत-प्रोत हो जाती है । यह शक्ति तीनों कालों में छत्तीस तत्त्वमय इस सारे जगत् को व्याप्त कर विराजमान है । यह देवी सदा आनन्द से ओत-प्रोत अपने परम शिवमय स्वरूप में प्रतिष्ठित है । यह चिन्मयी कुण्डलिनी शक्ति मेरी ही आत्मा है, इस प्रकार की बुद्धि, अर्थात् ऊपर वर्णित स्वात्मस्वरूपिणी कुण्डलिनी शक्ति के रूप में स्वात्मस्वरूप का समावेश, एकाग्रता ही यहाँ रहस्यार्थ का स्वरूप है । चतुःशतीशास्त्र में यह इस तरह से वर्णित है—

कुण्डलरूपिणी यह कुण्डलिनी शक्ति जब शृंगाट पीठ (त्रिकोण) से उठती है, तब वह मंगलमय रविमण्डल को भेद कर और इन्दुमण्डल को द्रवित करती हुई आगे बढ़ती है । इन्दुमण्डल से उत्पन्न अमृत की वर्षा से वह परम आनन्द में निमग्न हो जाती है । तब यह कुलकुण्डलिनी शक्ति अपने कुल (शक्तिचक्र) को छोड़ कर अकुल नामक पर पुरुष के पास

---

१. द्वादशान्तं ललाटोर्ध्वं–ख. ने. ज. उ. । २. द्व्यङ्गु–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. व्याप्तं जगत्कृत्स्नं–झ. उ. । ४. स्वसंविदानन्दस्य भावः सदानन्दः–क. । ५. 'चिन्मयी' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ६. शक्तिरिति बुद्धिः स्वात्मेति–ख. ने. ज. । ७. कुटिल–मु. ।

निर्लक्षणं निर्गुणं च कुलरूपविवर्जितम् ॥
ततः स्वच्छन्दरूपा [१]तु परिगृह्य जगत्पतिम् ।
तेन [२]मार्गेण सन्तुष्टा पुनरेकाकिनी सती ॥
रमते [३]स्वयमव्यक्ता त्रिपुरा व्यक्तिमागता । इति ॥६९-७२॥
(नि० षो० ४।१२-१६)

अथ क्रमप्राप्तं महातत्त्वार्थं वक्तुं प्रतिजानीते—

महातत्त्वार्थ इति यत् तच्च देवि वदामि ते ।

[४]स्पष्टम् ॥७३॥

महातत्त्वार्थमेवाह—

निष्कले परमे सूक्ष्मे [५]निर्लक्ष्ये भाववर्जिते ॥७३॥
व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्दविग्रहे ।
विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनि योजनम् ॥७४॥

निष्कले निरवयवे, कला अवयवाः । परमे महद्भ्योऽपि महीयसि । सूक्ष्मे अणोरप्यणीयसि । निर्लक्ष्ये करणेन्द्रियाद्यगोचरे । [६]भाववर्जिते [७]"भावनागम्यमतीन्द्रियं च यल्लक्ष्यमुक्तम्"[१] (श्लो० १३) इति चिद्गगनचन्द्रिकोक्तरीत्या भावनागम्ये । व्योमातीते व्योम पूर्वोक्त(२।७१)लक्षणं तदतीते । परे तत्त्वे [२]सकलतत्त्वातीते परमार्थे । प्रकाशानन्दविग्रहे, प्रकाशो ज्योतिषां ज्योतिरनुत्तरम्, आनन्दः सकलवैषयिकानन्दसमष्टिभूतः परमानन्दः, तौ प्रकाशानन्दौ विग्रहो यस्य, तस्मिन् । विश्वोत्तीर्णे विमुक्तसकलजगदुत्तीर्णे । विश्वमये

देशकालपदार्थात्म यद्यद्वस्तु यथा तथा[३] ।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये [४]सांविदीं कलाम् ॥ (सौ० हृ० ४)

इति प्रामाणिकोक्तवचनरीत्या तत्तदात्मनाऽवभासमाने, तत्त्वे "तत्त्वमसि" (छा० उ० ३।८।७) इत्युपनिषद्वाक्य[५]परमार्थ[६]परविद्याप्रदायकपरशिवरूपे निजगुरुप्रबोधितनिर्मलस्वभावे स्वात्मनि योजनं तदेकतानुप्रवेशो महातत्त्वार्थ इत्यर्थः ॥७३-७४॥

पहुँच जाती है । यह पर पुरुष सभी गुणों और धर्मों से रहित है, कुल और रूप से भी यह शून्य है । उसको पाकर वह शक्ति स्वेच्छाचारिणी हो जाती है, उस जगत्पति के साथ समरस हो जाती है । इस अवस्था से सन्तुष्ट होकर वह पुनः अकेली हो जाती है । इस तरह से यह अव्यक्त स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा व्यक्त होकर नाना प्रकार की क्रीडा करती है ॥६९-७२॥

अब क्रमप्राप्त [1]महातत्त्वार्थ का वर्णन करते हैं—

हे देवि ! यह जो महातत्त्वार्थ है, अब उसे मैं तुम्हें समझा रहा हूँ ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥७३॥

उसी को समझा रहे हैं—

निष्कल, परम सूक्ष्म, निर्लक्ष्य, भाववर्जित, व्योमातीत, प्रकाश और आनन्द स्वरूप, विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय परम तत्त्व में अपने को विलीन कर देने का ही नाम महातत्त्वार्थ है ॥७३-७४॥

कला अवयवों को कहते हैं । यह परम तत्त्व निष्कल है, निरवयव है । यह परम है, महान् से भी महान् है । सूक्ष्म है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । अन्तःकरण, बहिरिन्द्रिय आदि का विषय न होने से यह निर्लक्ष्य है, किसी को दिखाई नहीं पड़ता । यह भाववर्जित है, सभी प्रकार के स्वभावों से शून्य होने से केवल भावना के सहारे ही यहाँ पहुँचा जा सकता है । चिद्गगनचन्द्रिका में बताया गया है—"यह अतीन्द्रिय तत्त्व केवल भावना के द्वारा ही लक्षित हो सकता है" । व्योम (परम व्योम) का स्वरूप अभी (२।७१) बताया गया है । उस परम व्योम पद से भी यह ऊपर है । समस्त तत्त्वों से भी ऊपर है, अतः इसे पर तत्त्व कहते हैं । समस्त तत्त्वों से अतीत यह पर तत्त्व ही परमार्थ है, वास्तविक है । इसका स्वरूप प्रकाश और आनन्दमय है । यह सभी ज्योतियों का प्रकाशक अनुत्तर प्रकाश है और समस्त वैषयिक आनन्दों का समष्टिभूत परमानन्द है । यह विश्वोत्तीर्ण तत्त्व है, विमुक्त अवस्था में यह सारे जगत् से ऊपर उठ जाता है । यह विश्वमय भी है, संसारावस्था में यही तत्त्व विभिन्न रूपों में भासित होता है । शिवानन्द मुनि सौभाग्यहृदय स्तोत्र में कहते हैं—

देश, काल और पदार्थ के रूप में जो जो वस्तु जिस किसी रूप में भासित हो रही है, उन सभी रूपों में संवित्स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा ही एकमात्र भासमान है । मैं उसी की शरण में जाता हूँ ॥

इस तरह से विश्व के समस्त पदार्थों में भासमान यह परतत्त्व विश्वमय भी है । इस परम तत्त्व में "वह तुम ही हो" इस तरह के उपनिषद् वाक्यों द्वारा प्रतिपादित परमार्थ स्वरूप परविद्या के प्रदायक परम शिव के स्वरूप में, अपने गुरु के द्वारा जगाये गये अपने ही निर्मल स्वभाव में अपने को नियोजित कर देना, अपनी अभेदप्रतीति को निरन्तर जगाये रखना ही महातत्त्वार्थ कहलाता है ॥७३-७४॥

---

१. तद्विभ्राम्य जगत्प्रभुम्–क. ग., परिभ्रम्य जगत्पुनः–मु. । २ चारेण-मु. । ३. सेय–क. ग. झ. । ४. स्पष्टमेतत्–ज. । ५. निर्मले–झ. । ६. 'भाववर्जिते' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ७. कल्पनातिग–मु. ।

1. छठे और अन्तिम महातत्त्वार्थ का वर्णन ७३-८० श्लोकों में है ।

१. मुज्झति–मु. । २. सकलतत्त्वार्थपर–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. यथा–मु. । ४. संविदं–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. द्वाक्यार्थपरमार्थे–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. 'पर.... तत्त्वार्थ' नास्ति- ख. ने. ज. उ. ।

नन्वेवंविध[1]लक्षणं स्वात्मतत्त्वं केन प्रमाणेनावसीयत इत्यत आह—

तदा प्रकाशमानत्वं तेजसां तमसामपि ।
अविनाभावरूपत्वं तस्माद् विश्वस्य सर्वतः ॥७५॥

[2]यदा शिवः सर्वप्राणिनां चित्ते परिस्फुरति, तदा 'आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन'' (न्या० भा० ११११४) इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या तेजसां सूर्यादीनां तमसां घटादीनां जडानामपि प्रकाशमानत्वम् । चित्ते चिदात्मनि परमशिवे प्रथमं परिस्फुरति सत्येव तत्तदिन्द्रियद्वारा तत्तदर्थानां परिस्फुरणम् । अत्र श्रुतिः—''तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' (क० उ० ५।१५) इति । तस्मात् सर्वतः सर्वस्य विश्वस्य उक्त(१।४१)लक्षणस्य अविनाभावरूपत्वम्, विना न भवतीत्यविनाभावः । कोऽर्थः ? विश्वमिदं द्रष्टृसापेक्षप्रतीतिकं दृश्यत्वात्, यद्यद् दृश्यं तत्तद् द्रष्टृसापेक्षप्रतीतिकम्, यथा सम्प्रतिपन्नो घटः, यद् द्रष्टृसापेक्षप्रतीतिकं न भवति तद् दृश्यमपि न भवति, यथा शशविषाणम्; इत्याद्यन्वयव्यतिरेकसिद्धेनानुमानप्रमाणेनावसीयत इत्यर्थः ॥७५॥

अब प्रश्न होता है कि ऊपर जिस स्वात्मस्वरूप का वर्णन किया गया है, उसकी प्रतीति हमें कैसे होगी ? इसी का उत्तर देते हैं—

इस परम स्वरूप के प्रकाश से ही तेज और तम सभी प्रकाशित होते हैं । इस लिये यह सारा विश्व इसमें अभिन्न रूप में स्थित है ॥७५॥

जब शिव सब प्राणियों के हृदय में स्फुरित होते हैं, तब ''आत्मा मन से, मन इन्द्रियों से और इन्द्रियां विषय से संयुक्त होती है'' न्यायभाष्य की इस पद्धति से सूर्य प्रभृति तेजस्वी पदार्थों का तथा घट प्रभृति तमोमय (जड़) पदार्थों का भी बोध होता है । चित्त में चिदात्मस्वरूप परम शिव का पहले परिस्फुरण होने पर ही उन-उन इन्द्रियों की सहायता से उन-उन विषयों का ज्ञान हो पाता है । कठोपनिषद् भी कहती है—''उसका प्रकाश होने पर ही बाकी सब वस्तुएँ भासित होती हैं, इसी के प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित है'' । इसलिये पूर्वोक्त (१।४१) लक्षण वाला यह सारा जगत् उस परम शिव में ही अनुस्यूत है, उसके बिना जगत् की स्थिति ही नहीं बन सकती । इसका अभिप्राय यह है कि इस विश्व की प्रतीति के लिये द्रष्टा की अपेक्षा है, क्योंकि यह दृश्य है, जो जो दृश्य पदार्थ हैं, उनकी प्रतीति द्रष्टा द्वारा ही होती है, जैसे दृश्य रूप में स्वीकृत घट की प्रतीति द्रष्टा करता है । जिसकी प्रतीति द्रष्टा के अधीन नहीं होती, वह दृश्य भी नहीं होता, जैसे खरगोश की सींग । इस तरह अन्वय और व्यतिरेक की सहायता से अनुमान प्रमाण के द्वारा यह सिद्ध होता है कि दृश्य जगत् का द्रष्टा वह स्वात्मस्वरूप परम शिव ही है ॥ ७५ ॥

---

१. परलक्षणं-क. ग. । २. यदा स सर्व-ख. ने. ज. उ. ।

अथवा अलं प्रमाणचिन्तया, प्रमाणानामपि चिदनुप्रवेशेनैव प्रमाणत्वात् तेषामपि [1]स्वरूपमेतत्सद्भावं साधयितुमलम्. तस्य प्रकाशरूपत्वादित्याह—

प्रकाशते महातत्त्वं दिव्यक्रीडारसोज्ज्वले ।

महातत्त्वं देशकालाकारैर्निरवच्छिन्नं तत्त्वं प्रकाशते [2]स्वयमेव, तेन विना न तत्किमपि प्रकाशयितुमलम्, तस्यैव प्रकाशेन [3]सर्वत्र प्रकाशात् । अत्र श्रुतिस्मृती—''तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'' (क० उ० ५।१५) इति, ''न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'' (भ० गी० १५।६) इति च । अभियुक्तवचोऽपि—

अवधानैकतानानां मतिरेवात्र साक्षिणी ।
किं प्रमाणै[4]र्वराकैस्तैश्चिदनुप्राणितात्मभिः ॥
नहि वैकर्तनं ज्योतिर्दीपालोकमपेक्षते । (प० प० ११-१२) इति ।

अथवा उस स्वात्मस्वरूप के लिये किसी प्रमाण की चिन्ता करना व्यर्थ है । प्रमाणों की प्रवृत्ति भी, उनका प्रामाण्य भी चिच्छक्ति की सहायता से ही निश्चित होता है, अतः इन प्रमाणों के प्रकाशक के रूप में भी इस स्वात्मस्वरूप का सद्भाव सिद्ध होता है—

हे शिवशक्तिसामरस्यस्वरूपिणि देवि ! यह महातत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है, अर्थात् इसके प्रकाश के लिये किसी दूसरे तत्त्व की आवश्यकता नहीं है ॥७६॥

यह देश, काल, आकार आदि से अपरिच्छिन्न महातत्त्व स्वयं ही प्रकाशित होता है । इसके बिना कोई भी वस्तु प्रकाशित नहीं हो सकती । इसी के प्रकाश से बाकी सब वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं । श्रुति का कहना है कि उस ब्रह्म के प्रकाश से ही सब कुछ प्रकाशित होता है । स्मृति (गीता) भी कहती है कि उस ब्रह्म को सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि भी प्रकाशित नहीं कर सकती । किसी प्रामाणिक [1]व्यक्ति ने भी कहा है—

पूरी सावधानी बरतने वाले योगियों की एकाग्र बुद्धि ही मात्र इस परम तत्त्व का साक्षात्कार कर सकती है । बेचारे प्रमाणों की प्रवृत्ति यहाँ कैसे हो सकती है, क्योंकि उनका संचालन तो यह चिच्छक्ति ही करती है । सूर्य को प्रकाशित करने के लिये बेचारे दिये की क्या ओकात हो सकती है ?

---

१. 'स्वरूपम्' नास्ति-क. ग. ज. झ. । २. स्वत एव-ख. ज. झ. उ. । ३. सर्वाणि प्रकाशन्त इति-ज. झ. उ., प्रकाशन्ते सर्वाण्यपि-क. । ४. र्वचोभिश्च स्वप्रकाशे चिदात्मनि-ख. ने. ज. झ. ।

1. इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि परापंचाशिका किसी व्यक्ति की रचना है । अतः कश्मीर ग्रन्थमाला में अनुत्तरप्रकाशपंचाशिका के नाम से प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रारंभ में दिया गया नाम (आद्यनाथ) भगवान् शंकर का वाचक न होकर किसी व्यक्ति का वाचक है ।

दिव्यक्रीडारसोज्ज्वले । [1]देव्याः संबुद्धिः । [2]दिवि भवो दिव्यः परमशिवः, तस्य क्रीडा विश्वसर्जनादिव्यवहारक्रियात्मिका चिच्छक्तिः, तयोः रसः सामरस्यम्, तेनोज्ज्वले नित्यं शिवशक्तिसामरस्यपरायणप्रतीते देवि इत्यर्थः ॥७६॥

ननु महातत्त्वार्थज्ञानस्य फलं यागादिकर्मणामिव देहान्तरदेशान्तरकालान्तरभाविप्रत्ययः किम् ? नेत्याह—

निरस्तसर्वसंकल्पविकल्पस्थितिपूर्वकः ॥७६॥

रहस्यार्थो महागुप्तः[3] सद्यः प्रत्ययकारकः ।

इदमहं करिष्यामीति मानसं कर्म संकल्पः, एवं मया कर्तव्यं न वेति कोटिद्वयावलम्बि ज्ञानं विकल्पः । शिव[4]स्वातन्त्र्यभावे तु तौ निरस्तौ यत्परिज्ञानमात्रतः, तदुभयनिरासादेव मनःस्थैर्यं स्थितिर्जायते । तत्पूर्वको रहस्यार्थं आकर्णनयोग्यो न भवति । अत एव [5]महागुप्तः, न[5] कस्यापि कथितः, अत्यन्तयत्नेन रक्षितः । सद्यः प्रत्ययकारकः एतदाकर्णनेन शिवोऽहमस्मीति प्रत्ययः सद्य एव समुदेतीत्यर्थः ॥७६-७७॥

नन्वयमर्थः कुत्र स्थितः ? कुत्र वा दृष्टस्त्वया ? किं वा तस्य फलम् ? इत्यत आह—

महाज्ञानार्णवे दृष्टः शङ्का तत्र न पार्वति ॥७७॥

विद्यापीठनिबन्धेषु संस्थितो दिव्यसिद्धिदः ।

विद्यैव पीठं विद्यापीठम्, शिवयोर्विश्रान्तिस्थान[1]त्वात् । तन्निबद्धयते येषु तानि तदवयवभूतानि वाग्भवकामराजशक्त्याख्यानि बीजानि, तेषु विद्यापीठनिबन्धेषु, "अकुले विषुसंज्ञे च" (१।२५) इत्यत्रोक्तरीत्या बीजत्रयशिखरवर्तिबिन्द्वर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिकासमनोन्मनाक्रमेणानुसन्धीयमानेषु उन्मन्यन्तदेशकालानवच्छिन्न[2]वस्तुपरचिदात्मकमहातत्त्वार्थः संस्थित इत्यर्थः । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

दिव्यक्रीडारसोज्ज्वले यह देवी का संबोधन है । दिव्य शब्द यहाँ परम शिव का वाचक है । उसकी क्रीडा है विश्व के सृष्टि आदि व्यवहारों का संचालन करने वाली चिच्छक्ति । इसका अर्थ है सामरस्य । इस तरह से परम शिव और चिच्छक्ति के सामरस्य से उल्लसित स्वरूप वाली यह देवी यहाँ संबोधित है । इसका भाव यह है कि हे देवि ! शिव और शक्ति के सामरस्यमय स्वरूप को जानने के लिये जो साधक निरन्तर सचेष्ट रहते हैं, उन्हीं को तुम्हारा यह स्वरूप प्रतीत हो सकता है, वे ही तुम्हारे इस स्वरूप को जानने में समर्थ हो सकते हैं ॥७६॥

यज्ञ-याग आदि कर्मों का फल देहान्तर, देशान्तर और कालान्तर में मिलता है । महातत्त्वार्थ को जान लेने का फल तो तुरन्त मिल जाता है, अब इसी बात को समझा रहे हैं—

समस्त संकल्पविकल्पात्मक स्थितियों को दूर कर देने वाला यह रहस्यार्थ अत्यन्त गोपनीय है । यह तत्काल फल देने वाला है ॥७६-७७॥

इस कार्य को मैं करूंगा, इस तरह का मानस कर्म संकल्प कहलाता है । इस कार्य को मैं करूं या न करूं, इस तरह का दो कोटियों वाला संशयात्मक ज्ञान विकल्प कहलाता है । ये दोनों ही स्थितियां तब दूर भाग जाती हैं, जब साधक अपने परिपूर्ण स्वतन्त्र शिवस्वरूप को जान लेता है । संकल्पविकल्पात्मक चित्त की वृत्तियों के दूर हो जाने से मन स्थिर हो जाता है । इनको दूर करने का कार्य यह रहस्यार्थ ही करता है, अतः इसे अवश्य सावधानी से सुनना चाहिये । इसीलिये अब तक मैंने इसे गुप्त रखा है, किसी को भी बताया नहीं है, बड़े जतन के साथ छिपाये रखा है । इसको सुन लेने मात्र से मैं शिव हूँ, इस तरह का ज्ञान तत्काल उत्पन्न हो जाता है ॥ ७६-७७॥

फिर प्रश्न होता है कि यह अर्थ अब तक कहाँ छिपा हुआ था ? आपने उसे कहाँ देखा और इसका फल क्या है ? अब इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देते हैं—

इस अर्थ को मैंने महाज्ञानार्णव में देखा है । हे पार्वति ! इस विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि विद्यापीठ के निबन्धों में भी दिव्य सिद्धि के देने वाले इस अर्थ का निरूपण है ॥७७-७८॥

विद्या स्वयं ही तब पीठ बन जाती है, जब शिव और शक्ति उस पर विश्राम करते हैं । इस [1]विद्यापीठ की जहाँ व्याख्या की जाती है, वे उसी के अवयवभूत वाग्भव, कामराज और शक्ति नामक बीज हैं । पूर्वोपदिष्ट (१।२५) पद्धति से इन तीनों बीजों के शीर्ष स्थान में स्थित बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना के क्रम से जब हम परम तत्त्व के अनुसन्धान में लगते हैं, तो उन्मना से परे देश, काल, आकार आदि से अपरिच्छिन्न परचिदात्मक स्थिति का ज्ञान होता है । यही महातत्त्वार्थ है । स्वच्छन्दसंग्रह में यह इस तरह से वर्णित है—

---

१. 'देव्याः संबुद्धिः' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । २. दिवः संबन्धेन भवो—ख. ने. ज. उ. । ३. मया गुप्तः—क. ग. । ४. त्र्याभावहेतुकाले—क. ख. ग. ने. ज., त्र्याभावे तु—उ. । ५. 'न कस्यापि कथितः' नास्ति—ख. ने. ज. उ. ।

१. स्थानं तन्निबन्धनानि—ख. ने. ज. उ. । २. 'वस्तु' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. मुद्रा, मण्डल, मन्त्र और विद्या नामक चार पीठों में विभक्त तन्त्रों की चर्चा हमने नि० षो० (उपोद्घात, पृ० ५६-५७) में की है । उसी विभाग की चर्चा यहां हुई है, किन्तु अमृतानन्द और भास्करराय ने उस परम्परा की उपेक्षा कर यहाँ कल्पना के सहारे अर्थ किया है ।

या [1]चेयं समनाशक्तिस्तदूर्ध्वे उन्मना [2]स्मृता ।
नात्र कालकलाभानं न तत्त्वं न च देवता ॥
सुनिर्वाणं परं शुद्धं रुद्रवक्त्रं तदुच्यते ।
शिवशक्तिरिति ख्यातं[3] निर्विकल्पं निरञ्जनम् ॥
तत्त्वातीतं वरारोहे वाङ्मनोतीतगोचरम् ।
अनिष्कलं चासकलं नीरूपं निर्विकल्पकम् ॥
निर्द्वन्द्वं परमं [4]तत्त्वं शिवाख्यं परमं पदम् । इति ।

दिव्यसिद्धिदः । दिवि [5]उन्मन्यन्ते निरस्तनिखिलप्रपञ्चमहाशून्ये भवतीति दिव्यः [6]परमशिवः पूर्वोक्तः (२।७६), तस्य सिद्धिः स्वाभेदेन परिज्ञानम्, तल्लक्षणं परमप्रयोजनं ददातीति दिव्यसिद्धिदः । महाज्ञानार्णवे दृष्टः । तादृशपरमशिव-सामरस्यसमाधिरेव महाज्ञानम्, तदेवार्णवः[7], निस्तरङ्गपारावारभूतपरमामृत-परिपूर्णत्वात्, तस्मिन् दृष्टः [8]स्वात्माहंभावभावनया भावितः । कोऽर्थः ? अयं परमः

यह जो समना शक्ति है, उसके ऊपर उन्मना शक्ति की स्थिति सुनी जाती है । यह काल की कला, तत्त्व, देवता आदि की प्रतीति नहीं होती । परम शुद्ध स्वच्छ निर्वाण पद यही है । शिव के स्वरूप की प्रतीति का [1]द्वार यही है । यह शिव और शक्ति का समरस स्वरूप है । हे वरारोहे ! यह निर्विकार, निरंजन, तत्त्वातीत पद मन और वाणी का विषय नहीं बन सकता । यही अनिष्कल, असकल, नीरूप, निर्विकल्पक, निर्द्वन्द्व परम तत्त्व है, यही शिव नामक परम पद है ॥

यह महातत्त्वार्थ दिव्य सिद्धि को देने वाला है । उन्मना के अन्त में समस्त जागतिक प्रपंचों से ऊपर विद्यमान महाशून्य ही परम आकाश है । उस परम आकाश में ही परम शिव विद्यमान हैं । इस दिव्य परम शिव की सिद्धि, उसके साथ अपना अभेद ज्ञान इस महातत्त्वार्थ की सहायता से ही मिल सकता है, अतः यह दिव्य सिद्धि को देने वाला है । यह ज्ञान [2]महाज्ञानार्णव में दृष्ट है । परम शिव की समरसता रूप समाधि को ही यहाँ महाज्ञान कहा गया है । यह निस्तरंग शान्त समुद्र के समान परमामृत से परिपूर्ण है । इस महाज्ञानरूपी समुद्र में इस अर्थ को देखा गया है, अपनी आत्मा का ही यह स्वरूप

१. चोक्ता–ज. झ., शक्तिः कारणत्वेन पूर्वतनः पाठः । २. स्थिता–ने. ज. । ३. ता···कारा···ञ्जना–ख. ने. ज. झ. । ४. शान्तं-क. ग. । ५. 'उन्मन्यन्ते' नास्ति–क. ग. । ६. परमेश्वरः–ख. ने. झ. उ. । ७. र्णवो विस्तारः, तरणपराणां परा–ख. ने. ज. उ. । ८. शिवाहं–ज. झ. ।

1. पृ० ४९ की टिप्पणी देखिये ।

2. महाज्ञानार्णव एक तन्त्र का नाम है । भास्करराय ने भी इसको माना है । अमृतानन्द ने इस ग्रन्थ के नाम की भी आध्यात्मिक व्याख्या कर दी है ।

शिवपरप्राप्तिलक्षणो महातत्त्वार्थः सौभाग्यविद्याबीजत्रयशिखरवर्तिन्युन्मन्यवसान-भूमाववस्थितस्तथाविधफलदो मया नित्यं समाधिदशायां निरीक्ष्यत[1] इत्यर्थः । शङ्का तत्र न पार्वति । शङ्का तत्र त्वया न कार्या । यथार्थदर्शी यथादृष्टार्थवादी तवाहमाप्तः, तेन मदुक्तेऽर्थेऽपि विश्वासः कार्यं इत्यर्थः ॥७७-७८॥

नन्वयं महातत्त्वार्थो [2]महागुप्त इत्युक्तम्, तर्हि कीदृशैर्लभ्यत इत्यत आह—

कौलाचारपरैर्देवि पादुकाभावनापरैः ॥७८॥
योगिनीमेलनोद्युक्तैः प्राप्तदिव्याभिषेचनैः ।
शङ्काकलङ्कविगतैः सदा मुदितमानसैः ॥७९॥
पारम्पर्येण विज्ञातरहस्यार्थविशारदैः ।
लभ्यते

कुलं शरीरं महाप्रयोजनहेतुतया ज्ञेयं येषां ते कौलाः । तदुक्तं स्वच्छन्द-संग्रहे—

है, इस तरह से पहचाना गया है । इसका भाव यह है कि परम शिव की भलीभाँति प्राप्ति कराने वाला यह महातत्त्वार्थ सौभाग्यविद्या के तीन बीजों के शिखर स्थान में विद्यमान उन्मना पर्यन्त नाद की जहाँ समाप्ति होती है, वहाँ विराजमान है । यह तत्काल फल देने वाला है । इसीलिये मैं प्रतिदिन समाधि दशा में इसका निरीक्षण करता हूँ । हे पार्वति ! इस विषय में तुमको किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये । सभी पदार्थों के रहस्य को यथार्थ रूप में देखने वाला और यथार्थ रूप में देखे गये उन विषयों को तुमको समझाने वाला मैं तुम्हारे लिये परम प्रमाणभूत हूँ । इसलिये मेरी कही बात पर तुमको विश्वास करना चाहिये ॥७७–७८॥

भगवान् शिव ने बताया है कि यह महातत्त्वार्थ परम गोपनीय है, तब कैसे व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकते हैं, इसीका अब वर्णन किया जा रहा है—

हे देवि ! कौलाचार का अनुसरण करने वाले, गुरुपादुका की सेवा में लगे हुए, योगिनीमेलन में निरत, सभी प्रकार की शंकाओं से उन्मुक्त, सदा प्रसन्न-चित्त रहने वाले लोग ही इस महातत्त्वार्थ को ठीक तरह से समझ सकते हैं, जो कि गुरुक्रम से दीक्षित और अभिषिक्त होकर परम्परा से सारे रहस्य को जानते हैं ॥७७–८०॥

कुल शब्द यहाँ शरीर का वाचक है । यह मानव शरीर ही महाप्रयोजन मोक्ष की सिद्धि कराने वाला है, ऐसा मानने वाले कौल कहलाते हैं । स्वच्छन्दसंग्रह में इनका वर्णन है—

१. क्ष्यते । अतस्तत्रार्थे शङ्का त्वया–ख. ज. झ. उ. । २. मया गुप्तः–क. ग. ।

कुलज्ञानमथो वक्ष्ये कौलिकानां हिताय वै ।
यस्य विज्ञानमात्रेण योगोपायाश्च योगिनाम् ॥
[1]सुगुप्ताः सिद्धयः सर्वा भवन्ति सुलभाः प्रिये ।
शरीरं कुलमित्युक्तम् .... ॥

तेषामाचारः,

सर्वेषामेव शिष्याणां दीक्षितानां[2] कुलान्वये ।
सर्वावस्थागतानां च साधारणमतं[3] शृणु ॥
गुरुभक्तिश्च शान्तिश्च पूजा श्रद्धा क्षमा धृतिः ।

इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या समयाचारपरैः । पादुकाभावनापरैः,

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः ।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः ॥ (चि० १)

अब मैं कौलिकों के हित के लिये कुल ज्ञान का उपदेश करता हूँ । हे प्रिये ! इसको जानने मात्र से योगियों को योग के उपायों की और नाना प्रकार की अत्यन्त गुप्त सिद्धियों की प्राप्ति अनायास हो जाती है । यह शरीर ही कुल कहलाता है ॥

इन कौलिकों का आचार ही कौलिकाचार है । इसका भी वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह में है—

कुलान्वय में दीक्षित सभी शिष्यों के लिये, चाहे वे किसी भी अवस्था में पहुँच गये हों, साधारण नियम (समय) सुनो, जिनका पालन करना सबके लिये आवश्यक है । ये हैं—गुरुभक्ति, शान्ति, पूजा, श्रद्धा और धृति ॥

इस तरह से समयाचार का, समयों (नियमों) का पालन करना ही कौलिकाचार है । इनका सदा पालन करने वाला हुआ कौलिकाचारतत्पर । पादुकाभावनापर का अर्थ है गुरु की पादुका को भावना में सदा लगा हुआ । गुरुपादुका का स्वयं व्याख्याकार ने अपने स्तोत्र चिद्विलास में इस तरह से वर्णन किया है—

स्वयंप्रकाशस्वरूप शिव की एक मूर्ति है और उसका विमर्शशक्तिमय दूसरा शरीर है । इन दोनों के सामरस्यमय शरीर से परा पादुका बनती है, जो परमशिव स्वरूप गुरु का देह है । इसका अभिप्राय यह है कि गुरु की पादुका की भावना करने वाला शिष्य अपने गुरु के प्रसाद से शिव और शक्ति के सामरस्य को भलीभाँति समझ सकता है, क्योंकि गुरु की पादुका में यह स्वरूप स्वाभाविक रूप से छिपा हुआ है ॥

---

१. योगोक्तविधयः सर्वे–क. ग. । २. तानामपि प्रिये–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. गतं–क. ग. ।

इत्यस्मदुक्तरीत्या प्रकाशविमर्शतत्समष्टितया श्रीगुरुपादुकात्रयभावनापरैः । योगिनीमेलनोद्युक्तैः,

यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते ।
तत्सतां हि नियमावलम्बनं[1] ध्यानपूजनकथा विडम्बना ॥

इति [2]प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या मातृमानमेयसंविदो योगिन्यः, तासां मेलनम् अन्तर्मुखीभावेन परप्रमातृविश्रान्तिः[3], अथवा ब्राह्म्याद्यष्टकार्चनार्थं सामयिकशक्तिचक्रमेलनं योगिनीमेलनम्, तत्रोद्युक्तैः[4] । प्राप्तदिव्याभिषेचनैः लब्धपरमशिव-

---

इस तरह से यहाँ प्रकाश, विमर्श और इनकी समष्टिस्वरूपिणी तीन पादुकाओं की भावना करनेवालों का बोध होता है । अब योगिनीमेलनोद्युक्त पद का अर्थ किया जा रहा है—

जहाँ जहाँ मरीचियाँ मिलती हैं, सब जगह उस परम शिव का व्यापक स्वरूप ही दिखाई पड़ता है । ऐसी स्थिति में नाना प्रकार के नियमों का पालन करना, ध्यान करना, पूजा करना—ये सब विडम्बना मात्र हैं ॥

इस [1]प्रामाणिक वचन के अनुसार यहाँ माता, मान और मेय रूप संवित्तियाँ ही योगिनियाँ कहलाती हैं । उनके मेलन का अर्थ है उनको अन्तर्मुख बना कर परप्रमाता स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देना । अथवा ब्राह्मी प्रभृति के [2]अष्टाष्टक स्वरूपों की उपासना के लिये सामयिक शक्तिचक्र के मेलन को भी योगिनीमेलन कह सकते हैं । इस उभयविध योगिनीमेलन के लिये जो तत्पर हैं, उनको कहते हैं योगिनीमेलनोद्युक्त । इसी-

---

१. लम्बिनां–क. ग. । २. प्रमाणवच–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'रत्रोद्युक्तैः' इत्यधिकम्–झ. । ४. 'तत्रोद्युक्तैः' नास्ति–झ. ।

1. अमृतानन्द ने आगे (३।१४३) इसी वचन को स्तोत्रावली के नाम से उद्धृत किया है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवर्तक भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली में उक्त श्लोक नहीं मिलता । भट्ट उत्पल के नाम से उद्धृत कुछ अन्य श्लोक भी वहाँ नहीं मिलते । क्षेमराज ने शिवस्तोत्रावली के उसी स्वरूप की व्याख्या की है, जो श्रीराम, आदित्यराज और विश्वावर्त के द्वारा निर्धारित किया गया था । प्राप्त सभी हस्तलेखों के आधार पर मूल शिवस्तोत्रावली का नया संस्करण होना चाहिये ।

2. अष्टाष्टक शब्द का अर्थ भास्करराय की सेतुबन्ध टीका (३।२००-२०२) में देखिये । वैरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (६।३२७-४००) में ब्रह्मयामल के प्रमाण से आठ दिशाओं में विद्यमान योगिनियों के अष्टाष्टक स्वरूपों (६४ योगिनियों) की नामावली तथा ध्यान विस्तार से वर्णित हैं । भेड़ाघाट जैसे स्थानों में विद्यमान चौसठ योगिनियों की मूर्तियों की इस विवरण के आधार पर परीक्षा होनी चाहिये ।

प्रायगुरुवराभिमन्त्रितचिद्रसमयकलशसलिलसेकैस्ततः प्रक्षालितमलमयपाशैः । अत एव शङ्काकलङ्कविगतैः । इदमित्थं भवेन्न भवेदित्यनवधारणज्ञानं शङ्का, सैव कलङ्कः, मालिन्यहेतुत्वात्, तस्माद्विगतैः । अत एव सदा मुदितमानसैः, मेघावरणविगमाद् यथा रवेः स्वरूपं स्फुरति, तथा मलपाशविगमात् सदा येषां मनसि प्रमोदलक्षणं परशिवस्वरूपं प्रकाशते, तैरित्यर्थः । पारम्पर्येण विज्ञातरहस्यार्थविशारदैर्लभ्यते शिवादिस्वगुरुपर्यन्त[1]गुरुपारम्पर्यक्रमसमासादितसकलरहस्यार्थपर्यालोचनपटुतरमतिभिरयं[2] महातत्त्वार्थो लभ्यत इत्यर्थः ॥७८-८०॥

कौलाचारपरैरित्याद्युक्तगुणविहीनैरयमर्थो न लभ्यत इति शपथपूर्वकमाह—

नान्यथा देवि त्वां शपे कुलसुन्दरि ॥८०॥

स्पष्टम् ॥८०॥

तरह से प्राप्तदिव्याभिषेचन का अर्थ है जो प्रायः परमशिव स्वरूप गुरुप्रवर के द्वारा
अभिमन्त्रित चिद्रसमय ज्ञानामृत से परिपूर्ण कलश के जल से अभिषिक्त हो चुके हैं और
इसके कारण मलमय पाश जिनके धुल चुके हैं । इसीलिये ऐसे योगी शंकारूपी कलंक से
मुक्त हो जाते हैं । यह ऐसा होगा या नहीं, इस तरह की अनिश्चयात्मक स्थिति को शंका
कहते हैं । यह [1]शंका मलिनता का कारण बनती है, अतः कलंक के समान है । इस शंका-
रूपी कलंक से योगी मुक्त रहते हैं । इसीलिये ये सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं । बादलों के
हट जाने से जैसे निरावरण सूर्य निर्मल रूप से प्रकाशित होता है, उसी तरह से मलमय
पाशों के हट जाने से इनके हृदय में आनन्दयय परशिव का स्वरूप प्रकाशित होता रहता
है । शिव से लेकर अपने गुरु पर्यन्त चली आई गुरु-परम्परा के क्रम से जिन्होंने समस्त
रहस्यों को समझ लिया है और बड़ी सावधानी से जो इसका पर्यालोचन करते रहते हैं,
ऐसे निपुण मति वाले साधक ही इस महातत्त्वार्थ को प्राप्त कर सकते हैं ॥७८-८०॥

कौलाचारपर इत्यादि विशेषताओं से रहित व्यक्ति इसको कभी नहीं प्राप्त कर सकता, इसी बात को अब शपथपूर्वक कहते हैं—

हे देवि ! इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती । हे कुलसुन्दरि ! यह बात मैं तुमको शपथपूर्वक कहता हूँ ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥८०॥

१. पर्यन्तपरम्परया विदितसकल–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'अयं' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. आठ पाशों की चर्चा दीपिकाकार (१।७२) ने की है । तन्त्रालोककार (१५। ५९५-५९६) ने इनको ग्रह अथवा आग्रह कहा है । इनमें शंका भी एक है । इसका संक्षिप्त स्वरूप लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग के उपोद्घात (पृ० २१२-२१३) में देखिये ।

ननु मास्तु गुरुपारम्पर्यक्रमः, पुस्तकपाठादिना व्युत्पत्तिबलेनापि किञ्चिन्मात्रपरिज्ञानं सम्पादयितुं शक्यत इत्याह—

पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः ।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः ॥८१॥

अन्यथा कौलाचारव्यतिरेकेण ज्ञानमात्रेण पुस्तकपाठोत्पन्नज्ञानमात्रेण तस्य साधकस्य सिद्धिर्न भवतीति ये पारम्पर्यविहीनाः शब्दव्युत्पत्तिबलेन किञ्चिन्मात्रपरिज्ञानेन गर्विताः[1], तेषां समयलोपेन, "मादनं तदधः शक्तिः" (नि० षो० १।१११) इत्याद्यागमशास्त्रविहितसकलमन्त्राक्षरसंकेतपरिज्ञानाद्युच्चारणादिक्रमलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः

सर्वपीठनिवासिन्यः सर्वगाश्चिन्मरीचयः ।
भैरव्यो [2]भरिताकारा रक्षन्तु कुलमातरः ॥

इति प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या ब्राह्म्याद्या डाकिन्याद्यास्त्वगादिधातुदेवताः, विकुर्वन्ति विकारं जनयन्ति, स्वस्वधातूद्रेकरूपविकारजननेन तेषां देहं नाशयन्तीत्यर्थः ॥८१॥

शंका होती है कि गुरु-परम्परा के बिना भी पुस्तक को पढ़कर शब्दों की व्युत्पत्ति के आधार पर कुछ न कुछ जानकारी मिल ही सकती है, अब इसका समाधान देते हैं—

जो व्यक्ति गुरु-परम्परा से विहीन हैं और जिनको अपने ज्ञान पर गर्व है, परम्परा का लोप करनेवाले ऐसे व्यक्तियों को योगिनियां विद्रूप बना देती हैं ॥८१॥

जिनको गुरु-परम्परा से कौलाचार का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, तो पुस्तक को पढ़ने से उपजे ज्ञान से उनको किसी प्रकार की सिद्धि नहीं मिल सकती । जो परम्परा से विहीन (रहित) हैं, शब्दों की व्युत्पत्ति के सहारे थोड़ा बहुत जान कर जो अहंकारी बन गये हैं, ऐसे व्यक्ति समय का लोप करने वाले हैं । नित्याषोडशिकार्णव आदि शास्त्रों में निर्दिष्ट मूलविद्या के अक्षर-संकेत और उच्चारण आदि की गुरु-परम्परा से प्राप्त होने वाली पद्धति को न जानने के कारण ये प्रत्यवाय के भागी होते हैं । ऐसे व्यक्तियों को मरीचियाँ कष्ट पहुँचाती हैं । इसीलिये किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने इन मरीचियों की इस तरह से स्तुति की है—

सभी पीठों में निवास करने वाली, सर्वत्र यथेच्छ विचरण करने वाली, चिच्छक्ति की मरीचियाँ (किरणें) ही, परिपूर्ण स्वभाववाली भैरवियाँ हैं, कुलदेवियाँ हैं । ये हमारी रक्षा करें ॥

तदनुसार ब्राह्मी आदि और त्वचा आदि धातुओं की अधिपति देवता डाकिनी आदि, जो मरीचियों के नाम से जानी जाती हैं, अपने अपने नियन्त्रण में विद्यमान

१. ताः समयः संकेतः, मादनं–ख. ने. ज. उ. । २. भाविताकाराः–ख. ने. ज. झ. उ. ।

ननु कस्मिन् दिने कस्मिन्नक्षत्रे कस्मिन् [1]वासरे कौलाचारक्रमेण योगिनीमेलनं कार्यमित्यत आह—

यस्तु दिव्यरसास्वादमोदमानविमर्शनः ।
देवतातिथिनक्षत्रे[2] वारेऽपि च विवस्वतः ॥८२॥
मरीचीन् प्रीणयत्येव मदिरा[3]नन्द[4]घूर्णितः ।
सर्वदा च विशेषेण

यस्तु कौलाचारपरो योगी दिव्यरसास्वादमोदमानविमर्शनः, दिवि परव्योम्नि भवतीति दिव्यः परशिवः, तेन रसः सामरस्यम्, तस्यास्वादोऽनुभवः, तेन मोदमानं विमर्शनं मनोवृत्तिर्यस्य सः । प्रथमं परशिवैक्यपरामर्शपरिस्फुरदकृत्रिमानन्दकेवलः पश्चान्मदिरानन्दघूर्णितो वक्ष्यमाणा(३।९८-१०३)र्घ्यशुद्धिं विधाय [5]परामृतभूतया मदिरया सम्पादितानन्दो योगी । देवतातिथिनक्षत्रे, चतुर्दश्यष्टम्यौ देवतातिथी, पुष्यनक्षत्रं देवतानक्षत्रम् । अत्रैव वक्ष्यति—

[1]पुष्यभेन तु वारे च सौरे च परमेश्वरि ॥
गुरोर्दिने स्वनक्षत्रे चतुर्दश्यष्टमीषु च ।
चक्रपूजां विशेषेण योगिनीनां समाचरेत् ॥ (३।१९१-१९२) इति ।

मरीचीन् प्रीणयत्येव[2] । एवकारोऽयोगव्यवच्छेदपरः । उक्तकालेषु सर्वदा योगिनीप्रीणनं कुर्यात्, अन्यथा प्रत्यवायो भवेदित्यर्थः । कालविशेषकथनं नैमित्तिकविशेष[3]-पूजाद्योतनार्थम् । सर्वदा प्रत्यहं च मरीचिप्रीणनं कुर्यादेव, एवकारेणाप्यन्वयः । नित्यार्चनाकरणे प्रत्यवायोऽस्तीति तात्पर्यम्, "नित्यार्चनायां लुप्तायां सासनां सावृतिं क्रमात्" इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या प्रायश्चित्तस्य कर्तव्य[4]त्वात् ॥८२-८३॥

अकरणे प्रत्यवाय एव भवति, करणे तु फलमस्तीत्याह—

लभते पूर्णबोध[5]ताम् ॥८३॥

धातुओं में विषमता पैदा करके ऐसे समयलोप करनेवाले व्यक्तियों के शरीर को रुग्ण बना कर नष्ट कर देती हैं ॥८१॥

किस दिन, किस नक्षत्र और किस वार में कौलाचार के क्रम से योगिनीमेलन करना चाहिये, इसी विषय को अब बताते हैं—

कौलाचार का पालन करने वाले योगी का मन जब परम शिव के सामरस्य का आस्वादन कर आनन्दित हो उठता है, तब वह मदिरा का सेवन कर इस आनन्द को और भी उभारता है। इस अवस्था में योगी देवतातिथि और नक्षत्र में रविवार के दिन तो मरीचियों (योगिनियों) को विशेष रूप से अवश्य ही तृप्त करता है ॥८२-८३॥

जो कौलाचारपरायण योगी परम शिव के सामरस्य से उत्पन्न आनन्द का अनुभव कर प्रसन्नता से भर जाता है, वह पहले परम शिव के साथ एकता का अनुभव कर अकृत्रिम (स्वाभाविक) आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। बाद में यह योगी आगे (३।९८-१०३) बताई गई विधि से अर्घ्य की शुद्धि करके परम अमृतमय उस सुधा का सेवन कर कृत्रिम आनन्द से भी अपने को परिपूर्ण कर लेता है। ऐसी अवस्था में वह योगी देवतातिथि (चतुर्दशी और अष्टमी) तथा देवतानक्षत्र (पुष्य) में मरीचियों को अवश्य ही तृप्त करता है। देवतानक्षत्र से पुष्य नक्षत्र का ग्रहण इसी ग्रन्थ में आगे (३।१९१-१९२) किया गया है। वहाँ बताया गया है—

हे परमेश्वरि ! पुष्य नक्षत्र से युक्त रविवार के दिन, गुरु की जन्म और मृत्यु तिथि पर, अपने जन्म दिन पर, चतुर्दशी और अष्टमी तिथि पर योगिनियों की प्रसन्नता के लिये चक्रपूजा अवश्य करे ॥

एव शब्द का अभिप्राय यह है कि ऐसा अवश्य करे, ऊपर बताये गये तिथि, नक्षत्र, वार आदि के उपस्थित होने पर सदा योगिनियों को तृप्त करे। ऐसा न करने पर साधक प्रायश्चित्त का भागी होगा। यहाँ विशेष काल की सूचना नैमित्तिक पूजा की द्योतक है। सामान्य रूप से नित्य क्रिया के रूप में तो योगिनियों की तृप्ति सदा करनी है। एव (ही) शब्द यहाँ अपि (भी) के अर्थ में मानना चाहिये। नित्य पूजा न करने पर व्यक्ति प्रायश्चित्त का भागी होता है। स्वच्छन्दसंग्रह के अनुसार "नित्यार्चन का लोप होने पर आसन देवताओं और आवरण देवताओं के साथ परा भगवती की क्रमशः अर्चा (पूजन) होनी चाहिये"। नित्यार्चन के न करने पर इस तरह से उसको प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि नित्यार्चन तो प्रतिदिन करना ही है, उक्त विशेष तिथियों में नैमित्तिक पूजा भी साधक को अवश्य करनी चाहिये ॥८२-८३॥

यह बता दिया गया है कि न करने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है और अब करने से फल की प्राप्ति होती है, इस विषय को बताते हैं—

नित्य और नैमित्तिक पूजा करने वाला साधक पूर्णबोधता को प्राप्त कर लेता है ॥८३॥

---

१. वारे–ख. ज. झ. उ., योगे–ने. । २. त्रवारे–छ. ज. झ. उ. । ३. कारणा–ज. झ., सुधया–छ. । ४. मद–ने. ङ. च. छ. । ५. परात्मरूपया तया–ख. ने. झ. उ. ।

१. नित्यं पुष्यदिने वारे सौरे च–ख. ज. झ. उ. । २. इतः परम्–'मरीचीनुवतरूपांश्चिन्मरीचीन् प्रीणयत्येव तर्पयत्येव' इत्यधिकः पाठः–झ. ३. 'विशेष' नास्ति–ख. ने. ज. झ. । ४. व्यत्वविधानात्–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. धनम्–ख. ने. च. छ. ज. झ. ।

"यत्र निर्विषयबोधलक्षणः स्वात्मशम्भुरवतिष्ठतेऽनिशम्" (चि० १०)
इत्यस्मदुक्तरीत्या निरावरणचिद्रूपस्वात्मशम्भुत्वं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥८३॥

ननु पूर्णबोधभावः केन वा कियता कालेन कैर्वा सम्प्राप्यत इत्यत आह—

एवंभावस्तु देवेशि देशिकेन्द्रप्रसादतः ।
महाज्ञानमयो देवि सद्यः सम्प्राप्यते नरैः ॥८४॥

एवंभावः पूर्णबोधत्वम् । देशिकेन्द्रप्रसादतः, यस्य करुणाकटाक्षपातमात्रेण पाशजालं छिद्यते, स परमशिवः केवलो देशिकेन्द्रः, तत्प्रसादतः

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति पदार्थमस्तके ।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति [1]भावुकः ॥ (चि० ३१)

इत्यस्मदुक्तरीत्या तत्पादग्रहणेन, महाज्ञानमयो निरावरणचिन्मयः । नरैः[2] "कौलाचारपरैः" (२।७८) इत्यादिपूर्वोक्तविशेषणविशेषितैः । सद्यः देशिकेन्द्रप्रसादसमवाप्तिसमय एव सम्प्राप्यते ॥८४॥

व्याख्याकार ने अपने चिद्विलास स्तव में पूर्णबोधता की व्याख्या इस तरह से की है—"इस स्थिति में बिना किसी विषय की सहायता के स्वप्रकाशमय बोध(ज्ञान)-मय स्वात्मस्वरूप शिव निरन्तर स्फुरित होता रहता है" । इस उक्ति के अनुसार नित्य और नैमित्तिक पूजा करने वाला साधक निरावरण चित्स्वरूप स्वात्मा की परम शिव से अभिन्नता को, उसकी पूर्णबोधस्वरूपता को पहचान लेता है ।।६३॥

अब प्रश्न होता है कि यह पूर्णता का बोध कौन, कितने समय में, किनकी सहायता से प्राप्त कर सकता है ? इसका उत्तर देते हैं—

हे देवेशि ! इस पूर्ण बोधभाव की प्रतीति गुरुकृपा से होती है । हे देवि ! इस चिन्मय बोध की प्रतीति सद्गुरु की आराधना करने वालों को तत्काल हो जाती है ॥८४॥

एवंभाव का अर्थ है मैं परिपूर्ण बोधस्वरूप हूं । जिसकी कृपादृष्टि के पड़ने मात्र से सारे पाशजाल भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वह परम शिव ही केवल देशिकेन्द्र (सबका गुरु) कहलाता है । उसके प्रसाद (प्रसन्नता) का वर्णन स्वयं व्याख्याकार ने अपने चिद्विलास स्तव के एक श्लोक में किया है, जिसकी व्याख्या हम पहले (२।६८) कर चुके हैं । इस परम गुरु के प्रसाद को ग्रहण कर साधक महाज्ञानमय निर्मल चिन्मय स्वात्मस्वरूप को पहचान लेता है । यह साधक पूर्व निर्दिष्ट (२।७७) 'कौलाचारपर' इत्यादि विशेषताओं से संपन्न होकर तत्काल ही, परम गुरु की कृपादृष्टि के प्रसाद को पाने के साथ ही, उक्त महाज्ञान से सम्पन्न हो जाता है, अपने पूर्ण बोधमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥८४॥

---

१. भावकः–ग. ने. उ., भावतः–ज. । २. 'नरैः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. ।

मन्त्रसंकेतमुपसंहरति—

एवमेतत्प्रदं[1] ज्ञानं विद्यार्णागमगोचरम् ।
देवि गुह्यं प्रियेणैव व्याख्यातं दुर्गि षड्विधम् ॥
सद्यो यस्य प्रबोधेन वीरचक्रेश्वरो भवेत् ॥८५॥

एवम् उक्तप्रकारेण, एतत्प्रदं[3] परिपूर्णबोधलक्षण[4]परशिवतत्त्व[5]प्रदं ज्ञानम् । [6]विद्यार्णागमगोचरम्, विद्याया अर्णाः[7] पञ्चदश वर्णाः, त एवागमा महार्थबोधकत्वात्, तद्गोचरं तदर्थतया व्याख्यातम्, "यद्वेत्ता त्रिपुराकारो वीरचक्रेश्वरो भवेत्" (२।१) इत्यारभ्य "एवमेतत्प्रदम्" (२।८५) इत्यन्तश्लोकजालेन । षड्विधं "भावार्थः सम्प्रदायार्थः" (२।१५) इत्यादिना प्रतिपादितषट्प्रकारम् । देवि प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपे परे । दुर्गि दुर्गे देशिकेन्द्रकटाक्षपातविहीनैरप्राप्यस्वरूपे । सद्यो यस्य प्रबोधेन षड्विधार्थस्य प्रबोधेन । वीरचक्रेश्वरो भवेत् । इदन्तारिपोरहमि

अब मन्त्रसंकेत प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

इस तरह से परिपूर्ण बोधस्वरूपता को प्रदान करने वाला यह ज्ञान श्रीविद्या के पन्द्रह वर्णों में जिस तरह से प्रतिष्ठित है, हे दुर्गि, हे देवि ! उसकी षड्विध व्याख्या तुम्हारे प्रेम के वशीभूत हो मैंने यहाँ प्रस्तुत की है । इस विषय को ठीक तरह से जान लेने पर साधक वीरों के समूह का स्वामी बन जाता है ॥८५॥

ऊपर बताई गई विधि से परिपूर्ण बोधस्वरूप परम शिव पद को प्रदान करने वाला यह ज्ञान श्रीविद्या के पन्द्रह वर्णरूपी शास्त्र से प्राप्त होता है, क्योंकि श्रीविद्या के अन्तर्गत विद्यमान वर्ण बहुत बड़े रहस्य का ज्ञान कराते हैं । इनकी यहाँ सम्प्रदाय-प्राप्त परम्परा के अनुसार व्याख्या की गई है । इस विषय को इस ग्रन्थ के पूरे द्वितीय मन्त्रसंकेत प्रकरण के प्रथम श्लोक से लेकर अन्तिम श्लोक पर्यन्त देखा जा सकता है । यह अर्थ भावार्थ, सम्प्रदायार्थ आदि के भेद से छः प्रकार का है, इसका निरूपण विस्तार से ऊपर किया जा चुका है । 'देवि' यह प्रकाशविमर्शसामरस्यमयी परा भगवती का संबोधन है । 'दुर्गि' यह उस देवी के संबोधन का विशेषण है । 'दुर्गे' के स्थान पर 'दुर्गि' पद का प्रयोग वैदिक आर्ष पद्धति से किया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि बिना गुरुकृपा के इसके स्वरूप को पहचानना कठिन है । इस षड्विध अर्थ का सम्यग् ज्ञान हो जाने पर साधक वीरचक्र का स्वामी हो जाता है । इस आध्यात्मिक युद्ध-क्षेत्र में इदन्ता

---

१. परं–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । २. तन्वि–ङ., तव–उ. । ३. परं–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. लक्षणं–ख. ग. ज. झ. उ. । ५. 'तत्त्व' नास्ति–क. । ६. 'विद्यार्णागमगोचरं' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ७. वर्णाः–सार्वत्रिकः पाठः ।

'समराङ्गणे[1] प्रलयप्रतिपादनपरा वीराः, तेषां चक्रं समूहः, तस्येश्वरः परशिवः। पूर्वोक्तषड्विधार्थविज्ञानसमय एव परशिवो भवेदित्यर्थः ॥८५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीपुण्यानन्दशिष्या-
मृतानन्दयोगिप्रवरविरचितायां योगिनीहृदय-
दीपिकायां मन्त्रसंकेतो नाम द्वितीयः ॥

रूपी शत्रु का अहन्ता में प्रविलय करने वाले वीर कहलाते हैं। द्वैतदृष्टि को हटाकर अद्वैत में प्रतिष्ठित होने वाले वीरों के समूह का वह स्वामी हो जाता है, स्वयं परम शिव बन जाता है। पूर्वोक्त छः प्रकार के अर्थों को जान लेने पर साधक तत्काल ही अपने परम शिव स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥८५॥

इस तरह श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री पुण्यानन्द के शिष्य
अमृतानन्द योगिप्रवर विरचित योगिनीहृदयदीपिका
का दूसरा मन्त्रसंकेत प्रकरण पूरा हुआ ॥२॥

●

---

१. रणाङ्गणे–ने. ज. झ. उ.।

पूजासंकेतस्तृतीयः

अथ क्रमप्राप्तं पूजासंकेतं वक्तुं प्रतिजानीते—

पूजासंकेतमधुना कथयामि तवानघे।

स्पष्टम्[1] ॥

श्रोतृजनप्रवृत्तये फलमाह—

यस्य प्रबोधमात्रेण जीवन्मुक्तः प्रमोदते ॥१॥

यस्य पूजासंकेतस्य। प्रबोधमात्रेण '[2]वक्ष्यमाणपरादित्रिविधभेदवतः केवलपरिज्ञानेनैव। जीवन्मुक्तः जीवन्नेव मुक्तः सन् शिवोऽहमस्मीति मतिमान्[3]। प्रमोदते परशिवाहन्तामतिरेव प्रमोदहेतुः ॥१॥

पूजासंकेतमारभते—

तव नित्योदिता पूजा त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता।

अब क्रमप्राप्त पूजासंकेत प्रकरण का उपक्रम करते हैं—
हे अनघे! अब मैं पूजासंकेत का तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ ॥
इसका अर्थ स्पष्ट है ॥

श्रोताओं को प्रवृत्त करने के लिये इस प्रकरण के ज्ञान का क्या फल है? अब यह बताते हैं—

जिसके जानने मात्र से साधक जीवन्मुक्त होकर सदा आनन्द में मग्न रहता है ॥१॥

जिस पूजासंकेत के जानने मात्र से, आगे बताई गई विधि से पर, अपर आदि तीन भेदों वाली पूजाविधि के केवल जान लेने मात्र से, साधक इसी जीवन में मुक्त होकर, 'मैं शिव हूँ' यह भलीभाँति जान कर, सदा आनन्द में लीन रहता है। मैं ही शिव हूँ, इस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने से वह सदा आनन्द में डूबा रहता है ॥१॥

अब पूजासंकेत प्रकरण प्रारंभ होता है—
प्रतिदिन जो तुम्हारी पूजा की जाती है, वह तीन प्रकार की होती है ॥

---

१. स्पष्टमेतत्–ज.। २. 'वक्ष्यमाण'–नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. 'मतिमान्' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

प्रकाशात्मनो मम विमर्शशक्तेर्विमर्शरूपिण्यास्तव । नित्योदिता पूजा नित्यं प्रत्यहम् उदिता विहिता [1]पूजा, त्रिभिर्भेदैर्व्यवस्थिता ॥

पूजानामान्याह—

परा चाप्परा गौरि तृतीया च परापरा ॥२॥

प्रथमा पूजा परा उत्तमोच्यते । परमशिवाद्वैतप्रथाप्रापकत्वादि[2]तरपूजाभ्यामुत्तमत्वम् । तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—

न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या [3]विहिताऽनिशम् ।
स्वे [4]महत्यद्वये धाम्नि सा पूजा या परा स्थितिः ॥ इति ।

अपरा द्वितीया पूजा भेदप्रथामात्रसारा बाह्यचक्रावरणार्चनरूपाऽधमा, "न पूजा बाह्यपुष्पादिद्रव्यैर्या [3]विहिताऽनिशम्" इति [5]पूर्वोक्तवचनात् । तृतीया पूजा परापरा बाह्यस्यान्तरे धाम्न्यद्वये चिल्लयभावनामयी मध्यमा, परापरात्मकत्वात् ॥२॥

मुझ प्रकाशात्मक शिव की विमर्शरूपिणी शक्ति तुम हो । इस प्रकाशविमर्शात्मक स्वरूप की प्रतिदिन की जाने वाली पूजा तीन तरह से सम्पन्न होती है ॥

इनके नाम ये हैं—

हे गौरि ! परा, अपरा इन दो भेदों के अतिरिक्त इसका परापरा नामक तीसरा भेद है ॥२॥

प्रथम पूजा का नाम [1]परा है । यह सर्वश्रेष्ठ है । परम शिव के साथ अद्वय बोध को जगाने वाली यह पूजा अन्य दो पूजाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट है । संकेतपद्धति का कहना है—

बाह्य पुष्प आदि द्रव्यों की सहायता से जो दिन-रात पूजा की जाती है, वह वास्तविक पूजा नहीं है । असली पूजा तो वह है, जिससे साधक अपने महान् अद्वय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय ॥

अपरा नाम की दूसरी पूजा केवल भेददृष्टि को बढ़ावा देने वाली है । इसमें केवल बाह्यचक्र की और तदन्तर्गत आवरण देवताओं की पूजा की जाती है । यह अधम कोटि की पूजा है । इसीलिये संकेतपद्धति के अभी उद्धृत वचन में इसको वास्तविक पूजा नहीं माना गया है । तीसरी पूजा परापरा नाम की है । इसमें बाह्य वस्तुओं का आन्तर अद्वय धाम में विलय किया जाता है, आन्तर चितिशक्ति से स्फुरित इस विश्व के

---

१. 'पूजा' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'इतरपूजाभ्यामुत्तमत्वम्' नास्ति-ख. ने. ज. झ उ. । ३. प्रथिता—क. ने. झ. उ. । ४. महिम्न्य-क. ग. । ५. 'पूर्वोक्त' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. परा, परापरा और अपरा पूजा की व्याख्या हम शांभव, शाक्त और आणव उपायों के रूप में कर सकते हैं ।

तासां लक्षणानि क्रमेणाह—

प्रथमाऽद्वैतभावस्था सर्वप्रसरगोचरा ।

"आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन" (न्या० भा० १।१।४) इति पूर्वोक्त(२।२-४)परिपाट्या सर्वेषामिन्द्रियाणां ये [2]प्रसरा व्यापारास्तेषां गोचरीभूता । कोऽर्थः ?

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाऽभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र [3]परावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति ॥ (श्लो० ११३)
[4]यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते [5]प्रभोः ।
तस्य तन्मात्र[6]धर्मित्वाच्चिल्लयाद् भरिता मतिः ॥ (श्लो० ११४)

इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या बाह्यस्य चिल्लयलक्षणाऽद्वैतप्रथा परा पूजेत्यर्थः ॥

समस्त बाह्य पदार्थों का पुनः उस शुद्ध चितिशक्ति में विलय हो रहा है, ऐसी भावना की जाती है । यह पूजा मध्यम है, क्योंकि परा और अपरा दोनों के बीच में है ॥२॥

अब क्रम से इनके लक्षण बताते हैं—

इन्द्रियों के समस्त व्यापारों में एकमात्र अद्वय शिवतत्त्व को ही देखना, यह पहली परा पूजा है ॥

"आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से संयुक्त होती है" न्यायभाष्य (१।१।४) की इस पूर्व (२।२-४) प्रतिपादित पद्धति के अनुसार सभी इन्द्रियों के व्यापारों में अनुस्यूत रहने वाली अद्वैत प्रथा का ही नाम परा पूजा है । विज्ञानभैरव में बताया गया है—

हे प्रिये ! बाह्य अथवा आन्तर विषय में जहाँ जहाँ मन जाता है, सब जगह व्यापक पराशक्ति ही विद्यमान है । उस परावस्था को छोड़ कर मन कहाँ जा सकता है ? उस उस बाह्य अथवा आन्तर विषय के रूप में इन्द्रियों के मार्ग से भगवान् का चिन्मय स्वरूप ही प्रकट होता है, क्योंकि यह सारा विश्व चिन्मात्रसार है । साधक सारे विश्व को जब अपने चिन्मय स्वरूप में विलीन कर लेता है, तो वह परिपूर्ण स्वभाव का हो जाता है ॥

इसका अभिप्राय यह है कि स्वयं आत्मा ही अन्ततः विषयों का स्वरूप धारण करता है, इस विषय को भलीभाँति समझ कर साधक जब सभी बाह्य अथवा आन्तर विषयों में अपने चिन्मय स्वरूप को अभिन्न रूप से देखता है, तो अन्ततः उसकी दृष्टि में ये सभी पदार्थ चित्स्वरूप में विलीन हो जाते हैं, सर्वत्र उसको एकमात्र चिन्मयता का ही बोध होता है । यह अद्वय प्रथा ही इस शास्त्र में परा पूजा कही गई है ॥

---

१. प्रचर-ख. ग. ने. च. छ. झ. । २. 'प्रसराः' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. शिवा-मु. । ४. तत्र तत्र इति सार्वत्रिको दीपिकापा. । ५. विभोः-मु. । ६. रूपत्वा—ख. ज. झ. उ. ।

द्वितोया चक्रपूजा च सदा निष्पाद्यते मया ॥३॥

द्वितीया [1]चक्रपूजा अपरा पूजा, चतुरस्रादिबैन्दवान्तश्रीचक्र[2]सदनावरणदेवतार्चनमपरा पूजेत्यर्थः। सदा निष्पाद्यते मया। सदा प्रत्यहम्, मया सर्वज्ञेनापि, निष्पाद्यते क्रियते, [3]अभेदप्रतीतिबोधकत्वात्। अभेदप्रतीत्यर्थमपरा पूजा सर्वैरपि ज्ञानिभिः कार्येत्यर्थः। अन्यथाऽद्वैतमित्यप्रसक्तप्रतिषेधः स्यात्, न च तथा युक्तम्। तदुक्तं तन्त्रान्तरे—

लब्धरूपे[4] क्वचित् किञ्चित् तादृगेव निषिध्यते।
विधानमन्तरेणातो न निषेधस्य संभवः॥ इति॥३॥
(ब्र० सि० २।२)

चक्रपूजा दूसरी, अपरा नाम की पूजा है। मैं प्रतिदिन इसका अनुष्ठान करता हूँ ॥३॥

दूसरी चक्रपूजा अपरा पूजा कहलाती है। यहाँ चतुरस्र से बैन्दव चक्र पर्यन्त श्रीचक्र रूपी गृह में निवास करने वाले आवरण देवताओं की बाह्य पूजा संपन्न होती है। मेरा जैसा सर्वज्ञ भी इस पूजा का प्रतिदिन अनुष्ठान करता है, क्योंकि इससे साधक धीरे-धीरे अद्वयबोध की तरफ बढ़ता है। सर्वत्र अभेद बुद्धि को जगाने के लिये ज्ञानी जनों को भी सदा इस अपरा पूजा का सहारा लेना चाहिये। अन्यथा 'अद्वैत' पद में निषेधार्थक नञ् शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। ऐसा होना नहीं चाहिये, क्योंकि ब्रह्मसिद्धि (२।२) में मण्डन मिश्र कहते हैं—

कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में विद्यमान वस्तु का ही निषेध किया जा सकता है। अतः बिना विधि के उसका निषेध नहीं हो सकता ॥

कहने का भाव यह है कि 'अद्वैत' पद में द्वैत का निषेध किया गया है, किन्तु शास्त्र का कहना है कि एकमात्र अद्वय तत्त्व ही वास्तविक है। ऐसी स्थिति में जब अद्वय के अतिरिक्त कुछ है हो नहीं, तब इस पद में विद्यमान नञ् किसका निषेध करेगा? प्रसक्त का ही प्रतिषेध किया जाता है। जब अद्वय के अतिरिक्त कोई वस्तु उपस्थित ही नहीं है, तो यह तो अप्रसक्त (अनुपस्थित) का प्रतिषेध हुआ, जो शास्त्रकारों की दृष्टि में सही नहीं है। अतः अद्वय तत्त्व के प्रतियोगी द्वैत तत्त्व की प्रतीति कराने के अभिप्राय से ही मानों इस अपरा पूजा का विधान है। अपरा पूजा का अनुष्ठान करने वाला साधक भक्त अपने इष्टदेव की भगवान् के रूप में उपासना करता है। इस तरह से यहाँ उपास्य और उपासक के रूप में भेद दृष्टि ही प्रधान रूप से रहती है और 'अद्वय' शब्द का प्रयोग करने वाला शास्त्र अप्रसक्त प्रतिषेध दोष से मुक्त हो जाता है ॥३॥

१. 'चक्रपूजा' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. । २. चक्रपदनिवास्यावरणदेवतानाम्, अतोऽपरा-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. प्रबोधकत्वात्-ख. ज. झ. उ. । ४. रूपे-मु. ।

परापरपूजामाह—

एवं ज्ञानमये देवि तृतीया स्व[1]प्रथामयी।

एवं ज्ञानमये पूर्वोक्ताद्वैतभावनामये धाम्नि स्वप्रथामयी बाह्यस्य पृथगा[2]त्मकावरणार्चनरूपस्य कर्मणो ज्ञानमयताविश्रान्तिस्तृतीया परापरा पूजा। तदुक्तमभियुक्तैः—

प्रकाशैकघने धाम्नि विकल्प[3]प्रसरादिकान्।
निक्षिपाम्यर्चनद्वारा वह्नाविव घृताहुतीः॥ इति॥
(सु० वा० ३७)

पूजाविधानमाह—

उत्तमा सा परा ज्ञेया विधानं शृणु साम्प्रतम् ॥४॥

[4]उत्तमा सा परा पूजा। परापूजाया उत्तमत्वकथनादितरयोरपरापरापरपूजयोरधमत्वं मध्यमत्वं [5]चोपलक्षयति। सा ज्ञेया [6]यथाज्ञानं कार्या। अपरा पूजा

अब परापरा पूजा का स्वरूप बताते हैं—

प्रकाशमय स्वरूप में अपने बाह्य स्वरूप को समर्पित कर देना ही तीसरी परापरा पूजा है ॥

इस तरह से ज्ञानमय, अर्थात् सर्वत्र अद्वैत भावना का प्रसार करने वाले प्रकाशमय स्वरूप में बाह्य भेदप्रधान, अपने से पृथक् रूप में भासित हो रही, आवरण पूजा रूपी कर्मकाण्ड का ज्ञानकाण्ड में विश्रान्तिलाभ कराने वाली तीसरी पूजा परापरा नाम की है। सुभगोदयवासनाकार मुनि शिवानन्द ने निम्न श्लोक में इसी पूजा का वर्णन किया है—

अपने एकमात्र प्रकाशमय स्वरूप में मैं इन जागतिक विषयों के सारे प्रपंच को उसी तरह से डाल दे रहा हूँ, जैसे पवित्र अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है ॥

इसका भाव यह है कि परापरा पूजा का उपासक अपने सारे अशुद्ध विकल्पों को अपनी ज्ञानाग्नि की सहायता से निर्मल बोधस्वरूप बना लेता है ॥

अब पूजा की विधि बताते हैं—

इन तीनों में परा पूजा उत्तम है। अब तुम उसकी विधि सुनो ॥४॥

परा पूजा को यहाँ उत्तम बताया गया है। इससे अन्य दो अपरा और परापरा पूजा की अधमता और मध्यमता लक्षित होती है। अर्थात् परा पूजा उत्तम, अपरा पूजा

१. तु परापरा-क. ग. । २. गावरणा-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. ल्पान् प्रसवादि-ख. ज. झ. उ., ल्पान् पाशवादि-मु. । ४. 'उत्तमा सा परा पूजा' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. । ५. च लक्ष्यते-ने. ज. । ६. ज्ञानगम्या परा-क. ग. ने. ज. झ. उ. ।

पश्चाद् वक्ष्यते । अस्या ज्ञेयत्वात् परत्वमत एवोत्तमत्वं चेत्यर्थः । साम्प्रतं ज्ञेयायाः[1] पूजाया विधानं शृणु ॥४॥

विधानमेव विवृणोति—

महापद्मवनान्तस्थे वाग्भवे गुरुपादुकाम् ।
आप्यायितजगद्रूपां परमामृतवर्षिणीम् ॥५॥
संचिन्त्य

महापद्मवनं ब्रह्मरन्ध्राधोमुखसितसहस्रदला[2]कुलकमलं पद्मदलैराकुलत्वाद् [3]वनमिव वनम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

अधम और परापरा पूजा मध्यम मानी गई है । परा पूजा[1] का अनुष्ठान अपने ज्ञान के अनुसार किया जाता है । अपरा पूजा का वर्णन आगे करेंगे । परा पूजा का अनुष्ठान उत्कृष्ट कोटि का ज्ञानी ही कर सकता है । इसीलिये इसको उत्कृष्ट माना गया है । अब तुम पहले परा पूजा का विधान सुनो ॥४॥

उस विधि का ही विवरण देते हैं—

महापद्मवन के अन्दर विद्यमान वाग्भव (त्रिकोण) में सारे जगत् का विस्तार करने वाली परम उत्कृष्ट अमृत की वर्षा करने वाली गुरुपादुका का ध्यान करना चाहिये ॥५-६॥

ब्रह्मरन्ध्र में अधोमुख श्वेत सहस्रदल अकुल कमल स्थित है । अनेक दलों से आवृत होने से यह कमलों के वन (जंगल) जैसा मालूम पड़ता है । स्वच्छन्दसंग्रह में इस तरह से यह वर्णित है—

---

१. द्वितीयायाः–ज., अपरायाः–उ. । २. दलं कुल–ख. उ. । ३. वनमिति । तदु–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. अमृतानन्द ने यहाँ ज्ञेया पद की व्याख्या परा पूजा के विशेषण के रूप में की है, जब कि भास्करराय इसको क्रिया पद मानते हैं । यही पक्ष उचित लगता है । इसीलिये मूल का हिन्दी अनुवाद हमने तदनुसार ही किया है । दीपिका की पूर्व प्रकाशित पुस्तक तथा उसके अनेक हस्तलेखों में उपलब्ध पाठ का अर्थ यह होता है कि परा पूजा की विधि बाद में बताई जायगी । वस्तुस्थिति यह है कि भास्करराय ही नहीं, स्वयं दीपिकाकार भी आगे आठवें श्लोक की पातनिका में कहते हैं कि यहाँ परा पूजा का स्वरूप बता दिया गया है, अब अपरा पूजा का विधान करते हैं । इसीलिये हमने यहाँ ख. और झ. मातृका के पाठ को मूल में स्थान दिया है और तदनुसार ही ग्रन्थ का अनुवाद किया है । अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रायः इन्हीं दो हस्तलेखों की सहायता से पूर्व मुद्रित पाठ में संशोधन किया गया है ।

[1]यावदूर्ध्वाकुलं पद्मं सहस्रारमधोमुखम् ।
श्वेतं च निष्कला[2]शक्तिमध्यं चासंख्यशक्तिकम् ॥
व्यापिनी केवला शश्वदमृतौघप्रवर्षिणी ।
महापद्मवनं चैव समना तस्य चोपरि ॥
तस्यान्तः कर्णिकामध्ये तत्स्थे वाग्भवरूपिणि । इति ।

पूर्वोक्त(२।६९)रीत्या वाचः परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यो भवन्त्यस्मादिति वाग्भवं त्रिकोणम् । तत्र गुरुपादुकाम्,

गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृतजगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या विश्वगुरोः परमशिवस्य [3]पादुकाम्,

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः ।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः ॥ (चि० १)

इत्यस्मदुक्तरीत्या त्रिभेदवतीम् । आप्यायितजगद्रूपां शिशिरतरनिजरश्मि[4]निफालनात् प्रसारणादाप्यायितचराचराम् । परमामृतवर्षिणीं निरन्तरनिबिडचिद्रसासारवर्षिणीम् । संचिन्त्य स्वात्मतया [5]विमृश्य ॥५-६॥

सबसे ऊपर अकुल पद्म स्थित है । यह अधोमुख सहस्रदल कमल है । यह श्वेत वर्ण का है । इसमें असंख्य शक्तियों का निवास है । इन सबके बीच में निष्कला शक्ति विराजमान है । व्यापिनी कला यहाँ निरन्तर अमृत की वर्षा करती रहती है । यही महापद्मवन ऊर्ध्व सहस्रार कमल है । इसके ऊपर समना स्थित है । इसके ऊपर कर्णिका के मध्य में वाग्भव (त्रिकोण) की स्थिति मानी गई है ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणियाँ त्रिकोण से ही उत्पन्न होती हैं, यह पहले (१।३६-४०) बताया जा चुका है । [1]वाणियों की उत्पत्ति इससे होती है, अतः इसे वाग्भव कहा जाता है । इस त्रिकोण में गुरु की पादुका की भावना करनी चाहिये । ऊपर अनेक स्थलों पर उद्धृत वचन के आधार पर विश्वगुरु परम शिव की पादुका यहाँ अभिप्रेत है । व्याख्याकार के गुरुपादुका के सूचक चिद्विलास स्तव के श्लोक की व्याख्या भी पहले (२।७८) की जा चुकी है । तदनुसार यह पादुका तीन (प्रकाश, विमर्श और इनका सामरस्य) भेदों वाली है । गुरु की कृपादृष्टि की अत्यन्त शीतल रश्मियों से यह सारा चराचर जगत् आप्यायित हो उठता है । इससे निरन्तर ज्ञानामृत की वर्षा

---

१. यावदूर्ध्वं कुलं–ख. ने. ज. झ. उ. । २. सक्त–ख. ने. झ. । ३. 'पादुकाम्' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. 'निफालनात्' नास्ति–ने. ज. । ५. विचिन्त्य–ख. ने. ।

1. पृ० १९९ की टिप्पणी देखिये ।

गुरुपादुकापरामर्शानन्तरमेव[1] प्रसादस्वीकारमाह—

परमाद्वैतभावनामदघूर्णितः ।

परमः परमशिवः, तेनाद्वैतभावना स[2] एवाहमस्मीति समावेशरूपा, सैव मद इत्युच्यते, मदहेतुत्वात् । तत्कृतेन मदेन घूर्णितो मुदितः ।

स्वप्रकाशवपुषा गुरुः शिवो यः प्रसीदति पदार्थमस्तके ।
तत्प्रसादमिह तत्त्वशोधनं प्राप्य मोदमुपयाति भावुकः[3] ॥(चि० ३१)

इत्यस्मदुक्तरीत्या परमशिवाद्वैतभावनालक्षणगुरुप्रसादस्वीकार[4]समुल्लसत्परमानन्दपरवश इत्यर्थः ॥६॥

प्रसादस्वीकारानन्तरमान्तरजपमेवाह—

दहरान्तरसंसर्पन्नादालोकनतत्परः ॥६॥
विकल्परूपसंजल्पविमुखः

होती रहती है। इस पूजा का अनुष्ठान करते समय साधक को सबसे पहले इस गुरुपादुका का ही ध्यान करना चाहिये ॥५-६॥

गुरुपादुका का स्मरण करने के उपरान्त पूजक को प्रसाद लेना चाहिये—

इसके बाद साधक को चाहिये कि वह परम अद्वैतभावना के मद से परिपूर्ण हो जाय ॥

परम शब्द का अर्थ यहाँ परमशिव किया जाता है। परमशिव के साथ अद्वैत भावना का अर्थ है 'वह शिव मैं ही हूँ' इस तरह की शिवमय दृष्टि । यह अद्वैत भावना एक अनोखे मद (नशा) को जन्म देती है । साधक को चाहिये कि वह अपने में अद्वैत भावना को जगाकर इस अनूठे नशे में मस्त हो जाय । इस प्रसाद के ग्रहण की विधि व्याख्याकार के चिद्विलास स्तव में वर्णित है । उसकी व्याख्या हम पहले (२।६८) कर चुके हैं । इस तरह से गुरुपादुका का स्मरण करने के उपरान्त साधक को परमशिव के साथ अद्वैत भावना को स्थिर करने वाले गुरु के प्रसाद को स्वीकार करना चाहिये, जिससे कि उसमें परम आनन्दमय अवस्था का उल्लास भर जाय ॥

गुरु के प्रसाद को स्वीकार करने के उपरान्त साधक को जप करना चाहिये—

साधक को चाहिये कि वह दहराकाश के अन्दर ध्वनित हो रहे नाद का सावधानी से श्रवण करे और सारे जागतिक विकल्प जाल से, नाना प्रकार के बाह्य वैखरी वर्णों के उच्चारण से विमुख हो जाय ॥६-७॥

---

१. नन्तरमान्तरमेव–ख. झ. उ. । २. सोऽहम–झ. । ३. भावकः–ने., भावयन्–उ. । ४. प्रोल्लसत्–ने. ज. झ. उ. ।

"दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं हृत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्" (म० ना० ८।१६) इति, "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" (छा० उ० ८।१।१) इति च श्रुत्या हृदयाब्जमध्यगतमाकाशं दहरमित्युच्यते । दहरमिव दहरम् । तदन्तरे संसर्पन्नादो दहरान्तरसंसर्पन्नादः, तस्यावलोकनं विभावनम्, तत्परः । तदुक्तमभियुक्तैः—

आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे नादात्मना परिणतं तव रूपमीशे ।
प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्याः ॥ इति ।

संयम्येन्द्रियसंचारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष[2] एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या[3]ऽऽन्तरं नादानुसन्धानलक्षणं जपं कुर्यात्, न तु नानाविधोच्चारलक्षणं बाह्यजपं कुर्यात् । विकल्परूपसंजल्पविमुखः । विकल्परूपाणां

महानारायणोपनिषत् में जीव के शरीर के मध्य में स्थित हृदय कमल में विद्यमान परदेवता के निवासस्थान निर्मल आकाश को दहर कहा गया है । छान्दोग्य उपनिषद् में भी हृदय-पुण्डरीक में दहर नामक आन्तर आकाश की स्थिति बताई गई है । तदनुसार हृदय कमल के बीच मे विद्यमान आकाश दहर[1] कहा जाता है । इस दहर के भीतर उठने वाले नाद को सुनने में साधक को अत्यन्त सावधानी से लग जाना चाहिये । अम्बास्तव में इस विषय का वर्णन मिलता है—

हे ईशे ! अनाहत नामक देश में, दहराकाश में, आनन्दमय तुम्हारा स्वरूप ही नाद के रूप में परिणत होता है । अपने मन को अन्तर्मुख बनाकर कुछ विरले योगी ही इस स्वरूप को पहचान पाते हैं । अन्य व्यक्तियों को इसका अनुमान उनके रोमांच और आनन्द से निकले आँसुओं को देखकर ही हो सकता है ॥

इन्द्रियों की बाहरी प्रवृत्ति को रोककर आन्तर नाद का उच्चारण करे । इस आन्तर नाद का उच्चारण ही वास्तविक जप है । बाह्य जप वास्तविक नहीं है ॥

किसी अभियुक्त[2] के इस वचन के अनुसार आन्तर नाद के अनुसन्धानात्मक जप का अनुष्ठान करे । नाना प्रकार के उच्चारण वाले बाह्य जप की यहाँ आवश्यकता नहीं है । ऐसा साधक नाना प्रकार के वैखरी वर्णों के उच्चारण से, वैखरी वाणी से प्रसूत मन्त्रों के

---

१. पथि–झ. । २. एवमेव–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. रीत्याऽऽत्मनादा–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. ब्रह्मसूत्र के दहराधिकरण (१।३।५, सू० १४-२१) में दहर शब्द की भूताकाशता और विज्ञानात्मकता का खण्डन कर ब्रह्मपरकता स्थापित की गई है । आन्तर आकाश दहर ब्रह्म का निवास स्थान होने से उससे अभिन्न माना जाता है ।

2. भास्करराय इस श्लोक की नित्याषोडशिकार्णव (५।३९) के श्लोक के रूप में व्याख्या करते हैं, जब कि अमृतानन्द इसको अभियुक्त वचन मानते हैं । पृ० ६९ की टिप्पणी देखिये ।

नानाविधरूपाणामक्षराणाम्, संजल्प उच्चारः, तल्लक्षण[1]बाह्यजपविमुखः। तदुक्तं [2]विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या।
[3]जपतोऽन्तः स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप ईदृशः[4] ॥(श्लो०१५२) ॥६-७॥

तादृशमेव ध्यानमपि कुर्यादित्याह—

अन्तर्मुखः सदा।
चित्कलोल्लासदलितसंकोचस्त्वतिसुन्दरः ॥७॥

"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (३।२) इति योगशास्त्रोक्तरीत्या विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहलक्षणध्यानेन सदाऽन्तःशब्दसूचितेनान्तर्मुखः परमशिवाद्वैतभावनापरो भूयादित्यर्थः। तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

नाना प्रकार के उच्चारण रूप जप से विमुख रहे। विज्ञानभैरव भट्टारक[1] ने भी कहा है—

परभाव में, इस विश्व को भर देने वाले अपने स्वरूप में, जो बार-बार भावना की जाती है, उसी को जप कहा जाता है। स्वयं मन्त्रस्वरूप नादात्मक ब्रह्म ही इस जप का विषय होता है। अर्थात् नादात्मक ब्रह्म की ही मन्त्र में भावना की जाती है ॥६-७॥

जप के समान ही वह ध्यान भी करे—

वह सदा अन्तर्मुख रहे। अपने में चित्कला का उल्लास भर कर संकोच बुद्धि को दूर भगा कर परम सुन्दर बन जाय, मैं भगवती त्रिपुरसुन्दरी से अभिन्न हूँ, ऐसी भावना करे ॥७॥

योगशास्त्र (पातंजल योगसूत्र) में बताया गया है—"ध्येय में प्रत्यय (चित्तवृत्ति) की एकतानता, निरन्तरता का ही नाम ध्यान है"। अतः विजातीय चित्तवृत्ति को हटाकर सजातीय प्रत्यय की निरन्तर एकरसता का ही नाम ध्यान है। इसकी स्थिति सदा अन्दर ही रहती है। साधक को चाहिये कि वह इसी पद्धति से सदा अन्तर्मुख बना रहे, सर्वत्र परमशिव के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को न देखे। विज्ञानभैरव का कहना है—

---

१. 'बाह्य' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। २. 'विज्ञान''''हि या' नास्ति–ख. ने. ज. झ. ब. उ.। ३. जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य–मु.। ४. ईरितः–ख. ने. ज. झ.।

1. अमृतानन्द ने विज्ञानभैरवभट्टारक पद का तृतीयान्त प्रयोग किया है, सप्तम्यन्त नहीं। इससे ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टि में विज्ञानभैरवभट्टारक ही इस नाम के ग्रन्थ के रचयिता हैं। 'भट्टारक' एक आदरसूचक शब्द है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार दोनों के साथ इस पद का प्रयोग मिलता है।

ध्यानं या निष्कला चिन्ता [1]निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखहस्तादिकल्पना ॥(श्लो० १४३) इति।

चित्कलोल्लासदलितसंकोचस्त्वतिसुन्दर इति। "चिदम्बुधिमहाभङ्गभिन्नसंकोचसंकटः" इत्यस्मदुक्तरीत्या परि[2]कल्पितपरिपूर्णाहम्भावः, अत एवातिसुन्दरः। महात्रिपुरसुन्दरीनामधेयपरचित्कलोल्लासास्पदपरमसुन्दरपरमप्रेमास्पदपरमशिवाभिन्न इत्यर्थः ॥७॥

पूजामप्येतादृशीमेव कुर्यादित्याह—

इन्द्रियप्रीणनैर्द्रव्यैर्विहितस्वात्मपूजनः।

इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि, तेषां प्रीणनानि द्रव्याणि विशिष्टशब्दस्पर्शरूपरसगन्ध-[3]वन्ति, तैर्विहितं स्वात्मदेवतायाः पूजनं येन स तथाविधः। तदुक्तं मुख्याम्नायरहस्यविधौ—

निष्कल, निराकार, निराश्रय स्वरूप की चिन्ता का ही नाम ध्यान है। सकल स्वरूप की, हाथ-मुंह आदि से संयुक्त साकार इष्टदेव के स्वरूप की कल्पना को यहाँ ध्यान नहीं माना जाता॥

स्वयं व्याख्याकार ने अपने किसी[1] ग्रन्थ में कहा है—"साधक को चाहिये कि वह चिन्मय ज्ञानसमुद्र की लहर में विलीन हो जाय और इस तरह से वर्तमान सांसारिक संकुचित स्वरूप के संकट से अपने को बचा ले"। ऐसा करने से उसकी परिपूर्ण अहन्ता का विकास हो जायगा और वह परम सुन्दर बन जायगा, महात्रिपुरसुन्दरी नामक परम चित्कला के उल्लास से प्राप्त परम सुन्दर परमप्रेमास्पद परमशिव स्वरूप में अपने को प्रतिष्ठित कर लेगा, मैं शिव ही हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा के जाग जाने से वह साधक अपने को परम सुन्दर परमशिव स्वरूप में ही देखने लगेगा ॥७॥

ऐसा साधक इसी कोटि की पूजा का भी अनुष्ठान करे—

इन्द्रियों को तृप्त करने वाले द्रव्यों से वह साधक स्वात्मा रूपी इष्टदेव की पूजा करे।

आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ हैं। इनको प्रसन्न करने वाले द्रव्य विशिष्ट शब्द,

---

१. निर्विकारा–ख. ने., निर्विकल्पा–ज.। मु. पुस्तके श्लोकेऽस्मिन् भूयान् पाठभेदो दृश्यते। २. कल्पितपूर्णभावः–ने. ज. झ. उ.। ३. गन्धाः–क. ग.।

1. अमृतानन्द ने अपने तत्त्वविमर्शिनी नामक ग्रन्थ को यहीं (३।७८) उद्धृत किया है। लगता है, यह वचन तथा इसी तरह के अन्य वचन भी उसी ग्रन्थ के होंगे।

इन्द्रियद्वारसंग्राह्यैर्गन्धाद्यैः स्वात्मदेवता ।
स्वभावेन समाराध्या ज्ञातुः सोऽयं महामखः ॥ इति ।

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ (श्लो० ७१)

इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या श्रोत्रादीन्द्रियविषयशब्दाद्यनुभवजनितानन्दानां महानन्देन समरसीकरणं परा पूजेत्यर्थः ॥

अथापरां पूजां वक्तुं तदङ्गभूतं बाह्यन्यासमाह—

न्यासं निर्वर्तयेद् देहे षोढान्यासपुरःसरम् ॥८॥

षोढान्यासो[1] "गणेश" (नि० षो० ११।१) इत्याद्यसूत्रे सूचितः । देहे, स्वस्येति शेषः । षोढा षट्प्रकारको न्यासः ॥८॥

स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं । इनसे साधक को अपने आत्मारूपी इष्टदेव की विधिपूर्वक पूजा करनो चाहिये । मुख्याम्नायरहस्यविधि[1] में बताया गया है—

इन्द्रियों के द्वार से, उनकी सहायता से गन्ध आदि विषयों का ही पूजासामग्री के रूप में संग्रह कर अपनी आत्मारूपी इष्टदेवता की स्वाभाविक उपासना करनी चाहिये । ज्ञानी साधक के लिये यही सबसे बड़ी पूजा है, महायज्ञ है ॥

जग्धि और पान के कारण उल्लास, रस और आनन्द दशा की अभिव्यक्ति होने पर साधक उसमें परिपूर्ण भैरव स्वरूप को देखे, ऐसा करने से वह महानन्द से परिपूर्ण हो जाता है ॥

विज्ञानभैरवभट्टारक की इस उक्ति के अनुसार श्रोत्र (कान) आदि इन्द्रियों के साथ शब्द आदि विषयों का सम्पर्क होने से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उसकी महानन्द के साथ समरसता (एकात्मकता) की भावना का ही नाम परा पूजा है ॥

परा पूजा का स्वरूप बताने के बाद अब अपरा पूजा का निरूपण किया जा रहा है । सबसे पहले अपरा पूजा के अंगभूत बाह्य न्यास का स्वरूप बताया जा रहा है—

अपने देह में षोढा न्यास के साथ अन्य न्यासों का भी विन्यास करे ॥८॥

नित्याषोडशिकार्णव के प्रथम श्लोक में षोढा न्यास की सूचना दी गई है । साधक अपने शरीर में इनका विन्यास करे । षोढा शब्द का अर्थ छः प्रकार का न्यास है ॥८॥

---

१. न्यासपुरःसरमित्यत्र सूचितो न्यासो निगद्यत इति शेषः—ख. ज. झ., न्यासो गणेशेत्यत्र सूचितः—ने. उ. ।

1. मुख्याम्नायरहस्यविधि का यह श्लोक आगे (३।११२) मुख्याम्नायरहस्य के नाम से तथा भास्करराय के सेतुबन्ध (पृ० १९८) में आम्नायरहस्य के नाम से स्मृत है । महेश्वरानन्द (पृ० ६४) इसको अभियुक्तवचन कहते हैं ।

[1]तत्प्रकाराणां गणनामाह—

गणेशैः प्रथमो न्यासो द्वितीयस्तु ग्रहैर्मतः ।
नक्षत्रैश्च तृतीयः स्याद् योगिनीभिश्चतुर्थकः ॥९॥
राशिभिः पञ्चमो न्यासः षष्ठः पीठैर्निगद्यते ।

सुगमम् । न्यासं न्यासजातम्, जातावेकवचनम् । निर्वर्तयेदिति शेषः ॥९-१०॥

षोढा षट्प्रकारन्यास एक एव, तत्प्रकारं षोढान्यासमाहात्म्यं फलं चाह—

षोढान्यासस्त्वयं प्रोक्तः सर्वत्रैवापराजितः ॥१०॥
एवं यो न्यस्तगात्रस्तु स पूज्यः सर्वयोगिभिः ।
नास्त्यस्य पूज्यो लोकेषु पितृमातृमुखो जनः ॥११॥
स एव पूज्यः सर्वेषां स स्वयं परमेश्वरः ।
षोढान्यासविहीनं यं प्रणमेदेष पार्वति ॥१२॥
सोऽचिरान्मृत्युमाप्नोति नरकं च प्रपद्यते ।

छः प्रकार के न्यास की ही अब गणना करते हैं—

गणेशों से पहला न्यास, ग्रहों से दूसरा, नक्षत्रों से तीसरा, योगिनियों से चौथा, राशियों से पाचवाँ और पीठों से छठा न्यास किया जाता है ॥९-१०॥

इसका अर्थ स्पष्ट है । न्यास शब्द में एकवचन जाति का वाचक है । इससे इन छः न्यासों को करे, ऐसा अर्थ होगा । इस श्लोक में 'निर्वर्तयेत्' क्रिया का अध्याहार आठवें श्लोक से कर लिया जाता है ॥९-१०॥

षोढा न्यास की एक जाति है, अर्थात् इन सबको निर्दिष्ट क्रम के अनुसार एक साथ किया जाता है । अब इनकी पद्धति, माहात्म्य और फल का निरूपण किया जा रहा है—

यह षोढा न्यास सर्वत्र अपराजेय माना गया है । आगे बताई गई विधि से जो इसका अनुष्ठान करता है, वह सभी योगियों का भी पूज्य बन जाता है । लोक में माता-पिता जैसे पूजनीय जन भी इसके लिये पूज्य नहीं रह जाते । वही सबका पूज्य हो जाता है । वह स्वयं परमेश्वर बन जाता है । हे पार्वति ! ऐसा योगी षोढा न्यास से हीन व्यक्ति को यदि प्रणाम कर दे, तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है और वह नरक में जाता है ॥१०-१३॥

---

१. तत्प्रकारमाह—ख. ने. ज. झ. उ. ।

प्रोक्तोऽयं षोढा न्यासः, सर्वत्र सर्वलोकेष्वपि, अपराजितः अप्रतिहतसाम-[र्थ्यः[1], एवं वक्ष्यमाणक्रमेण यो न्यस्तगात्रः षोढान्याससाम]र्थ्यश्छिन्नपाशत्वात् स्वयमेव परमेश्वरः। अत एव लोकेषु जनेषु स एव योगिभिः पूज्यः। किं बहुना, सर्वेषामपि पूज्यः, नास्त्यस्य पूज्यः कोऽपि लोके। [2]यद्येष बलादन्यस्मै [3]प्रणमति, स मृतो भवेत्, नरकं च प्रयातीत्यर्थः ॥१०-१३॥

षोढान्यासप्रकारं वक्तुं प्रतिजानीते—

षोढान्यासप्रकारं च कथयामि तवानघे ॥१३॥

[4]स्पष्टम् ॥१३॥

तत्प्रकारमाह—

विघ्नेशो विघ्नराजश्च विनायकशिवोत्तमौ ।
[5]विघ्नकृद् विघ्नहर्ता च [6]गणराड् गणनायकः ॥१४॥
एकदन्तो द्विदन्तश्च गजवक्त्रो निरञ्जनः ।
[7]कपर्दवान् दीर्घमुखः शङ्कुकर्णो वृषध्वजः ॥१५॥

ऊपर बताया गया यह षोढा न्यास सभी लोकों में एक समान अपराजेय सामर्थ्य वाला है। आगे बताई गई विधि से जो साधक इसको अपने शरीर में विन्यस्त कर लेता है, वह इन न्यासों की सहायता से सारे पाश-जालों से मुक्त हो स्वयं परमेश्वर बन जाता है। संसार में वह योगियों का भी पूज्य हो जाता है। योगियों का ही नहीं, वह सबका पूज्य बन जाता है। लोक में उसके लिये कोई भी पूजनीय नहीं रह जाता। यदि वह जबरदस्ती से किसी को प्रणाम करता है, तो वह जबरदस्ती प्रणाम कराने वाला व्यक्ति तत्काल मर जाता है और उसको नरक भी भोगना पड़ता है ॥१०-१३॥

अब षोढा न्यास की विधि को बताने की प्रतिज्ञा करते हैं—

हे अनघे ! अब मैं तुम्हें षोढा न्यास की विधि बताने जा रहा हूँ ॥१३॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥१३॥

उस विधि को ही अब बताते हैं—

विघ्नेश, विघ्नराज, विनायक, शिवोत्तम, विघ्नकृत्, विघ्नहर्ता, गणराट्, गणनायक, एकदन्त, द्विदन्त, गजवक्त्र, निरञ्जन, कपर्दवान्, दीर्घमुख, शङ्कुकर्ण,

१. 'र्थ्य''''साम' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ.। २. यदि चेदेष बाल्याद्यस्मै प्रण-क. ग.। ३. प्रणमयति-झ. उ.। ४. स्पष्टमेतत्-ज.। ५. विघ्नहृद् विघ्नकर्ता-ख. ने. च. छ. ज. झ. उ.। ६. गणनायक एव च-ख. ने. ङ. च. छ. ज. झ. उ.। ७. कन्दर्प-ने. च.।

गणनाथो गजेन्द्रश्च शूर्पकर्णस्त्रिलोचनः ।
लम्बोदरो महानादश्चतुर्मूर्तिः सदाशिवः ॥१६॥
आमोदो दुर्मुखश्चैव सुमुखश्च प्रमोदकः ।
एकपादो द्विजिह्वश्च शूरो वीरश्च षण्मुखः ॥१७॥
वरदो वामदेवश्च वक्रतुण्डो द्वितुण्डकः ।
सेनानीर्ग्रामणीर्मत्तो विमत्तो मत्तवाहनः ॥१८॥
जटी मुण्डी तथा खड्गी वरेण्यो वृषकेतनः ।
भक्ष्यप्रियो गणेशश्च मेघनादो गणेश्वरः ॥१९॥

[6][ग्रन्थान्तरे—

ए(ते ? ता) गणेशवर्णानामेकपञ्चाशतः क्रमात् ।
श्रीश्च ह्रीश्चैव तुष्टिश्च शान्तिः पुष्टिः सरस्वती ॥
रमा मेधा तथा कान्तिः कामिनी मोहिनी बला ।
तीव्रा च ज्वालिनी नन्दा सुरसा कामरूपिणी ॥
उग्रा च जयिनी सत्या विघ्नेशानी सुरूपिणी ।
कामदा मदजिह्वा च विकटा घूर्णितानना ॥

वृषध्वज, गणनाथ, गजेन्द्र, शूर्पकर्ण, त्रिलोचन, लम्बोदर, महानाद, चतुर्मूर्ति, सदाशिव, आमोद, दुर्मुख, सुमुख, प्रमोदक, एकपाद, द्विजिह्व, शूर, वीर, षण्मुख, वरद, वामदेव, वक्रतुण्ड, द्वितुण्डक, सेनानी, ग्रामणी, मत्त, विमत्त, मत्तवाहन, जटी, मुण्डी, खड्गी, वरेण्य, वृषकेतन, भक्ष्यप्रिय, गणेश, मेघनाद और गणेश्वर ये ५१ गणेश हैं ॥१४-१९॥

[किसी दूसरे[1] ग्रन्थ में बताया गया है—

इन ५१ संख्या के गणेशों की क्रम से ये ५१ शक्तियाँ हैं—श्री, ह्री, तुष्टि, शान्ति, पुष्टि, सरस्वती, रमा, मेधा, कान्ति, कामिनी, मोहिनी, बला, तीव्रा, ज्वालिनी,

१. नन्दः-छ. ज. उ.। २. प्रबोधकः-झ.। ३. वामनश्चैव-उ.। ४. द्विरण्डकः-क.। ५. भक्त-झ.। ६. 'ग्रन्थान्तरे''''शक्तयः' नास्ति-ख. ग. ज. ब. उ.।

1. आगे २० वें श्लोक की व्याख्या में अमृतानन्द ने गणेशों की शक्तियों में पहला नाम पुष्टि का दिया है और वहाँ कहा है कि इनके नामों की चर्चा अन्य आगमों की पद्धतियों में आ चुकी है, अतः हम यहाँ उनका विवरण नहीं दे रहे हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत उद्धरण दीपिका का अंग नहीं बन सकता। इस उद्धरण में पहला नाम पुष्टि का नहीं है। अनेक हस्तलेखों में यह पाठ मिलता भी नहीं है।

भूतिर्भूमिः सती रम्या मानुषी मकरध्वजा ।
विकर्णा भ्रुकुटी लज्जा दीर्घघोणा धनुर्धरा ॥
तथैव यामिनी रात्रिश्चन्द्रकान्ता शशिप्रभा ।
लोलाक्षी चपला ऋद्धिर्दुर्भगः सुभगा शिवा ॥
दुर्गा गुहप्रिया काली ललज्जिह्वा च शक्तयः[1] ।]

[1]नामान्येतानि नात्र व्याख्येयानीति ॥१४-१९॥

तेषां ध्यानमाह—

तरुणारुणसंकाशान् गजवक्त्रान् त्रिलोचनान् ।
पाशाङ्कुशवराभीतिहस्तां[3]न् शक्तिसमन्वितान् ॥२०॥

तरुणारुणसंकाशान् तरुणारुणसवर्णान् । गजस्य वक्त्रमिव वक्त्रं येषां ते गजवक्त्रास्तान् । ऊर्ध्वकरयोः पाशाङ्कुशौ, अधःकरयोर्वराभये दधानान् । पुष्ट्यादिभिः समन्वितान् । अत्र सूचितानां नाम्नामागमान्तरपद्धतिषु चोक्तत्वान्न वदामः ॥२०॥

नन्दा, सुरसा, कामरूपिणी, उग्रा, जयिनी, सत्या, विघ्नेशानी, सुरूपिणी, कामदा, मदजिह्वा, विकटा, घूर्णितानना, भूति, भूमि, सती, रम्या, मानुषी, मकरध्वजा, विकर्णा, भ्रुकुटी, लज्जा, दीर्घघोणा, धनुर्धरा, यामिनी, रात्रि, चन्द्रकान्ता, शशिप्रभा, लोलाक्षी, चपला, ऋद्धि, दुर्भगा, सुभगा, शिवा, दुर्गा, गुहप्रिया, काली और ललज्जिह्वा ॥]

इन नामों की व्याख्या यहाँ नहीं करनी है ॥१४-१९॥

इनका ध्यान बताते हैं—

ये सभी गणेश तरुण अरुण के समान कान्तिवाले, हाथी के समान मुँह वाले और तीन नेत्रों वाले हैं। इनके चार हाथों में क्रमशः पाश, अंकुश, वर और अभय मुद्रा है तथा सभी अपनी-अपनी शक्तियों के साथ रहते हैं ॥२०॥

सभी गणेशों का वर्ण तरुण अरुण के समान लाल है। इनका मुँह हाथी का जैसा है। ऊपर के दोनों हाथों में पाश और अंकुश तथा नीचे के हाथों से वर और अभय मुद्राओं को धारण किये हुए हैं और ये पुष्टि आदि शक्तियों के साथ हैं। इनके नामों की चर्चा अन्य आगमों की पद्धतियों में आ चुकी है, अतः हम यहाँ उनका विवरण नहीं दे रहे हैं ॥२०॥

१. तान्येतानि तावद् व्याख्येयानीति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. दित्य–ने. उ. । ३. करान्–च. ज. ।

1. इन शक्तियों के नाम गणेशों के साथ ज्ञानार्णव तन्त्र (१४।६१-७५) में मिलते हैं। कुछ स्थलों पर पाठान्तर हैं।

न्यासस्थानान्याह—

एतांस्तु विन्यसेद् देहे[1] मातृकान्यासवत् प्रिये ।

एतान् गणेशान् । मातृका[3]न्यासवत् मातृकावैखरीन्यासस्थानेषु न्यसेदित्यर्थः ॥२१॥

ग्रहन्यासमाह—

स्वरैस्तु सहितं सूर्यं हृदयाधः प्रविन्यसेत् ॥२१॥
बिन्दुस्थाने सुधासूतिं यादिवर्णचतुष्टयैः ।
भूपुत्रं लोचनद्वन्द्वे कवर्गाधिपतिं प्रिये ॥२२॥
हृदये विन्यसेच्छुक्रं चवर्गाधिपतिं पुनः ।
हृदयोपरि विन्यस्येत् टवर्गाधिपतिं बुधम् ॥२३॥
बृहस्पतिं कण्ठदेशे तवर्गाधिपतिं प्रिये ।
नाभौ शनैश्चरं चैव[6] पवर्गेशं सुरेश्वरि ॥२४॥
वक्त्रे शादिचतुर्वर्णैः सहितं राहुमेव च ।
क्षकारसहितं केतुं पायौ देवेशि विन्यसेत् ॥२५॥

अब उन स्थानों का उल्लेख कर रहे हैं, जहाँ कि इनका विन्यास किया जाता है—

हे प्रिये ! अपने शरीर में मातृका न्यास की पद्धति से इनका विन्यास करना चाहिये ॥

इन गणेशों को मातृका के वैखरी वर्णों का जहाँ जहाँ न्यास किया जाता है, उन्हीं स्थानों में विन्यस्त करना चाहिये ॥

अब ग्रहन्यास की विधि बताते हैं—

स्वरों के साथ सूर्य को हृदय के नीचे और यकार आदि चार वर्णों के साथ चन्द्र को बिन्दुस्थान में विन्यस्त करना चाहिये। हे प्रिये ! कवर्ग के स्वामी मंगल को दोनों नेत्रों में, चवर्ग के अधिपति शुक्र को हृदय में, टवर्ग के अधिपति बुध को हृदय के ऊपर और हे प्रिये ! तवर्ग के अधिपति बृहस्पति को कण्ठ में विन्यस्त करना चाहिये। हे सुरेश्वरि ! पवर्ग के स्वामी शनैश्चर को नाभि में और शकार आदि चार वर्णों के अधिपति राहु को मुँह में विन्यस्त करे। हे देवेशि ! क्षकार के साथ केतु को पायु देश में विन्यस्त करे ॥२१-२५॥

१. देवि–ख. ने. ङ. च. छ. ज. झ. उ. । २. स्थान–ख. च. ज. झ., स्थानके पुनः–ने. उ. । ३. स्थान–ने. ज. झ. उ. । ४. बुधः–ख. । ५. विन्यस्य–घ. ज. झ. उ. । ६. देवि–क. ग. । ७. ळक्षाभ्यां–उ. ।

स्वरैः अकारादिविसर्गान्तैः षोडशभिः सहितम्, [1]नाम्न आदौ, सूर्यं हृदयाधो विन्यसेत्[2]। बिन्दुस्थाने ललाटे। अत्रैवोक्तम्—"दीपाकारोऽर्धमात्रश्च ललाटे वृत्त इष्यते" (१।२८) इत्यादिना। सुधासूतिं चन्द्रमसम्। यादिवर्णचतुष्टयैः यरलवै[3]श्चतुर्भिर्विन्यसेदित्यर्थः। भूपुत्रम् अङ्गारकम्। लोचनद्वन्द्वे कवर्गस्योपरि स्थितमधिपतिं विन्यसेत्। हृदये वक्षसि। स्पष्टमन्यत् पायौ देवेशि विन्यसेदित्यन्तम् ॥२१-२५॥

नक्षत्राणां स्थानानि न्यासं चाह—

ललाटे दक्षनेत्रे च वामे कर्णद्वये पुनः।
पुटयोर्नासिकायाश्च कण्ठे स्कन्धद्वये पुनः ॥२६॥
पश्चात् कूर्पर[4]युग्मे च मणिबन्धद्वये [5]तथा।
स्तनयोर्नाभिदेशे च कटिबन्धे ततः परम् ॥२७॥
ऊरुयुग्मे तथा जान्वोर्जङ्घयोश्च पदद्वये।
ज्वलत्कालानलप्रख्या वरदाभयपाणयः ॥२८॥

अकार से विसर्ग पर्यन्त सोलह स्वरों के साथ सूर्य को हृदय के नीचे विन्यस्त करे। बिन्दुस्थान, अर्थात् ललाट में सुधासूति चन्द्रमा को य र ल व इन चार वर्णों के साथ विन्यस्त करे। ललाट में बिन्दु का स्थान है, यह विषय यहीं (१।२८) वर्णित हो चुका है। भूपुत्र (अंगारक) मंगल को कवर्ग के अधिपति के रूप में दोनों नेत्रों में विन्यस्त करे। हृदय का अर्थ वक्षस्थल है। 'पायौ देवेशि विन्यसेत्' पर्यन्त अन्य पदों का अर्थ स्पष्ट है ॥२१-२५॥[1]

स्थाननिर्देश पूर्वक नक्षत्रों का न्यास बताया जा रहा है—

हे देवताओं के द्वारा पूजित देवि! ललाट, दक्ष और वाम नेत्र, दोनों कान, दोनों नासापुट, कण्ठ, दोनों कन्धे, दोनों कूर्पर (कोहनियाँ), दोनों मणिबन्ध (कलाईयाँ), दोनों स्तन, नाभिदेश, दोनों कटिबन्ध, दोनों जांघे, दोनों घुटने, दोनों पिण्डलियाँ, दोनों पैर–इन सत्ताईस स्थानों में सत्ताईस नक्षत्रों का विन्यास

---

१. आदौ नाम्ना–क. ख. ग.। २. विन्यस्य–ख. ने. झ. उ.। ३. 'चतुर्भिः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. कूर्परयोर्युग्मे–क. उ.। ५. पुनः–क. ग., ऽपि च–ज.। ६. हस्तयोः–च. छ. ज. झ.। ७. द्वन्द्वे–च. उ.।

1. कुछ पुस्तकों में प्रस्तुत प्रकरण में ग्रह आदि के ध्यान के श्लोक भी मिलते हैं। दीपिका में इनकी व्याख्या नहीं मिलती। आगे (३।३०-३१) दीपिकाकार कहते हैं कि ध्यान आगमान्तर से जानना चाहिये। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि योगिनीहृदय में ग्रह, नक्षत्र आदि का ध्यान वर्णित नहीं है।

नतिपाण्योऽश्विनीपूर्वाः सर्वाभरणभूषिताः।
एतास्तु विन्यसेद् देवि स्थानेष्वेषु सुरार्चिते ॥२९॥

कटिबन्ध इति कटिबन्धयोरिति द्वन्द्वपरम्। अन्यथा सप्तविंशतिसंख्या न घटते। कर्णद्वय इति दक्षिणादितः, "दक्षनेत्रे च वामे च" (३।२६) इति क्रमस्योपक्रान्तत्वात्। वरदाभयपाणयो नतिपाण्य इत्युक्त्या बाहुचतुष्टयं गम्यते। शेषं सुगमम् ॥२६-२९॥

योगिनीन्यासमाह—

विशुद्धौ हृदये नाभौ स्वाधिष्ठाने च मूलके।
आज्ञायां धातुनाथाश्च न्यस्तव्या डादिदेवताः ॥३०॥
अमृतादियुताः सम्यग् ध्यातव्याश्च सुरेश्वरि।
पादे लिङ्गे च कुक्षौ च हृदये बाहुमूलयोः ॥३१॥

विशुद्धौ तालुमूले षोडशदलकमले। [1]हृदयेऽनाहते द्वादशदलकमले। नाभौ मणिपूरके दशदलकमले। स्वाधिष्ठाने षड्दलकमले। मूलके चतुर्दलकमले। आज्ञायां द्विदलकमले। धातवस्त्वगसृङ्मांसमेदो[2]मज्जाशुक्राणि, तेषां नाथाः

करना चाहिये। सभी अश्विनी आदि नक्षत्र जलते हुए कालानल के समान हैं। इनके दो हाथ वर और अभय मुद्रा से सुशोभित हैं और बाकी के दो हाथ प्रणाम की मुद्रा में हैं ॥२६-२९॥

कटिबन्ध में एकवचन दोनों कटिबन्धों का सूचक है। इसके बिना स्थानों की सत्ताईस संख्या पूरी नहीं हो सकती। कर्णद्वय इत्यादि स्थलों पर पहले दक्षिण तब बाद में वाम भाग में न्यास किया जाता है। नेत्र के प्रसंग में इस क्रम को यहीं (३।२६) बताया गया है, अतः अन्यत्र भी इसी क्रम का अनुसरण करना उचित है। वरदाभयपाणि और नतिपाणि विशेषणों से इनके चार हाथ हैं, यह सिद्ध होता है। बाकी पदों का अर्थ स्पष्ट है ॥२६-२९॥

अब योगिनीन्यास का उपदेश करते हैं—

विशुद्धि, हृदय, नाभि, स्वाधिष्ठान, मूलाधार और आज्ञा चक्रों में छः धातुओं की स्वामिनी डाकिनी आदि योगिनियों का विन्यास करना चाहिये। अमृता आदि देवियों के साथ इनका ध्यान भी करना चाहिये। पाद, लिङ्ग, कुक्षि, हृदय और दोनों बाहुमूलों में इनका न्यास किया जाता है ॥३०-३१॥

तालुमूलस्थित षोडशदल कमल को विशुद्धि, हृदयस्थित द्वादशदल कमल को अनाहत, नाभिस्थित दशदल कमल को मणिपूरक, षड्दल कमल को स्वाधिष्ठान और चतुर्दल कमल को मूलाधार कहते हैं। आज्ञाचक्र में द्विदल कमल है। त्वचा, रक्त, मांस, मेदा,

---

१. 'हृदये'''द्विदलकमले' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। २. मेदोऽस्थि–सार्वत्रिको दी. पाठः।

स्वामिन्यः। डादिदेवताः, डाकिनीराकिनीलाकिनीकाकिनीसाकिनीहाकिन्यः। अमृतादियुताः स्वच्छन्दसंग्रहोक्ताः। यथा—

अमृता प्रथमा देवो द्वितीयार्कर्षिणी मता।
इन्द्राणी च तृतीया स्यादीशानी तु चतुर्थिका॥
पञ्चमी स्यादुमा देवी षष्ठी चैवोर्ध्वकेशिनी।
सप्तमी ऋद्धिदा प्रोक्ता ऋषा चाष्टमिकी मता॥
लृका नवमिका प्रोक्ता लृषा स्याद् दशमी तथा।
एकादशी[1] यथा चैकपादा द्वादशिका शिवे॥
ऐश्वर्याभिरता पश्चादोङ्कारी तु त्रयोदशी।
चतुर्दशी[2] चौषधात्मा पञ्चाधिकदशाऽम्बिका॥
षोडशी त्वःक्षरा देवी प्रोक्ताः षोडश [3]कण्ठगाः।
कालरात्रिश्च खातीता गायत्री च ततः परम्॥
घण्टाधारी च ङार्णात्मा चण्डा छाया जयाऽपि च।
झङ्कारी ज्ञानरूपा च टङ्कहस्ता ततः परम्॥
ठङ्कारी द्वादश ह्येता द्वादशारे समर्चयेत्।
[4]डामरीं चैव ढङ्कारीं [5]णामिनीं तामसीं तथा॥

मज्जा और शुक्र ये छः [1]धातुएँ हैं। इनकी स्वामिनियाँ हैं डादि देवता, अर्थात् डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी और हाकिनी नामक योगिनियाँ। अमृता आदि देवियों के नाम स्वच्छन्दसंग्रह में बताये गये हैं। जैसे कि—

[2]अमृता पहली देवी है। दूसरी आर्कर्षिणी मानी गई है। तीसरी इन्द्राणी और चौथी ईशानी है। पाँचवीं उमा देवी और छठी ऊर्ध्वकेशिनी है। सातवीं का नाम ऋद्धिदा और आठवीं का ऋषा है। नवमी लृका तथा दसवीं लृषा है। एकपादा ग्यारहवीं है और हे शिवे! ऐश्वर्याभिरता बारहवीं तथा ओङ्कारी तेरहवीं देवी है। औषधात्मा चौदहवीं और पन्द्रहवीं देवी अम्बिका है। सोलहवी अःक्षरा देवी है। ये सभी सोलह देवियाँ कण्ठ, अर्थात् तालुगत विशुद्धिचक्र में विन्यस्त की जाती हैं। कालरात्रि, खातीता, गायत्री, घण्टाधारी, ङार्णात्मा, चण्डा, छाया, जया, झङ्कारी, ज्ञानरूपा, टङ्कहस्ता और

१. शोति सा–उ.। २. दंश्यौष–ख. ने. झ. उ.। ३. शक्तयः–क. ग.। ४. डाकिनीं–क. ग. ने. ज.। ५. णादिनीं–ने.।

1. पृ० १९० की टिप्पणी देखिये। स्वच्छन्दसंग्रह के इस लम्बे उद्धरण में छः चक्रों और उनकी अधिष्ठात्री योगिनियों की चर्चा है।

2. पहले (१।२५-२६) अकुल आदि शब्दों की व्याख्या के प्रसंग में स्वच्छन्दसंग्रह के इसी उद्धरण के आधार पर टिप्पणियों में वरदा आदि शक्तियों के नाम दिये गये हैं।

थान्तां दाक्षायणीं चैव धात्रीं [1]नन्दां च पार्वतीम्।
[2]फट्कारीं दशपत्रेषु पूर्वादीशान्तिमं यजेत्॥
बन्धि(न्दि)नीं भद्रकालीं च महामायां यशस्विनीम्।
रक्तां लम्बोष्ठिकां चैव पूजयेत् क्रमशः प्रिये॥
चतुष्पत्रे च देवेशि वरदां च श्रियं तथा।
षण्ढां सरस्वतीं चैव पूजयेत् क्रमशः शिवे॥
क्षमां हंसवतीं चैव पूजयेच्च [3]द्विपत्रके।
[4]एताभिः शक्तिभिर्युक्ता ध्यातव्याश्च सुरेश्वरि॥ (इति।)

[5]"न्यासं निर्वर्तयेत्" (३।८) इत्ययमान्तरो न्यासः। [6]ध्यानं त्वागमान्तरादवगन्तव्यम्॥३०-३१॥

राशिन्यासमाह—

दक्षिणं [7]पादमारभ्य वामपादावसानकम्।
मेषादिराशयो वर्णैर्न्यस्तव्या सह पार्वति॥३२॥

ठङ्कारी ये बारह देवियाँ हृदयस्थित द्वादशदल कमल में विन्यस्त की जाती हैं। डामरी, ढङ्कारी, णामिनी, तामसी, थान्ता, दाक्षायणी, धात्री, नन्दा, पार्वती, फट्कारी ये दस देवियाँ नाभिस्थित दशार पद्म में विन्यस्त की जाती हैं। पूर्व से लेकर ईशान पर्यन्त इनका यजन किया जाना चाहिये। बन्धि(न्दि)नी, भद्रकाली, महामाया, यशस्विनी, रक्ता, लम्बोष्ठिका, इन छः देवियों को हे प्रिये! स्वाधिष्ठान नामक षड्दल कमल में विन्यस्त करना चाहिये। हे शिवे! हे देवेशि! चतुष्पत्र आधार कमल में वरदा, श्री, षण्ढा और सरस्वती इन चार देवियों का यजन करना चाहिये। क्षमा और हंसवती को दो दल वाले आज्ञाचक्र में विन्यस्त करना चाहिये। इन शक्तियों के साथ क्रमशः डाकिनी प्रभृति योगिनियों का ध्यान करना चाहिये॥

न्यास का विधान करने वाला (३।८ से प्रारंभ हुआ) यह प्रकरण आन्तर न्यास का वर्णन करता है। ध्यान तो दूसरे आगमों से जानना चाहिये॥३०-३१॥

राशिन्यास की पद्धति यह है—

हे पार्वति! दाहिने पैर से लेकर वाम पाद पर्यन्त स्थानों में मेष आदि राशियों का वर्णों के साथ न्यास करना चाहिये॥३२॥

१. नादां–ने. ज. झ. उ.। २. फेत्कारीं–ख. झ. उ.। ३. द्विपत्रयोः–क. ग. ज.। ४. छ.ज.मातृकयोः श्लोकार्धोऽयं मूले स्थाप्यते। ५. न्यासं निर्वर्त्य एवं मातरो ध्यातव्या अपीत्यर्थः। ध्यानं निर्वर्त्यायमान्तरो न्यास इत्यर्थः–ख. ने. झ. उ., अमृतादीनां ध्यानानन्तरं न्यास इत्यर्थः–ज.। ६. ध्यानमागमा–क. ग. उ.। ७. पार्श्वं–क. च. छ. ज. झ. उ.। ८. पार्श्वा–क. च. छ. ज. झ. उ.।

पादादिस्थानेषु दक्षिणादितो वामान्तम् । मेषादिराशयः[1] मेषवृषमिथुनकर्कसिंहकन्यातुलावृश्चिकधनुर्मकरकुम्भमीनाः । वर्णैर्मातृकाक्षरैः सह न्यस्तव्याः । राशीनां वर्णा आगमान्तरसंवादान्मयोच्यन्ते—

आद्यैश्चतुर्भिः सहितो मेषो दक्षपदे[2]ऽक्षरैः ।
उकाराद्यैस्त्रिभिर्वर्णैर्वृषभो लिङ्गदक्षिणे ॥
ऋकाराद्यैस्त्रिभिर्वर्णैर्मिथुनं कुक्षिदक्षिणे ।
एऐभ्यां कर्कटो राशिर्युक्तो[3] वक्षसि दक्षिणे ॥
ओऔभ्यां सहितः सिंहो दक्षिणबाहुमूलके ।
अंअःशवर्गकैः कन्या [4]शिरोदक्षिणभागतः ॥
कवर्गेण तुला मूर्ध्नि वामे तद्बाहुमूलके ।
वृश्चिकश्च चवर्गेण टवर्गेण धनुर्हृदि ॥
वामे तवर्गसंयुक्तो मकरः कुक्षिवामतः ।
पवर्गेण पुनः कुम्भो [5]लिङ्गवामप्रदेशतः ॥
यवर्गः क्षार्णसंयुक्तो [6]मीनाख्यो वामपादके । इति ॥३२॥

पैर आदि स्थानों में दक्षिण भाग से आरम्भ कर वाम भाग पर्यन्त मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन इन बारह राशियों का मातृका वर्णों के साथ विन्यास करना चाहिये । अन्य आगम के प्रमाण से यहाँ [1]राशियों के वर्णों का उल्लेख किया जा रहा है—

अकार आदि चार अक्षरों के साथ दाहिने पैर में मेष राशि का, उकार आदि तीन वर्णों के साथ लिंग के दक्षिण भाग में वृष का, ऋकार आदि तीन वर्णों के साथ कुक्षि के दक्षिण में मिथुन का, ए और ऐ से संयुक्त कर्क राशि का वक्ष (हृदय) के दक्षिण में, ओ और औ के साथ सिंह का बाहुमूल के दक्षिण में, अं और अः वर्णों के साथ कन्या का शिर के दाहिने भाग में न्यास करना चाहिये । कवर्ग के साथ तुला का शिर के बायें भाग में, चवर्ग के साथ वृश्चिक का बाहुमूल के वाम भाग में, टवर्ग के साथ धनु का हृदय के वाम भाग में, तवर्ग के साथ मकर का कुक्षि के वाम भाग में, पवर्ग के साथ कुम्भ का लिंग के वाम भाग में और यकार से क्षकार पर्यन्त अक्षरों के साथ मीन का बायें पैर में न्यास करना चाहिये ।।३२।।

---

१. इतः परम्–'मेषादिमीनान्ताः' इत्यधिकं–क. ग. । २. दे स्वरैः–क. ग. । ३. युंतो–ख. ने. झ. उ. । ४. शिखा–ख. ने. झ. उ. । ५. वामे लिङ्ग–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. मीनः स्यात्–ख ने. ज. झ. उ. ।

1. प्रपंचसार (४।३४-३७) में यह विषय वर्णित है । लगता है, अमृतानन्द ने ऐसे ही आगमों की सहायता से इस विषय को स्वरचित श्लोकों में संगृहीत कर दिया है ।

पीठन्यासमाह—

पीठानि विन्यसेद् देवि मातृकास्थ[1]ानके पु[2]नः ।

मातृकास्थानक इति जातावेकवचनम् । वेखरीवर्णस्थानेष्वित्यर्थः ॥

ननु कानि तानि पीठानीत्यत आह—

तेषां नामानि कथ्यन्ते शृणुष्वावहिता प्रिये ॥३३॥

बहुत्वात् पीठानां पीठनाम्नां धर्तुमशक्यत्वादत्यन्तसावधाना भवेत्यर्थः ॥३३॥

तन्नामान्याह—

कामरूपं वाराणसीं नेपालं पौण्ड्रवर्धनम् ।
[3]पुरस्थिरं कान्यकुब्जं पूर्णशैलं तथार्बुदम् ॥३४॥
आम्रातकेश्वरैकाम्रे त्रिस्रोतः कामकोटकम् ।
कैलाशं भृगुनगरं केदार[4]पूर्णचन्द्रके ॥३५॥
श्रीपीठमोङ्कार[5]पीठं जाल[6]न्ध्रं मालवोत्कले[7] ।
[8]कुलान्तं देविकोट्टं च गोकर्णं मारुतेश्वरम् ॥३६॥

अब पीठन्यास बताते हैं—

हे देवि ! मातृका के वेखरी वर्णों में पीठों का न्यास करे ॥

'मातृकास्थानके' यहाँ एकवचन जातिवाचक है । इसका अर्थ होगा कि मातृका के वैखरी वर्णों के जो स्थान हैं, उन्हीं स्थानों में पीठों का भी न्यास करे ॥

वे पीठ कौन-कौन से हैं, इस विषय में कहते हैं—

हे प्रिये ! अब मैं उनके नाम बता रहा हूँ । तुम सावधान होकर सुनो ॥३३॥

पीठ बहुत से हैं, उनके अनेक नाम हैं । इनको याद रख पाना कठिन है, अतः बहुत सावधान होकर तुम इनके नाम सुनो ॥३३॥

अब पीठों के नाम बताये जा रहे हैं—

कामरूप, वाराणसी, नेपाल, पौण्ड्रवर्धन, पुरस्थिर, कान्यकुब्ज, पूर्णशैल, अर्बुद, आम्रातकेश्वर, एकाम्र, त्रिस्रोत, कामकोटक, कैलाश, भृगुनगर, केदार, पूर्णचन्द्रक, श्रीपीठ, ओङ्कारपीठ, जालन्धर, मालव, उत्कल, कुलान्त, देवीकोट्ट,

---

१. न्यासवत्–ने. छ. ज. । २. प्रिये–ने. च. छ. ज. झ. । ३. चरस्थिरं–क. ग. उ. । ४. रं चन्द्रपुष्करम्–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ५. मेकपादं च–च. ज. झ., मेकवीराख्यं–छ. उ. । ६. जालाख्यं–ख. ने. छ. ज. झ. उ. । ७. वं तथा–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ८. कुलूतं–क. च. झ., कुलूक्षेत्रं–ने. ।

अट्टहासं च विरजं राजगृहं[1] महापथम् ।
कोलापुरमेलापुरं [2]कालेशं तु जयन्तिका ॥३७॥
उज्जयिनी[3] विचित्रं च क्षीरकं हस्तिनापुरम् ।
ओड्डीशं च प्रयागाख्यं षष्ठी[4] मायापुरी तथा ॥३८॥
जलेशं मलयं शैलं मेरुं गिरिवरं तथा ।
माहेन्द्रं वामनं चैव हिरण्यपुरमेव च ॥३९॥
महालक्ष्मीपरोड्याणे छायाछत्रमतः[5] परम् ।
एते पीठाः समुद्दिष्टा मातृकारूपकाः स्थिताः ॥४०॥

एते पीठाः समुद्दिष्टा गृहीतनामानः पीठाः । मातृकारूपकाः स्थिताः मातृका रूपं येषां ते मातृकारूपकाः । क्रमेणादिक्षान्तानामेकैकं वर्णमेकैकस्यादावुक्त्वा तत्तद्वर्ण[6]स्थानेषु पीठानां न्यासं कुर्यादित्यर्थः । [[7]पीठानां मातृकामयताकथनं गणेशादीनामप्युपलक्षणम् । वर्गवर्णानामादौ वैखर्यक्षराण्यागमान्तरसंवादाद् विभज्य योज्यानीत्यर्थः] ॥३४-४०॥

गोकर्ण, मारुतेश्वर, अट्टहास, विरज, राजगेह, महापथ, कोलापुर, एलापुर, कालेश, जयन्तिका, उज्जयिनी, चित्रा, क्षीरक, हस्तिनापुर, ओड्डीश, प्रयाग, षष्ठी, मायापुर, जलेश, मलयशैल, मेरुगिरि, माहेन्द्र, वामन, हिरण्यपुर, महालक्ष्मीपुर, ओड्याण, छायाछत्र—ये पचास पीठ हैं । मातृकाओं के साथ इनका न्यास किया जाता है ॥३४-४०॥

इस तरह से यहाँ [1]पचास पीठों के नाम बताये गये हैं । ये सब मातृका वर्णों के ही प्रतिरूप हैं, अर्थात् वैखरी मातृका के एक-एक वर्ण से एक-एक पीठ की उत्पत्ति हुई है, अतः इन पीठों में वर्ण प्रतिबिम्बित हैं । इसीलिये क्रमशः अकार से क्षकार पर्यन्त एक-एक वर्ण का उच्चारण कर उन-उन वर्णों के स्थानों में ही इन पीठों का भी न्यास करना चाहिये । [पीठों को जैसे यहाँ मातृकामय कहा है, उसी तरह से गणेश, ग्रह, नक्षत्र आदि की भी मातृकामयता माननी चाहिये । वर्ग वर्णों के आरंभ में वैखरी वर्णों के संयोजन की विधि अन्य आगमों से जाननी चाहिये] ॥३४-४०॥

१. गेहं–क. ग. । २. ओड्कारं–च. छ. ज. झ. । ३. न्यपि चित्रा च–क. ग., चित्राख्यं–ङ. । ४. षष्ठं मायापुरं–क. ग. । ५. पुर–ङ. उ. । ६. 'वर्ण' नास्ति–ख. ने. ज. झ. । ७. 'पीठानां ···नीत्यर्थः' नास्ति–ख. ज. झ. ब. उ. ।

1. पीठ ५० हैं या ५१, इस विषय में अपनी व्याख्या में भास्करराय ने अन्तिम पक्ष का समर्थन किया है । उपोद्घात में इस विषय पर विचार करने का प्रयत्न किया जायगा ।

षोढान्यासानन्तरं श्रीचक्रन्यासस्याऽवश्यंभावित्वात् तदिदानीं श्रीचक्रन्यासमाह—

एवं षोढा पुरा[1] कृत्वा श्रीचक्रन्यासमाचरेत् ।

एवम् उक्तप्रकारेण, षोढा षट्प्रकारं न्यासम्, पुरा[1] कृत्वा, पश्चात् श्रीचक्रन्यासमाचरेदित्यर्थः ॥४१॥

श्रीचक्रन्यासस्य महाप्रयोजनत्वादनन्यकथितमप्यद्य प्रियायै कथयामीत्याह—

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्याश्चक्रन्यासं शृणु प्रिये ॥४१॥
यन्न कस्यचिदाख्यातं तनुशुद्धिकरं परम् ।

आनन्द[2]कणभिक्षार्थं शब्दस्पर्शादिपक्कणे ।
अटत्यविरतं येन तद्दारिद्र्यं विदुर्बुधाः ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या संकोचलक्षणदारिद्र्यविघातिनी[3] परिपूर्णपरानन्दरूपा सम्पत् श्रीरित्युच्यते । तद्वती त्रिपुरसुन्दरी । त्रिपुरा तुरीयरूपत्वात्, सुन्दरी

षोढान्यास के बाद चक्रन्यास का अनुष्ठान अवश्य किया जाता है । इसलिये अब चक्रन्यास का वर्णन करते हैं—

इस तरह से पहले षोढान्यास करके तब श्रीचक्र का न्यास करे ॥४१॥

ऊपर बताई गई विधि से गणेश, ग्रह, नक्षत्र आदि के भेद से वर्णित छः प्रकार के न्यासों को पहले करके बाद में श्रीचक्रन्यास करना चाहिये ॥४१॥

यह श्रीचक्रन्यास बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, अब तक इसका उपदेश किसी को नहीं किया गया था, अब भगवती को उसका उपदेश किया जा रहा है—

हे प्रिये ! भगवती श्रीमती त्रिपुरसुन्दरी के इस चक्रन्यास को तुम सुनो । इसको अब तक मैंने किसी को नहीं बताया है । यह उत्कृष्ट न्यास साधक के शरीर को पवित्र बना देता है ॥४१-४२॥

आनन्द के एक कण की भीख माँगने के लिये व्यक्ति शब्द, स्पर्श रूपी कोल-भीलों की बस्ती में निरन्तर भटकता रहता है । विद्वानों की दृष्टि में मनुष्य की वास्तविक दरिद्रता यही है ॥

किसी [1]प्रामाणिक व्यक्ति का यह कथन है । व्यक्ति का यह संकुचित स्वरूप ही सबसे बड़ी दरिद्रता है । इस दारिद्र्य को दूर करने वाली परिपूर्ण परमानन्द स्वरूपिणी

१. पुरः–क. ग. । २. कन्द–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. निवर्तिनी–ख. ने. झ. उ. ।

1. ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने इसको भट्ट गंगाधर मिश्र के वचन के रूप में उद्धृत किया है (पृ० ६९) । वहीं (पृ० १३४) भट्ट गंगाधर के किसी स्तोत्र का भी उल्लेख मिलता है । हो सकता है ये सभी श्लोक उस स्तोत्र ग्रन्थ के ही हों ।

भेदलक्षणप्रपञ्चापरपर्यायपरमदौर्भाग्यपरिपन्थिपरमाद्वैतसौभाग्यपदाधिरूढा सर्वप्राणिष्वात्मतया परमप्रेमास्पदीभूता परचित्कला । तस्याश्चक्रं शिवादिक्षितिपर्यन्त[1]तत्त्वमयम्, तदाविर्भाव(भूमिः?मिम्) । [2]त(स्या?स्य) न्यासं शृणु प्रिये । प्रियायै मदेकरस्यलालसायै कथयामि । यन्न कस्यचिदाख्यातम्, अतिरहस्यत्वात् । [3]श्रीचक्रन्यासस्य महाप्रयोजनत्वादनन्यकथितमपि प्रियायै ते कथयामीत्यर्थः । तनुशुद्धिकरं परम् । तनोः षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मनः शुद्धिं परचित्पर्यवसानलक्षणां करोति । अत एव परमुत्कृष्टमितरन्यासेभ्यः ॥४१-४२॥

श्रीचक्रन्यासप्रकारमाह—

चतुरस्राद्यरेखायै नम इत्यादितो न्यसेत् ॥४२॥
दक्षांसपृष्ठपाण्यग्रस्फिक्कपादाङ्गुलीष्वथ ।
वामाङ्घ्र्यङ्गुलिषु स्फिक्के पाण्यग्रे चांसपृष्ठके ॥४३॥
सचूलीमूलपृष्ठेषु[4] व्यापकत्वेन सुन्दरि ।

सम्पत्ति ही यहाँ श्री कही गई है । यह श्री भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही है । तीन रूपों से ऊपर तुरीय स्वरूपिणी देवी त्रिपुरा है और भेद (द्वैत) रूप में भासित हो रहे इस प्रपंच (जगत्) रूपी परम दुर्भाग्य का नाश कर परम अद्वैत स्वरूप सौभाग्य को देने वाली, सभी प्राणियों में अपनी-अपनी आत्मा के रूप में प्रतीत हो रही, परम प्रेम से ओतप्रोत यह परचित्कला ही सुन्दरी है । इस भगवती त्रिपुरसुन्दरी के चक्र से ही शिव से पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वमय जगत् का आविर्भाव होता है । हे प्रिये ! उस श्रीचक्र के न्यास को अब तुम सुनो । मेरे साथ एकरस होने की लालसावाली प्रिया को अब मैं इसका उपदेश कर रहा हूँ । इस विषय के अत्यन्त रहस्यपूर्ण होने से ही इसे अब तक किसी को नहीं सुनाया था । यह श्रीचक्र न्यास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः यद्यपि अब तक इसको किसी को नहीं बताया गया, किन्तु अब तुमको मैं इसका उपदेश कर रहा हूं । यह न्यास ३६ तत्त्वों वाले शरीर को पर चित्कला में लीन करके उसको निर्मल बना देता है । इसीलिये अन्य न्यासों की अपेक्षा यह उत्तम है ॥४१-४२॥

अब इस श्रीचक्रन्यास की विधि बताते हैं—

"चतुरस्राद्यरेखायै नमः" इस मन्त्र से सबसे पहले दाहिने कन्धे के पिछले हिस्से में, दाहिने हाथ की अंगुलियों में, दक्षिण नितम्ब भाग में, दाहिने पैर की अंगुलियों में, बायें पैर की अंगुलियों में, वाम नितम्ब भाग में, बायें हाथ की अंगुलियों में, बायें कन्धे के पीछे तथा सिर के आगे के और पीछे के हिस्से में— इस तरह से इन दस स्थानों में हे सुन्दरि ! व्यापक न्यास करना चाहिये ॥४२-४४॥

---

१. तत्त्वचक्रमयं तदविनाभाव–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'तस्या' नास्ति–क. ग. । ३. 'श्रीचक्र····यामीत्यर्थः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. पृष्ठदेशेषु–च. ।

"चतुरस्राद्यरेखायै नमः" इति[1] मन्त्रेण आदितो दक्षांसपृष्ठादिचूलीपृष्ठान्तस्थानेषु दशसु व्यापकत्वेन न्यसेत् । दक्षांसस्य पृष्ठं पश्चाद्भागः । सचूलीमूलेति । मूलं शिरसः पुरस्ताद्भागः । पृष्ठं शिरसः पश्चाद्भागः । स्फिगेव स्फिक्कम् [2]ऊरुसन्धिः । स्पष्टमन्यत् ॥४२-४४॥

एषु स्थानेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

अत्रैव स्थानदशकेऽणिमाद्या दश न्यसेत् ॥४४॥
सिद्धीः

अणिमालघिमामहिमेशितावशित्वप्राकाम्यभुक्तीच्छाप्राप्तिसर्वकामाख्याः सिद्धयोऽणिमाद्या दश ॥४४-४५॥

चतुरस्रमध्यरेखायां व्यापकमाह—

तदन्तश्च तनुव्यापकत्वेन सुन्दरि ।
चतुरस्रमध्यरेखायै नम इत्यपि वल्लभे ॥४५॥
[3]विन्यसेत्

"चतुरस्राद्यरेखायै नमः" इस मन्त्र से प्रथमतः दाहिने कन्धे के पृष्ठ भाग से लेकर चूली (सिर) के पृष्ठ भाग पर्यन्त दस स्थानों में व्यापक न्यास करे । दाहिने कन्धे का पृष्ठ पिछला भाग है । मूल का अर्थ सिर का अगला भाग और पृष्ठ पिछला हिस्सा है । स्फिक् के लिये ही स्फिक्क शब्द प्रयुक्त है । इसका अर्थ ऊरु सन्धि अर्थात् नितम्ब भाग है । बाकी शब्दों का अर्थ स्पष्ट है ॥४२–४४॥

इन स्थानों में जिन शक्तियों का विन्यास करना है, अब उनको बताया जा रहा है—

इन्हीं दस स्थानों में अणिमा आदि दस सिद्धियों का न्यास करना चाहिये ॥४४-४५॥

अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशिता, वशिता, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति और सर्वकामा—ये दस सिद्धियाँ हैं ॥४४-४५॥

चतुरस्र की मध्यरेखा में व्यापक न्यास इस तरह से किया जाता है—

हे सुन्दरि ! वल्लभे ! इसके अन्दर की मध्यरेखा में "चतुरस्रमध्यरेखायै नमः" इस मन्त्र से पूरे शरीर में व्यापक न्यास करे ॥४५-४६॥

---

१. इत्यादि–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'ऊरुसन्धिः' नास्ति–क. ग. ने. । ३. विन्यस्य–ख. छ. ज., तस्याः–क. ग. ।

तदन्तः सिद्धिस्थानानामन्तर्देशे "चतुरस्रमध्यरेखायै नमः" [1]इति मन्त्रेण तनुव्यापकत्वेन विन्यसेदित्यन्वयः[2] ॥४५-४६॥

चतुरस्रमध्यरेखायां न्यस्तव्याः शक्तीराह—

तस्याः[3] स्थानेषु ब्रह्माण्याद्यास्तथाऽष्टसु ।

तस्याः चतुरस्रमध्यरेखायाः । अष्टसु स्थानेषु । ब्रह्माण्याद्या ब्रह्माणीमाहेश्वरीकौमारीवैष्णवीवाराहीन्द्राणीचामुण्डामहालक्ष्मीः । तथा विन्यसेदित्यन्वयः ॥४६॥

तासां स्थानाष्टकमाह—

पादाङ्गुष्ठद्वये पार्श्वे दक्षे मूर्ध्नोऽन्यैं[4]पार्श्वके ॥४६॥
वामदक्षिणजान्वोश्च बहिरंसद्वये तथा ।

स्पष्टम्[5] ॥४६-४७॥

इसके अन्दर, अर्थात् दस सिद्धियों का जहाँ विन्यास किया गया, उस रेखा से बाद की मध्य रेखा में "चतुरस्रमध्यरेखायै नमः" इस मन्त्र से व्यापक न्यास करे ॥४५-४६॥

चतुरस्र की मध्यरेखा में इन शक्तियों का न्यास करना चाहिये—

उस चतुरस्र रेखा के आठ स्थानों में ब्रह्माणी आदि आठ शक्तियों का न्यास करना चाहिये ॥४६॥

उस चतुरस्र की मध्यरेखा के आठ स्थानों में ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी—इस आठ शक्तियों का न्यास करना चाहिये ॥४६॥

इनके आठ स्थानों को अब बताते हैं—

पैरों के दोनों अंगूठों में, सिर के दाहिने और बायें भाग में, वाम और दक्षिण जानुओं (घुटनों) में तथा दोनों कन्धों के बाहरी भागों में इनका न्यास किया जाता है ॥४६-४७॥

इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥४६-४७॥

---

१. इत्यादि–ख. ज. झ. उ. । २. दित्यर्थः–क. ग. ने. झ. । ३. स्थानेषु विन्यस्य–क. ग. । ४. मूर्धन्य–क. ग. ने. झ. । ५. स्पष्टमेतत्–ज. ।

चतुरस्रान्त्यरेखायां व्यापकमाह—

न्यस्तव्याश्चतुरस्रान्त्यरेखायै नम इत्यपि ॥४७॥
विन्यसेद् व्यापकत्वेन पूर्वोक्तान्तैश्च[1] विग्रहे ।

"चतुरस्रान्त्यरेखायै नमः" इति[2] मन्त्रेण । विग्रहे देहे । पूर्वोक्तान्तः पूर्वोक्तानां ब्राह्म्यादिस्थानानामन्तर्देशेषु व्यापकत्वेन न्यस्तव्याः । न्यासयोग्ये[3] विन्यसेत् ॥४७-४८॥

तस्यां चतुरस्रान्त्यरेखायां न्यस्तव्याः शक्तीराह—

तस्याः स्थानेषु दशसु मुद्राणां दशकं न्यसेत् ॥४८॥

तस्याः चतुरस्रान्त्यरेखायाः । दशसु स्थानेषु त्रिखण्डामुद्रासहितानां[4] संक्षोभिण्यादिमुद्राणां दशकं न्यसेत् ॥४८॥

तासां स्थानान्याह—

ब्रह्माण्याद्यष्टस्थाना[5]न्तस्तासामष्टौ न्यसेत्[6] ततः ।
शिष्टे द्वे द्वादशान्ते च पादाङ्गुष्ठे च विन्यसेत् ॥४९॥

चतुरस्र की अन्तिम रेखा में व्यापक न्यास बताते हैं—

"चतुरस्रान्त्यरेखायै नमः" इस मन्त्र से पूर्वोक्त ब्राह्मी आदि शक्तियों के स्थान से बाद वाली अन्तिम रेखा में व्यापक न्यास करना चाहिये ॥४७-४८॥

"चतुरस्रान्त्यरेखायै नमः" इस मन्त्र से शरीर में पूर्वोक्त ब्राह्मी आदि शक्तियों के स्थान के बाद वाले स्थान में व्यापक न्यास के द्वारा आगे बताई गई शक्तियों का न्यास करना चाहिये ॥४७-४८॥

इस रेखा में न्यस्तव्य शक्तियों को बताते हैं—

चतुरस्र की इस अन्तिम रेखा के दस स्थानों में दस मुद्राओं का न्यास करना चाहिये ॥४८॥

उस चतुरस्र की अन्तिम रेखा के दस स्थानों में त्रिखण्डा मुद्रा के साथ अन्य संक्षोभिणी आदि [1]मुद्राओं का न्यास करना चाहिये ॥४८॥

इन मुद्राओं के विन्यास के स्थान ये हैं—

इन दस मुद्राओं में से आठ का न्यास ब्रह्माणी आदि आठ शक्तियों के न्यास-

---

१. न्तर–ने., स्ताश्च–छ., क्तानां च–उ. । २. इत्यादि–ज. झ. उ. । ३. योगेन न्य–क. ग. । ४. सहितसंक्षोभिण्यादिमुद्रादशकं–ख. उ. । ५. नामन्तर–छ. ज. । ६. प्रविन्यसेत्–उ., न्यसेदथ–ख. ङ. च. छ. ज. झ. ।

1. त्रिखण्डा आदि दस मुद्राओं का बाह्य और आन्तर स्वरूप क्रमशः नि० षो० (३।३-२७) तथा यो० हृ० (१।५७-७१) में देखना चाहिये ।

तासां मुद्राणां मध्ये, अष्टौ[1] मुद्रा ब्रह्माण्याद्यष्टस्थानानामन्तर्देशेष्वष्टसु विन्यसेत्[2]। शिष्टे द्वे मुद्रे[3] द्वादशान्ते[4] पादाङ्गुष्ठे च विन्यसेत्। द्वादशान्तं षोडशान्तेन्दुमण्डलादधः सूर्यमण्डलस्थानम्। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

षोडशान्तमिति ख्यातं व्योमस्थानेन्दुमण्डलम्।
तदधःस्थानगं सूर्यबिम्बं द्वादशशक्तिकम्॥
द्वादशान्त[5]मिति ख्यातं स्थितं व्योमप्रदेशकम्।
इति तेन बिन्दुतत्त्वं चतुष्पत्राम्बुजं च तत्॥
[6]सूर्यबिम्बमधश्चोर्ध्वं सार्धेकाङ्गुलिदेशतः।

इति[7] रीत्या ललाटस्थानबिन्दुतत्त्वोपरि स्थितं सूर्यमण्डलस्थानं ललाटोर्ध्वं द्वादशान्तपदेन लक्ष्यते॥४९॥

षोडशदलपद्मव्यापकमाह—

तदन्तः षोडशदलपद्माय नम इत्यपि।
विन्यस्य

स्थान के अनुसार ही करना चाहिये। बाकी बची दो मुद्राओं को द्वादशान्त और पादाङ्गुष्ठ में विन्यस्त करे॥४९॥

इन मुद्राओं में से आठ मुद्राओं का विन्यास ब्रह्माणी आदि शक्तियों के स्थानों के अन्तर्गत आठ स्थानों में करना चाहिये। बाकी बची दो मुद्राओं का विन्यास द्वादशान्त और पादाङ्गुष्ठ में किया जाय। षोडशान्त नामक चन्द्रमण्डल के नीचे स्थित सूर्यमण्डल के स्थान को द्वादशान्त कहते हैं। जैसा कि स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—

उस आन्तर आकाश में विराजमान चन्द्रमण्डल षोडशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। उसके नीचे बारह शक्तियों से संवलित सूर्यमण्डल स्थित है। इस आकाश प्रदेश को द्वादशान्त कहते हैं। इसके नीचे चार दल वाले कमल में बिन्दुतत्त्व का निवास है और इसी से डेढ अंगुल ऊपर सूर्यबिम्ब स्थित है॥

इसके अनुसार ललाटस्थित बिन्दुतत्त्व के ऊपर सूर्यमण्डल है। ललाट के ऊपर स्थित यह सूर्यमण्डल ही द्वादशान्त कहा जाता है॥४९॥

षोडशदल पद्म का व्यापक न्यास बताते हैं—

इन चतुरस्रों के भीतर "षोडशदलप[6]ाय नमः" इस मन्त्र से व्यापक न्यास करे॥

१. अष्ट–क. ग.। २. विन्यस्य–ख. ने. . झ.। ३. 'मुद्रे' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. द्वादशान्तपादाङ्गुष्ठयोर्वि–ख. ने. ज. झ.। ५. न्तं स्मृतं तेन–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. सूर्यं बिन्दुमधश्चोर्ध्वे–ख. झ. उ.। ७. अनेन–ज.।

तेषां चतुरस्राणाम्, अन्तर्देशे[1] "षोडशदलपद्माय नमः"[2]इति मन्त्रेण[3]दक्षिणश्रोत्रपृष्ठादिस्थानानि संस्पृश्य व्यापकं विन्यसेदित्यर्थः॥५०॥

तद्दलेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

तद्दले कामाकर्षिण्याद्याश्च विन्यसेत्॥५०॥

तद्दले, जातावेकवचनम्, तद्दलेषु। कामाकर्षिण्याद्याः कामबुद्ध्यहङ्कारशब्दस्पर्शरूपरसगन्धचित्तधैर्यस्मृतिनामबीजात्मामृतशरीराकर्षिण्यः,[4] ता विन्यसेत्॥५०॥

तद्दलस्थानान्याह—

दलानि दक्षिणश्रोत्रपृष्ठमंसं च कूर्परम्।
करपृष्ठं चोरुजानुगुल्फपादतलं तथा॥५१॥
वामपादतलाद्यं[5] वमेतद्[6] वाष्टकं मतम्।

दलानीत्यादि तथेत्यन्तं स्पष्टम्। एवमुक्तप्रकारेण। वामपादतलादिवामश्रोत्रपृष्ठान्तमेतदेवाष्टकं मतम्। स्थानाष्टकद्वयं षोडशदलानीत्यर्थः॥५१-५२॥

इन चतुरस्रों के भीतर विद्यमान वृत्त प्रदेश में "षोडशदलपद्माय नमः" इस मन्त्र से दाहिने कान, दाहिनी पीठ आदि स्थानों का स्पर्श कर व्यापक न्यास करे॥५०॥

इन दलों में न्यस्तव्य शक्तियों को बताते हैं—

इन सोलह दलों में कामाकर्षिणी आदि सोलह शक्तियों का विन्यास करे॥५०॥

'तद्दले' यहाँ जाति में एकवचन है। उन सोलह दलों में कामाकर्षिणी, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, चित्त, धैर्य, स्मृति, नाम, आत्मा, अमृत और शरीराकर्षिणी देवियों को विन्यस्त करे॥५०॥

इन दलों के स्थान ये हैं—

दाहिने कान की पीठ, कन्धा, कोहनी, करपृष्ठ (करभ), जंघा, घुटना, गुल्फ (टखना) और दक्षिण पादतल तथा वाम पादतल आदि ये ही आठ स्थान इनके दलों के हैं॥५१-५२॥

'दलानि' से 'तथा' पर्यन्त श्लोक का अर्थ स्पष्ट है। इसी तरह से वाम पादतल, गुल्फ, घुटना, जंघा, करपृष्ठ, कोहनी, कन्धा और बायें कान की पीठ ये ही स्थान विपरीत क्रम से विन्यस्त किये जाते हैं। इस तरह से दाहिने भाग और बायें भाग के ये ही आठ-आठ स्थान मिल कर सोलह दलों के प्रतिनिधि बनते हैं॥५१-५२॥

१. देशे' नास्ति–ने. ज.। २. इत्यादि–ने. ज. झ. उ.। ३. षोडशदलदक्षिणतः श्रोत्र–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. ण्यन्ता–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. न्येव–ने. ज. झ.। ६. दप्यष्टकं–ख. ने. च. छ. ज. झ.।

अष्टदलव्यापकमाह—

तदन्तरे चाष्टदलपद्माय नम इत्यपि ॥५२॥

विन्यस्य

तदन्तरे षोडशदलपद्मान्तरे। "अष्टदलपद्माय नमः" इति मन्त्रेण दक्षशङ्खादिस्थानानि संस्पृश्य व्यापकं न्यसेदित्यर्थः ॥५२-५३॥

तद्दलान्याह—

तद्दलेष्वेषु दक्षशङ्खे च जत्रुके।

ऊर्वन्तर्गुल्फगुल्फोरुजत्रुशङ्खे च वामतः ॥५३॥

शङ्खजत्र्वादिशब्दानां शरीरावयवावच्छिन्नानामङ्गेषु निघण्टुषु सुप्रसिद्धत्वादवगतिः ॥५३॥

तत्तद्दलेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

अनङ्गकुसुमाद्यास्तु शक्तीरष्टौ च विन्यसेत्।

अनङ्गकुसुमाद्याः अनङ्गकुसुमाऽनङ्गमेखलाऽनङ्गमदनाऽनङ्गमदनातुराऽनङ्गरेखाऽनङ्गवेगिन्यनङ्गाङ्कुशाऽनङ्गमालिन्यः। शेषं सुगमम् ॥५४॥

अब अष्टदल न्यास को बताते हैं—

सोलह दल के भीतर "अष्टदलपद्माय नमः" इस मन्त्र से अष्टदल चक्र का विन्यास करे ॥५२-५३॥

सोलह दल वाले पद्म के भीतर "अष्टदलपद्माय नमः" इस मन्त्र से दस शंख आदि स्थानों को छूकर व्यापक न्यास करे ॥५२-५३॥

इस पद्म के दलों के स्थान ये हैं—

दक्ष शंख (दाहिनी कनपटी), जत्रु (हंसुली), जंघा और टखना तथा बायां टखना, जंघा, जत्रु और शंख—ये आठ स्थान इस अष्टदल कमल के आठ दलों के हैं ॥५३॥

शंख, जत्रु आदि शब्द मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों के वाचक हैं। कोश ग्रन्थों में इनका अर्थ प्रसिद्ध है ॥५३॥

इन दलों में न्यस्तव्य शक्तियों को बताते हैं—

इन आठ दलों में अनङ्गकुसुमा आदि आठ शक्तियों का विन्यास करना चाहिये ॥

अनङ्गकुसुमा, अनङ्गमेखला, अनङ्गमदना, अनङ्गमदनातुरा, अनङ्गरेखा, अनङ्गवेगिनी, अनङ्गाङ्कुशा, अनङ्गमालिनी—ये आठ शक्तियाँ हैं। बाकी का अर्थ सरल है ॥५४॥

चतुर्दशारचक्रव्यापकमाह—

तदन्तश्चतुर्दशारचक्राय नम इत्यपि ॥५४॥

विन्यस्य

तदन्तः अष्टदलपद्मस्यान्तः "चतुर्दशारचक्राय नमः" इति मन्त्रेण चतुर्दशकोणस्थानानि ललाटादीनि संस्पृश्य व्यापकं विन्यस्य ॥५४-५५॥

चतुर्दशकोणेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

तस्य कोणेषु न्यसेच्छक्तीश्चतुर्दश।

सर्वसंक्षोभिण्याद्यास्तु

सर्वसंक्षोभिण्याद्याः सर्वसंक्षोभिणीसर्वविद्राविणीसर्वाकर्षिणीसर्वाह्लादिनी[1]-सर्वसंमोहिनीसर्वस्तम्भिनीसर्वजृम्भिणीसर्ववशङ्करीसर्वरञ्जनीसर्वोन्मादिनीसर्वार्थसाधिनीसर्वसम्पत्ति[2]पूरणीसर्वमन्त्रमयीसर्वद्वन्द्वक्षयङ्कर्यः। [3]शिष्टं स्पष्टम् ॥५५॥

तत्कोणानि प्रतिज्ञापूर्वकमाह—

तस्य कोणानि वक्ष्यहम् ॥५५॥

ललाटे दक्षभागे च दक्षगण्डांसमध्यतः।

[4]पार्श्वान्तरूरुजङ्घान्तर्वामजङ्घादि पार्वति ॥५६॥

चतुर्दशार चक्र का व्यापक न्यास बताते हैं—

इसके भीतर "चतुर्दशारचक्राय नमः" इन मन्त्र से चतुर्दशार चक्र का विन्यास करे ॥

अष्टदल पद्म के भीतर "चतुर्दशारचक्राय नमः" इस मन्त्र से चतुर्दश कोण के प्रतिनिधि ललाट आदि स्थानों को छूते हुए व्यापक न्यास करना चाहिये ॥५४-५५॥

चतुर्दशकोण में न्यस्तव्य शक्तियों को बताते हैं—

इसके कोणों में सर्वसंक्षोभिणी इत्यादि चौदह शक्तियों का विन्यास करे ॥

सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसंमोहिनी, सर्वस्तम्भिनी, सर्वजृम्भणी, सर्ववशङ्करी, सर्वरञ्जनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसम्पत्तिपूरणी, सर्वमन्त्रमयी और सर्वद्वन्द्वक्षयङ्करी ये चौदह शक्तियाँ हैं। शेष शब्दों का अर्थ स्पष्ट है ॥५५॥

अब प्रतिज्ञा के साथ इनके कोणों का वर्णन करते हैं—

अब मैं इनके कोणों का वर्णन कर रहा हूँ। ललाट में, ललाट के दाहिने भाग में, दक्षिण कपोल, दक्षिण स्कन्ध, पार्श्व, जंघा और पिण्डली में तथा इसी तरह

---

१. ह्लादकारिणी–ख. ने. ज. झ. उ.। २. रूपिणी–ख. ने. ज. झ.। ३. 'शिष्टं स्पष्टम्' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. दक्षपार्श्वोरु–ख. ने.।

वामोरौ वामपार्श्वे च वामांसे वामगण्डके ।

ललाटवामभागे च तथा वै पृष्ठ इत्यपि ॥५७॥

दक्षभागे ललाटस्यैव। ललाट इति प्रकृतत्वाद् दक्षगण्डदक्षांसमध्यत[1] इत्यर्थः। [2]पार्श्वान्तरूरुजङ्घान्तरिति त्रिभिरपि दक्षशब्दो युज्यते। वामजङ्घादि इत्यादि-शब्दः शिष्टार्थारम्भद्योतकः। वामांस इत्यत्रापि मध्य इति योज्यम्। पृष्ठमिति शिरसः पृष्ठमेव[3] ज्ञेयम्, दक्षवामयोः प्रथमं ललाटोपादानात्। ललाटं शिरसः पुरस्ताद्भागः ॥५५-५७॥

बहिर्दशारचक्रव्यापकमाह—

[4]**ततो दशारचक्राय नम इत्यपि पार्वति ।**

ततः चतुर्दशारकोणन्यासानन्तरम्, "दशारचक्राय नमः" इति मन्त्रेण दक्षाक्ष्यादिदशकोणानि संस्पृश्य व्यापकम्, अपिशब्दाद्विन्यसेदिति योज्यम् ॥

से हे पार्वति ! बाईं पिण्डली, जंघा, पार्श्व, स्कन्ध, कपोल और ललाट के वाम भाग में एवं ललाट के पृष्ठ भाग में इन दलों की भावना करे ॥५६-५७॥

ललाट में और ललाट के ही दाहिने हिस्से में ये दो स्थान होंगे। ललाट के दक्षभाग की तरह गण्ड, अंस आदि का भी दक्ष भाग ही गृहीत होगा। इसी तरह से पार्श्व, ऊरु और जंघा के साथ भी दक्ष शब्द संयुक्त होगा। वाम जंघा के बाद का आदि शब्द विपरीत क्रम से उन सभी स्थानों का सूचक है, जिनका वर्णन अभी किया गया है। न्यास करते समय इन सभी स्थानों के मध्य भाग का स्पर्श किया जाता है, अतः वामांस के साथ भी मध्य शब्द जुड़ेगा। पृष्ठ शब्द यहाँ सिर के पृष्ठ भाग का सूचक है, क्योंकि दक्ष और वाम ललाट के अतिरिक्त यहाँ ललाट का भी अलग से ग्रहण किया गया है। इसलिये परावर्तन क्रम में यहाँ ललाट का पृष्ठ भाग, अर्थात् सिर का पृष्ठ भाग ही गृहीत होगा, क्योंकि ललाट सिर का पूर्व भाग है ॥५५-५७॥

बहिर्दशार चक्र का न्यास बताते हैं—

हे पार्वति ! इसके बाद "बाह्यदशारचक्राय नमः" इस मन्त्र से बहिर्दशार चक्र का न्यास करे ॥

चतुर्दशार चक्र के कोणों का न्यास सम्पन्न करने के उपरान्त "दशारचक्राय नमः" इस मन्त्र से दाहिनी आँख आदि दस स्थानों का स्पर्श करते हुए व्यापक न्यास करे ॥

---

१. मध्य इ–उ.। २. पार्श्वोरुज–ख. ने.। ३. मिति ज्ञेयम्–क. ग., मवसेयम्–झ. उ.। ४. बहिर्दशार–ख.।

दशारचक्रस्य कोणान्याह—

तस्य कोणानि दक्षाक्षिनासिकामूलनेत्रके[1] ॥५८॥

कुक्षीशवायुकोणेषु जानुद्वयगुदेषु च ।

कुक्षिनैर्ऋतिवह्न्याख्यकोणे[2]ष्वेवं

तस्य दशारचक्रस्य, कोणानि दशाऽपि, दशसु दक्षाक्ष्यादिस्थानेषु, भावनीयानीति[4] शेषः। कुक्षीशवायुकोणेषु। छान्दसत्वाद् द्वित्वे बहुवचनम्। बाहुद्वयमारभ्योरुद्वयपर्यन्तं कुक्षिशब्देन लक्ष्यते। तेन कुक्षेरुपरिभागः प्राची, अधोभागः प्रतीची, दक्षिणवामपार्श्वे दक्षिणोदीच्यौ। कोणशब्देन बाहू ऊरू च लक्ष्येते। तेन वामबाहुमूलमीशकोणः, वामोरुमूलं वायुकोणः, दक्षिणोरुमूलं नैर्ऋतिकोणः, दक्षिणबाहुमूल[5]मग्निकोणः। सुगममन्यत् ॥५८-५९॥

दशकोणेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

न्यसेत् पुनः ॥५९॥

अब इस दशार चक्र के कोणों को बताते हैं—

इस दशार चक्र के कोणों की दाहिनी आँख, नासिकामूल, बाईं आँख, वाम बाहु, वामोरु, दक्षिण और वाम जानु, गुदा, दक्षिण ऊरु और दक्षिण बाहु इन दस स्थानों में भावना करे ॥५८-५९॥

उस दशार चक्र के सभी दस कोणों की दक्षिण नेत्र आदि दस स्थानों में भावना करनी चाहिये। कुक्षीशवायुकोणेषु तथा कुक्षिनैर्ऋतिवह्न्याख्यकोणेषु इन दोनों स्थानों में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग वैदिक पद्धति के अनुसार मानना चाहिये। कुक्षि शब्द यहाँ दोनों बाहुओं से दोनों जंघाओं तक फैले धड़ का वाचक है। इसके अनुसार धड़ का ऊपरी भाग प्राची (पूर्व), नीचे का भाग प्रतीची (पश्चिम) दिशा का और उसका दाहिना तथा बायां भाग दक्षिण और उत्तर दिशा का सूचक होगा। कोण शब्द से दोनों बाहुओं और दोनों जंघाओं बोध होगा। इस तरह से वाम बाहुमूल, ईशान कोण, वाम जंघामूल वायु कोण, दक्षिण जंघामूल नैर्ऋति कोण और दक्षिण बाहुमूल अग्निकोण का सूचक माना जायगा। बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥५८-५९॥

इन दस कोणों में न्यस्तव्य शक्तियाँ ये हैं—

---

१. नासामूलास्यनेत्रके–क. ग., लान्यनेत्रके–से.। २. णयोश्च–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ.। ३. 'दशापि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. नीत्यर्थः–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. मूलं वह्नि–ख. ने. ज. झ.।

सर्वसिद्धिप्रदादीनां शक्तीनां दशकं प्रिये ।

सर्वसिद्धिप्रदाद्याः सर्वसिद्धिप्रदासर्वसम्पत्प्रदासर्वप्रियङ्करीसर्वमङ्गलकारिणी-सर्वकामप्रदासर्वदुःखविमोचनीसर्वमृत्युप्रशमनीसर्वविघ्ननिवारिणीसर्वाङ्गसुन्दरीसर्व-सौभाग्यदायिन्यः । शेषं स्पष्टम् ॥५९-६०॥

अन्तर्दशारचक्र[2]व्यापकमाह—

तदन्तश्च दशारादिचक्राय नम इत्यपि ॥६०॥

विन्यस्य

तदन्तः बाह्यदशारान्तः, "अन्तर्दशारचक्राय नमः" इति मन्त्रेण दक्षिणनासादि-[3]दशकोणानि संस्पृश्य व्यापकं विन्यस्य ॥६०-६१॥

दशकोणेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

तस्य कोणेषु सर्वज्ञाद्याश्च विन्यसेत् ।

सर्वज्ञाद्याः सर्वज्ञासर्वशक्तिसर्वैश्वर्य[4]प्रदासर्वज्ञानमयीसर्वव्याधिविनाशिनीसर्वा-धारस्वरूपा[5]सर्वपापहरासर्वानन्दमयीसर्वरक्षास्वरूपिणीसर्वेप्सितफलप्रदाः । स्पष्ट-मन्यत् ॥६०॥

हे प्रिये ! इन दस कोणों के दस स्थानों में सर्वसिद्धिप्रदा इत्यादि दस शक्तियों का विन्यास करे ॥५९-६०॥

सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसम्पत्प्रदा, सर्वप्रियङ्करी, सर्वमङ्गलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्व-दुःखविमोचिनी, सर्वमृत्युप्रशमनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वाङ्गसुन्दरी और सर्वसौभाग्य-दायिनी ये दस शक्तियाँ है । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥५९-६०॥

अन्तर्दशार चक्र का व्यापक न्यास बताते हैं—

बाह्य दशार के भीतर "अन्तर्दशारचक्राय नमः" इस मन्त्र से अन्तर्दशार चक्र का विन्यास करे ॥६०-६१॥

बाह्य दशार चक्र के भीतर "अन्तर्दशारचक्राय नमः" इस मन्त्र से दस कोणों के प्रतिनिधि दक्षिण नासा आदि स्थानों को स्पर्श करते हुए व्यापक न्यास करे ॥६०-६१॥

इन दस कोणों में न्यस्तव्य शक्तियाँ ये हैं—

अन्तर्दशार के दस कोणों से सर्वज्ञा आदि शक्तियों को विन्यस्त करे ॥६१॥

सर्वज्ञा, सर्वशक्ति, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिविनाशिनी, सर्वाधारस्वरूपा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षास्वरूपिणी, सर्वेप्सितफलप्रदा ये दस शक्तियाँ हैं । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥ ॥

---

१. तथा–क. ग. । 'चक्र' नास्ति–ख. झ. उ. । ३. दक्ष(श) स्थानानि–क. ग. । ४. प्रदायिनी–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. स्वरूपिणी–ख. ।

तस्य कोणान्याह—

दक्षनासा सृक्किणी च स्तनं वृषणमेव च ॥६१॥
सीवनी वाममुष्कं च स्तनं सृक्किणिनासिके ।
नासाग्रं चैव विज्ञेयं कोणानां दशकं तथा ॥६२॥

स्पष्टम् ॥६१-६२॥

अष्टकोणचक्रव्यापकमाह—

तदन्तरेष्टकोणादिचक्राय नम इत्यपि ।

विन्यस्य

तदन्तः दशारान्तः, "अष्टकोणादिचक्राय नमः" इति [2]मन्त्रेण चिबुकाद्यष्ट-कोणानि संस्पृश्य व्यापकं विन्यस्य । अष्टकोणचक्रस्यादित्वं त्रिकोणा(दी?दि)तर-चक्रेभ्यः प्रथममुत्पन्नत्वात् ॥६३॥

अष्टकोणेषु न्यस्तव्याः शक्तीराह—

तस्य कोणेषु वशिन्याद्यष्टकं न्यसेत् ॥६३॥

तस्य अष्टारचक्रस्य, कोणेषु । वशिन्याद्यष्टकं वशिनीकामेश्वरीमोदिनी-विमलाऽरुणाजयिनीसर्वेश्वरीकौलिन्यः ॥६३॥

अन्तर्दशार के विन्यास के कोण ये हैं—

दक्ष नासापुट, सृक्किणी (होठों का दक्षिण भाग), दक्ष स्तन, दक्ष वृषण, सीवनी, वाम मुष्क (वृषण), वाम स्तन, वाम सृक्किणी, वाम नासापुट और नासाग्र ये अन्तर्दशार के दस कोण हैं ॥६१-६२॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥६१-६२॥

अष्टकोण चक्र का व्यापक न्यास बताते हैं—

दशार चक्र के भीतर "अष्टकोणादिचक्राय नमः" इस मन्त्र से अष्टकोण चक्र का विन्यास करे ॥६३॥

अन्तर्दशार चक्र के भीतर "अष्टकोणादिचक्राय नमः" इस मन्त्र से चिबुक (ठोडी) आदि दस स्थानों को छूते हुए व्यापक न्यास करे । अष्टकोण को आदिचक्र इसलिये कहा गया है कि त्रिकोण से अन्य चक्रों की अपेक्षा यह पहले उत्पन्न हुआ है ॥६३॥

अष्टकोण में न्यस्तव्य शक्तियों को बताते हैं—

इस अष्टार चक्र के कोणों में वशिनी आदि आठ शक्तियों का विन्यास करे ॥६३॥

इस अष्टार चक्र के आठ कोणों में वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी इन आठ शक्तियों का विन्यास करे ॥६३॥

---

१. ब्वाष्ट–ख. ने. ब. ज. झ. । २. 'मन्त्रेण' नास्ति–क. ग. ज. ।

तस्य कोणाष्टकमाह—

चिबुकं कण्ठहृदयनाभीनां चैव दक्षिणम् ।
ज्ञेयं पार्श्वचतुष्कं च मणिपूरादि वामकम् ॥६४॥
चतुष्टयं च पार्श्वानामेतत् कोणाष्टकं पुनः ।

चिबुकादीनां पार्श्वचतुष्कं दक्षिणम् । मणिपूरादि, मणिपूरकं नाभिस्थानम्, नाभिहृदयकण्ठचिबुकानां वामकं[2] पार्श्वचतुष्कं चैतत्कोणाष्टकम् ॥६४-६५॥

अनन्तरमायुधावरणन्यासमाह—

हृदयस्थत्रिकोणस्य चतुर्दिक्षु बहिर्न्यसेत् ॥६५॥
शरचापौ पाशसृणी

हृदये[3] वक्षसि तिष्ठतीति हृदयस्थं स्तनद्वयमध्यनिम्नत्रिकोणाकारं हृदयस्थत्रिकोणमित्युच्यते। तस्य बहिश्चतुर्दिक्षु प्रागादिषु कामेश्वरीकामेश्वरयोः शरचापौ पाशसृणी [4]चेत्यायुधचतुष्टयं [5]मिलितं न्यसेत् । [6]शरचापौ पाशसृणी इति पुंस्त्रीभेदेन प्रत्येकं द्वन्द्वमित्यष्टौ । अत्रैव वक्ष्यति—

इसके आठ कोणों को कहते हैं—

चिबुक (ठोडी), कण्ठ, हृदय और नाभि इन चारों का दाहिना भाग तथा मणिपूर (नाभि) आदि का बायां भाग, ये ही सब मिल कर अष्टकोण चक्र के आठ कोण बनते हैं ॥६४-६५॥

चिबुक (ठोडी) आदि के चार दाहिने पार्श्व (भाग) और मणिपूर आदि, अर्थात् नाभि, हृदय, कण्ठ, चिबुक के चार बायें पार्श्व मिलकर इस कोणाष्टक की रचना करते हैं ॥६४-६५॥

अब आयुधावरण न्यास को कहते हैं—

हृदय में स्थित त्रिकोण की चारों दिशाओं में बाहर की तरफ बाण, धनुष, पाश और अंकुश का न्यास करे ॥६५-६६॥

हृदयस्थ त्रिकोण का अर्थ है दोनों स्तनों के मध्य में नीचे विद्यमान त्रिकोण के आकार का स्थान । उसके बाहर पूर्व आदि चारों दिशाओं में कामेश्वरी और कामेश्वर दोनों के बाण, धनुष, पाश और अंकुश इन चार-चार आयुधों का न्यास करे । शरचापौ तथा पाशसृणी पदों में 'शरो च चापौ च, पाशौ च सृणी च' इस तरह का द्विवचनान्त

१. मतम्–क. ग. । २. वाम–ख. ग. ने. ज., नास्ति–झ. उ. । ३. 'हृदये''''प्रागादिषु' इति पाठाग्रे 'पाशद्वयं न्यसेत्' इत्यतः परं दृश्यते–ख. ज. झ. उ. । ४. चेत्यायुधाष्टकं–क. । ५. 'मिलितं' नास्ति–क. ग. ने. उ. । ६. 'शर''''मित्यष्टौ' केवलं झ. दृश्यते ।

बाणान् नेत्रे भ्रुवोश्चापौ कर्णे पाशद्वयं न्यसेत् ।
[1]सृणिद्वयं च नासाग्रे दक्षिणाग्रं तु विन्यसेद् ॥ (३।७०-७१)

इति ॥६५-६६॥

ततस्त्रिकोण[2]चक्रव्यापकमाह—

त्रिकोणाय नमस्तथा ।
विन्यस्य

"त्रिकोणाय नमः" इति मन्त्रेण रेखात्रयं संस्पृश्य व्यापकं विन्यस्य ॥

त्रिकोणे न्यस्तव्या देवीराह—

तस्य कोणेषु अग्रदक्षान्तरेषु च ॥६६॥
कामेश्वर्यादिदेवीनां[3] मध्ये देवीं च विन्यसेत् ।

तस्य त्रिकोणस्य, अग्रदक्षोत्तरेषु कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्यः, तासां कामेश्वर्यादिदेवीनां मध्ये देवीं च विन्यसेदिति । मध्ये बैन्दवे श्रीचक्रे । देवीं प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपां त्रिपुरसुन्दरीं च[4] विन्यसेदित्यर्थः ॥६६-६७॥

द्वन्द्व समास है । इससे पुरुष और स्त्री, कामेश्वर और कामेश्वरी के भेद से आठ आयुधों का विन्यास किया जायगा । यहीं आगे (३।७०-७१) आठ आयुधों के विषय में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि दोनों नेत्रों में बाणों को, दोनों भौंहों पर धनुषों को, दोनों कानों में पाशों को और नासाग्रों में दक्षिणाग्र अंकुशों को रखे ॥६५-६६॥

इसके बाद त्रिकोण चक्र का न्यास बताते हैं—

"त्रिकोणाय नमः" इस मन्त्र से इस चक्र का न्यास करे ॥

"त्रिकोणाय नमः" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए तीनों रेखाओं का स्पर्श करते हुए व्यापक न्यास करे ॥

त्रिकोण में इन देवियों का न्यास किया जाता है—

उस त्रिकोण के अग्र, दक्षिण और उत्तर में कामेश्वरी आदि देवियों का और मध्य भाग में त्रिपुरसुन्दरी का न्यास करे ॥६६-६७॥

उस त्रिकोण की आगे की, दाहिनी और बाईं रेखाओं में कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी देवी का और तीनों देवियों के बीच में देवी (त्रिपुरसुन्दरी) का विन्यास करे । मध्य का अर्थ यहाँ बैन्दव चक्र है । इस बैन्दव चक्र में प्रकाशविमर्शसामरस्य-स्वरूपिणी त्रिपुरसुन्दरी का न्यास करना चाहिये ॥६६-६७॥

१. नास्ति श्लोकार्धः–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'चक्र' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ३. देवीश्च–ख. ने. च. छ. ज. झ. । ४. 'च' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. ।

श्रीचक्रन्यासमुपसंहरति—

एवं मयोदितो देवि न्यासो गुह्यतमक्रमः ॥६७॥

स्पष्टम्[1] ॥६७॥

अतस्त्वयाऽप्येतन्न्यासजातं गोप्यमित्याह—

एतद् गुह्यतमं कार्यं त्वया वै वीरवन्दिते ।

स्पष्टम्[3] ॥

ननु किमेतन्न कस्मैचिदपि कथनीयमित्यत[4] आह—

समयस्थाय दातव्यं

समयस्थाय [5]कौलिकाय समयाचारनिष्ठाय देयम् । पशुसमयाचार[6]निष्ठाय न देयमित्यर्थः ॥

ननु कौलिकसमयस्थायाऽपि[7] सर्वस्मै देयम् ? नेत्याह—

नाशिष्याय कदाचन ॥६८॥

समयस्थायापि अशिष्याय[8] न देयम् ॥६८॥

इस श्रीचक्रन्यास का अब उपसंहार करते हैं—

हे देवि ! इस तरह से मैंने तुमको इस न्यास की अत्यन्त गोपनीय पद्धति को समझाया है ॥६७॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥६७॥

यह अत्यन्त गोपनीय है, इसीलिये तुम्हें भी इस न्यास को गुप्त रखना चाहिये—

हे वीरवन्दिते ! तुम्हें भी इसे अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ।

क्या इसे किसी को नहीं बताना चाहिये, इस पर कहते हैं—

नियमों का पालन करने वाले को ही इसे बताना चाहिये ॥

समय (नियम) का पालन करने वाले कौलिक को ही, आचारनिष्ठ साधक को ही इसका उपदेश करना चाहिये । अन्य सम्प्रदायों के आचार, नियम आदि का अनुसरण करने वालों को इसका उपदेश नहीं करना चाहिये ॥

क्या सभी कौलिकों को इसका उपदेश किया जा सकता है? इस पर कहते हैं, नहीं—

जो शिष्य नहीं है, उसको इसका उपदेश कभी न करे ॥६८॥

कौलिक आचार-विचार का पालन करने वाला भी यदि शिष्य नहीं बना है, तो उसको इस विषय का उपदेश नहीं करना चाहिये ॥६८॥

---

१. स्पष्टमेतत्–ज. । २. तरं–ख. च. छ. ज. झ. उ. । ३. स्पष्टमेतत्–ज. । ४. इत्याह–ज. झ. उ. । ५. कौलिकसम–ख. ने. झ. उ. । ६. पराय–ख. ने. ज. झ. उ. । ७. 'अपि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ८. ष्याय अन्यशिष्याय–क. ग. झ. ।

मयाऽप्येतत् त्वदन्यस्य कस्यापि न पुरा[1] प्रकटीकृतमित्याह—

गुप्ताद् गुप्ततरं चैतत् तवाऽद्य प्रकटीकृतम् ।

गुप्तादपि[2] गुप्ततरम्, रहस्यादप्यत्यन्त[3]रहस्यत्वात् । एतत् तव मदंशभूतविमर्शात्मिकायाः प्रियतमाया अपि यतो [4]मयाऽद्य प्रकटीकृतम् । पुराऽन्यस्मै न प्रकटीकृतमिति तात्पर्यम् ॥६९॥

अस्यैव न्यासस्य पुनः प्रकारान्तरमाह—

मूलदेव्यादिकं न्यासमणिमान्तं पुनर्न्यसेत् ॥६९॥

पूर्वमणिमादिमूलदेव्यन्तं श्रीचक्रावरणदेवतान्या(समुक्त्वा[5]?सं कृत्वा) इदानीं मूलदेव्याद्यणिमान्तं पुनः श्रीचक्रावरणदेवतान्यासं कुर्यादित्यर्थः ॥६८॥

मूल[6]देव्यादिन्यासप्रकारमेवाह—

शिरस्त्रिकोणे पूर्वादि कामेश्वर्यादिका न्यसेत् ।

मैंने भी अब तक इसको तुम्हारे सिवाय किसी को नहीं बताया है, यही बात अब कह रहे हैं—

गुप्त से भी गुप्ततर इस न्यास को आज ही मैंने तुम्हारे सामने प्रकट किया है ॥

गुप्त से भी गुप्ततर का अभिप्राय है कि यह न्यास रहस्यों का भी रहस्य है, इसीलिये इसको बहुत ही छिपा कर रखा जाता है । आज तक मैंने इसीलिये इसको छिपा कर रखा । तुम तो मेरे ही विमर्शात्मक स्वरूप वाली मेरी प्रियतमा हो, अतः आज मैंने तुम्हारे सामने इस रहस्य को खोला है । इससे पहले इसको किसी को भी नहीं बताया है ॥

इसी न्यास की अब दूसरी विधि बताते हैं—

पुनः इसी न्यास को मूलदेवी से प्रारंभ कर अणिमादि पर्यन्त क्रम से संपन्न करे ॥६९॥

अभी अणिमादि से प्रारंभ कर मूलदेवी पर्यन्त न्यास की विधि बताई गई है । अब मूलदेवी से प्रारंभ कर अणिमादि पर्यन्त श्रीचक्र के आवरण देवताओं के विन्यास की विधि बताई जा रही है कि आगे बताए क्रम से उन देवताओं का अपनी देह में न्यास करे ॥६९॥

इसी मूलदेव्यादि न्यास की विधि बताते हैं—

शिरःस्थान स्थित त्रिकोण के मध्य में मूलदेवी का और त्रिकोण की तीनों रेखाओं में कामेश्वरी आदि का न्यास करे ॥

---

१. 'पुरा' नास्ति–क. ग. । २. 'अपि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. दप्यतिरह–ख. ज. झ. उ. । ४. प्रियतमेन मया–क. ग. । ५. न्यासमुक्तम्–क. । न्यास उक्त इति पाठेन भाव्यम् । ६. देवतादि–ख. ने. झ. उ. ।

चूडादिके[1]ऽर्धनिम्नेऽर्धं शेषार्धं[2] कर्णपृष्ठके ।
कर्णपूर्वे[3] त्वपाङ्गे च तस्य मूले च विन्यसेत् ॥७३॥

कर्णोत्तरं कर्णस्य पश्चाद्भागः । चूडादिके चूडाया आदिर्ललाटम् । अर्धनिम्ने कर्णोत्तरानन्तरं न्यसेदिति सम्प्रदायः । निम्नं शिरःपश्चान्निम्नस्थलम् अवटुरेव । कोऽर्थः ? चूडादिनेत्रमूलापाङ्गकर्णपूर्वपृष्ठेषु सर्वज्ञादीनां दशानामर्धं विन्यसेत् । [4]अथ तासामेवार्धमवट्वन्तरकर्णपृष्ठपूर्वान्यनेत्रापाङ्गमूलेषु विन्यसेदित्यर्थः । ननु सर्वज्ञादीनां नाम न कीर्तितम्, कथमत्र ता एव न्यस्तव्याः कथ्यन्ते ? उच्यते— पूर्वचक्रे वशिन्याद्या न्यस्तव्याः कथिताः, अनन्तरोपरिचक्रे सर्वसिद्ध्याद्या न्यस्तव्याः कथ्यन्ते । अतस्तयोरपि मध्य[5]दशस्थानेषु पारिशेष्यात् सर्वज्ञाद्या न्यस्तव्या इति गृह्यन्ते ॥७२-७३॥

सर्वसिद्ध्याद्यावरणन्यासमाह—

सर्वसिद्ध्यादिकं कण्ठे प्रादक्षिण्येन विन्यसेत् ।

का तथा बाकी बचे आधे देवताओं का अवटु, कर्णपृष्ठ, कर्णपूर्व, अपाङ्ग और नेत्रमूल में विन्यास करे ॥७२-७३॥

कर्णोत्तर का अर्थ है कान का पिछला भाग । चूडा का अर्थ यहाँ केश लिया गया है । शिर के केशों का आरंभ ललाट से ही होता है । कान के पिछले हिस्से के बाद अर्धनिम्न स्थान में न्यास करना चाहिये । यहाँ निम्न शब्द से सिर के पीछे का नीचे का भाग गृहीत होता है, जिसको अवटु (गर्दन का पिछला भाग) कहते हैं । इसका भाव यह है कि ललाट नेत्रमूल, अपाङ्ग , कर्णमूल और कर्णपृष्ठ में सर्वज्ञा प्रभृति दस देवियों में से आधी पाँच देवियों का न्यास करे । इसके बाद उन्हीं में से बची हुई आधी देवियों का अवटु, कर्णपृष्ठ कर्णमूल, अपाङ्ग और नेत्रमूल में विन्यास करे । प्रश्न उठता है कि यहां सर्वज्ञा आदि के नामों का तो उल्लेख है नहीं, तब उनका यहाँ न्यास कैसे किया जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि पूर्व चक्र में वशिनी आदि के न्यास का उल्लेख है और आगे वाले चक्र में सर्वसिद्धि आदि देवियों के न्यास का उल्लेख मिलता है । अतः इन दोनों के बीच में विद्यमान इस चक्र के दस स्थानों में बीच में बची हुई सर्वज्ञा प्रभृति देवियों का ही विन्यास प्राप्त होगा ॥७२-७३॥

सर्वसिद्धि आदि देवताओं का न्यास बताते हैं—

सर्वसिद्धि आदि दस देवियों का कण्ठ के चारों तरफ प्रदक्षिणा क्रम से विन्यास करे ॥७४॥

---

१. चूडादिके च निम्नाग्रे–ख. ने. च. ज. झ. । २. शेषार्धे कर्णपृष्ठयोः–ख. ने. च. ज. झ.। ३. कर्णे पूर्वे–क. ग. ने., कर्णमूले–उ.। ४. अथवाऽऽसामेवोत्तरार्धमवट्वन्तरकर्ण– क. ग. । ५. मध्यदेश–ख. ने. झ. उ. ।

[1]स्पष्टम् ॥७४॥

सर्वसंक्षोभिण्याद्यावरणन्यासमाह—

हृदये मनुकोणस्थाः शक्तयोऽपि च पूर्ववत् ॥७४॥

हृदये वक्षसि । पूर्ववत् प्रादक्षिण्येन। मनुकोणस्थाः शक्तयश्चतुर्दशकोण-निवासिन्यः सर्वसंक्षोभिण्याद्याः, न्यस्तव्या इति शेषः ॥७४॥

अनङ्गकुसुमाद्यावरणन्यासमाह—

[2]नाभावष्टदलं तत्तु वंशे वामे च पार्श्वके ।
उदरे सव्यपार्श्वे च न्यसेदादिचतुष्टयम् ॥७५॥
वंशवामान्तरालादि न्यसेदन्यच्चतुष्टयम् ।

नाभौ नाभिदेशे, अष्टदलं पद्मम् । तत्त्विति[3] तत् पूर्वोक्तानङ्गकुसुमाद्यष्टकं परामृश्यते । तदादिचतुष्टयम् अनङ्गकुसुमाऽनङ्गमेखलाऽनङ्गमदनाऽनङ्गमदना-तुराणां चतुष्टयम्। वंशः[4] पृष्ठास्थि । सव्यपार्श्वं दक्षिणपार्श्वम् । वंशवामान्तरालादि वंशवामपार्श्वयोरन्तरालम् । आदिशब्दाद् वामपार्श्वपुरोभागयोरन्तरालं पुरोभाग-

---

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥७४॥

सर्वसंक्षोभिणी आदि आवरण देवताओं का न्यास बताते हैं—

चतुर्दशार चक्र स्थित शक्तियों का विन्यास हृदय के चारों तरफ प्रदक्षिणा क्रम से करे ॥७४॥

हृदय अर्थात् अपने वक्षस्थल में, पहले बताई गई विधि से, अर्थात् प्रदक्षिणा के क्रम से मनुकोण (चतुर्दशार) स्थित सर्वसंक्षोभिणी आदि चौदह शक्तियों का विन्यास करना चाहिये ॥७४॥

अनङ्गकुसुमा आदि आवरण देवताओं का न्यास बताते हैं—

नाभि में अष्टदल कमल है । उसके पीछे, बायें भाग में, उदर में और दाहिने भाग में स्थित चार दलों में अनङ्गकुसुमा आदि चार देवियों का तथा इन्हीं चारों स्थानों के अन्तराल में स्थित चार दलों में चार देवियों का विन्यास करना चाहिये ॥७५-७६॥

नाभिस्थान में अष्टदल पद्म की स्थिति मानी गई है । तत् शब्द से पूर्वोक्त अनंग-कुसुमा आदि आठ देवियों का ग्रहण किया जाता है । इनमें से पहली चार हैं—अनंग-कुसुमा, अनंगमेखला, अनंगमदना और अनंगमदनातुरा । वंश शब्द पीठ की हड्डी का वाचक है । सव्य पार्श्व का अर्थ है दक्षिण भाग, वंशवामान्तरालादि का अर्थ है वंश और

---

१. स्पष्टमेतत्–ज. । २. नाभौ त्वष्ट–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ३. 'तत्त्विति'.... तुराणां चतुष्टयम्' नास्ति–ख. ज. झ. उ.। ४. तद्धि वंशे वंशपृष्ठास्थिनि–ख. ज. झ. उ.।

दक्षिणपार्श्वयोरन्तरालं दक्षपार्श्वपृष्ठवंशयोश्चान्तरालं गृह्यते। अन्यच्चतुष्टयम् अनङ्गरेखाऽनङ्गवेगिन्यनङ्गाङ्कुशाऽनङ्गमालिनीनां चतुष्टयम्। नाभिदेशस्य पश्चिमादिदक्षिणपार्श्वान्तमनङ्गकुसुमादीनां चतुष्टयं [1]वाय्वादिनैॠतान्तमनङ्गरेखादीनां चतुष्टयं न्यसेदित्यर्थः ॥७५-७६॥

कामाकर्षिण्याद्यावरणन्यासमाह—

स्वाधिष्ठाने न्यसेत् स्वस्य पूर्वाद्दक्षावसानकम् ॥७६॥

चतस्रस्तु चतस्रस्तु चतुर्दिक्षु क्रमान्न्यसेत्।

स्वाधिष्ठानकमलप्रदेशे, स्वस्य पूर्वात् पूर्वदिगादिमारभ्य, दक्षावसानकं दक्षिणदिगवसानपर्यन्तम्, चतुर्दिक्षु प्रतिदिशं चतस्रश्चतस्रः शक्तयः कामाकर्षिण्याद्याः क्रमेण न्यस्तव्याः। ननु कामाकर्षिण्याद्या इति कथ[2]मनुमीयन्ते ? इति चेदुच्यते—पूर्ववदेव [3]पूर्वोत्तरचक्रयोः शक्तीनां नामग्रहणाद् मध्यचक्रशक्तीनां पारिशेष्यान्नामान्यनुक्तान्यप्यवसीयन्त इति ॥७६-७७॥

वाम पार्श्व के बीच का स्थान। आदि शब्द से वाम पार्श्व और उदर के बीच का स्थान, उदर और दक्षिण भाग का अन्तराल तथा दक्षिण भाग और पृष्ठवंश का अन्तराल गृहीत होता है। इन चार अन्तरालों में अनंगरेखा, अनंगवेगिनी, अनंगांकुशा और अनंगमालिनी—इन चार देवियों का विन्यास किया जाता है। इसका भाव यह हुआ कि नाभिस्थान के पश्चिम से लेकर दक्षिण पार्श्व पर्यन्त चार दिशाओं में अनङ्गकुसुमा आदि चार देवियों और उनके अन्तराल में स्थित वायव्य से नैर्ऋत्य पर्यन्त चार विदिशाओं में अनङ्गरेखा आदि चार देवियों का विन्यास करे ॥७५-७६॥

कामाकर्षिणी आदि आवरण देवताओं का न्यास बताते हैं—

अपने स्वाधिष्ठान कमल की पूर्व दिशा से दक्षिण दिशा पर्यन्त चार दिशाओं में चार-चार शक्तियों का क्रम से विन्यास करे ॥७६-७७॥

अपने स्वाधिष्ठान कमल स्थान में पूर्व दिशा से आरंभ कर दक्षिण दिशा पर्यन्त चारों दिशाओं में कामाकर्षिणी आदि चार-चार शक्तियों का क्रमशः विन्यास करना चाहिये। यहाँ फिर प्रश्न होता है कि श्लोक में तो कामाकर्षिणी आदि का नाम नहीं है, तब उन्हीं का यहाँ न्यास किया जायेगा, यह कैसे मालूम हुआ ? उत्तर यह है कि अभी सर्वज्ञा प्रभृति शक्तियों के विन्यास में जो पद्धति अपनाई गई, उसी पद्धति से यहाँ भी निर्णय किया जायगा। पूर्व और उत्तर चक्रों की शक्तियों का नाम मिलता है। बीच के इस चक्र की शक्तियों का नाम न होने पर भी बची हुई शक्तियों का यहाँ विन्यास पारिशेष्य न्याय से मान लिया जायगा ॥७६-७७॥

---

१. 'वाय्वादि····चतुष्टयं' नास्ति—क. ग. उ.। २. मवसी—क.। ३. पूर्वोक्तचक्रशक्तीनां नामग्रहणात् पारिशेष्यान्नामान्युक्तान्यवसीयन्त—ख. ने. झ. उ.।

सर्वसंक्षोभिण्यादिमुद्राशक्त्यावरणन्यासमाह—

मूलाधारे न्यसेन्मुद्रादशकं साधकोत्तमः ॥७७॥

मूलाधारे मूलाधारप्रदेशे। शेषं[1] स्पष्टम् ॥७७॥

ननु किं मूलाधारे मुद्रादशकं[2] ध्यानेन न्यस्तव्यम् ? इत्याशङ्कायामाह—

पुनर्वंशे[3] च सव्ये च वामे चैवान्तरालके।

ऊर्ध्वाधो दशमुद्राश्च

पुनःशब्दात् "नाभावष्टदलं तत्त्" (३।७५) इत्यष्टदलन्यासोक्तस्थानान्युच्यन्ते। वंशे पृष्ठवंशे। सव्ये च पार्श्वे। चकारा[4]दुत्तरदक्षिणयोः पार्श्वयोर्ग्रहणम्। वामे चैवान्तरालके पृष्ठवंशवामपार्श्वान्तराले। चकाराद् वामपार्श्वाद्यन्तरालानि गृह्यन्ते। कोऽर्थः ? पृष्ठवंशादिदिक्षु वायव्याद्यन्तरालेषु च, ऊर्ध्वा[5]धश्च दश मुद्रा न्यसेत्। ननु ऊर्ध्वाध इति किमान्तरं स्थानद्वयम् ? नेत्याह—ऊर्ध्वाध इति (आ?ना)[6]न्तरोर्ध्वाधः स्थानद्वयम्,

---

सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्राशक्तिरूप आवरण देवताओं का न्यास अब बताते हैं—

साधकोत्तम अपने मूलाधार में दस मुद्राशक्तियों का न्यास करे ॥७७॥

मूलाधार शब्द का प्रयोग यहाँ मूलाधार चक्र के स्थान के अर्थ में किया गया है। बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥७७॥

प्रश्न है कि मूलाधार स्थान में दस मुद्राओं का न्यास ध्यान के द्वारा करना है अथवा कोई दूसरी पद्धति है ? इसका समाधान यह है—

पुनः अष्टदल की तरह वंश (पीठ), वाम, दक्षिण और उत्तर स्थानों में तथा उनके चार अन्तरालों में एवं ऊपर तथा नीचे—इन दस स्थानों में दस मुद्राओं का न्यास करना चाहिये ॥७८॥

पुनः शब्द अष्टदल पद्म के न्यास के अवसर पर (३।७५) बताई गई पद्धति से ही यहाँ भी न्यास किया जाय, इस बात की सूचना देता है। वंश शब्द पृष्ठवंश का बोधक है। 'सव्ये च' यहाँ का चकार उत्तर और दक्षिण भाग का भी अध्याहार करता है। वाम अन्तराल शब्द पृष्ठवंश और वाम पार्श्व के बीच की विदिशा का बोधक है। यहाँ भी चकार शब्द बाकी तीनों अन्तरालों का भी अध्याहार करता है। इसका भाव यह है कि पृष्ठवंश (पश्चिम) आदि दिशाओं में और वायव्य आदि विदिशाओं में तथा ऊपर-नीचे—इन दस दिशाओं में दस मुद्राओं का न्यास करे। यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि ऊपर

---

१. शिष्टम्—झ. उ.। २. केन विधानेन—क. ग.। ३. पुनः सव्ये च वंशे च—ख. ने. च. छ. ज. झ.। ४. दुत्तरयोर्ग्रह—ख. ज. झ. उ.। ५. धस्ताच्च—ख. ने. ज. झ. उ.। ६. अनन्तरो(क्तो)र्ध्वाधः—ज. झ.।

इन्द्रेशानदिशोर्मध्ये स्थानमन्यत्[1] प्रकीर्तितम्।
नैर्ऋताम्बुदिशोर्मध्ये स्थानमन्यत् प्रकीर्तितम् ॥

इति तत्त्वविमर्शिन्यामस्मदुक्तरीत्या दशलोकपालार्चनरीत्यैव स्थानद्वयं शिष्टमुद्रा[2]द्वयस्य कल्पनीयम् ॥७८॥

ब्रह्माण्याद्यावरणन्यासमाह—

ऊर्ध्वाधोवर्जितं पुनः ॥७८॥

ब्रह्माण्याद्यष्टकं दक्षजङ्घायां

विन्यसेदित्यनुषङ्गः। शिष्टं स्पष्टम् ॥७८-७९॥

ननु दक्षजङ्घायां विन्यसेदित्युक्तम्, तत्र[3] तासां कानि स्थानानीत्यत[4] आह—

तास्तु पूर्ववत्।

ताः ब्रह्माण्याद्याः। पूर्ववत् "पुनर्वंशे च सव्ये च" (३।७८) इत्युक्तस्थानेषु। अत्र

और नीचे ये दोनों क्या आन्तर स्थान हैं ? उत्तर है कि नहीं । तत्त्वविमर्शिनी नामक ग्रन्थ में स्वयं ग्रन्थकार ने—

इन्द्र (पूर्व) और ईशान दिशा के बीच में ऊर्ध्व स्थान की तथा नैर्ऋत्य एवं पश्चिम दिशा के बीच में अधःस्थान की कल्पना की गई है ॥

इस तरह से दस लोकपालों के पूजन के प्रसंग में ऊर्ध्व और अधः स्थान की कल्पना की है। बाकी बची दो मुद्राओं का विन्यास इन्हीं स्थानों में करे ॥

ब्रह्माणी आदि आवरण देवताओं का न्यास बताते हैं—

ऊर्ध्व और अधो दिशाओं को छोड़ कर बाकी आठ में ब्रह्माणी आदि देवियों का विन्यास दक्ष जंघा आदि स्थानों में करे ॥

प्रस्तुत श्लोक में कोई क्रिया नहीं है, अतः प्रसंगानुसार 'विन्यसेत् (न्यास करे)' क्रिया का अध्याहार कर लेना चाहिये। बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥७८-७९॥

प्रश्न है कि यहाँ तो केवल दक्ष जंघा का उल्लेख है, इनके आठ स्थान कौन-कौन से होंगे ? इसी का निर्णय करते हैं—

इनके स्थान का निर्णय पूर्ववत् करना चाहिये।

इन ब्रह्माणी प्रभृति आठ देवियों के स्थानों का निर्णय पहले (३।७८) बताई गई

---

१. मस्य–ख. ने. ज. झ. उ.। २. मुद्रास्थानद्वयमित्यर्थः–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. 'तत्र' नास्ति–ख. ने. झ. उ.। ४. नीत्याह–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. ताश्च–ख. ने. च. छ. ज. झ.।

पृष्ठवंशशब्देन पश्चाद्भागो लक्ष्यते। दक्षजङ्घायाः पश्चिमादिचतुर्दिक्षु वायव्या[1]-दिविदिक्षु च ता ब्रह्माण्याद्या न्यस्तव्या इत्यर्थः ॥७९॥

अणिमाद्यावरणन्यासमाह—

वामजङ्घां समारभ्य वामादिक्रमतोऽपि च ॥७९॥

सिद्ध्यष्टकं न्यसेत् तेषु द्वयं पादतले न्यसेत्।

वामजङ्घां समारभ्य वामजङ्घायाः पश्चिमभागमारभ्य। वामादिक्रमतोऽपि च वामान्त[2]रालक्रमेण। तेषु पूर्वोक्तेषु स्थानेषु। सिद्ध्यष्टकं न्यसेत्। शिष्टद्वयं पादतले पादतलयोर्न्यसेदित्यर्थः[3] ॥७९-८०॥

उक्तन्यासस्योत्कर्षं दर्श[4]यन्नुपसंहृत्य फलभूतां वासनां विधत्ते—

कारणात् प्रसृतं न्यासं दीपाद् दीपमिवोदितम् ॥८०॥

एवं विन्यस्य देवेशि[5] स्वाभेदेन[6] विचिन्तयेत्।

पद्धति से करना चाहिये। यहाँ पृष्ठवंश शब्द केवल पिछले भाग को लक्षित करेगा। दाहिनी जंघा की पश्चिम आदि चार दिशाओं में और वायव्य आदि चार विदिशाओं में ब्रह्माणी इत्यादि आठ देवियों का न्यास करना चाहिये ॥७९॥

अब अणिमा आदि आवरण देवियों का न्यास बताते हैं—

वाम जंघा के वाम भाग से और वाम अन्तराल क्रम से भी आठ सिद्धियों का न्यास करे। बची दो सिद्धियों का न्यास पाद-तल में करे ॥७९-८०॥

वाम जंघा के पश्चिम भाग से प्रारम्भ कर और वाम अन्तराल के क्रम से भी उन्हीं पूर्वोक्त आठ स्थानों में आठ सिद्धियों का न्यास करे। बची हुई दो सिद्धियों का न्यास अपने पैरों के दोनों तलवों में करे ॥७९-८०॥

इस न्यास की उत्कृष्टता को बताते हुए अब इस प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है, साथ ही इसके प्रभाव से संपन्न होने वाली अभेद वासना का भी उपदेश किया जा रहा है—

एक दीपक से दूसरे दीपक की भाँति अपने परम कारण परम तत्त्व से प्रज्वलित यह न्यास उससे भिन्न नहीं है। अतः हे देवेशि ! अपने शरीर में इनका न्यास करने के उपरान्त साधक अपने को उस परम तत्त्व से अभिन्न माने ॥८०-८१॥

---

१. व्याद्यन्तरालेषु–ख. ने. ज. झ. उ.। २. रालादि–ख. ज. झ. उ.। ३. दिति–झ., 'इत्यर्थः' नास्ति–ख. ने. ज. उ.। ४. यितुमुप–ख.। ५. देवेशी–ख. ग. ज. झ.। ६. स्वात्मभावेन–ज., स्वात्माभेदेन चि–ख. च. छ. ने. उ.।

कारणात् प्रकाश वमर्शसामरस्यरूपान्निखिल[1]जगद्रूपात् । दीपाद् दीपमिव प्रसृतं महाभासं कारणानुरूपम् । एवमुक्तप्रकारेण । उदितं कथितम् । न्यासं विन्यस्य । स्वात्मनोऽभेदेन [2]चिन्तयेत् । श्रीचक्रावयवान् सशक्तिकान् स्वदेहावयवैरपृथक्त्वेन विभाव्य तदधिष्ठात्र्या परया च स्वात्मनोऽभेदं[3] भावयेदित्यर्थः ॥८०-८१॥

उक्तैस्त्रिभिः षोढादिन्यासैः परचिदानन्दलक्षणं भावयन् परिपक्वहृदयो बाह्यपूजाक्रियायोग्यतायै करशुद्धयादिन्यासं कुर्यादित्याह—

ततश्च करशुद्धयादिन्यासं कुर्यात् समाहितः ॥८१॥

ततः त्रिविधन्यासानन्तरम् । करशुद्धयादिन्यासम् ।

कारणात्मपरामृष्टकार्यरूपाङ्गुलिस्थिताम्[4] ।
करोमि चिन्मयीं शुद्धि करयोः [5]स्पर्शशोधिनीम् ॥ (सु० वा० २४)

प्रकाश-विमर्श का सामरस्यमय स्वरूप ही सारे जगत् का कारण है। [1]एक दीपक से जलाया गया दूसरा दीपक जैसे अपने कारणभूत दीपक के ही समान प्रकाशित होता है, उसी तरह से ऊपर बताया गया न्यास भी अपने कारणभूत परम तत्त्व के समान ही सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा विचार कर उक्त न्यास के द्वारा अपने शरीर को परम तत्त्व से अभिन्न माने। समस्त शक्तियों से सम्पन्न श्रीचक्र के अवयवों को अपने शरीर के यवों से अभिन्न मानकर उनको अधिष्ठात्री परम शक्ति से अपनी अभिन्नता की भावना करे ॥८०-८१॥

इस तरह से षोढा न्यास, श्रीचक्र न्यास और मूलदेव्यादि न्यास—इन तीन न्यासों की सहायता से स्वयं अपने को साधक परचिदानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित मान कर निर्मल-चित्त हो जाय। तब बाह्य पूजा की योग्यता अर्जित करने के लिये करशुद्धि आदि न्यासों को करे, यही विषय अब वर्णित है—

इसके बाद समाहित चित्त हो साधक करशुद्धि आदि न्यासों को सम्पन्न करे ॥८१॥

उक्त त्रिविध न्यासों को संपन्न करने के बाद साधक करशुद्धि आदि न्यासों को करे। शिवानन्द मुनि ने सुभगोदयवासना में करशुद्धि न्यास की विधि यह बताई है—

पांचभौतिक देह में कार्यरूप से प्रकट हुई दाहिने और बायें हाथ की अंगुलियाँ वास्तव में अपने कारणभूत प्रकाश और विमर्श से अभिन्न हैं। प्रकाश और विमर्श की कारण के रूप में भावना कर मैं इन कार्यरूप में परिणत अंगुलियों में चित्स्वरूपिणी शुद्धि

---

१. निखिलनिधान-झ. । २. विचि-क. ग. । ३. नोऽप्यभेदं-ख. ने. ज. झ. उ. । ४. भूताङ्गुलिस्थितिम्-मु. । ५. परिशोधिनीम्-मु., स्पर्शबोधिनीम्-क. ग. ।

१. ठीक इसी अभिप्राय का श्लोक कालिदास के रघुवंश में भी मिलता है—"न कारणात् स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्" (५।३७)।

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या करशुद्धिन्यास आदिर्यस्य न्यासस्य । जातावेक[1]-वचनम् । समाहितः सावहितः । करशुद्धयादिन्यासश्चतुःशतीशास्त्रोक्तः (१।१२६-१२९) । अतो नात्रोच्यते, केवलं नाम्नैव गृह्यते ॥८१॥

तत्रानुक्तं विद्यान्यासमाह—

मूर्ध्नि गुह्ये च हृदये [2]नेत्रत्रितय एव च ।
श्रोत्रयोर्युगले देवि[3] मुखे च भुजयोः पुनः[4] ॥८२॥
पृष्ठे जान्वोश्च नाभौ च विद्यान्यासं समाचरेत् ।

विद्याया बीजत्रयेण न्यासो विद्यान्यासः । मूर्ध्नि वाग्भवबीजम्, गुह्ये कामराजबीजम्, हृदये शक्तिबीजम् । एवं सर्वत्र[6] स्थानत्रये बीजत्रयमुच्चरन् न्यसेदित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥८२-८३॥

करशुद्धयादीनां नामान्याह—

करशुद्धि पुनश्चैव आसनानि षडङ्गकम् ॥८३॥
श्रीकण्ठादींश्च वाग्देवीः

का आधान कर रहा हूं, जिससे कि मेरे दोनों हाथ शुद्ध हो जाँय और इनसे मैं जिन पदार्थों का स्पर्श करूं, वे भी शुद्ध हो जाँय, उनमें किसी प्रकार का स्पर्शदोष न आवे॥

इन न्यासों में पहला करशुद्धि न्यास है, अतः इनको करशुद्धयादि न्यास कहा जाता है। एकवचन समुदाय का वाचक है। समाहित का अर्थ है सावधान। करशुद्धि आदि न्यासों का वर्णन चतुःशती शास्त्र (१।१२६-१२९) में किया जा चुका है। अतः उनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है, केवल नाम से ही उनका उल्लेख कर दिया गया है ॥८१॥

चतुःशती शास्त्र में अनुक्त विद्यान्यास का यहाँ वर्णन करते हैं—

हे देवि! शिर, गुह्य और हृदय में, तीनों नेत्रों में, दोनों कान और मुँह में दोनों भुजा और पृष्ठ में, दोनों जानु और नाभि में विद्या न्यास करे ॥८२-८३॥

श्रीविद्या के तीन बीजों से जो न्यास किया जाता है, उसे विद्यान्यास कहते हैं। सिर में वाग्भव बीज, गुह्य में कामराज बीज और हृदय में शक्तिबीज का न्यास करे। इसी तरह सर्वत्र तीन-तीन स्थानों में तीनों बीजों का क्रमशः उच्चारण करता हुआ साधक इस विद्या न्यास को संपन्न करे। बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥८२-८३॥

अब करशुद्धि आदि न्यासों के नाम बताते हैं—

करशुद्धि न्यास, आसन न्यास, षडङ्ग न्यास, श्रीकण्ठादि न्यास और वशिन्यादि न्यास यहां किये जाते हैं। ८४-८४॥

---

१. वेकत्वम्-ख. ने. झ. उ. । २. नेत्रेषु त्रितयेषु च-क. ग. । ३. चैव-क. ग. । ४. तथा-क. ग. । ५. विधाय च-क. ग. । ६. 'सर्वत्र' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. ।

वाग्देव्यो वशिन्याद्याः । श्रीकण्ठादिन्यासः[1] स्वच्छन्दसंग्रहोक्तः । तन्त्रान्तरे प्रसिद्धत्वादिह नोक्तः । शिष्टं स्पष्टम् ॥८३-८४॥

कामेश्वर्यादिदेवीनां न्यासमाह—

आधारे हृदये पुनः ।
शिखायां बैन्दवस्थाने त्वग्निचक्रादिका न्यसेत् ॥८४॥

बैन्दवस्थाने शिखायामिति व्यत्ययेन क्रमो ज्ञेयः । बैन्दवस्थानम् "दीपाकारोऽर्धमात्रश्च ललाटे वृत्त इष्यते" (१।२८) इति पूर्वोक्तं ललाटम् । शिखा नाम कुण्डलिन्या अग्रं शिवस्य विश्रान्तिस्थानम् । अत्र श्रुतिः—"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः"[2] (तै० आ० १०।१२।१२) इति । तेन शिखाशब्देन तद्व्याप्तिस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं लक्ष्यते । अग्निचक्रादिकाः—"अग्निचक्रे कामगिर्यालये मित्रीशनाथात्मके [3]श्रीकामेश्वरीदेवीरुद्रात्मशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि, सूर्यचक्रे जालन्ध [?]शनाथात्मके वज्रेश्वरीदेवीविष्णवात्मशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि,

वशिनी आदि वाग्देवता कहलाती हैं । श्रीकण्ठादि न्यास स्वच्छन्दसंग्रह में वर्णित है । [1]अन्य तन्त्रों में यह प्रसिद्ध है, अतः यहाँ उसका वर्णन नहीं किया गया है । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥८३-८४॥

कामेश्वरी आदि देवियों का न्यास अब बताते हैं—

आधार, हृदय, बैन्दव स्थान और शिखा में क्रमशः कामेश्वरी आदि देवियों का विन्यास करे ॥८४॥

श्लोक में शिखा का पहले और बैन्दव स्थान का उल्लेख बाद में है, किन्तु इनका क्रम बदल कर पहले बैन्दव स्थान और बाद में शिखा को रखना चाहिये । पहले (१।२८) बताया जा चुका है कि बैन्दव स्थान ललाट को कहते हैं । कुण्डलिनी का अग्रभाग यहाँ शिखा शब्द से बोधित होता है, जहाँ कि शिव विश्राम करते हैं । तैत्तिरीय आरण्यक कहती है —"इस शिखा के मध्य में परमात्मा विराजमान हैं" । इस तरह से शिखा शब्द से शिव की व्याप्ति का स्थान ब्रह्मरन्ध्र लक्षित होता है । अग्निचक्र आदि में कामेश्वरी आदि देवियों का न्यास निम्न मन्त्रों का उच्चारण करते हुए करना चाहिये— "मित्रीशनाथ जिसके अधिपति हैं, ऐसे कामगिरि पीठरूप अग्निचक्र में रुद्रात्मक श्रीकामेश्वरी देवी की पादुका का मैं पूजन करता हूँ । षष्ठीशनाथ जिसके अधिपति हैं,

१. श्रीकण्ठन्यासः–ख. ने. ज. झ. उ. । २. इतः परम्–'स ब्रह्मा स शिवः (स हरिः) सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्' इत्यधिकः पाठः–उ. । ३. 'श्री' नास्ति–ख. ने. ज. झ. ।

1. प्रपंचसार प्रदर्शित श्रीकण्ठ न्यास की चर्चा पहले पृ० १६५ की तीसरी टिप्पणी में की जा चुकी है ।

सोमचक्रे पूर्णगिरिपीठे ओड्डीशनाथात्मके भगमालिनीदेवीब्रह्मात्मशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि, ब्रह्मचक्रे ओड्याणपीठे [1]चर्यानाथात्मके श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीदेवीपरब्रह्मात्मशक्तिश्रीपादुकां पूजयामि" इति मन्त्रैर्न्यस्तव्याः । शक्तयोऽग्निसूर्यसोमब्रह्मचक्रात्मिकाः[2] । कोऽर्थः ? आधारहृदयभ्रूमध्यब्रह्मरन्ध्रेषु वह्निसूर्यसोमब्रह्मचक्रेषु कामगिरिजालन्धरपूर्णगिर्योड्याणपीठेषु रुद्रविष्णुब्रह्मपरब्रह्मात्मक[3]शक्तीः[4] कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिनीमहात्रिपुरसुन्दरीर्न्यसेदित्यर्थः । अयमेवार्थः सम्प्रदायविद्भिर्देशिकेन्द्रैः[5] पद्धतिषु प्रपञ्चितः ॥८४॥

तत्त्वन्यासमाह—

तत्त्वत्रयं समस्तं च विद्याबीजत्रयान्वितम् ।
पादादिनाभिपर्यन्तमागलं शिरसस्तथा ॥८५॥
व्यापकं चैव विन्यस्य

ऐसे जालन्धर पीठरूप सूर्यचक्र में विष्णु स्वरूप श्रीवज्रेश्वरी देवी की पादुका का मैं पूजन करता हूँ, ओड्डीशनाथ जिसके अधिपति हैं, ऐसे पूर्णगिरि पीठमय सोमचक्र में ब्रह्मात्मक श्रीभगमालिनी देवी की पादुका का पूजन करता हूँ । चर्यानाथ जिसके अधिपति हैं, ऐसे ओड्याण पीठरूप ब्रह्मचक्र में परब्रह्मस्वरूपिणी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी देवी की पादुका का मैं पूजन करता हूँ" । कामेश्वरी आदि चार शक्तियाँ यहां अग्नि, सूर्य, सोम और ब्रह्मचक्र स्वरूपिणी हैं । इसका भाव यह है कि आधार, हृदय, भ्रूमध्य और ब्रह्मरन्ध्र में; वह्नि, सूर्य, सोम और ब्रह्मचक्र मे; कामगिरि, जालन्धर, पूर्णगिरि और ओड्याण पीठों में; रुद्र, विष्णु, ब्रह्म और परब्रह्म की शक्तियों के रूप में कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी और महात्रिपुरसुन्दरी नामक देवियों का न्यास करे । त्रिपुरा सम्प्रदाय के जानकार बड़े-बड़े आचार्यों ने अपनी-अपनी पद्धतियों में इस अर्थ का विस्तार किया है ॥८४॥

अब तत्त्व न्यास का उपदेश करते हैं—

विद्या के तीन बीजों का व्यस्त और समस्त रूप से उच्चारण करते हुए तीन तत्त्वों का व्यस्त और समस्त रूप में पैर से नाभि पर्यन्त, नाभि से कण्ठ पर्यन्त, कण्ठ से शिर पर्यन्त और फिर समस्त शरीर में व्यापक न्यास करे ॥८५-८६॥

१. श्रीचर्या–ने. ज. झ. । २. दिकाः–क. ख. ग. ने. । ३. त्मकचक्रेषु–ज. झ. उ. । ४. 'शक्तीः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. शिकैः–क. ने. ज. झ. उ. । ६. चेति–ख. ने. छ. ज. झ. ।

तत्त्वत्रयम् आत्मविद्याशिवाख्यतत्त्वानां त्रयम् । समस्तं च तत्त्वत्रयसमष्टिरूपं तुरीयं तत्त्वम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

धरादिमायान्तमात्मतत्त्व[1]स्यान्तर्गतं स्मृतम् ।
शुद्धविद्येश्वरसदाशिवा विद्याख्यतत्त्वगाः ॥
शिवशक्तिद्वयं चैव शिवतत्त्वं प्रकीर्तितम् ।
प्रमातृमेयप्रमितिरूपमेतत्त्रयात्मकम् ॥
एतत् तत्त्वं शिवतत्त्वं सर्वतत्त्वमयं शुभम् । इति ।

विद्याबीजत्रयान्वितम् । विद्याया[2] बीजानि वाग्भवकामराजशक्तिबीजानि, एतद्बीजसमुदायरूपं [3]तुर्यबीजम्, तैश्चतुर्भिर्बीजैरन्वितम् । पादादिनाभिपर्यन्तम्[4] । [5]पर्यन्तपदसामर्थ्यान्नाभ्याद्यागलं [6]लक्ष्यते, शिरस इति पञ्चमीसामर्थ्याद् गलादिति च[7] लभ्यते । कोऽर्थः ? आत्मविद्याशिवतुरीयतत्त्वानि मूलविद्यावाग्भवकामराजशक्तितुरीयबीजादिकानि चतुर्थ्यन्तनमो[8]ऽन्तान्युच्चार्य पादादिनाभि[9]-

---

आत्मा, विद्या और शिव ये तीन तत्त्व हैं। समस्त रूप से इन्हीं तीन तत्त्वों का समष्टि तुरीय तत्त्व कहलाता है। इनका वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह में मिलता है—

पृथ्वी से लेकर माया पर्यन्त तत्त्व आत्मतत्त्व के अन्तर्गत माने जाते हैं। शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव ये विद्यातत्त्व के अन्तर्गत हैं। शिव और शक्ति ये दो तत्त्व शिवतत्त्व कहे जाते हैं। ये तीनों तत्त्व प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रतिनिधि हैं। इन सब तत्त्वों का समष्टिस्वरूप, जहाँ कि इन भेदों की प्रतीति समाप्त हो जाती है, तुरीय परम शिवतत्त्व है।

ये चारों तत्त्व विद्या के तीन बीजों से व्यष्टि और समष्टि के रूप में जुड़े हुए हैं। विद्या के तीन बीज वाग्भव, कामराज और शक्तिबीज के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन बीजों की समष्टि से तुर्यबीज बनता है। इन चार बीजों से उक्त चार तत्त्वों को संयुक्त करना चाहिये। तब एक-एक बीज का उच्चारण करते हुए एक-एक तत्त्व का क्रमशः पैर से लेकर नाभि पर्यन्त, पर्यन्त शब्द को आगे भी जोड़ कर नाभि से कण्ठ पर्यन्त, 'शिरसः' इस पंचमी विभक्ति के उदाहरण से गले से लेकर सिर तक उक्त तीन तत्त्वों का न्यास करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा, विद्या, शिव और तुरीय तत्त्वों को मूलविद्या के वाग्भव, कामराज, शक्ति और तुरीय बीजों से संयुक्त कर उनको चतुर्थी विभक्ति और नमः पद के साथ जोड़ देना चाहिये। तब एक-एक का उच्चारण करते हुए पैर से नाभिपर्यन्त, नाभि से कण्ठपर्यन्त, कण्ठ से मस्तक पर्यन्त और फिर

---

१. त्वमन्त–क. ग. । २. विद्याबी–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. तुरीय–ख. ने. उ. । ४. न्तं स्पष्टम्–क. ग. । ५. आगलमित्यादिसा–क. ग. । ६. लभ्यते–ख. ने. ज. झ. उ. । ७. 'च' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ८. नमोऽन्तकानि–क. ग. । ९. नाभ्यन्तम्–ख. ने. ज. झ. उ. ।

पर्यन्तम्, नाभ्यादिगलान्तम्, गलादिशिरोऽन्तं [1]समुपस्पृश्य व्यापकं न्यसेदित्यर्थः ॥८५-८६॥

भूयोऽपि पराहन्ताभावनामाह—

स्वात्मीकृत्य परं पुनः ।

परं विश्वोत्तीर्णं तेजः, पुनः स्वात्मीकृत्य । पूर्वं श्रीचक्रन्यासानन्तरं "स्वाभेदेन विचिन्तयेत्" (३।८१) इति [2]परेणैक्यमुक्तम्, इदानीं करशुद्ध्यादिन्यासानन्तरमपि पुनः परज्योतिर्मायावशात् स्वभिन्नमिव प्रतीयमानं स्वाभेदेन विचिन्तयेदिति स्वात्मीकृत्य परं[3] पुनः करशुद्ध्यादिन्याससामर्थ्यान्मायापगमे श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीं स्वात्मतया विभाव्येत्यर्थः ॥८६॥

अमृतप्लावनमाह—

सन्तर्पयेत् पुनर्देवीं सौम्याग्नेयामृतद्रवैः ॥८६॥

सौम्यं ब्रह्मरन्ध्राधोमुखसहस्रदलकमलकर्णिकामध्यगतपूर्णसोममण्डलमध्यस्थितत्रिकोणान्तरस्थितमनच्कानुत्तरात्म हार्धकलात्मकं सौम्यम् । मूलाधारचतुर्दल-

---

अन्त में तुरीय तत्त्व का तुरीय बीज से संयोजन कर पूरे शरीर में व्यापक न्यास करना चाहिये ॥८५-८६॥

पुनः अपने में पराहन्ता की भावना का उपदेश करते हैं—

परम ज्योति की पुनः स्वात्मस्वरूप में भावना करे ॥

पर शब्द का अर्थ यहाँ विश्वोत्तीर्ण ज्योति है। उस विश्वोत्तीर्ण परम प्रकाश को पुनः अपने से अभिन्न बना ले। पहले (३।८१) श्रीचक्र न्यास के बाद अभेद वासना (भावना) का उपदेश दिया गया था। अब करशुद्धि आदि न्यासों को करने के बाद पुनः पर ज्योति से अपनी अभिन्नता की भावना की बात कही गई है। यह इसलिये कहा गया है कि माया के कारण साधक उस परम ज्योति को अपने से भिन्न देखने लगता है। न्यास करके साधक यह भावना करे कि वह मुझ से अभिन्न है। करशुद्धि आदि न्यासों की सामर्थ्य से जब उसका माया-मल हट जाय, तो वह अपने को महात्रिपुरसुन्दरी के रूप में ही देखे, उससे अपने को अभिन्न माने ॥८६॥

इसके बाद अपने को अमृत से प्लावित कर ले—

तब स्वात्मस्वरूप देवी को सौम्य और आग्नेय अमृत रस से सन्तृप्त कर ले ॥८६॥

ब्रह्मरन्ध्र स्थित अधोमुख सहस्रदल कमल की कर्णिका के मध्य में स्थित पूर्ण सोममण्डल के मध्य में विराजमान त्रिकोण के भीतर अनच्क, अनुत्तर, हार्धकलात्मक स्वरूप

---

१. संस्पृश्य–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'परे····विचिन्तयेदिति' नास्ति–ख. ज. झ. उ. । ३. 'परं' नास्ति–क. ग. ज. झ. उ. ।

कमलकर्णिकामध्यगतपूर्णवह्निमण्डलमध्यगतत्रिकोणान्तरस्थितमनच्कानुत्तरात्म-सपरार्धकलारूपमाग्नेयम्। द्वयोरमृतानलकुण्डलिनीरूपयोरधऊर्ध्वं [1]प्रसरतोर्योनि-लिङ्गाकारयोः सामरस्यात् [2]प्रसरदमृतद्रवासारैः सन्तर्पयेत् आप्लावयेत्। अयमेव सम्प्रदायविद्भिर्देशिकैः पद्धतिषु परान्यास [3]इत्युच्यते ॥८६॥

[4]उक्तचतुर्विधन्यासमनुवादपुरःसरमुपसंहरति—

एवं चतुर्विधो न्यासः कर्तव्यो वीरवन्दिते।
षोढान्यासोऽणिमाद्यश्च मूलदेव्यादिकः प्रिये ॥८७॥
करशुद्धयादिकश्चैव साधकेन सुसिद्धये।

एवमुक्तप्रकारेण। षोढान्यासादिः सुसिद्धये सुखेन न्याससामर्थ्यान्निराकृत-प्रत्यूहतया परमनिःश्रेयसप्राप्तये। साधकेन मुमुक्षुणा कर्तव्यः, न तु सिद्धेन, तस्य मुक्तत्वात्। तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

को यहाँ सौम्य कहा गया है और मूलाधार स्थित चतुर्दल कमल की कर्णिका के मध्य में स्थित पूर्ण वह्निमण्डल के मध्य में विराजमान त्रिकोण के भीतर अनच्क, अनुत्तर सपरार्धकलात्मक स्वरूप को आग्नेय। ये दोनों अमृत और अनिल(अग्नि) कुण्डलिनियों के स्वरूप हैं। इनका जब नीचे और ऊपर प्रसार होता है, तो ये योनि और लिंग का स्वरूप धारण कर लेती हैं। इनके सामरस्य के कारण प्रवहमान अमृत रस की वृष्टि से अपने को सन्तृप्त कर ले, आप्लावित कर ले। त्रिपुरा सम्प्रदाय के जानकार आचार्यगण इसी को परा न्यास कहते हैं ॥८६॥

उक्त चतुर्विध न्यास का अनुवाद के साथ उपसंहार करते हैं—

हे वीरवन्दिते! इस तरह से यह चतुर्विध न्यास करना चाहिये। हे प्रिये! साधक को परम कल्याण की प्राप्ति के लिये षोढा न्यास, अणिमादि न्यास, मूलदेव्यादि न्यास और करशुद्धादि न्यास करना चाहिये ॥८७-८८॥

इस तरह ऊपर बताई गई पद्धति से षोढान्यास आदि का न्यास करना चाहिये। इन न्यासों की सहायता से साधक सभी विघ्नों को दूर कर परम कल्याण की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है। मुमुक्षु साधक को ही ये न्यास करने हैं। मुक्त सिद्ध को इनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह तो मुक्त हो चुका है। विज्ञानभैरव भट्टारक ने कहा है—

१. प्रसृतयो-उ.। २. क्षरद-ख. ने. ज. झ. उ.। ३. 'इति' नास्ति-ख.। ४. एव-मुक्त-ज.।

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः।
यश्चैव पूजकः [1]सर्वः स एवैकः क्व पूजनम् ॥ इति ॥८७-८८॥
(वि० भै०, श्लो० १५०)

न्यासचतुष्टयस्य कालभेदेन विनियोगमाह—

प्रातःकाले[2] तथा पूजासमये होमकर्मणि ॥८८॥
जपकाले[3] तथा तेषां विनियोगः पृथक् पृथक्।
पूजाकाले समस्तं वा कृत्वा साधकपुङ्गवः[4] ॥८९॥

प्रातःकाले षोढान्यासम्, पूजासमयेऽणिमादिन्यासम्, होमसमये[5] मूलदेव्यादिक-न्यासम्, जपकाले करशुद्धयादिन्यासं कुर्यादित्ययं[6] पृथक् पृथग् विनियोगः। अथवा पूजाकाले समस्तं चतुर्विधं न्यासं कृत्वा साधकपुङ्गवः साधकश्रेष्ठः, चतु-र्विधन्यासकरणसामर्थ्याद् विशीर्यमाणपाश[7]पटलत्वात् प्रत्यासन्नमोक्षत्वात्[8] कृत-कृत्य एव ॥८८-८९॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यन्तमासनं परिकल्प्य च।
गुप्तादियोगिनीनां च मन्त्रेणाऽथ बलिं ददेत् ॥९०॥

परा देवी के साथ पर भैरव की जिन पुष्प आदि द्रव्यों से पूजा की जाती है और जिन खीर-मावा आदि से तृप्ति कराई जाती है तथा जो यह सब पूजा आदि करता है, वह सब कुछ भगवान् भैरव का ही स्वरूप है। ऐसी स्थिति में कौन, किसका, किससे पूजन करेगा? ॥८७-८८॥

इन चारों न्यासों का समय के अनुसार विनियोग बताते हैं—

प्रातःकाल, पूजा के समय, होम के समय और जप करते समय क्रमशः इनका अलग-अलग विनियोग करना चाहिये। अथवा श्रेष्ठ साधक को चाहिये कि वह इन सबका पूजा के समय अनुष्ठान करे॥

प्रातःकाल षोढान्यास, पूजा के समय अणिमादि न्यास, होम के समय मूलदेव्यादि न्यास और जप के समय करशुद्धयादि न्यास करे। इस तरह से इन न्यासों का अलग-अलग विनियोग किया जाता है। अथवा पूजा के समय समस्त चतुर्विध न्यास करके साधकश्रेष्ठ अपूर्व शक्ति को प्राप्त कर लेता है। इससे उसके सारे पाशजाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और वह शीघ्र ही जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है ॥८८-८९॥

पृथ्वी से शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों की आसन के रूप में कल्पना कर के गुप्ता आदि योगिनियों के मन्त्र से पूजा करे ॥९०॥

१. सर्वं-ख. ने. झ. उ.। २. लेऽथवा पूजाकाले वा हो-ख. ने. च. छ. ज. झ.। ३. लेऽथवा-ख. ने. च. छ. ज. झ. उ.। ४. सत्तमः-ख. ने. च. झ.। ५. काले मूलविद्या-विन्यासम्-ख. ने. झ. उ.। ६. दित्येवं-उ.। ७. जालप-उ.। ८. त्वादत एव-ख. उ.।

षट्त्रिंशत्तत्त्वपर्यंन्तं क्षित्यादिशिवान्तं तत्त्वसमुदाय[१]रूपमासनं परिकल्प्य चिन्मरीचीनामाधारत्वादासनं श्रीचक्रं परिकल्प्य । तदुक्तं श्रीपराक्रमे—

हृत्सरोजान्तरे ध्यायन्[२] पृथिव्यादिशिवान्तकम् ।
[३]गुप्तादितप्तकुसुमक्षेपेणाऽऽसनतां नयेत् ॥ इति ।

गुप्तादियोगिनीनामित्यत्र[४] आदौ समस्तप्रकटपदमध्याहार्यम् । आदिपदेन गुप्ततरसम्प्रदायकुलकौलनिगर्भरहस्यातिरहस्यपरापररहस्ययोगिन्यो गृह्यन्ते । बलिः पूजा । तत्र निघण्टुः—"बलिः पूजोपहारेऽपि" इति । महाकविभिरप्युक्तम्—"अवचितबलिपुष्पा" (कु० सं० १।६०) इति । कोऽर्थः ? भावितात्मा[५] बाह्यपूजा-करणात् पूर्वम् "यद्यद् बाह्यं वक्ष्यमाणं तत्तदान्तरमाचरेत्" इत्यस्मदुक्तरीत्याऽन्तर्यागार्थं स्वशरीरं तत्त्वसमुदायरूपं श्रीचक्रं विभाव्य "समस्तप्रकटगुप्तगुप्ततर-

---

पृथ्वी से शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों के समुदाय स्वरूप अपने शरीर को आसन मान-कर, चिच्छक्ति की किरणों का प्रसार इसी के सहारे होता है, ऐसा मानकर, इसमें श्रीचक्र की भावना करके साधक उसकी पूजा करे । श्रीपराक्रम में बताया गया है—

पृथिवी से शिव पर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का अपने हृदयकमल में ध्यान करता हुआ साधक गुप्ता आदि योगिनियों के मन्त्र से अभिमन्त्रित पुष्प के प्रक्षेप द्वारा उनको अपना आसन बना ले ॥

यहाँ गुप्ता आदि योगिनियों से पहले समस्त[1] प्रकट पद का अध्याहार किया जाता है । आदि शब्द से गुप्ततर, सम्प्रदाय, कुलकौल, निगर्भ, रहस्य, अतिरहस्य और परा-परहस्य योगिनियों का ग्रहण किया जायगा । बलि का अर्थ यहाँ पूजा है । निघण्टु में बलि शब्द पूजा और उपहार का वाचक माना गया है । महाकवि कालिदास ने कुमार-संभव में पार्वती के लिये 'अवचितबलिपुष्पा' विशेषण दिया है । उसका अर्थ है पूजा के लिये जिसने पुष्प चुन लिये हैं । इसका अभिप्राय यह है कि "बाह्य पूजा में जो कुछ बताया गया है, उसकी पहले आन्तर रूप से भी भावना करे" हमारी बताई गई इस पद्धति से भावितात्मा साधक अन्तर्याग की सिद्धि के लिये अपने शरीर की तत्त्वसमुदाय

---

१. 'रूप' नास्ति–ने. ज. झ. उ. । २. व्याप्तं–ख. ज. उ. । ३. सौवर्ण–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. मित्यस्य–क. ग. । ५. तात्मपूजा–ख. ने. ज. उ. ।

1. इन सबको मिलाकर नौ योगिनियों के नाम ये होंगे—प्रकटा, गुप्ता, गुप्ततरा, सम्प्रदाया, कुलकौला, निगर्भा, रहस्या, अतिरहस्या और परापररहस्या । त्रिपुरा आदि नौ चक्रेश्वरी विद्याएँ ही प्रकटा आदि नामों से पूजित होती हैं । इसका वर्णन आगे विस्तार से किया गया है ।

सम्प्रदायकुलकौलनिगर्भरहस्यातिरहस्यपरापररहस्ययोगिनीश्री[१]पादुकाभ्यो नमः" इति योगिनीमूलमन्त्रेण स्वशिरसि पूजां कुर्यादित्यर्थः । [२]एतेन बाह्यपूजां सर्वा-मप्यादावन्तः[३] कुर्यादिति सूच्यते ॥९०॥

आन्तरविघ्ननिरासमाह—

पिण्डरूपपदग्रन्थिभेदनाद् विघ्नभेदनम्[४] ।
गुह्यहृन्मुखमूर्धसु विद्यान्यासेन सुन्दरि ॥९१॥

गुह्यहृन्मुखमूर्धसु । गुह्यशब्देन गुदमेढ्रा[५]न्तरालं लक्ष्यते । मुखशब्देन मुखाव-यवो ललाटं लक्ष्यते । गुह्यहृन्मुखमूर्धसु चतुर्षु [६]स्थानेषु विद्यान्यासेन, विद्यायाः सौभाग्यविद्याया बोजचतुष्टयन्यासेन । पिण्डं कुण्डलिनी । पिण्डशब्देन कुण्डलिनी-स्थानं गुदमेढ्रान्तरं कन्दं लक्ष्यते । रूपपदेति[७] व्यत्ययो ज्ञेयः । पदं हंसः । पदशब्देन

स्वरूप श्रीचक्र के रूप में भावना करे और उसकी "समस्तप्रकट०" इत्यादि योगिनी मूल-मन्त्र से अपने सिर पर पुष्पप्रक्षेप पूर्वक पूजा करे । इससे यह सूचित होता है कि सारी बाह्य पूजा को पहले आन्तर पूजा के रूप में सम्पन्न करे ॥९०॥

आन्तर विघ्नों को दूर करने की विधि बताते हैं—

हे सुन्दरि! गुह्य, हृदय, मुख और मूर्धा इन चार स्थानों में विद्यान्यास से पिण्ड, पद, रूप और ग्रन्थि का भेदन कर साधक सभी आन्तर विघ्नों का भी भेदन कर देता है ॥९१॥

गुह्य शब्द से गुदा और लिंग के बीच का स्थान और मुख शब्द से उसका अवयव ललाट लक्षित होता । गुह्य, हृदय, ललाट और सिर इन चार स्थानों में सौभाग्यविद्या के चार बीजों के न्यास से पिण्ड आदि का भेदन करे । पिण्ड कुण्डलिनी को कहते हैं । यहाँ पिण्ड शब्द से कुण्डलिनी का स्थान कन्द गृहीत होता है, जिसकी स्थिति गुदा और लिंग के बीच में मानी गई है । [1]रूप और पद में व्यत्यय जानना चाहिये, अर्थात् पहले

---

१. 'श्री' नास्ति–ख. ने. उ., श्रीचक्र–झ. । २. अत एव–ख. ने. ज. उ. । ३. वन्ते च–क. विहाय सर्वत्र । ४. भेदकम्–क. ग. । ५. न्तरं–ख. ने. झ. उ. । ६. 'स्थानेषु' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ७. देऽपि–उ. ब. विहाय सार्वत्रिकः पाठः ।

1. इसका अभिप्राय यह है कि श्लोक के 'रूपपद' इस पाठ में रूप शब्द को पहले और पद शब्द को बाद में छन्द के अनुरोध से पढ़ दिया गया है, किन्तु उनका क्रम 'पद-रूप' ऐसा होना चाहिये, क्योंकि पिण्ड के बाद पद और तब रूप की स्थिति मानी जाती है । इसी बात को व्याख्याकार ने "रूपपदेति व्यत्ययो ज्ञेयः" इस वाक्य में कहा है ।

हंसस्थानं हृदयं लक्ष्यते। रूपं बिन्दुः। रूपशब्देन बिन्दुस्थानं ललाटं लक्ष्यते। ग्रन्थिशब्देन यत्र विश्वं सूत्रे मणिरिव ग्रथ्यते तद् विश्वमूलं ब्रह्मरन्ध्रं चिन्मयं लक्ष्यते। एतच्चतुष्टयभेदनाद् विघ्नभेदनम्। कोऽर्थः? गुह्यादिस्थानचतुष्टये विद्याबीजचतुष्टयन्यासेन "पातालादिषु लोकेषु ये विघ्ना भेदलक्षणाः" (सु० वा० २३) इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या पातालादिरूपाणि पिण्डपदरूप[1]ग्रन्थिस्थानि [2]गुदहृदयललाटब्रह्मरन्ध्राणि भेदलक्षणानि भित्त्वा तदूर्ध्वं[3] तदतीतचिन्मयाद्वयपदविश्रान्तिरान्तरो विघ्ननिरास इत्यर्थः। एतेन सर्वमपि बाह्यपूजान्त[5]मन्तः कुर्यादित्युपलक्ष्यते ॥९१॥

अन्तर्यागे देहस्यैव यागगृहत्वात् तदन्तर्विघ्नान्निरस्य बहिर्याग[6]मन्दिरगतानां विघ्नानामुत्सारणं कुर्यादित्याह—

यागमन्दिरगांश्चैव विघ्नानुत्सार्य मन्त्रवित् ।

पद और बाद में रूप को रखना चाहिये। पद का अर्थ है हंस। पद शब्द से हंस (प्राण) का स्थान हृदय लक्षित होता है। रूप का अर्थ है बिन्दु। यहाँ रूप पद से बिन्दु का स्थान ललाट गृहीत है। ग्रन्थि शब्द ब्रह्मरन्ध्र का वाचक है। इस चिन्मय स्थान में सारा विश्व सूत्र में मणियों की तरह गुंथा हुआ है। इसीलिये यह विश्व का मूल कारण है। इन चारों का सौभाग्य विद्या के चार बीजों से भेदन करना ही सभी प्रकार के विघ्नों के नाश का परम उपाय है। इसका अभिप्राय यह है कि सुभगोदयवासना में शिवानन्द मुनि ने पाताल आदि लोकों में भेद दृष्टि को जन्म देने वाले विघ्नों की चर्चा की है। यहाँ पिण्ड, पद, रूप और ग्रन्थि स्थित गुदा, हृदय, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र ही पाताल आदि लोकों के विघ्न माने गये हैं। इनमें विद्यमान भेददृष्टि का उन्मूलन कर साधक ऊपर उठे और इन सबके ऊपर प्रज्वलित चिन्मय अद्वय पद में विश्राम करे। आन्तर विघ्नों का नाश इसी पद्धति से होता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि बाह्य पूजा की सभी विधियों को पहले आन्तर पूजा के रूप में सम्पन्न करना चाहिये ॥९१॥

अन्तर्याग में यह शरीर ही यागगृह है। इस तरह से देहगत विघ्नों का निरास कर अब साधक बाहर यागमन्दिर गत विघ्नों का भी उत्सारण करे, उसकी विधि बताते हैं—

मन्त्रवित् साधक यागमन्दिर में घुसे विघ्नों का भी उत्सारण करे॥

१. रूपेण–ख. ने. ज. झ. उ.। २. रूपरूपातीतस्थानानि–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. कन्द–ख. ने. ज. उ.। ४. तदूर्ध्वं ज्वलन्ती ततश्चिन्मया–क. ग.। ५. पूजानन्तरमपि–ख. ने. ज. झ. ब. उ.। ६. 'मन्दिर' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु[1] शिवाज्ञया॥
हूँ अस्त्राय फट्

इति मन्त्रेण मन्त्रवित् साधकः, निर्गच्छतां विघ्नानां निजवामाङ्गसंकोचाद्[2] मार्गं दत्त्वा उत्सार्य।

भूमिगतान् नभोगतान् दिव्यांश्च विघ्नानुत्सारयेदित्याह—

पार्ष्णिघातेन भौमांश्च तालेन च नभोगतान् ॥९२॥
अस्त्रमन्त्रेण दृष्ट्या[3] च दिव्यान् विघ्नानपोहयेत् ।

[4]पार्ष्णिघातेन पार्ष्णिघातत्रयेण। भौमान् भूमिष्ठान् विघ्नान्। अस्त्रमन्त्रेणेति सर्वत्रानुवर्तते। तालेन करतालत्रयेण। नभोगतान् अन्तरिक्षगतान् विघ्नान्। दृष्ट्या वीक्षणेन [5]दिव्यांश्च विघ्नान्। अपोहयेत् निःसारयेत् ॥९२-९३॥

[1]अपसर्पन्तु इस श्लोक के उच्चारण के साथ "हूँ अस्त्राय फट्" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए साधक उस यागमण्डप से निकल भागते हुए विघ्नों को अपने बायें अंग को सिकोड़ कर मार्ग दिखाकर भगा दे। अपसर्पन्तु आदि श्लोक का अर्थ यह है कि जो प्राणी इस यागमण्डप की भूमि में छिपे हुए हैं, वे यहाँ से निकल भागें। जो प्राणी विघ्न उपस्थित करने वाले हैं, वे भगवान् शिव की आज्ञा से नष्ट हो जाँय॥

इसके बाद भूमिगत, अन्तरिक्षगत और दिव्य विघ्नों को दूर करे—

पार्ष्णिघात से भूमिगत, ताल से नभोगत और दृष्टि से दिव्य विघ्नों का उत्सारण करे। सर्वत्र अस्त्र मन्त्र का भी उच्चारण करे ॥९२-९३॥

पार्ष्णि (एडी) पर तीन बार आघात कर भूमिगत विघ्नों को अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए निकाल भगावे। तीन बार ताली बजाकर अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए अन्तरिक्षगत विघ्नों को निकाले और अपनी तिरछी दृष्टि से अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए दिव्य विघ्नों को निकाल भगावे ॥९२-९३॥

१. गच्छन्तु–ख. ने. उ.। २. ङ्गसंकोचतः–क. ग., ङ्गं संकोच्य–उ.। ३. विद्यांश्च दृष्ट्या–क. ग., दिव्यांश्च दृष्ट्या–उ.। ४. 'पार्ष्णि····दिव्यांश्च विघ्नान्' नास्ति–ख. ज. झ. उ.। ५. विद्यांश्च–क. ग.।

1. श्रौत और स्मार्त पद्धतियों में भी यह मन्त्र इसी रूप में उपलब्ध होता है। यह श्लोक योगिनीहृदय की किसी भी मातृका में नहीं मिलता और दीपिकाकार ने इसकी व्याख्या भी नहीं की है।

निर्गतानां विघ्नानां पुनरप्रवेशाय वह्निप्राकारभावनामाह—

दिक्ष्वधोर्ध्वं[1] महावह्निप्राकारं परिभावयेत् ॥९३॥

संविदग्नौ महासारे विमर्शैकशरीरिणि ।
भेदाभासमिदं हव्यं[2] जुहोम्यपुनरुद्भवम् ॥ (सु० वा० ६४)

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या सर्वतः[3] स्फुरितपरसंविदेव महावह्निः, स एव [4]प्राकारः, दुर्लङ्घ्यत्वात् । सर्वतो दिक्षु परिस्फुरदद्वयपरसंविदात्मकमहावह्नि-प्राकारपरिकल्पनभावनया भेदप्रतीतिलक्षणानां विघ्नानामप्रवेश इत्यर्थः ॥९३॥

सूर्यपूजामाह—

सामान्यार्घ्येण देवेशि मार्तण्डं परिपूजयेत् ।
प्रकाशशक्तिसहितम्

सामान्यार्घ्यं विशेषार्घ्यं च वक्ष्यते (३।९८-१०३)। प्रकाशशक्तिसहितः, प्रकाशः परमः शिवः, शक्तिर्विमर्शाख्या, तया सहितो नित्यसमवेतः ।

निकाले गये विघ्न पुनः वापस न आ जाँय, इसके लिये यागमण्डप के चारों तरफ अग्नि के बने परकोटे की भावना करे—

सभी दिशाओं में ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रज्वलित महावह्नि के प्राकार की भावना करे ॥९३॥

सुभगोदयवासना में शिवानन्द मुनि ने कहा है—

विमर्श के साथ समरसीभूत परम सारवान् संविद्रूपी प्रकाशात्मक वह्नि में मैं इस भेद रूप में भासित हो रहे सारे जगत् रूपी द्रव्य की आहुति दे रहा हूँ, जिससे कि यह फिर पैदा न हो जाय ॥

इस वचन के अनुसार सर्वत्र प्रकाशित हो रही परा संवित् ही महावह्नि है। इसी में प्राकार (परकोटा) की कल्पना की जाती है, क्योंकि इसको लाँघ पाना कठिन है। सभी दिशाओं में प्रज्वलित हो रही अद्वयात्मक परा संवित् स्वरूपिणी महावह्नि में प्राकार की भावना करने से भेददृष्टि के कारण उत्पन्न होने वाले विघ्नसमुदाय का उस यज्ञस्थल में पुनः प्रवेश नहीं होने पावेगा, यही इसका भाव है ॥९३॥

अब सूर्यपूजा की विधि बताते हैं—

हे देवेशि ! सामान्य अर्घ्य से प्रकाश शक्ति के साथ मार्तण्ड (सूर्य) की पूजा करे ॥

सामान्यार्घ्य और विशेषार्घ्य का आगे (३।९८-१०३) वर्णन किया जायगा । प्रकाश

---

१. दिग्बन्धं च—च. उ. । २. ततो—ख. ने. च. छ. ज. झ. । ३. सर्वं—ख. ने. ज. झ. उ. । ४. सर्ववस्तुतापर—ख. ग. ने. ज. उ. । ५. महाप्राकारः—ज. ।

स्वप्रकाशशिव एव भास्करस्तद्विमर्शविभवा मरीचयः ।
[1]यैः स भासयति वेद्यमण्डलं तस्य पूजनमहन्तया मतिः ॥
(चि० स्त० ५)

इत्यस्मदुक्तरीत्या सर्वं सामान्यार्घ्येण स्वात्माहम्भावनालक्षणया पूजया भावयेदित्यर्थः । बाह्यार्थस्तु स्पष्ट एव ॥९४॥

अस्यैव गुणाधिक्यमाह—

अरुणाकल्पमुज्ज्वलम्[2] ॥९४॥
ग्रहादिपरिवारं च विश्वतेजोऽवभासकम् ।

"स्वसंवित् त्रिपुरा देवी लौहित्यं तद्विमर्शनम्" इति प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या [3]विमर्शविभवविधारुणभूषणम् । उज्ज्वलम्, उदयास्तमयरहितत्वात् । ग्रहादिपरिवारं च । विषयान् गृह्णन्तीति ग्रहा इन्द्रियाणि, तेषामादि मनः, तत्परिवारं च

है परमशिव और विमर्श है शक्ति । प्रकाश शक्ति से नित्य समवेत है सूर्य । चिद्विलास स्तव में यह इस तरह से वर्णित है—

स्वयं प्रकाशमान शिव ही भास्कर (सूर्य) है और शिव का विमर्शात्मक वैभव ही सूर्य की किरणें हैं । इन्हीं किरणों से वह (सूर्य और शिव) इस सारे वेद्यस्वरूप जगत् को भासित करते हैं । इनमें आत्मबुद्धि की भावना करना हो वास्तविक सूर्योपासना है ॥

इस तरह से प्रकाश और विमर्शात्मक शक्ति से सम्पन्न भगवान् सूर्य की सामान्यार्घ्य से, अर्थात् स्वात्मस्वरूप में उनकी भावना करके आन्तर पूजा सम्पन्न करे और बाह्य सामान्य अर्घ्य समर्पित कर बाह्य पूजा का अनुष्ठान करे ॥९४॥

अब सूर्य के ही विशेष गुणों को बताते हैं—

यह सूर्य अरुण आभावाले अलंकारों से सुशोभित है, सभी इन्द्रियाँ इसका परिवार है और यही सारे तेजों का प्रकाशक ह ॥९४-९५॥

किसी [1]प्रामाणिक व्यक्ति ने कहा है—"स्वात्मसंवित् ही त्रिपुरा देवी है और लौहित्य (ललाई) इसकी विमर्श शक्ति है" । इसके अनुसार यह प्रकाशात्मक सूर्य अपनी विमर्शस्वरूपिणी ललाई का आभूषण धारण किये हुए है । यह उदय और अस्त से रहित होने से सदा प्रकाशमान है । विषयों का ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ यहाँ ग्रह नाम से

---

१. तैः—ख. ने. ज. उ. । २. नम्—क. ग. । ३. विमर्शविधारणम्—ख. ज. झ. उ. ।

1. यह श्लोकार्ध भी भास्करराय की सेतुबन्ध व्याख्या (५।४१) के अनुसार नित्याषोडशिकार्णव का अंग है, किन्तु दीपिकाकार इसको प्रामाणिक व्यक्ति का वचन मानते हैं और ३।१९३ की व्याख्या में इसको अभियुक्त का वचन कहते हैं ।

विविधविषयग्रहणलक्षणसंकल्पप्रत्ययप्रवाहप्रवर्तकमित्यर्थः । अत्रोपनिषत्—"धियो यो नः प्रचोदयात्" (ऋ० ३।४।१०) इति । विश्वतेजोऽवभासकम् । "तदेव[1] ज्योतिषां ज्योतिः" (मु० उ० २।२।९) [2]इत्युपनिषदुक्तरीत्या बाह्यतेजो[3]गणप्रतीतिकारणनिजस्फुरणम् । बाह्यार्थस्तु—सोमादयोऽत्र[4] ग्रहाः, सूर्यस्य प्रधानत्वात् । आदिशब्देन[5] षडङ्गानि गृह्यन्ते । स्पष्टमन्यत् ॥९४-९५॥

बाह्यचक्रोद्धारमाह—

सौम्याग्नेययुतैर्देवि रोचनागुरुकुङ्कुमैः ॥९५॥
मूलमुच्चारयन् सम्यग्[6] भावयेच्चक्रराजकम् ।

कही गई हैं। इन इन्द्रियों में पहला मन है और बाकी इन्द्रियाँ उसका परिवार। यह मन ही बाकी इन्द्रियों को विविध विषयों के ग्रहण में लगाता है और उसके द्वारा गृहीत विषयों को अपनी संकल्प शक्ति के सहारे निरन्तर प्रवाहित करता रहता है। यह मन ही यहाँ सूर्य है और अन्य इन्द्रियाँ उसका परिवार। इसी के लिये प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में बताया गया है—"जो हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है"। यह प्रकाशात्मक सूर्य ही अन्य समस्त तेजों का प्रकाशक है। मुण्डक श्रुति कहती है—"वही सब ज्योतियों की ज्योति है"। इन बाह्य तेजों को प्रकाशित करने के लिये ही वह स्वयं प्रकाशित होता है। इस श्लोक में बताई गई बाह्यपूजा की विधि तो स्पष्ट है। ग्रह शब्द से इस पक्ष में सोम आदि ग्रहों का ग्रहण किया जायगा, क्योंकि इनमें सूर्य ही प्रधान है और सोम आदि ग्रह उसका परिवार है। आदि शब्द से [1]षडंग का ग्रहण किया जाता है। बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥९४-९५॥

बाह्य चक्र के उद्धार की पद्धति बताते हैं—

हे देवि! कपूर, केसर के साथ रोचना, अगुरु और कुंकुम को मिलाकर मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए भली भाँति चक्रराज श्रीयन्त्र का लेखन करे ॥९५-९६॥

---

१. तदेवानुत्तरं-ख. ने. ज. झ. । २. इति श्रुत्युक्त-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. गुण-ख. ने. ज. झ. उ. । ४. 'अत्र' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. । ५. शब्दात्-क. ख. ग. । ६. गालिखे-ख. ने. च. छ. ज. झ. ।

1. पहले (२।५७) एक सौ ग्यारह आवरण देवताओं के प्रसंग में षडंगों की चर्चा आ चुकी है। ऋजुविमर्शिनीकार (पृ० ११९) ने प्रपंचसार के एक श्लोक (६।६) को उद्धृत किया है। वहाँ षडंगों का उल्लेख है। सुभगोदय (पृ० २८६) भी देखिये। यहाँ उन्हीं षडंगों की पूजा का विधान है।

सौम्यं कर्पूरम्, सोमनामवाच्यत्वात् । आग्नेयं काश्मीरम्, [1]अग्निशिखासंज्ञकत्वात् । "काश्मीरजन्माग्निशिखम्" (२।६।१२४) इत्यमरः । रोचना गोरोचना, अगुरुः कालागुरुः, कुङ्कुमं घुसृणम्, एतैः [2]सुधया पङ्कीकृत्य, तेन स्वर्णादिमये पट्टे हेमसूच्या [3]विलिख्य । मूलं सौभाग्यविद्याम् । उच्चारयन्, परेण चेच्चक्रं लेखयति । स्वयं चेल्लिखति तदोच्चरन् । चक्रराजं चतुराम्नायमयत्वात् [4]सर्वपूजाचक्रेभ्योऽप्युत्तमम् । सम्यक् "समत्रिकोणशक्त्यग्रं समरेखं मनोहरम्" इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या, भावयेत् लिखेत्, लेखयेद्[5] वा । तदुक्तमभियुक्तैः—"कस्तूरीघुसृणेन्दुचन्दन[6]सुधाभिश्चक्रराजं लिखेत्" इति ॥९५-९६॥

योगिनीमूलमन्त्रेण क्षिपेत् पुष्पाञ्जलिं ततः ॥९६॥

सौम्य कपूर को कहते हैं, क्योंकि इसका भी नाम सोम है। काश्मीरी केसर आग्नेय कहलाती है, क्योंकि इसका नाम अग्निशिखा है। अमरकोश में (२।६।१२४) में काश्मीरजन्मा, अग्निशिख आदि नाम इसके बताये गये हैं। रोचना गोरोचना (गोलोचन), अगुरु कालागुरु (अगर) और कुंकुम घुसृण (रोरी) को कहते हैं। इन सबको सुधा में मिलाकर चन्दन बना ले। इस चन्दन से सोने की सुई के द्वारा सोने आदि के पत्तर पर लिखे। दूसरे से लिखाते समय मूल सौभाग्यविद्या का उच्चारण कराया जाता है। साधक यदि स्वयं श्रीचक्र का लेखन करता है, तो वह मन्त्र का उच्चारण भी स्वयं ही करता है। इसको चक्रराज इसलिये कहा जाता है कि इसकी उपासना चारों आम्नायों में की जाती है, अतः यह अन्य पूजा-चक्रों की अपेक्षा उत्तम है। किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने बताया है—"श्रीचक्र को लिखते समय इसके शिव और शक्ति त्रिकोण एक समान होने चाहिये, रेखाएँ भी समान होनी चाहिये, जिससे यह देखने में मनोहर हो"। सम्यक् लेखन से इसी प्रकार का लेखन अभिप्रेत है। 'भावयेत्' क्रिया का प्रयोग यहाँ लिखने अथवा लिखाने के अर्थ में हुआ है। इस प्रसंग में—"कस्तूरी, कुंकुम, कपूर, चन्दन और सुधा को मिलाकर चक्रराज का लेखन करे" यह [1]प्रामाणिक वचन भी स्मरणीय है ॥९५-९६॥

तब योगिनी के मूलमन्त्र से पुष्पांजलि समर्पित करे ॥९६॥

---

१. 'अग्नि''''कत्वात्' नास्ति-ख. ने. ज. झ. । २. सुरया-ने. झ. उ. । ३. यन्त्रराजं वि-उ. । ४. तत् सर्व-ख. ने. ज. झ. उ. । ५. येच्च-ख. ने. ज. झ. उ. । ६. सुरा-ने. उ. ।

1. श्लोक का यह अंश लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग (पृ० १२) में संगृहीत उदयाकरपद्धति के श्लोक का चतुर्थ पाद है। ज्ञानदीपविमर्शिनी में यह उद्धृत है।

योगिनीनां प्रकटादीनाम्, मूलमन्त्रेण "समस्तप्रकट०" इत्यादिना पूर्वोक्तेन, पुष्पाञ्जलिं ततः तत्र[1] श्रीचक्रे निक्षिपेत् ॥९६॥

[2]पुष्पाणामभावेऽपि कार्यतामाह—

मणिमुक्ताप्रवालैर्वा विलोमं मूलविद्यया।
अशून्यं सर्वदा[3] कुर्यात्

विलोमं प्रतिलोमम्। उच्चरितया [4]मूलविद्यया सौभाग्यविद्यया। वाशब्दः काकाक्षिवदुभयत्रापि[5] संबद्धयते। अशून्यम् अविरहितम्। सर्वदा[6] येन केन प्रकारेण कुर्यात्। पुष्पाणामभावे मण्यादिभिर्वा योगिनीमूलमन्त्रेण सौभाग्यविद्यया वा सर्वदा[7] अशून्यं चक्रं कुर्यात्, पूजयेदित्यर्थः ॥९७॥

योगिनी शब्द यहाँ प्रकटा आदि योगिनियों का सूचक है। उन योगिनियों का मूलमन्त्र "समस्तप्रकट०" यहाँ पहले (३।९०) बताया जा चुका है। श्रीचक्र के लेखन के बाद इसी मन्त्र से उस श्रीचक्र पर पुष्पांजलि समर्पित करे ॥९६॥

[1]पुष्प आदि के न मिलने पर यह करना चाहिये—

मणि, मुक्ता, प्रवाल से अथवा विलोम उच्चरित मूलविद्या से उस श्रीचक्र को सदा अशून्य रखे ॥९७॥

विलोम का अर्थ है प्रतिलोम (उलटा)। मूलविद्या, सौभाग्यविद्या का उलटा उच्चारण करते हुए इस श्रीचक्र को कभी शून्य न करे। काक (कौआ) की आँख की तरह यहाँ 'वा' शब्द का संबन्ध मणि इत्यादि से अथवा मूलविद्या से भी हो जाता है। इनमें से किसी एक के बिना इस श्रीचक्र को नहीं रखना चाहिये। सदा किसी न किसी एक का संबन्ध उससे अवश्य रहना चाहिये। पुष्पों के अभाव में मणि इत्यादि से, योगिनी मूलमन्त्र से अथवा विलोम उच्चरित सौभाग्यविद्या से सदा इस चक्र को अवश्य अशून्य रखकर पूजा करनी चाहिये ॥९७॥

---

१. 'तत्र' नास्ति—क. ख. ग.। २. पुष्पादीना—क. ग.। ३. सर्वथा—ख. च. छ. ज. झ.। ४. 'मूलविद्यया' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ.। ५. यत्र संयुज्यते—ख. ने. झ. उ.। ६. सर्वथा एकेनापि प्रकारेण—ख. ने. झ. उ.। ७. सर्वथा अशून्यं चक्रं पूज—ख. ने. ज. झ. उ.।

1. पुष्पों के अभाव में मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि बहुमूल्य रत्नों की चर्चा अटपटी सी लगती है, किन्तु साथ ही यहाँ विकल्प के रूप में मूलविद्या की भी चर्चा है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पन्न व्यक्ति श्रीचक्र को मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि से अशून्य रखे तथा साधनहीन व्यक्ति उस चक्र पर विलोम क्रम से मूलविद्या को ही लिख ले।

तथाऽकरणे निष्फलतामाह—

शून्ये विघ्नास्त्वनेकशः ॥९७॥

मण्यादिभिः शून्ये सति श्रीचक्रेऽनेकशः[1] बहुशः, विघ्नाः सपर्यान्तरायाः संभवेयुः ॥९७॥

सामान्यार्घ्यविधानमाह—

श्रीचक्रस्यात्मनश्चैव मध्ये त्वर्घ्यं प्रतिष्ठयेत्[2]।

श्रीचक्रस्य पूर्वोक्तरीत्या उद्धृतस्य, साधकस्य च मध्ये, अर्घ्यं वक्ष्यमाणरीत्या [2]प्रतिष्ठयेत् [3]प्रतिष्ठापयेत् ॥९७॥

अर्घ्यप्रतिष्ठा[4]प्रकारमाह—

चतुरस्रान्तरालस्थकोणषट्के सुरेश्वरि ॥९८॥
षडासनानि सम्पूज्य त्रिकोणस्यान्तरे पुनः।
पीठानि[5] चतुरो देवि कापूजाओ इति क्रमात् ॥९९॥
अर्चयित्वाऽर्घ्यपादे[6] तु वह्नेर्दश कला यजेत्।

ऐसा न करने पर पूजा निष्फल हो जाती है—

श्रीचक्र के शून्य रहने पर अनेक विघ्न आते हैं ॥९७॥

श्रीचक्र के मणि इत्यादि से शून्य रहने पर अनेक विघ्न पूजा के समय उपस्थित होने लगते हैं ॥९७॥

अब सामान्य अर्घ्य की विधि बताते हैं—

श्रीचक्र के और अपने बीच में अर्घ्य की स्थापना करे॥

पूर्वोक्त पद्धति से उद्धृत श्रीचक्र और साधक के बीच के स्थान में आगे बताई जा रही पद्धति से अर्घ्य की स्थापना करे ॥९८॥

अर्घ्य की स्थापना का प्रकार यह है—

हे सुरेश्वरि! चतुरस्र के अन्तराल में षट्कोण चक्र बनावे और उसमें छः आसनों की पूजा करे। इसके बाद हे देवि! षट्कोण के अन्तराल में स्थित त्रिकोण में का पू जा ओ नामक चार पीठों की क्रम से पूजा करके तब अर्घ्य के आधार पात्र में वह्नि की दस कलाओं की पूजा करे ॥९८-१००॥

---

१. कशो विघ्ना बहवो विघ्नाः—ख. ने. झ. उ.। २. प्रतिक्षिपेत्—क. ग.। ३. 'प्रतिष्ठापयेत्' नास्ति—ख. ज. झ. ब. उ.। ४. 'प्रकार' नास्ति—ख. ने. ज. उ.। ५. पीठांस्त्रिचतुरो—क. च. उ.। ६. पात्रे—उ.।

चतुरस्रान्तरालस्य कोणषट्के आदौ चतुरस्रं लिखित्वा तदन्तर्वृत्तं तदन्तः षट्कोणं तन्मध्ये त्रिकोणमिति मण्डलं गोमयोपलिप्तभूतले मत्स्यमुद्रया विलिखेदिति सामर्थ्यलभ्यम् । तदुक्तं श्रीपराक्रमे—

ततो गोमयसंलिप्ते चतुरस्रे भुवः स्थले ।
प्रवहच्छ्वासहस्तेन कृतया मत्स्यमुद्रया ॥
दिव्यगन्धं तुल्ययुक्तं विलिखेदर्घ्यमण्डलम् ।
वेदास्रवृत्तषट्कोणत्रिकोणा[1]भ्यन्तरेऽन्तरे ॥ इति ।

एवं चतुरस्रवृत्तान्तरालकोणषट्के षडासनानि सम्पूज्य अमृतार्णवपोताम्बुजात्मचक्रसर्वमन्त्रसाध्यसिद्धासनानि सम्पूज्य षट्कोणान्तरस्थत्रिकोणमध्ये का कामगिरिपीठम्, पू पूर्णगिरिपीठम्, जा जालन्ध्रपीठम्, ओ ओड्याणपीठं च क्रमात्[2] त्रिकोणकोणेषु त्रयं मध्ये चैकमर्चयित्वा अर्घ्यपादे आधारे तत्र पात्रं प्रतिष्ठाप्याऽभ्यर्च्य तन्मध्ये वह्निबिम्बमभ्यर्च्य तत्परितः कलाश्चाभ्यर्चयेत् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

'चतुरस्रान्तरालस्थकोणषट्के' इस समस्त पद का यह अर्थ है कि पहले चतुरस्र को लिखकर उसके अन्दर वृत्त बनावे और उस वृत्त के अन्दर षट्कोण और उसके मध्य में त्रिकोण का लेखन करे । गोबर से लीप कर पवित्र की गई भूमि में मत्स्य मुद्रा से इस मण्डल का निर्माण करना चाहिये । इस विषय में श्रीपराक्रम का यह वचन प्रमाण है—

तब गोबर से लीपी गई चतुरस्र भूमि पर, जिधर की श्वास चल रही है, उसी हाथ से बनाई गई मत्स्य मुद्रा से सभी सुगन्धि द्रव्यों को समान मात्रा में मिला कर अर्घ्यमण्डल की रचना करे । चतुरस्र, वृत्त, षट्कोण और त्रिकोण की स्थिति एक दूसरे के अन्दर बनानी चाहिये ॥

इस प्रकार अर्घ्यमण्डल का निर्माण करके चतुरस्र और वृत्त के बीच के छः कोनों में [1]अमृतार्णव, पोताम्बुज, आत्म, चक्र, सर्वमन्त्र, साध्यसिद्ध नामक छः आसनों की पूजा करे । तब षट्कोण के अन्तराल स्थित त्रिकोण के—का कामरूप पीठ, जा जालन्धर पीठ, पू पूर्णगिरि पीठ और ओ ओड्याण पीठ—इन चार पीठों में, अर्थात् त्रिकोण के तीन कोनों में और बीच में क्रमशः एक एक देवी की पूजा करे । इसके बाद उस पर अर्घ्यपात्र के आधार की स्थापना और पूजा करके उस आधार पात्र में अग्नि की और उसके चारों तरफ अग्नि की कलाओं की पूजा करे । स्वच्छन्दसंग्रह में इस विषय में कहा गया है —

१. णान्य–ब. विहाय सार्वत्रिकः पाठः । २. क्रमात् त्रिचतुरस्त्रीन् वा चतुरो वा त्रिकोणकोणेषु चतुरस्रे तन्मध्ये चार्चयित्वा, तत्राधारं प्रतिष्ठाप्य, अर्घ्यपादमाधारम्, तस्मिन् मध्ये वह्निबिम्ब–क. ग. ।

1. अमृतार्णवासन, पोताम्बुजासन, आत्मासन, चक्रासन, सर्वमन्त्रासन और साध्यसिद्धासन नामक छः आसनों की चर्चा ज्ञानदीपविमर्शिनी की न्यासपद्धति में हुई है ।

षट्कोणान्तस्त्रिकोणे तु वह्निबिम्बं कलायुतम् ।
आवाह्याधारतो देवि पूजयेन्मन्त्रवित्तमः ॥ इति ।

क्रमाद् यादिक्षान्तदशवर्णपूर्वास्तस्य[1] वह्नेर्दशकला धूम्रार्चिराद्या यजेत् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

यादिक्षान्तानि[2] वर्णानि कला वह्नेर्महेश्वरि ।
एताः कलाः समभ्यर्च्य स्वस्ववर्णैर्यथाविधि ॥
स्वबीजाद्याश्चतुर्थ्यन्तनाममध्या नमोऽन्तिमाः[3] ।
प्रोक्ता वह्निकलामन्त्रा नामानि शृणु साम्प्रतम् ॥
धूम्रार्चिर्नीलरक्ता[4] च कपिला विस्फुलिङ्गिनी ।
ज्वालामालिन्यर्चिष्मती तदूर्ध्वं हव्यवाहिनी ॥
अष्टमी कव्यवाहा च रौद्री संहारिणी[5] ततः[6] ॥ इति ।
[[7]धूम्रार्चिरू(ष्टचा?ष्मा) ज्वलिनी ज्वालिनी विस्फुलिङ्गिनी ।
सुश्रीः सुरूपा कपिला हव्यकव्यवहेश्वरी ॥
(शा० ति० २।१५)
इति तन्त्रान्तरे] ।।९८-१००।।

हे देवि ! उत्तम मन्त्रवेत्ता साधक षट्कोण के अन्तराल में निर्मित त्रिकोण में अर्घ्यपात्र की स्थापना कर उसमें अग्नि की कलाओं के साथ अग्निमण्डल की पूजा करे ॥

यहाँ क्रमशः यकार से क्षकार पर्यन्त दस वर्णों के उच्चारण के साथ धूम्रार्चि आदि दस कलाओं की पूजा की जाती है । स्वच्छन्दसंग्रह में इसकी विधि वर्णित है—

हे महेश्वरि ! यकार से क्षकार पर्यन्त दस वर्ण हैं । अग्नि की कलाएँ भी दस ही हैं । अपने अपने बीजवर्णों से इनकी पूजा करनी चाहिये । पहले अपना बीजाक्षर, तब चतुर्थी विभक्ति के साथ नाम तथा अन्त में नमः पद का संयोजन करना चाहिये । अग्नि की दस कलाओं के ये ही मन्त्र हैं । अब तुम इन कलाओं के नाम सुनो—धूम्रार्चि, नीलरक्ता, कपिला, विस्फुलिङ्गिनी, ज्वालामालिनी, अर्चिष्मती, हव्यवाहिनी, कव्यवाहा, रौद्री और संहारिणी ॥

अन्य तन्त्र (शारदातिलक, २।१५) में इन दस कलाओं के नाम ये बताये गये हैं—धूम्रार्चि, ऊष्मा, ज्वलिनी, ज्वालिनी, विस्फुलिङ्गिनी, सुश्री, सुरूपा, कपिला, हव्यकव्यवहा और ईश्वरी ।।९९-१००।।

१. स्तस्यैव–ख. ने. ज. झ. उ. । २. न्तात्म–क. ग. । ३. न्तिकाः–क. ग. ज. । ४. लक्ता–क. ग., वक्त्रा–ज., वर्णा–उ. । ५. संवाहिनी–क. ग. । ६ तथा–क. ग. । ७. 'धूम्रा····न्तरे' नास्ति–ख. ने. ज. झ. ब. उ. ।

अर्घ्यपात्रं प्रतिष्ठाप्य तत्र सूर्यकला यजेत् ॥१००॥

पात्रे सूर्यकलाश्चैव कभादि द्वादशार्चयेत् ।

[1]पात्रे अर्घ्यपात्रमध्ये, सूर्यबिम्बमभ्यर्च्य । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

[2]अस्त्रप्रक्षालितं शङ्खं स्थापयित्वा तथोपरि ।
हृदयात् सूर्यबिम्बं च समावाह्य स्वमन्त्रतः ॥ इति ।

अत्र सूर्यकलाः पूजयेत् ।

कादिठान्तं भादिडान्तं वर्णजातं [3]क्रमोत्क्रमात् ।
द्वयं द्वयं [4]प्रयोक्तव्यं कलाश्च तदनन्तरम् ॥

इत्यस्मदुक्तरीत्या कभादि ककारादिभकारादि वर्ण[5]युगलयुक्तद्वादशादित्यकलाः क्रमात् तपिन्याद्या द्वादश अर्चयेत् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

आधार पर अर्घ्यपात्र को स्थापना करके वहां सूर्य और उसकी कलाओं का पूजन करे । सूर्य को बारह कलाओं का पूजन ककार आदि तथा भकार आदि बारह-बारह वर्णों से किया जाता है ॥१००-१०१॥

आधार पर स्थापित उस पात्र में सूर्यमण्डल की पूजा करनी चाहिये । इस विषय में स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—

उस आधार पर अस्त्र मन्त्र से प्रक्षालित शंख की स्थापना करे और उस पात्र में अपने हृदय में से सूर्यमन्त्र के द्वारा सूर्य का आह्वान कर उस पात्र में स्थापित करे ॥

इसी पात्र के चारों तरफ सूर्य की कलाओं का पूजन करे । जैसा कि [1]हमने बताया है—

ककार से ठकार पर्यन्त बारह वर्णों का उच्चारण क्रम से तथा भकार से डकार पर्यन्त बारह वर्णों का उच्चारण व्युत्क्रम (उलटा क्रम) से किया जाता है । इस तरह से दो-दो वर्णों का प्रयोग कर तब कलाओं का उच्चारण करे ॥

इस तरह से ककार आदि और भकार आदि दो-दो वर्णों का उच्चारण करते हुए सूर्य की तपिनी आदि बारह कलाओं का पूजन करे । स्वच्छन्दसंग्रह में इस विषय का वर्णन मिलता है—

---

१. पात्रमभ्यर्च्य पात्रमध्ये-ख. ने. ज. झ. उ. । २. अथ प्र-ख. ज. उ. । ३. क्रमोऽक्रमात्-क. ग., क्रमात् क्रमात्-ने. झ. । ४. च वक्तव्यम्-ख. ने. झ. उ. । ५. युग्म-ख उ. ।

1. अमृतानन्द के मुद्रित ग्रन्थों में यह वचन नहीं मिलता । उनके अप्रकाशित ग्रन्थ तत्त्वविमर्शिनी का यह हो सकता है ।

कादिठान्ताक्षरा देवि मूर्तिनाम्ना समीरिताः ।
तपिनी तापिनी चैव शोधनी शोषणी तथा ॥
भ्रामणी क्लेदिनी चैव वरेण्याकर्षणी तथा ।
सुषुम्ना [1]वृष्टिवाहा च ज्येष्ठा चैव हिरण्यदा ॥
एताः सौरकलाश्चैव व्युत्क्रमाद् [2]भादिडान्तिमाः । इति ।

[3]कभादिकथनाद् यकारादयो दश वह्निकलाः, अकारादयः षोडशः [4]स्वराः सोमकला इति गम्यते । तत्र पात्रे लवङ्गादिभिः सुगन्धिकुसुमैश्च[5] वासितं सलिलमापूर्य तस्मिन्निन्दुमण्डलमभ्यर्च्य । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

एलालवङ्गकङ्कोलान् जातीफलसुसंयुतान् ।
सुगन्धिकुसुमैर्द्रव्यैः[6] सह तस्मिन् जले क्षिपेत् ॥ इति ।
नवयोनिं समालिख्य पूर्ववज्जलमध्यतः ।
विशुद्धितः समावाह्य [7]चन्द्रमण्डलमर्चयेत् ॥

इति (च) ॥१००-१०१॥

हे देवि ! ककार से ठकार पर्यन्त अक्षरों वाली सूर्य की मूर्ति मानी जाती है । तपिनी तापिनी, शोधनी, शोषणी, भ्रामणी, क्लेदिनी, वरेण्या, आकर्षणी, सुषुम्ना, वृष्टिवाहा, ज्येष्ठा और हिरण्यदा—ये बारह सूर्यकलाएँ हैं । इनमें भकार से डकार पर्यन्त वर्णों का भी व्युत्क्रम से विन्यास किया जाता है ॥

कभादि को यहाँ सूर्य की कला बताया गया है । तदनुसार यकार आदि दस वर्ण वह्नि की कलाएं तथा अकार आदि सोलह स्वर सोम की कलाएं हैं, इसकी जानकारी हो जाती है । इस तरह से शंख पात्र में सूर्यमण्डल और उसकी कलाओं के पूजन के बाद उस पात्र में लवङ्ग आदि सुगन्धि द्रव्यों और पुष्पों से सुवासित जल भरे और तब उसमें चन्द्रमण्डल की पूजा करे, जैसा कि स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—

इलायची, लौंग, कक्कोल, जायफल आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ सुगन्धित पुष्पों से सुवासित जल उस पात्र में भरे । [1]पहले नवयोनि चक्र का निर्माण करे और तब जलीय धारणा के सहारे विशुद्धि चक्र से चन्द्रमण्डल का आह्वान कर वहाँ उसकी पूजा करे ॥१००-१०१॥

---

१. तुष्टि-ख. ने. । २. डादिभान्तिमाः-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. कठादि-झ. । ४. कलाः-ने. ज. झ. उ. । ५. मैर्वा वासितममृतसलिल-ख. ने. । ६. दिव्यैर्महत्तस्मिन् जलं किरेत्-ख. ने. झ. उ. । ७. चतुरस्रे सम-ख. ने. छ. ज. झ. उ. ।

1. यहाँ के दोनों श्लोक स्वच्छन्दसंग्रह के ही लगते हैं ।

विधृते तु पुनर्द्रव्ये षोडशेन्दुकला यजेत् ॥१०१॥

तस्मिन् विधृते द्रव्ये[1] द्रवे। द्रवात्मकं द्रव्यं विशेषार्घ्यम्। मद्यं द्रवमयमेव हि। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

अतो हि विशेषार्घ्यस्य साधनं प्रोच्यतेऽधुना।
आधारपात्रयोश्चैव तयोर्वह्न्यर्कपूजनम् ॥
सामान्यार्घ्योक्तमार्गेण [2]कृतपूजितपूज्यके।
पात्रे त्वासवमापूर्य शिरोमन्त्रेण पूर्ववत् ॥ इति।

षोडशेन्दुकलाः[3] क्रमादकारादिषोडशस्वरादिका अमृताद्याः षोडश[4] कलाः, यजेत्[5]। तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

आदिकाद्यन्तगाः[6] सौम्याः कला षोडश कीर्तिताः।
तासां नामानि वक्ष्यामि शृणु सर्वाङ्गसुन्दरि ॥

उस शंख पात्र में भरे गये द्रव्य में चन्द्रमा की सोलह कलाओं का पूजन करे ॥१०१॥

उस शंख पात्र में भरे गये द्रवात्मक द्रव्य में, अर्थात् विशेषार्घ्य में १६ चन्द्रकलाओं का पूजन करे। द्रवमय द्रव्य से यहाँ मद्य का ग्रहण किया जाता है, जैसा कि स्वच्छन्द-संग्रह में कहा गया है—

इसीलिये अब विशेषार्घ्य के साधन की पद्धति बताई जा रही है। आधार में और उस पर रखे शंखपात्र में वह्नि और सूर्य का पूजन सामान्य अर्घ्य की पद्धति से करके तब उस शंख पात्र में आसव भर कर पहले बताई गई पद्धति से शिरोमन्त्र, बीजमन्त्र और चतुर्थ्यन्त पद के साथ नमः पद जोड़ कर इन्दुकलाओं का पूजन करे ॥

चन्द्र की अमृता आदि सोलह कलाएँ क्रमशः अकार आदि सोलह स्वरों से संयुक्त की जाती हैं, जैसा कि स्वच्छन्दसंग्रह में कहा गया है—

अकार से लेकर ककार के आदि में स्थित अःकार में जिनकी समाप्ति हो जाती है, ऐसे सोलह स्वर चन्द्र की जिन सोलह कलाओं से क्रमशः संयुक्त होते हैं, उनके नाम मैं

१. द्रव्ये हव्ये। द्रव्यात्मकं मद्यं विशेषात्मकं मद्यं च। द्रव्यमयत्वमेव हि विशेषार्घ्यस्य–ख. ने. झ. उ.। २. कृत्वा पूजेव सूर्यके–क. ग.। ३. ला यजेदिति–क. ग. ने.। ४. षोडशेन्दुकलाः–झ.। ५. यजेद् ध्यायेत्–उ.। ६. न्तिकाः–क. ख. ग. ने. ज.।

अमृता मानदा [1]पूषा पुष्टिः प्रीतिर्महेश्वरि।
रेवती ह्रीमती चैव[2] श्रीः कान्तिश्च सुधा ततः ॥
ज्योत्स्ना हैमवती चैव छाया सम्पूरिणी[3] तथा।
वामा रामा[4] कलानां च नामान्येतानि वल्लभे ॥ इति ॥१०१॥

अमृतेशीं च तन्मध्ये भावयेच्च नवात्मना।
नवात्मना ततो देवि[5] तर्पयेद्धातुदेवताः ॥१०२॥
[6]आनन्दभैरवं[7] चैव वौषडन्तेन तर्पयेत्।

[8]लकुलीशं समुद्धृत्य भृगुं[9] संवर्तकं तथा।
पिनाकिनं च खड्गीशं भुजङ्गं[10] बालिनं तथा ॥
योजयित्वा क्रमेणैव कार्यकारणमस्तकम्।
अर्घीशं योजयेदन्ते नवात्माऽयं समुद्धृतः ॥

कहूँगा, हे सर्वांगसुन्दरि! तुम सुनो। हे महेश्वरि! हे वल्लभे! अमृता, मानदा, पूषा, पुष्टि, प्रीति, रेवती, ह्रीमती, श्री, कान्ति, सुधा, ज्योत्स्ना, हैमवती, छाया, संपूरिणी, वामा और रामा—ये नाम हैं चन्द्रमा की इन सोलह कलाओं के ॥१०१॥

उस पात्र में नवात्म मन्त्र से अमृतेशी की भावना करे। तब नवात्म मन्त्र से ही हे देवि! डाकिनी आदि धातुदेवताओं को तृप्त करके वौषट् मन्त्र का उच्चारण करते हुए आनन्दभैरव को भी तृप्त करे ॥१०२॥

लकुलीश (हकार) का उद्धार करके भृगु (सकार), संवर्तक (क्षकार), पिनाकी (लकार), खड्गीश (वकार), भुजङ्ग (रकार) और बाली (यकार) का भी उद्धार कर उनको क्रमशः लिख ले। अन्त में बिन्दु और नाद जिसके मस्तक पर हैं, ऐसे अर्घीश (ऊकार) का संयोजन करे। इस प्रकार से [1]नवात्म-मन्त्र का उद्धार किया जाता है ॥

१. पुष्टिस्तुष्टि–ख. ज. झ. उ.। २. देवि–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. रिता–क. ग.। ४. रामा श्यामा–क. ग.। ५. गौरि–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ.। ६. आनन्द-भैरवायेति–ख. झ.। ७. वं वौषडन्तेनैव–क. ग.। ८. अमृतेशीं–ख. ने. ज. झ. उ.। ९. भृगुः संवर्तकस्ततः–ख. ने. ज. उ.। १०. भुजगं यावनं–क. ग.।

1. स्वच्छन्दसंग्रह के प्रस्तुत उद्धरण में आठ ही वर्णों का उद्धार मिलता है। भास्कर-राय ने यहाँ ज्ञानार्णव (१४।१३-१४) के प्रमाण से नवात्म-मन्त्र का उद्धार इस तरह से किया है—शिव हकार, चन्द्र सकार, मातृकान्त क्षकार, काल मकार, शक्र लकार, अम्बु वकार, वह्नि रेफ, वायु यकार और वामकर्ण ऊकार का उद्धार कर उसको बिन्दु-नाद से संयोजित करना चाहिये। स्वच्छन्दसंग्रह के उक्त वचन में मकार का उद्धार नहीं हो पाया है।

इति स्वच्छन्दसंग्रहोद्धृतं नवात्मानम् । तन्मध्ये[1] तेन मन्त्रेण अमृतेशीम्

प्रसृतामृतरश्म्योघसन्तर्पितचराचराम् ।
भवानि ! भवशान्त्यै त्वां भावयाम्यमृतेश्वरीम् ॥ (सौ० हृ० ७)

इत्यभियुक्त[2]वचनोक्तरीत्याऽमृतस्राविणीं भावयेत् । नवात्मना ततो देवि[3] धातुदेवता डाकिन्याद्याः । अत्रैवोक्तम्—

विशुद्धौ हृदये नाभौ स्वाधिष्ठाने च मूलके ।
आज्ञायां धातुनाथाश्च न्यस्तव्या डादिदेवताः ॥ (३।३०) इति ।

नवात्मना पूर्वोक्तेन तर्पयेत् । आनन्दभैरवं चैवेत्येवकारेण नवात्मनैव[4] आनन्दभैरवं तर्पयेदिति । नवात्मानमुच्चार्य "आनन्दभैरवाय वौषट्" इति तर्पयेदित्यर्थः ॥१०२-१०३॥

सामान्यार्घ्यप्रकारं विशेषार्घ्येऽप्यतिदिशति—

तथैवार्घ्यं विशेषेण साधयेत् साधकोत्तमः ॥१०३॥

स्पष्टम्[5] ॥१०३॥

स्वच्छन्दसंग्रह में ऊपर बताई गई पद्धति से नवात्म-मन्त्र का उद्धार बताया गया है । शंख के जल में इस नवात्म-मन्त्र से अमृत की वर्षा करने वाली अमृतेशी की भावना करे । इसकी भावना का प्रकार शिवानन्द मुनि ने अपने सौभाग्यहृदय नामक स्तोत्र में इस तरह से बताया है—

हे भवानि ! अपनी अमृतमयी किरणों से समस्त चराचर जगत् को तृप्त करने वाली अमृतेश्वरी के रूप में मैं तुम्हारी भावना करता हूँ, जिससे कि सारे जगत् में शान्ति का साम्राज्य फैले ।।

डाकिनी आदि धातुदेवताओं का वर्णन पहले (३।३०) किया जा चुका है । वहाँ बताया गया है कि विशुद्धि आदि छः स्थानों में इन छः डाकिनी आदि देवताओं का न्यास करना चाहिये । नवात्म-मन्त्र से ही इनको भी यहाँ तृप्त करे । साथ ही नवात्म-मन्त्र से आनन्द-भैरव को भी तृप्त करे । यहाँ नवात्म-मन्त्र का उच्चारण करने के बाद "आनन्दभैरवाय वौषट्" इस वाक्य का भी उच्चारण करे ।।१०२-१०३।।

सामान्यार्घ्य की विधि से ही विशेषार्घ्य की भी शुद्धि करे, इसी विषय को अब बताया जा रहा है—

साधकप्रवर को चाहिये कि वह इसी विधि से विशेषार्घ्य की भी शुद्धि कर ले ।।१०३।।

इसका अर्थ स्पष्ट है ।।१०३।।

---

१. ध्येऽनेन–ख. झ. उ. । २. युक्तोक्त्या–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. गौरि–ख. ने. ज. उ. । ४. नैवानन्तरम्–उ. । ५. स्पष्टमेतत्–ज. ।

एवमर्घ्यशुद्धिं कृत्वा तदनन्तरं गुरून् पूजयेदित्याह—

गुरुपादालिमापूज्य भैरवाय ददेत् पुनः ।

गुरूणां परमशिवादिस्वगुरुपर्यन्तानाम्, [2]पादालिं [3]पादुकापरम्परां [4]दिव्य-सिद्धमानवौघत्रयवतीम्, आपूज्य स्वशिरस्यर्घ्योदकाक्षतकुसुमैरभ्यर्च्य । शोधितमर्घ्यमाललाटं [5]त्रिरुद्धृत्य महापद्मवनान्तस्थश्रृङ्गाटोदरवासिने गुरुरूपिणे पूर्वोक्त-(१।१)निर्वचनाय [6]भैरवाय, ददेत् निवेदयेत् ॥१०४॥

तत् पुनः—

तदाज्ञाप्रेरितं तच्च गुरुपङ्क्तौ निवेदयेत् ॥१०४॥

तस्य गुरुरूपिणो भैरवस्य, आज्ञा[7]प्रेरितम् अनुज्ञातम्, [8]तच्च द्रव्यं पुनश्च गुरुपङ्क्तौ निवेदयेत् ॥१०४॥

इस तरह से अर्घ्य की शुद्धि के बाद गुरुपंक्ति की आराधना करे, यह विषय अब बताया जा रहा है—

गुरुओं की पादुका-परम्परा का पूजन करने के उपरान्त इस अर्घ्य को भैरव को निवेदित करे ।।

परशिव से लेकर अपने गुरु तक की पादुका-परम्परा की, दिव्य, सिद्ध और मानवौघ क्रम से चली आ रही गुरु-परम्परा की पूजा करने के उपरान्त, अपने ही सिर पर अर्घ्योदक, अक्षत और पुष्प के द्वारा पूजन करके तब उस शोधित अर्घ्य को तीन बार उठाकर महापद्मवन में स्थित त्रिकोण के मध्य में विराजमान गुरुरूपी भैरव के प्रति निवेदित करे । भैरव पद का निर्वचन पहले (१।१) बता दिया गया है ।।१०४।।

इसके बाद—

उस गुरुरूपी भैरव की आज्ञा प्राप्त कर उस अर्घ्य को गुरुपंक्ति के लिये निवेदित करे ।।१०४।।

उस गुरुरूपी भैरव की आज्ञा के मिल जाने पर उस द्रव्य (अर्घ्य) को पुनः गुरुपंक्ति के लिये अर्पित करे ।।१०४।।

---

१. पादावलिं पूज्य–क. उ. । २. पादावलिं–क. उ., बलीं–ख. ने. । ३. 'पादुका' नास्ति–ख. ने. झ. उ. । ४. दिव्यौघसिद्धौघ–क. ग. उ. । ५. त्रिः समु–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. 'भैरवाय' नास्ति–ने. ज. झ. उ. । ७. आज्ञया–ख. ने. झ. उ. । ८. 'तच्च द्रव्यं पुनः' नास्ति–ख. ने. ज. उ. ।

प्रसादग्रहणमाह—

तदीयं शेषमादाय कामाग्नौ विश्वतस्त्विषि ।
पादुकां मूलविद्यां च जपन् होमं समाचरेत् ॥१०५॥

तदीयं शेषं गुरुदेवतयोर्निवेदितं[3] शेषं द्रव्यमादाय तत्त्वचतुष्टयशोधनमन्त्रैः "कामो देवः स[4] काम्यत्वात्" (सौ० सु० ४।३) इत्यस्मदुक्तरीत्या विश्वघस्मर-"कलाजाले कामेश्वराख्ये सर्वप्राणिष्वात्मन्यग्नौ[6] । विश्वतस्त्विषि[7] "विश्वग्रसन-शीलं तद्रूपं तेजोमयं ततः" इत्याज्ञावतारोक्तरीत्या विश्वघस्मरकलाजाले[8] । पादुकां स्वगुरुश्रीपादुकाम्, मूलविद्यां सौभाग्य[9]विद्यां च जपन् । होमं भेदेन्धन-प्रक्षेपलक्षणं समाचरेत् । तदुक्तं श्रीपराक्रमे—

निवेद्य[10] मस्तकस्थाय गुरवेऽर्घ्यं तदाज्ञया ।
कल्पान्तहुतभुक्कल्पचिदग्नौ विश्वघस्मरे ॥
[11]मेयराशिमयं हव्यं वासनात्मोपदंशकम् ।
[12]व्यतिषङ्गेण स जुह्वन् जपेदात्मानमामृशन् ॥ इति ॥१०५॥

इसके बाद स्वयं प्रसाद ग्रहण करे—

गुरु और देवता को अर्पण करने के बाद उनके प्रसाद के रूप में सारे विश्व का ग्रास करने वाली कामाग्नि में गुरुपादुका और मूलविद्या का जप करते हुए आहुति दे ॥१०५॥

गुरु और देवता को अर्पित करने के बाद बचे हुए द्रव्य (अर्घ्य) की चार तत्त्वों का शोधन करने वाले मन्त्रों से शुद्धि कर विश्व का ग्रास करने में समर्थ कलाओं से संपन्न सभी प्राणियों में स्वात्मस्वरूप में विराजमान कामेश्वर रूपी अग्नि में उसकी आहुति दे । इस कामेश्वर का वर्णन हमने सौभाग्यसुधोदय (४।३) में किया है । आज्ञावतार नामक ग्रन्थ में भी विश्व के ग्रास में समर्थ इस तेजोमय स्वरूप का वर्णन मिलता है । चारों तरफ से प्रकाशमान इस कामाग्नि में अपने गुरु की पादुका का और मूलमन्त्र (सौभाग्यविद्या) का जप करते हुए हवन करे, अर्थात् अपनी भेददृष्टि रूपी इन्धन को उस कामाग्नि में डाल कर स्वयं अद्वयतत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाय । श्रीपराक्रम में बताया गया है—

मस्तक में विराजमान गुरु को निवेदित करने के उपरान्त उसकी आज्ञा से विश्व का ग्रास करने में समर्थ कल्पान्त-कालीन अग्नि के समान प्रभास्वर चिदग्नि में मेयराशि के रूप में स्थित इस सारे जगत् को हवि मान कर और अपनी वासनाओं को चबैना

१. शिवाग्नौ–ख. ने. च. छ. ज. झ. । २. स्थुषि–क. ग. । ३. तायाः पीतशेषं–ख. ने. झ. उ. । ४. प्रकाम्यमानत्वात्–मु. । ५. कीलाले–क. ग. । ६. णिस्वा-त्माग्नौ–ख. । ७. स्थुषि–क. ग. । ८. कीलालजाले–क. ग. । ९. ग्मूलवि–ख. ने. ज. झ. उ. । १०. निवेद्यामस्तकं स्वीयगुरोरर्घ्यं–ख. ने. ज. झ. उ. । ११. ज्ञेय–ख. ज. झ. उ. । १२. एतेषां गणशो जुह्वन्–ख. ज. झ. उ. ।

ननु कः कामाग्निः ? स कुत्र[1] वा निवसति ? किं वा हविरित्यत आह—

महाप्रकाशे विश्वस्य संसारवमनोद्यते ।
मरीचिवृत्तीर्जुहुयान्मनसा कुण्डलीमुखे ॥१०६॥

कुण्डलीमुखे, व्यवस्थिते इति शेषः । अत्र श्रुतिः—"तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः" (तै० आ० १०।११।१२) इति । महाप्रकाशे निरिन्धनदीप्ते निर्वाणरहिते प्रमातरि वह्नौ । विश्वस्य संहारवमनोद्यते । विश्वस्य शिवादि-[2] भूम्यन्तस्य, संहारे निजकारणतावन्मात्राऽवस्थितौ, वमने सर्जने चोद्यते । [3]विश्वा-द्यैव शक्तिः । [4]तदुक्तमाज्ञावतारे—"स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि" इति । मनसा सार्धं मरीचिवृत्तीर्जुहुयात् । आन्तरस्य चिदनलस्य[5] मरीचयोऽ-[6]क्षाणि, [7]बहिरर्थेषु तेषां संचारा वृत्तयः । तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—"यत्र[8] यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभोः" (श्लो० ११४) इति । कोऽर्थः ? कुण्डलिन्याः

मानकर उनकी बारी-बारी से आहुति देता हुआ अपने स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जप करे ॥१०५॥

प्रश्न होता है कि यह कामाग्नि क्या है ? वह कहाँ रहती है ? और वह हवि कौन सी है, जिसकी कि आहुति देने की बात है, इन्हीं का अब विवरण देते हैं—

कुण्डलिनी के मुख में व्यवस्थित महाप्रकाशरूपी वह्नि में, जो कि स्वेच्छा से संसार के संहार और सर्जन में लगी हुई है, मन के साथ सभी इन्द्रियों की वृत्तियों की आहुति दे दे ॥१०६॥

यह कामाग्नि कुण्डलिनी के मुंह में विराजमान है । यह तैत्तिरीयारण्यक श्रुति इसमें प्रमाण है—"उस कुण्डलिनी रूप कामाग्नि के मध्य में परमात्मा विराजमान है" । यह कामाग्नि महाप्रकाशमय है, बिना ही इन्धन के निरन्तर बिना बुझे जलती रहती है । यह प्रमातृस्वरूपिणी महाप्रकाशमयी वह्नि शिव से भूमि पर्यन्त समस्त संसार को कारणता मात्र रूप में अपने में छिपा लेती है और फिर वही कार्य के रूप में इसको अपने से बाहर निकाल देती है । यह शक्ति सारे विश्व की जननी है । आज्ञावतार नामक ग्रन्थ में बताया गया है—"अपनी इच्छा से ही यह सारे जगत् को निगलती और उगलती रहती है" । इसमें मन के साथ इन्द्रियों की वृत्तियों की आहुति दे । आन्तर चिदग्नि की किरणें इन्द्रियां हैं । बाह्य अर्थों की तरफ इनका संचार ही वृत्तियां कहलाती हैं । विज्ञानभैरव भट्टारक ने कहा है—"जहाँ जहाँ इन्द्रियों के प्रसार के कारण प्रभु का चैतन्य अभिव्यक्त होता

१. कुत्र निवसन्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. वादेर्भू–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. शिवस्या-वेच्छा–क. ग. । ४. 'तदुक्तमाज्ञावतारे' नास्ति–ख. ज. झ. उ । ५. चित्कलस्य–क. ग. । ६. अक्षनिवहः–ख. ने. झ. उ. । ७. 'बहिः' नास्ति–ख. ने. झ. उ. । ८. संवादिकाः–ख. ने. ज. झ. उ. । ९. तत्र तत्रा–सार्वत्रिको दी० पाठः ।

शिखायां महाशून्ये व्यवस्थिते सर्वप्राणिष्वात्मनि प्रकाशलक्षणे कामाग्नौ "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन" (न्या० भा० १।१।४) इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या बहिरर्थेषु प्रसृतचिन्मरीचिरूपाक्षवृत्तिलक्षणं हविस्तेनैव मार्गेणान्तर्मुखतया मनसा सह[1] जुहुयादित्यर्थः । तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
[2]हूयते मनसा सार्धं स[3] होमश्चेतनास्रुचा ॥ इति ।
(श्लो० १४६)

[4]अयमेवान्तरो होमः । तदुक्तं पद्धतिषु—

धर्माधर्महविर्दीप्ते आत्माग्नौ मनसा स्रुचा ।
सुषुम्नावर्त्मना नित्यमक्षवृत्तीर्जुहोम्यहम् ॥ इति ॥१०६॥

है"[1] । इसका अभिप्राय यह है कि कुण्डलिनी की शिखा में, महाशून्य में विराजमान सभी प्राणियों में स्वात्मस्वरूप महाप्रकाश (कामात्मक) वह्नि में बाह्य विषयों के रूप में प्रसृत समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों की आहुति दे दी जाती है । "आत्मा मन से, मन इन्द्रियों से और इन्द्रियाँ अर्थ से संयुक्त होती हैं" न्यायभाष्य की इस पद्धति से बाह्य विषयों की तरफ आकृष्ट चिन्मरीचिस्वरूप इन्द्रियों की वृत्तियों को ही आहुति माना गया है । यहाँ आहुति का तात्पर्य जिस पद्धति से ये बाहर आईं, उसी पद्धति से इनको अन्तर्मुख बनाकर उनको मन के साथ अपनी आत्मा को समर्पित कर देना है । विज्ञानभैरव भट्टारक का इस विषय में कहना है—

महाशून्य स्थान में विराजमान चित्स्वरूपिणी वह्नि में अपनी चेतना की स्रुचा बनाकर मन के साथ पाँच महाभूतों, बाह्य इन्द्रियों और उनके विषयों की जो आहुति दी जाती है, वही वास्तविक होम है ॥

इसी को आन्तर होम कहा जाता है, जैसा कि [2]पद्धतियों में बताया गया है—

धर्म और अधर्म रूपी आहुति से प्रज्वलित आत्मचिदग्नि में मन रूपी स्रुचा की सहायता से मैं अपने सुषुम्ना मार्ग को खोल कर अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों की नित्य आहुति देता हूँ ॥१०६॥

१. 'सह' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. । २. वातेन-ख. ने. ज. उ. । ३. महामहिमशालिनि-ख. ने. उ. । ४. महामहिमशाली चाय-झ. ।

1. विज्ञानभैरव का पूरा श्लोक और उसकी व्याख्या हमारे भाषानुवाद में देखी जा सकती है ।

2. यह श्लोक अनेक पद्धति-ग्रन्थों तथा तन्त्र-ग्रन्थों में भी मिलता है ।

आन्तरामेव पूर्णाहुतिमाह—

अहन्तेदन्तयोरैक्यमुन्मन्यां[1] स्रुचि कल्पितम् ।
मथनोद्रेकसम्भूतं वस्तुरूपं महाहविः ॥१०७॥
हुत्वा हुत्वा स्वयं चैव[2] सहजानन्दविग्रहः ।

[3]प्रदानैस्तर्पणैः सम्यग्विशुद्धैरमृतात्मभिः ।
[4]महाहन्तीकरोमीदं विश्वं हव्यवपुर्धरम्[5] ॥ (सु० वा० ३९)

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या अहन्तेदन्तयोरैक्यम्, अहन्ता प्रमाता, इदन्ता प्रमेयम्, तयोरैक्यं प्रमाणम्, तत्त्रितयसामरस्यात्मकम्[6] ।

विश्वक्षिप्तपद[7]प्रमेयसुभगां ब्राह्मीं महावाग्भवे[8]
विश्वोत्तीर्णमहा[9]प्रकाशवपुषं शक्तिं च[10] नैसर्गिकीम् ।

अब आन्तर पूर्णाहुति का विवरण देते हैं—

मन्त्ररूपी अरणि के मथन के उद्रेक से उत्पन्न प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की सामरस्य वस्तुरूप महाहवि को उन्मनी नाम की स्रुचा में रखकर उसकी बार-बार आहुति दे और इस तरह से साधक सहजानन्द से परिपूर्ण हो जाय ॥१०७-१०८॥

सुभगोदयवासना में शिवानन्द मुनि ने कहा है—

भलीभाँति शोधित होने से अमृतस्वरूप वस्तुओं के अर्पण और तर्पण से, हवि का स्वरूप धारण करने वाले इस सारे विश्व को मैं अपनी महाहन्ता में विलीन कर दे रहा हूँ ॥

इसके अनुसार अहन्ता का अर्थ प्रमाता, इदन्ता का अर्थ प्रमेय और इनके ऐक्य का नाम प्रमाण होगा । इन तीनों की सामरस्य स्थिति का वर्णन किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने इस तरह से किया है—

महावाग्भव त्रिकोण में सृष्टिकर्त्री ब्राह्मी शक्ति के रूप में इस विश्वरूपी प्रमेय पदवी में प्रविष्ट होने वाली, विश्वोत्तीर्ण अवस्था में महाप्रकाश और उसकी स्वाभाविक विमर्श शक्ति के रूप में प्रमाता पदवी में स्थित रहने वाली, प्रमाण पदवी की तरफ बढ़ने पर

१. मनीस्रु-ख. ने. च. छ. ज. झ. । २. चैव-च. छ. ज. झ. उ. । ३. नैदानैरिति सार्वत्रिको दी० पाठः । ४. मदहन्तां-क. ग., समाहन्तां-ख. ने. ज. झ. उ. । ५. पुरःसरम्-क. ग. । ६. स्वरूपम्-ख. ने. ज. झ. उ. । ७. वर-ज. झ., लसत्-ख., बसत्-ने. ब. उ. । ८. वैभवैः-ख. ब. उ., भूसरैः-ज., भूभवैः-झ. । ९. प्रमातृबपुषः-ख. ने. ज. झ. ब. उ. । १०. तु-ख. ने. ज. झ. ब. उ. ।

प्रामाण्य[1]प्रवणत्रिशक्तिखचिता[2]मध्युष्टचातुर्दशीं
[3]संवित्त्यर्कसमिद्धवस्तुभरितो मथ्नामि [4]मन्त्रारणिम् ॥

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या मन्त्रारणिमथनोद्रेकसम्भूतं तत्त्रितयसमष्टिरूपम्[5]। वस्तुरूपम्, वस्तु [6]द्रव्यम्, तद्रूपम्। तदुक्तं मुख्याम्नायक्रमे—"स्वीकुर्यात् सततं वस्तु यदानन्दसुखं भवेत्" इति। महाहविः। यस्मिन् हुते स्वप्रमेयलक्षणे हविषि प्रमातृलक्षणं ज्योति[7]रनवरतं प्रज्वलति, तन्महाहविः। पूर्णाहुतिहोमे[8] उन्मन्यां स्रुचि कल्पितम्। उन्मनी नाम[9] पूर्वोक्त(१।३४)लक्षणा, सा स्रुगिच्युते, तस्यां स्रुचि, तन्मयेनामृतेनापूर्य पूर्णाहुतिं जुहुयात्। एवंरूपं हविर्हुत्वा।

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे[10] प्रतिष्ठितम्।
तस्याभिव्यञ्जकं द्रव्यं[11] योगिभिस्तेन पीयते ॥

तीन शक्तियों का स्वरूप धारण करने वाली और फिर इन सबकी सामरस्यमयी तुरीया स्थिति में रहने वाली मन्त्ररूपी अरणि को मैं ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से परिपूर्ण हो मथता हूँ ॥

इसके अनुसार मन्त्र रूपी अरणि के मथन की चरम स्थिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की समरस दशा का उन्मीलन होता है। मुख्याम्नायक्रम में इसी के लिये कहा गया है—"साधक उसी वस्तु का ग्रहण करे, जिससे ब्रह्मानन्द सहोदर सुख की उत्पत्ति हो"। इसी को महाहवि कहते हैं। प्रमेय स्वरूप हवि की आहुति दे देने पर प्रमातृ स्वरूप ज्योति ही निरन्तर जलती रहती है, अतः इसी को महाहवि कहा जाता है। यह पूर्णाहुति होम इसी आहुति से सम्पन्न होता है। इस आहुति को उन्मनी रूपी स्रुचा में रखकर दिया जाता है। उन्मनी का स्वरूप पहले (१।३४) बताया जा चुका है। इस उन्मनी रूप स्रुचा में ऊपर बताये गये सामरस्य समुद्भूत अमृत को भर कर पूर्णाहुति दे। इसकी आहुति देने के बाद—

आनन्द ब्रह्म का ही स्वरूप है। यह आनन्द इसी शरीर में छिपा हुआ है। इसका अभिव्यंजक द्रव्य (मद्य) है। इसी लिये योगी इसका पान करते हैं ॥

---

१. प्रणयेन श–क. ने. ज. झ. ब. उ.। २. तां मध्ये तु–क. ग., मध्युष्टचान्तर्दिशो–ज.। ३. संवित्पाकसुसिद्ध–ब. उ.। ४. तन्त्रा–क. ग. झ. उ.। ५. 'रूपम्' नास्ति–ख. ज.। ६. मद्यम्–ख. ने. ज. झ. उ.। ७. निरन्तरं–ख. ने. ज. झ. उ.। ८. होमः–क. ग. ज.। ९. नाम समनोर्ध्वे निरस्तकालकलाक्रियादिका पू–क. ग.। १०. मोक्षे–ख. ने. ज. झ. उ.। ११. मद्यं–ने. ज. उ., हव्यं–ज.।

इति प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या यावदानन्दाविर्भावो भवति [1]तावदिति वीप्सार्थः। स्वयं चैव सहजानन्दविग्रहः। मद्याद्यनुभवेन कृत्रिमानन्दजृम्भणान्महानन्दानुसन्धानात् तन्मयो भवेदिति। तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्।
भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ इति।

(वि० भै०, श्लो ७१)

कोऽर्थः? मन्त्रारणिमथनसंभूतमिदन्ताहन्तासामरस्य[2]मयवस्तुरूपघृतपूर्णाहुतिं बहुशो हुत्वा परिस्फुरत्परमानन्दो भवेदित्यान्तरपूर्णाहुतिः ॥१०७-१०८॥

अत एव—

प्रविष्टेऽन्तः सीधुरसे भेदनिर्हरणात्मके।
स्थैर्यमेति चमत्कारो विना विषयसंगतिम्[3] ॥

किसी [1]प्रामाणिक व्यक्ति के इस वचन के अनुसार जब तक आनन्द की अभिव्यक्ति न हो जाय, तब तक यह पूर्णाहुति बार-बार दी जाती है। ऐसा करने से साधक सहज आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। मद्य आदि के सेवन से कृत्रिम आनन्द अभिव्यक्त होता है। इसमें महानन्द का अनुसन्धान करने पर योगी महानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। विज्ञानभैरव भट्टारक की यह उक्ति इसमें प्रमाण है—

जग्धि और पान के कारण अभिव्यक्त उल्लास, रस और आनन्द की स्थिति से साधक अपनी आत्मा को परिपूर्ण समझे। इससे उसमें ब्रह्मानन्द सहोदर महानन्द अभिव्यक्त हो उठता है ॥

इसका भाव यह है कि मन्त्रारणि का मथन करने से इदन्ता और अहन्ता के सामरस्य स्वरूप जिस द्रव्य की उत्पत्ति होती है, उसी से यह पूर्णाहुति बार-बार दी जाती है। योगी ऐसा करते समय जब परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है, तो समझना चाहिये कि यह आन्तर पूर्णाहुति परिपूर्ण हो गई ॥१०७-१०८॥

इसी लिये—"भेददृष्टि को दूर भगा देने वाले सीधुरस के भीतर प्रवेश करने के साथ ही विषयों का सम्पर्क हुए बिना ही चमत्कार, अर्थात् सहजानन्द स्थिर हो जाता

---

१. 'तावदिति''''भवेदिति' एष पाठः केवलं झ. मातृकायां दृश्यते। २. रस्यरूपं मद्यरूपं घृत–क. ग. ने.। ३. संगमात्–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. यह श्लोक कुलार्णवतन्त्र (५।८०) में भी मिलता है, किन्तु दीपिकाकार इसको भी प्रामाणिक वचन मानते हैं। बौद्ध तान्त्रिक विद्वान् अद्वयवज्र इसके पूर्वार्ध को वेदान्तवादी का वचन कह कर उद्धृत करते हैं। देखिये—अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २९, तत्त्वप्रकाश के टीकाकार कुमार (पृ० ९) भी इसको श्रुतिवचन मानते हैं।

इति क्रमोदयोक्तरीत्या [1]मनसि स्थिरीभूते बाह्यचक्रार्चनं कुर्यादित्याह—

स्व[2]प्रथाप्रसराकारं श्रीचक्रं पूजयेत् सुधीः ॥१०८॥

सुधीः सीधुरसपानेनानन्यविषयासक्तः [3]स्वसंविन्मात्रस्थिरमनाः। मनसि स्थिरे सति धारणा स्थिरा, तस्यां स्थिरायां "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (३।२) इति योगपातञ्जलशास्त्रोक्तरीत्या[4] प्रत्ययैकतानतालक्षणं ध्यानं भवति। विना ध्यानं पूजा निष्फला भवति। अथादावमृतीकृतमासवं शिवादिभ्यो गुरुभ्यो[5] निवेद्य स्वात्माग्नौ हुत्वा प्रज्वलत्परमानन्दस्थिरधीर्भूयादित्यर्थः। [6]स्वप्रथाप्रसराकारः स्वप्रथा स्वसंवित् तस्या बहिरर्थेष्विन्द्रियद्वारा प्रसरो व्यापारः, [7]तदात्मना स्फुरणम्। ततस्तदाकारं श्रीचक्रं पूजयेत्। श्रीचक्रं[8] नाम नान्यत् किञ्चित्, अपि तु स्वसंविद्देवतायाः प्रसररूपाऽन्तःकरणचतुष्टयाव्यक्तमहदहङ्कृतितन्मात्रदशे-

---

है" क्रमोदय के इस वचन के अनुसार मन के स्थिर हो जाने पर बाह्य चक्र की पूजा करे, इस विषय का अब यहाँ वर्णन किया जा रहा है—

विद्वान् साधक मन के स्थिर हो जाने पर अपनी आन्तर संवित् के ही बाह्य आकार वाले श्रीचक्र की पूजा करे ॥१०८॥

सुधी शब्द का अर्थ यहाँ है—सीधु रस के पान से जिसका मन अन्य किसी बाहरी विषय में आसक्त नहीं है, अपने संवित्स्वरूप में जो प्रतिष्ठित हो गया है। मन के स्थिर होने से धारणा स्थिर हो जाती है और धारणा के स्थिर होने पर ध्यान भी स्थिर हो जाता है। पातंजल योगसूत्र में प्रत्यय की एकतानता का नाम ध्यान बताया गया है। बिना ध्यान के पूजा निष्फल होती है। इसी लिये पहले यहाँ अमृतीकृत आसव को शिव (भैरव), गुरु आदि को निवेदित कर अपनी कामाग्नि में भी उसकी आहुति दी जाती है। इससे परमानन्द की अभिव्यक्ति होती है और उसी में साधक का मन स्थिर हो जाता है। स्वप्रथा का अर्थ है अपनी संवित्, उसका इन्द्रिय मार्ग से जब बाहरी अर्थों में प्रसार होता है, व्यापार चलता है, तो विश्वाकार में यह संवित् बदल जाती है। श्रीचक्र इसी का परिणाम है। श्रीचक्र और कुछ नहीं है, किन्तु अपनी संविद् देवता ही बाहर फैलते समय अन्तःकरण-चतुष्टय, अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, तन्मात्रा, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, इनकी वृत्तिय

---

१. मनःस्थैर्यं जायते चेच्चक्रा–ख. ने. ज. उ.। २. स्वप्रधा–क. ग.। ३. स्वयं चिन्मात्र–ख. ने. ज. उ.। ४. 'रीत्या' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. भ्यः शिवाभ्यां च–क. ख. ग.। ६. स्वप्रवा–क. ग.। ७. तत आत्मनः–ख. ने. ज. झ. उ.। ८. 'श्रीचक्रं नाम' नास्ति–ख. ज. झ. उ.।

न्द्रिय[1]तद्वृत्तितद्विषयतत्पुर्यष्टकषोडशविकारधातुप्रपञ्च एव[2] श्रीचक्रात्मना स्फुर[3]त्येतावत् ॥१०८॥

श्रीचक्रपूजामाह "गणेशम्" इत्यादिना "चक्रपूजां विधाय" (३।१६८) इत्यन्तेन—

गणेशं दूतरीं चैव क्षेत्रेशं दूतिकां तथा।
बाह्यद्वारे यजेद् देवि देवीश्च स्वस्तिकादिकाः ॥१०९॥

श्रीचक्रद्वारशाखयोर्गणेशं तच्छक्तिं दूतरीं क्षेत्रेशं बटुकाख्यं तच्छक्तिं दूतिकां च यजेत्। तदुक्तं संकेतपद्धत्याम्—

> द्वैताद्वैतमहामोहशर्वरीक्षपणक्षमः।
> भास्वानिव जयत्येको गणेशो दूतरीयुतः॥
> प्रतिभायाः परोल्लासो निशाकर इवापरः।
> दूतीयुक्तः स जयति बटुकस्ताण्डवान्वितः॥ इति।

बाह्यद्वारे श्रीचक्रद्वारबाह्यप्रदेशे, स्वस्तिकादिका[4] देवीः सरस्वतीश्रीदुर्गाभद्रकाल्यश्चतस्रः। स्वस्तिका आदिर्यासामिति समासः। स्वाहाशुभङ्करीगौरीलोक-

---

इनके विषय, पुर्यष्टक, सोलह विकार पर्यन्त इस समस्त विश्वप्रपंच का स्वरूप धारण कर कर लेती है और इसी का नाम श्रीचक्र है ॥१०८॥

अब यहाँ १०९ से १६८ पर्यन्त श्लोकों में श्रीचक्र की पूजाविधि बताई जा रही है—

हे देवि! श्रीचक्र के बाह्य द्वार पर गणेश, दूतरी, क्षेत्रेश तथा दूतिका और स्वस्तिका आदि देवियों की पूजा करे ॥१०९॥

श्रीचक्र के द्वार की दोनों तरफ गणेश और उसकी शक्ति दूतरी की तथा क्षेत्रेश (बटुक) और उसकी शक्ति दूतिका की पूजा करे। संकेतपद्धति में बताया गया है—

द्वैत और अद्वैत की महामोह रूपी रात्रि के घने अन्धकार का, अज्ञान का नाश करने में एकमात्र गणेश ही अपनी शक्ति दूतरी के साथ सूर्य के समान समर्थ हैं। उनकी जय हो। प्रतिभा का जहाँ परम उत्कर्ष हुआ है, चन्द्रमा के समान जो आलोक से परिपूर्ण हैं, ताण्डव नृत्य में रत, अपनी शक्ति दूती के साथ विराजमान बटुकभैरव की जय हो॥

श्रीचक्र के द्वार के बाहर स्वस्तिका, सरस्वती, श्री, दुर्गा और भद्रकाली तथा स्वाहा, शुभङ्करी, गौरी, लोकधात्री और वागीश्वरी इन पाँच पाँच देवियों की भगवती

---

१. 'तद्वृत्ति' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। २. 'एव' नास्ति–ख. ज. उ.। ३. रतीत्येव–ख. ज. उ., रतीति–झ.। ४. काद्या देव्यः–ख. ने. ज. झ. उ.।

धात्रीवागीश्वर्यंश्च पञ्च। एतास्ताश्च देवीर्गायिका यजेत्। तत्प्रसिद्धं पद्धतिषु ॥१०९॥

ततश्चान्तस्त्रिकोणेऽपि गुरुपङ्क्तिं त्रिधा स्थिताम् ।

ततस्तस्य श्रीचक्रस्य अन्तस्त्रिकोणे त्रिधा स्थितां दिव्यसिद्धमानवौघत्रयवर्तीं गुरुपङ्क्तिं शिवादिस्वगुरुपर्यन्तानां गुरूणां पङ्क्तिः परम्परा ताम्। अपिशब्दाद् यजेदित्यनुषङ्गः । गुरुपरम्परा गुरुमुखादेव ज्ञातव्या, न लोकतः । न च पुस्तके[1] लिखिता, अत्यन्तरहस्यत्वात् ॥

तदन्तश्च महादेवीं तामावाह्य यजेत् पुनः ॥११०॥
महापद्मवनान्तस्थां कारणानन्दविग्रहाम् ।
मदङ्कोपाश्रयां[2] देवीमिच्छाकामफलप्रदाम् ॥१११॥
भवतीं

तदन्तः श्रीचक्रस्य [3]मध्ये बैन्दवाख्ये चक्रे । तां महापद्मवनान्तस्थाम् "महापद्मवनान्तस्थे वाग्भवे गुरुपादुकाम्" (३।५) इत्यत्रोपपादितरूपाम्[4] । अकुलाधोमुखसहस्रदलं कमलं महापद्मवनम् । मदङ्कोपाश्रयाम् अनाश्रितस्य[1] स्वप्रकाशात्मनो ममाऽङ्कस्थाम् । कारणानन्दविग्रहाम् । कारणं नाम[2] हेतुद्रव्यम् । अत्रैव वक्ष्यति—"क्षेत्राणां पतये मह्यं बलिं कुर्वीत हेतुना" (३।१९९) इति । द्रव्यपानेन तेन य आनन्दः, स एव विग्रह आकारो यस्यास्ताम् । कोऽर्थः ? शोधितामृतीभूतद्रव्यपानपरिस्फुरत्परमानन्दमात्रशरीरामित्यर्थः । भवतीम् अनाश्रितां [मम[3] देवीं विमर्शात्मिकाम् । इच्छाकामफलप्रदाम् इच्छया यत् काम्यते फल[4] तस्य सर्वस्य दात्रीम् ।

महापद्मवनान्तस्थे कारणानन्दविग्रहे ।
सर्वभूतहिते मातरेह्येहि परमेश्वरि ॥

इति मन्त्रेण आवाह्य यजेत् ।

ननु महापद्मवनान्तस्थामित्यनेनैवानाश्रितो देवोऽनाश्रिता देवी चाऽत्र चक्रे समावाह्य कामेश्वरीकामेश्वररूपेण पूज्याविति कथमवसीयत इति चेदुच्यते—महापद्मवनान्तस्थः सकलागमशास्त्राणां वक्ता देवोऽप्यनाश्रित एव, तच्छक्तिरनाश्रिताऽत एव । अन्यथा महापद्मवनान्तस्थां मदङ्कोपाश्रयां भवतीमिति वचनं

त्रिपुरसुन्दरी की गायिकाओं के रूप में पूजा करे । यह सारा विषय पद्धति-ग्रन्थों में प्रसिद्ध है ।।१०९।।

तब श्रीचक्र के मध्यत्रिकोण में त्रिधा स्थित गुरुपंक्ति की पूजा करे ।।

इसके बाद श्रीचक्र के अन्दर बीच में विद्यमान त्रिकोण में दिव्य, सिद्ध और मानवौघ के क्रम से तीन भागों में विभक्त गुरुपंक्ति की, शिव से लेकर अपने गुरु तक चली आई गुरुपरम्परा की भी पूजा करे । त्रिधा विभक्त इस गुरुपरम्परा का ज्ञान अपने गुरु के मुँह से ही प्राप्त करना चाहिये । लौकिक परम्परा से इसका ज्ञान नहीं हो सकता । यह परम्परा अत्यन्त गोपनीय होने से [1]पुस्तक में भी नहीं लिखी जाती ।।

उस त्रिकोण रूपी महापद्मवन में विराजमान, कारणानन्द शरीरवाली इच्छानुसार सभी कामनाओं को पूरा करने वाली, मेरे अंक में विराजमान महादेवी त्रिपुरसुन्दरी का आवाहन कर पूजन करे ।।११०-११२।।

'महापद्मवनान्तस्थ' पद की व्याख्या पहले (३।५) की जा चुकी है । तदनुसार श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोणान्तर्गत बैन्दव चक्र में विद्यमान अकुल नाम का अधोमुख सहस्रदल कमल महापद्मवन कहलाता है । यह देवी उसमें विराजमान है । यह देवी अनाश्रित स्वप्रकाशमय शिवस्वरूप की, अर्थात् मेरी, गोद में बैठी हुई है । कारण हेतु-द्रव्य को कहते हैं । यहीं आगे (३।१९९) क्षेत्रपाल को बलि देने के प्रसंग में इस अर्थ में हेतु शब्द का प्रयोग हुआ है । कारण द्रव्य के पान से जो आनन्द उच्छलित होता है, वही उस शक्ति का स्वरूप है । इसका अभिप्राय यह है कि शोधन के कारण अमृतस्वरूप हुए द्रव्य के पान से उच्छलित आनन्द मात्र ही उस देवी का शरीर है । वह देवी दूसरी कोई नहीं है, स्वयं इस शास्त्र का श्रवण करने वाली तुम ही हो । अनाश्रित स्वरूप मेरी विमर्शात्मिका अनाश्रिता शक्ति तुम ही हो । साधक अपनी इच्छानुसार जिस फल की कामना करता है, वह भगवती उसे सब कुछ देती है । उसका 'महापद्म' इत्यादि मन्त्र से आवाहन कर पूजन करे । इस मन्त्र का अर्थ है—

महापद्मवन में स्थित, करणानन्द स्वरूपिणी, सब प्राणियों का कल्याण करने वाली हे परमेश्वरि माता ! आओ आओ ।।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'महापद्मवनान्तस्थाम्' इस पद से अनाश्रित देव और अनाश्रिता देवी का यहाँ आवाहन कर कामेश्वर और कामेश्वरी के रूप में पूजन किया जाता है, इसका निर्णय कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि महापद्मवन में बैठकर समस्त शास्त्रों का उपदेश करने वाले भगवान् अनाश्रित ही हैं । इसीलिये उनकी शक्ति अना-

---

१. केषु-झ. । २. श्रितां-क. ग. । ३. श्रीचक्रमध्यबैन्द-ख. ने. ज. झ. उ. । ४. रूपकुलाधोमुखसहस्रदलकमलमहापद्मवनमध्यस्थाम्-ख. ने. ज. झ उ. ।

1. हादि और कादि विद्या की दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरुपरम्परा ऋजुविमर्शिनी (पृ० २१८-२२४), अर्थरत्नावली (पृ० २१८-२२५), ज्ञानदीपविमर्शिनी (दीक्षा प्रकरण) और सौभाग्यसुधोदय (पृ० ३१८-३२०) में देखी जा सकती है ।

१. तस्येश्वरस्य-ख. ने. ज. उ. । २. 'नाम' नास्ति-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'मम' नास्ति-झ., 'मम''''सर्वावयवभूषणः' नास्ति-ख. ने. ज. उ. । ४. तत्फलं-क. ग., फलं स्वसेवकेन-झ. ।

कथं घटते ? सदाशिवादीनां तु यद्यप्यागमशास्त्रवक्तृत्वमस्ति, तथापि महापद्मवनान्तस्थत्वं नास्ति । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

अनाश्रितस्य मध्यस्थं व्योमपद्मं सुविस्तरम् ।
असंख्ययोजनायामं तत्र सिंहासनस्थितः[1] ॥
सूर्यकोट्यर्बुदप्रख्यः शशाङ्ककृतशेखरः ।
पञ्चवक्त्रो दशभुजस्त्रिपञ्चनयनः प्रभुः ॥
सर्वावयवसम्पूर्णो ब्रह्ममूर्तिः[2] सनातनः ।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च सर्वानुग्रहणे रतः ॥
सर्वरत्नसमाकीर्णः सर्वा[3]वयवभूषणः ।]
अनाश्रितकला देवो [4]तस्योत्सङ्गे सदा स्थिता ॥
पञ्चवक्त्रा त्रिनेत्रा च दशबाह्विन्दुशेखरा ।
व्यापिन्यादिचतुष्कं च तादृशं परिकीर्तितम् ॥
पूर्वा[5]द्युत्तरपर्यन्तं [6]दिग्गतैः सेवकैः शिवः ।
रुद्रकोट्यर्बुदानीकैः [7]स्वसारूप्यैःस्वशक्तिभिः ॥

श्रिता कहलाती है । अन्यथा 'महापद्मवनान्तस्था मदङ्कोपाश्रया भवती' इन विशेषणों की संगति नहीं बैठेगी । सदाशिव आदि को भी यद्यपि शास्त्र का प्रवक्ता माना गया है, तथापि इनका निवास महापद्मवन में नहीं है । स्वच्छन्दसंग्रह में इस विषय का विशद वर्णन किया गया है—

अनाश्रित लोक के बीच में असंख्य योजन विस्तार वाला विशाल व्योमपद्म है । वहाँ सिंहासन पर विराजमान, अरबों-करोड़ों सूर्यों के समान कान्ति वाले, शशांकशेखर, पाँच मुंह, दस भुजा और पन्द्रह नेत्रों वाले भगवान् अनाश्रित शिव विराजमान हैं । यह देव सभी अवयवों से परिपूर्ण सनातन ब्रह्म हैं, सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं, सदा सब पर अनुग्रह करते रहते हैं । इनका शरीर नाना प्रकार के रत्नों और आभूषणों से सुशोभित है । इनकी गोद मे सदा अनाश्रित कला विराजमान रहती है। यह भी पाँच मुख, तीन नेत्र और दस बाहु वाली है । इनके भी ललाट में चन्द्रमा शोभित है। ऐसे ही स्वरूप वाली व्यापिनी[1] आदि चार शक्तियाँ पूर्व आदि दिशाओं में विद्यमान हैं। इन्हीं दिशाओं में विद्यमान समान रूपवाले लोकनाथों, सेवकों, करोड़ों-अरबों की संख्या वाली सेनाओं और

१. इतः परम्-'अनाश्रितस्येश्वरस्य मध्यस्थः परमेश्वरः' इत्यधिकः पाठः-झ. । २. बृहन्मूर्तिः-झ. । ३. भरणभूषितः-झ. । ४. तदुत्सङ्गे-ख. ने. ज. उ. । ५. दुत्तर-क. ग. । ६. नियोता सेविका शिवा-ख. ने. ज. उ. । ७. स्वस्वरूपस्व-झ. ।

1. पहले (पृ० ४७-४८) व्यापिनी को मध्य मे तथा सूक्ष्मा आदि चार शक्तियों की चार दिशाओं में स्थिति बताई गई है । व्यापिनी के साथ उन्हीं चार शक्तियों का उल्लेख यहाँ भी किया गया है ।

सेवितो[1] लोकनाथैस्तैः[2] सृष्ट्यादीनि करोति सः[3] ।
अनाश्रितोऽयं भगवान् पञ्चवक्त्रस्त्रिदृक् तथा ॥
दशबाहुश्चतुर्बाहुर्द्विबाहुश्चैकवक्त्रकः[4] ।
[5]कौलागमादिवक्ताऽसौ देवदेवः सदाशिवः ॥
परापरविभागेन प्रोवाचासंख्यमागमम् । इति ।

उत्तरपदेऽप्युक्तम्—

व्योमाम्बुजे सहस्रारे सितकेसरसंकुले ।
तत्रासीनं महादेवमपृच्छत् कुलनायिका ॥ (१।१)

इति ॥११०-११२॥

त्वन्मयैरेव नैवेद्यादिभिरर्चयेत् ।

भवतीम् इत्यत्राप्यन्वेति । भवतीं स्वसंविल्लक्षणाम् । त्वन्मयैरेव

पञ्चभूतमयं विश्वं तन्मयी सा सदाऽनघे ।
तन्मयी मूलविद्या च तत्तथा कथयामि ते ॥ (२।२८)

अपनी शक्तियों से सेवित यह अनाश्रित भगवान् शिव सृष्टि आदि कार्यों को सम्पन्न करते हैं । इनके पाँच मुँह, तीन नेत्र हैं । यह स्वरूप दस हाथ वाला, चार हाथ वाला, दो हाथ वाला और एक मुँह वाला भी है । यही देवदेव सदाशिव का स्वरूप धारण कर कौल आदि आगमों के तथा पर और अपर विभाग वाले अन्य असंख्य आगमों के प्रवक्ता हैं ॥

[1]उत्तरपद में भी कहा गया है—

श्वेत केसर से संकुल सहस्रार व्योमाम्बुज (अकुल पद्म) में विराजमान महादेव से कुलनायिका भगवती ने पूछा ॥११०-११२॥

यह पूजा संविच्छक्तिस्वरूपिणी आप भगवती के विस्फार से निष्पन्न नैवेद्य आदि से की जानी चाहिये ॥

ऊपर के सन्दर्भ में आया 'भवतीम्' शब्द भी यहाँ गृहीत होता है । स्वसंवित्स्वरूपिणी आप भगवती की पूजा आपकी इच्छा से निर्मित नैवेद्य आदि से की जानी चाहिये । पहले (२।२८) बताया गया है—

१. सेविता-ख. ने. ज. उ. । २. पालैश्च-झ. । ३. सा-ख. ज. झ. । ४. बाहुकः-क. विहाय सार्वत्रिकः पाठः । ५. लोका-क. ग. ।

1. यहाँ उत्तरपद के नाम से उद्धृत वचन उत्तरषट्क नामक ग्रन्थ का प्रथम श्लोक है । शिवानन्द और विद्यानन्द (पृ० १०,७०, २३१, २७०) ने उत्तरषट्क के नाम से ही इस ग्रन्थ को उद्धृत किया है । लघुस्तव के जैन टीकाकार सोमतिलक सूरि भी इस ग्रन्थ को इसी नाम से स्मरण करते हैं । मद्रास और त्रिवेन्द्रम् में कुलदीपिका टीका के साथ इसके हस्तलेख उपलब्ध हैं । त्रिपुरा सम्प्रदाय का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

इति पूर्वोक्तरीत्या [1]पञ्चभूतानि भवदिच्छाविजृम्भितानि त्वद्रूपाणि,

[2]पञ्चरूपिणमात्मानं दिव्यैः पञ्चोपचारकैः ।
[3]अर्पयेत् सह गन्धेन पृथिवीं कुसुमेन खम् ॥
धूपेन वायुं दीपेन तेजोऽन्नेन रसं पुनः ।

इति प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या [4]तैरेव नैवेद्यादिभिरर्चयेत्। नैवेद्यादिभिरित्यादिपदेन गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यानि गृह्यन्ते। सुगन्धवत्पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिर्गन्धसमर्पणम्। [5]सुशब्दवत्पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिः पुष्पसमर्पणम्। [6]सुस्पर्शवत्पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिर्धूपसमर्पणम्। सुरूपवत्पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्ति-

---

यह विश्व पंचभूतमय है। हे अनघे! यह परा देवता भी पंचभूतमयी है और यह मूलविद्या परादेवता और पंचभूत दोनों का बोध जिस तरह से कराती है, अब मैं उसका वर्णन कर रहा हूँ॥

इस तरह पंचभूत की उत्पत्ति भगवती की इच्छा से ही होती है, अतः ये सब भगवती के स्वरूप हैं। किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने कहा है—

पंचमहाभूत से उत्पन्न इस देह में विराजमान स्वात्मस्वरूप को दिव्य पंचोपचार से पूजा करे। गन्ध के साथ पृथिवी को, पुष्प के साथ आकाश को, धूप के साथ वायु को, दीप के साथ तेज को और अन्न (नैवेद्य) के साथ रस को समर्पित किया जाता है॥

इसके अनुसार भगवतीस्वरूप इन पाँच महाभूतों को ही यहाँ नैवेद्य आदि के रूप में समर्पित करे। आदि पद से नैवेद्य के साथ गन्ध, पुष्प धूप, दीप का ग्रहण होता है। सुगन्धित पदार्थों का अनुभव करके उनको अपने भीतर के प्रमाता को समर्पित कर देना गन्धसमर्पण है। सुन्दर शब्द से परिपूर्ण गान आदि का अनुभव कर उसको अपने भीतर के प्रमाता को समर्पित कर देना पुष्पसमर्पण है। सुन्दर सुकोमल स्पर्श से परिपूर्ण पदार्थों का अनुभव कर उसको अपने भीतर के प्रमाता को समर्पित कर देना धूपसमर्पण है। सुन्दर स्वरूप वाले पदार्थों का अनुभव कर उनको अपने भीतर के प्रमाता को समर्पित कर देना दीपसमर्पण है। स्वादु रस से परिपूर्ण पदार्थों का अनुभव कर उनको अपने भीतर के प्रमाता को समर्पित कर देना नैवेद्यसमर्पण है। इसका अभिप्राय यह है कि जो इन्द्रियाँ प्रायः पराङ्मुख (बाहर की तरफ) दौड़ती हैं, उनको प्रत्यङ्मुख (भीतर

---

१. 'पञ्च''''त्वद्रूपाणि' इत्यस्य स्थाने 'पञ्चोपचारैरर्चयेत्' इति पाठः–ख. ने. ज. उ.। २. नास्त्येषा पङ्क्तिः–ख. ने. ज. उ.। ३. अर्च–ने. ज. झ.। ४. 'तैरेव''''गृह्यन्ते' इत्यस्य स्थाने 'नैवेद्ययागं चरेत्। कोऽर्थः' इति पाठः–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. तन्त्र्यात्मशब्दानु–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. 'सु' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

दीपसमर्पणम्। स्वादु[1]रसवत्पदार्थानुभवेन प्रत्यङ्मुखतया प्रमातरि विश्रान्तिर्नैवेद्यसमर्पणमित्यर्थः। तदुक्तं मुख्याम्नायरहस्ये—

इन्द्रियद्वार[2]संग्राह्यैर्गन्धाद्यैः स्वात्मदेवता।
[3]स्वभावेन समाराध्या ज्ञातुः सोऽयं महामखः॥ इति।

बहिरपि गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यानि [4]पृथिव्याकाशवायुतेजःसलिलभावनया देव्यै समर्पयेदि[5]त्युपचारोपनिषत्॥११२॥

त्रिकोणे तत्स्फुरत्तायाः प्रतिबिम्बाकृतीः पुनः ॥११२॥
तत्तत्तिथिमयीर्नित्याः काम्यकर्मानुरूपिणीः[6] ।

त्रिकोणे श्रीचक्रस्य त्रिकोणे[7] रेखात्रये, तत्स्फुरत्तायाः प्रतिबिम्बाकृतीः, "गुणाः पञ्चदश प्रोक्ता भूतानां तन्मयी शिवा" (२।३०) इत्यत्रैव पूर्वोक्तरीत्या भूतगुणात्मिकायाः पञ्चदशाक्षरशरीरिण्याः[8] श्रीविद्यायास्तत्र[9] स्फुरणात् पञ्चदशप्रतिबिम्बरूपाः, तत्तत्तिथिमयीः तत्संख्याकप्रतिपदादितिथ्यात्मिकाः, काम्य-

---

की तरफ) बना देना ही आन्तर पंचोपचार पूजा है। मुख्याम्नायरहस्य[1] नामक ग्रन्थ में बताया गया है—

इन्द्रियों के द्वारा जिनका संग्रह किया जाता है, उन गन्ध आदि से स्वात्मदेवता की स्वाभाविक पूजा करनी चाहिये। यही योगी साधक का महान् यज्ञ है॥

बाह्य पूजा में भी गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का देवी को समर्पण पृथिवी, आकाश, वायु, तेज और जल की भावना के साथ ही करना चाहिये। पंचोपचार पूजा का यही रहस्य है॥११२॥

त्रिकोण में श्रीविद्या के पन्द्रह अक्षरों की प्रतिबिम्ब-स्वरूपिणी पन्द्रह तिथिनित्याओं का पूजन कामना के अनुसार करे॥११२-११३॥

श्रीचक्र के मध्यत्रिकोण को तीन रेखाओं में पन्द्रह तिथिनित्याओं का पूजन करे। पहले (२।३०) बताया गया है—"पाँच भूतों के पन्द्रह गुण होते हैं। अतः पंचभूतमयी यह विद्या भी पन्द्रह अक्षरों वाली है"। तदनुसार भूतगुणात्मिका पंचदशाक्षरी विद्या इस त्रिकोण में प्रतिबिम्बित होकर पन्द्रह तिथिनित्याओं का स्वरूप धारण कर लेती है।

---

१. स्वादूपदंशवत्–ख. ने. ज. झ. उ.। २. ग्राम–क. ख. ग.। ३. स्वाभेदेन–क. ग.। ४. पृथिवीवाय्वाकाशतेजः–ख. ने. ज. झ.। ५. दित्युपनि–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. सारिणीः–क. ख. ग. ने.। ७. णरे–झ. उ.। ८. शालिन्याः–ख. ने. ज. झ. उ.। ९. 'तत्र' नास्ति–ख. ने. ज. उ.।

1. पृ० २३० की टिप्पणी देखिये।

कर्मानुरूपिणो:[1] "नवचक्रक्रमो[2] योऽसौ महावश्यादिसिद्धिदः" इति संकेतपद्धत्युक्तरीत्या बाह्यचक्रार्चनं काम्यं कर्म, तदनुरूपकरचरणादिमद्रूपधारिणी:[3]। उत्पत्तिविनाशरहितत्वान्नित्याः,

ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी ।
नित्यक्लिन्नाऽपि[4] च तथा भेरुण्डा वह्निवासिनी ॥
महाविद्येश्वरी दूती त्वरिता कुलसुन्दरी ।
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ॥
ज्वालामालिनी[5] चित्रा चेत्येवं नित्यास्तु षोडश । (१।२६-२८)

इति चतुःशतीशास्त्रोक्ताः । पुनः शब्दादर्चयेदित्यनुषङ्गः ॥११२-११३॥

तत्र प्रकटयोगिन्यश्चक्रे त्रैलोक्यमोहने ॥११३॥

तत्र श्रीचक्रे । त्रैलोक्यमोहने चक्रे पूर्वोक्त(१।८२)निर्वचने चतुरस्रत्रय-

---

इसका भाव यह है कि इस त्रिकोण में श्रीविद्या के पन्द्रह अक्षर प्रतिबिम्बित होते हैं और वे ही प्रतिपत् आदि पन्द्रह तिथिनित्याओं का स्वरूप धारण कर लेते हैं । इनकी पूजा विभिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये की जाती है । संकेतपद्धति में बताया गया है— "यह जो नवचक्र का क्रम बताया गया है, वह महावश्य आदि सिद्धियों का देने वाला है" । बाह्य चक्र की पूजा एक प्रकार का काम्य कर्म है । यह भगवती उस काम्य कर्म की सिद्धि के लिये तदनुरूप कर-चरण आदि से संयुक्त स्वरूप धारण कर लेती है । ये सब स्वरूप 'नित्या' के नाम से इस लिये कहे जाते हैं कि ये सब उत्पत्ति और विनाश से रहित हैं । चतुःशती शास्त्र में इन पन्द्रह नित्याओं के नाम गिनाये गये हैं—

कामेश्वरी नित्या, भगमालिनी नित्या, नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महाविद्येश्वरी, दूती, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नित्या, नीलपताका, विजया, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनी और चित्रा । महात्रिपुरसुन्दरी को मिलाने से इनकी संख्या सोलह होती है ॥

श्लोक में पुनः शब्द आया है । इससे 'अर्चयेत्' क्रिया का अध्याहार किया जाता है । इसका अभिप्राय यह होगा कि त्रिकोण में पन्द्रह तिथिनित्याओं का पूजन अपनी कामना की पूर्ति के लिये करे ॥११२-११३॥

उस श्रीचक्र में स्थित त्रैलोक्यमोहन नामक चक्र में प्रकट योगिनियों का पूजन करे ॥११३॥

उस श्रीचक्र में स्थित त्रैलोक्यमोहन चक्र में, जिसका कि निर्वचन पहले (१।८२) बताया जा चुका है, तीन चतुरस्र के लेखन से सम्पन्न होने वाले उस चक्र में प्रकट

१. सारिणीः-क. ख. ग. ने. । २. मयो-ख. झ. । ३. धारिण्यः-ख. ने. ज. झ. उ. । ४. भिधा नित्या-मु. । ५. लिनिका चित्रेत्येवं-ख. ने. ज. झ. उ. ।

लक्षणे । प्रकटयोगिन्यः, यष्टव्या इत्युत्तरत्र[1] (१।११६) स्थितेनान्वयः ॥११३॥

प्रकटशब्दनिर्वचनमाह—

मातृकास्थूलरूपत्वात् त्वगादिव्यापकत्वतः ।
योगिन्यः प्रकटा ज्ञेयाः स्थूलविश्वप्रधात्मनि ॥११४॥

मातृकाः[2] परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः, तासु स्थूलमकारादिक्षकारान्तं पञ्चाशद्वर्णमयं वैखरीरूपम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—"स्थूलं पञ्चाशदाकारम्"[4] इति । तद्रूपत्वात् मातृका[5]स्थूलरूपवैखरीवर्णवर्गाष्टकमयत्वात् सिद्धीनां ब्राह्म्यादीनां च । तदुक्तं चतुःशत्याम्–

वर्गानुक्रमयोगेन [1]यस्यां मात्रष्टकं स्थितम् ।
वन्दे तामष्टवर्गोत्थमहासिद्धयष्टकेश्वरीम् ॥ (१।११) इति ।

योगिनियों का पूजन करना चाहिये । ११६ वे श्लोक में स्थित 'यष्टव्याः' पद का यहाँ भी अन्वय किया जाता है ॥११३॥

प्रकट शब्द का निर्वचन बताते हैं—

मातृका का स्थूल स्वरूप इनका आधार है, त्वक् आदि धातुओं में ये व्याप्त हैं, अतः स्थूल विश्व को धारण करने वाले भगत्रयात्मक चक्र में स्थित ये योगिनियाँ प्रकट कहलाती हैं ॥११४॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार मातृकाएँ हैं । इनमें अकार से क्षकार पर्यन्त पचास वर्णों वाला वैखरी वाणी का आधार स्थूल माना जाता है । स्वच्छन्दसंग्रह में स्पष्ट बताया गया है—"पचास अक्षरों वाला यह आकार स्थूल है" । मातृका का यह स्थूल स्वरूप वैखरी वाणी के आठ वर्गों में विभक्त है और ब्राह्मी आदि सिद्धियाँ इन्हीं स्थूल वर्णों की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं, अतः ये प्रकट योगिनियाँ कही जाती हैं । [1]चतुःशती शास्त्र में कहा गया है—

पूर्णाहन्ता स्वरूपिणी जिस देवी में वर्ग के क्रम से आठ ब्राह्मी प्रभृति मातृकाएँ स्थित हैं, आठ मातृका-वर्णों से उत्पन्न होने वाला आठ सिद्धियों की स्वामिनी उस महासिद्धिस्वरूपा भगवती की मैं वन्दना करता हूँ ॥

---

१. त्तरस्थि-ख. ने. ज. झ. उ. । २. प्रथा-ख. ने. ज. झ. उ. । ३. कायाः.... यात्मिकायाः स्थूल-ख. ने. ज. झ. उ. । ४. दक्षरम्-क. ग. । ५. 'स्थूलरूप' नास्ति-ख. ने. ज. उ. । ६. महासिद्धयष्टकं-क. ग. ।

1. पृ० ९४ की टिप्पणी देखिये ।

त्वगादिव्यापकत्वत: त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रौजस [1]आदिशब्देन गृह्यन्ते। तद्व्यापकत्वात् त्वगाधारभ्रूमध्य-रक्तनितम्ब-मांसनाभि-मेदोहृदय-अस्थिकण्ठ-मज्जास्य-शुक्रनासापुट-(क्रोध ? ओजो)ललाटचक्रेषु स्थितत्वाद् ब्राह्म्यादीनाम्। स्थूलविश्व[2]प्रधात्मनि (इति) स्थूलत्वकथनम्[3]। अत एव विश्वं प्रकर्षेण धत्त इति विश्वप्रधा[4] विश्वम्भरा, तदात्मनि भूगृह[5]त्रयात्मके त्रैलोक्यमोहने चक्रे स्थितत्वात्। मातृकास्थूलरूपत्वाद् [6]वैखर्यवयवत्वाच्च त्वगादि-

ये योगिनियाँ त्वक् आदि [1]आठ स्थूल धातुओं की भी स्वामिनियाँ हैं। आदि शब्द से असृग् (रक्त), मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र और ओज का ग्रहण किया जाता है। त्वचा के आधार भ्रूमध्य में, रक्त के आधार नितम्ब में, मांस के आधार नाभि में, मेदा के आधार हृदय में, अस्थि के आधार कण्ठ में, मज्जा के आधार आस्य (मुँह) में, शुक्र के आधार नासापुट में और क्रोध (ओज) के आधार ललाट चक्र में क्रमशः ब्राह्मी आदि योगिनियाँ स्थित हैं। इस कारण से भी ये योगिनियाँ प्रकट कही जाती हैं। स्थूल विश्व का प्रथन करने वाली इन योगिनियों को स्थूल मानना इसलिये भी उचित है कि ये देवियाँ स्थूल विश्व को भलीभाँति [2]धारण करने वाली विश्वम्भरा(पृथिवी)स्वरूप भूगृहत्रयात्मक त्रैलोक्यमोहन चक्र में स्थित हैं। इस तरह से मातृकाओं की स्थूलरूपता के कारण, वैखरी मातृका के स्थूल अवयवों के कारण, त्वग् आदि धातुओं के स्थूलशरीर की अवयवता को लेकर इन सबमें व्यापक रूप से रहने के कारण और त्रैलोक्यमोहन

१. आदिना गृ–ख. ने. ज. झ. उ.। २. प्रथा–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. नात्–क. ग. ब.। ४. प्रथा–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. हात्मके–ख. ने. ज. उ.। ६. 'वैखर्यवयवत्वाच्च' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. यहाँ आठ धातुओं की चर्चा है और इनका संबन्ध आठ वर्गों की अधिष्ठात्री ब्राह्मी आदि आठ देवियों से बताया गया है, जो अणिमा आदि आठ सिद्धियों की अधिष्ठात्री हैं। अष्टम धातु के रूप में यहाँ क्रोध (ओज) की चर्चा है। सात्त्विक क्रोध को ही ओज कहा जा सकता है। तेजस्वी पुरुष का ओज कभी कभी क्रोध के रूप में भी प्रकट होता देखा गया है। प्रसंगवश यह अवधेय है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रथम धातु के रूप में रस वर्णित है, त्वक् नहीं। पहले (२।६०-६१) छः धातुओं की जो चर्चा आई है, उनका संबन्ध छः डाकिनियों से है।

2. यहाँ दीपिकाकार ने "विश्वं प्रकर्षेण धत्त इति विश्वप्रधा" इस तरह से प्रधा शब्द की व्युत्पत्ति दी है। तदनुसार दीपिका में सर्वत्र प्रथा शब्द के स्थान पर प्रधा शब्द होना चाहिये, किन्तु प्रस्तुत स्थल को छोड़ कर यह पाठ किसी भी मातृका में कहीं भी नहीं मिलता। यहाँ भी मूल ग्रन्थ की अनेक मातृकाओं में 'प्रथा' पाठ ही मिलता है।

धातूनां स्थूलशरीरावयवतया तद्व्यापकत्वात् त्रैलोक्यमोहनचक्रस्य स्थूलविश्वम्भरात्मकत्वाच्च[1] तदन्तर्गता: सिद्धयो ब्राह्म्याद्याश्च प्रकटा ज्ञेया इत्यर्थः ॥११४॥

अन्त्यभूगृहनिवासिनोनां नामग्रहणपूर्वकं ध्यानमाह—

अणिमाद्या महादेवि सिद्धयोऽष्टौ व्यवस्थिताः।
तास्तु[2] रक्ततरा वर्णैर्वराभयकरास्तथा ॥११५॥
धृतचिन्तामहारत्ना मनीषितफलप्रदा:।

अणिमाद्याः "अणिमां पश्चिमद्वारे" (१।१५३) इत्यादि चतु:शतीशास्त्रोक्ता:। लघिमामहिमेशितावशिताप्राकाम्यभुक्तीच्छाप्राप्तिसर्वकामाख्याः[3] सिद्धयस्तत्रादिशब्देन गृह्यन्ते। अष्टौ व्यवस्थिता [4]अष्टसिद्धयो निघण्टुप्रसिद्धाः। अत्र तु दशेति तात्पर्यम्—

वामजङ्घां समारभ्य वामादिक्रमतोऽपि च।
सिद्ध्यष्टकं न्यसेत् तेषु द्वयं पादतले न्यसेत् ॥ (३।७९-८०)

चक्र की स्थूल विश्वम्भरात्मकता (पार्थिवता) के कारण भी इनमें रहने वाली सिद्धियाँ और ब्राह्मी प्रभृति देवियाँ प्रकट योगिनियाँ कही जाती हैं ॥११४॥

अन्तिम भूगृह में रहने वाली शक्तियों के नाम और ध्यान इस प्रकार हैं—

हे महादेवि! अणिमा आदि [1]आठ सिद्धियाँ यहाँ स्थित हैं। इनका वर्ण चटक लाल है। वर और अभय मुद्रा में ये स्थित हैं। चिन्तामणि नामक महारत्न इनके पास है, जिससे कि ये साधक को अभीष्ट फल प्रदान करती हैं ॥११५-११६॥

चतु:शती शास्त्र (१।१५३-१५५) में अणिमा, लघिमा, महिमा, ईशिता, वशिता, प्राकाम्य, भुक्ति, इच्छा, प्राप्ति और सर्वकामा नाम की दस सिद्धियां वर्णित हैं। आदि शब्द से अणिमा तथा अन्य सिद्धियों का ग्रहण किया जाता है। इनमें से आठ सिद्धियाँ निघण्टु (कोश) ग्रन्थों में भी प्रसिद्ध हैं, यहाँ दस सिद्धियाँ वर्णित हैं। न्यास प्रकरण में यहाँ (३।७९-८०) वाम जंघा के वाम भाग से और वाम अन्तराल क्रम से आठ सिद्धियों

१. 'च' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। २. तासु–क. ख. ग. ने.। ३. ख्यसिद्धयो दशादि–ख. ने. झ. उ.। ४. अष्टौ–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. दीपिका और सेतुबन्ध दोनों टीकाओं में आठ शब्द को दस का उपलक्षण माना है। यहाँ दस सिद्धियाँ मानी गई हैं, अतः ध्यान भी दसों सिद्धियों का होना चाहिये। आठ वर्गों की अधिष्ठात्री सिद्धियाँ अणिमा आदि आठ ही हैं, अतः उनकी ओर इंगित करने के लिये मूल में आठ शब्द दे दिया गया है[1]।

इत्यत्रैवोक्तत्वात्[1] । महारत्नं चिन्तामणिः । शेषं[2] स्पष्टम् ॥११५-११६॥

ब्राह्म्याद्या अपि तत्रैव यष्टव्याः [3]क्रमशः प्रिये ॥११६॥

ब्राह्म्याद्याः "ब्रह्माणीं पश्चिमद्वारे" (१।१५६) इति चतुःशतीशास्त्रोक्ताः । तत्रैव मध्यचतुरस्रे यष्टव्याः । क्रमशः क्रमेण ॥११६॥

तासां प्रत्येकं[4] ध्यानमाह—

ब्रह्माणी पीतवर्णा च चतुर्भिः शोभिता मुखैः ।
वरदाऽभयहस्ता च कुण्डिकाक्षस्रगुज्ज्वला[5] ॥११७॥

करैरिति शेषः । शिष्टं स्पष्टम् ॥११७॥

माहेश्वरी श्वेतवर्णा त्रिनेत्रा शूलधारिणी ।
कपालमेणं परशुं दधाना पाणिभिः प्रिये ॥११८॥

एकेन पाणिना शूलधारिणी, त्रिभिः कपालमेणं परशुं दधाना ॥११८॥

का तथा बची दो सिद्धियों का पाद तल में न्यास बताया गया है । चिन्तामणि को महारत्न माना जाता है । शेष शब्दों का अर्थ स्पष्ट है ॥११५-११६॥

हे प्रिये ! ब्राह्मी प्रभृति देवियों की भी यहीं क्रमशः पूजा करनी चाहिये ॥११६॥

चतुःशती शास्त्र (१।१५६-१५७) में वर्णित ब्रह्माणी आदि देवियों की भी पूजा क्रमशः यहीं मध्य चतुरस्र में करनी चाहिये ॥११६॥

इनमें से प्रत्येक का ध्यान बताते हैं—

ब्रह्माणी का वर्ण पीत है। चार मुँह इसकी शोभा बढ़ाते हैं। वर और अभय मुद्रा, कुण्डिका और अक्षमाला से इसके चार हाथ शोभायमान है ॥११७॥

वर, अभय, कुण्डिका और अक्षमाला का संबन्ध 'करैः' शब्द का अध्याहार कर किया जाता है । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥११७॥

माहेश्वरी का वर्ण श्वेत है। यह तीन नेत्रों वाली है । हे प्रिये ! यह अपने चार हाथों में शूल, कपाल, एण (हिरन) और परशु धारण किये हुए है ॥११८॥

एक हाथ से यह शूल को धारण करती है और बाकी तीन हाथों में कपाल, एण और परशु धारण किये हुए है ॥११८॥

---

१. वोक्तम्–ख. ने. ज. उ. । २. शिष्टं–ख. ज. झ. उ. । ३. क्रमतः–क. ग. । ४. 'प्रत्येकं' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. लसत्करा–ख. ग. ने. ज. झ. ।

कौमारी पीतवर्णा च शक्तितोमरधारिणी ।
वरदाभयहस्ता च ध्यातव्या [1]परमेश्वरी ॥११९॥

स्पष्टम् ॥११९॥

वैष्णवी श्यामवर्णा च शङ्खचक्रगदाब्जकान्[2] ।
हस्तपद्मैश्च बिभ्राणा भूषिता दिव्यभूषणैः ॥१२०॥
वाराही श्यामलच्छाया [3]पोत्रिवक्त्रसमुज्ज्वला ।
हलं च मुसलं खड्गं खेटकं दधती भुजैः ॥१२१॥

स्पष्टम् ॥१२०-१२१॥

ऐन्द्री श्यामलवर्णा च वज्रोत्पललसत्करा ।

स्पष्टम् ॥१२२॥

चामुण्डा कृष्णवर्णा च शूलं डमरुकं तथा ॥१२२॥
खड्गं वेतालकं चैव दधाना दक्षिणैर्भुजैः[4] ।
नागखेटकघण्टाख्यान्[5] दधानान्यैः कपालकम् ॥१२३॥

कौमारी का वर्ण पीत है। इस परमेश्वरी का ध्यान शक्ति और तोमर धारिणी देवी के रूप में करना चाहिये। इसके अन्य दो हाथ वर और अभय मुद्रा से सुशोभित हैं ॥११९॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥११९॥

वैष्णवी श्याम वर्ण की है। यह अपने हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुए है और दिव्य भूषणों से भूषित है। वाराही श्यामल वर्ण की है, इसका मुह सूकर का है और यह अपनी भुजाओं में हल, मुसल, खड्ग (तलवार) और खेटक (दण्ड) लिये हुए है ॥१२०-१२१॥

अर्थ स्पष्ट है ॥१२०-१२१॥

ऐन्द्री श्यामल वर्ण की है। इसके दोनों हाथों में वज्र और कमल शोभित है ॥

अर्थ स्पष्ट है ॥१२२॥

चामुण्डा कृष्ण वर्ण की है। यह अपने दाहिने चार हाथों में शूल, डमरु, खड्ग और वेताल धारण किये हुए है और बायें चार हाथों में नाग, खेटक, घण्टा और कपाल लिये हुए है ॥१२२-१२३॥

---

१. च सुरेश्वरि-ख. ने. छ. ज. झ. । २. वराभयान्–क. ग. उ. । ३. पोत्र–क. । ४. णैः करैः–क. ग. । ५. मुण्डाख्यं–ख., घण्टाख्यं–ने. च. छ. ।

वेतालः पिशाचविशेषः । शूलडमरुखड्गवेतालान् दक्षिणैः करैः, नागखेटक-[1]घण्टाकपालानि वामकरैर्दधानेत्यर्थः ॥१२२-१२३॥

महालक्ष्मीस्तु पीताभा पद्मौ[2] दर्पणमेव च ।
मातुलुङ्ग[3]फलं चैव दधाना परमेश्वरी ॥१२४॥

स्पष्टम् । ननु मुद्रादशकं किमित्यन्तश्चतुरस्रे पूज्यत्वेन [4]नोक्तम् ? सत्यम्, चतुःशतीशास्त्रे[5]ऽनुक्तत्वादत्रापि[6] प्राधान्येन[7] नाख्याताः, किन्तु श्रीचक्रन्यासे "मूलाधारे न्यसेन्मुद्रादशकं साधकोत्तमः" (३।७७) इति सूचिताः । अतोऽन्तश्चतुरस्रे मुद्रादशकमपि पूजयेत् ॥१२४॥

एवं ध्यात्वा यजेदेताश्चक्रेशीं त्रिपुरां ततः ।

एवम् उक्तप्रकारेण । एताः प्रकटयोगिनीर्ध्यात्वा, चक्रेशीं त्रैलोक्यमोहनचक्रेशीं त्रिपुरां यजेत् ॥१२५॥

वेताल एक प्रकार का पिशाच है । चामुण्डा के दाहिने हाथों में शूल, डमरु, खड्ग और वेताल तथा बाये हाथों में नाग, खेटक, घण्टा और कपाल सुशोभित हैं ॥१२२-१२३॥

महालक्ष्मी का वर्ण पीत है । इस परमेश्वरी के चार हाथों में से दो में पद्म और बाकी के दो हाथों में दर्पण और मातुलुंग फल (चकोतरा) सुशोभित हैं ॥१२४॥

इसका अर्थ स्पष्ट है । प्रश्न होता है कि चतुरस्र चक्र में दस मुद्राओं का भी पूजन होना चाहिये । उनका यहाँ उल्लेख क्यों नहीं किया गया ? आपका कहना सही है । चतुःशती शास्त्र में मुद्राओं का पूजन नहीं बताया गया है, इसीलिये यहाँ भी उनका उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु श्रीचक्र न्यास प्रकरण में यहाँ (३।७७) मूलाधार में दस मुद्राओं का न्यास बताया गया है । अतः इस चतुरस्र चक्र में ही दस मुद्राओं का भी पूजन करना चाहिये ॥१२४॥

इस तरह से इन प्रकट योगिनियों का ध्यान कर पूजा करे और तब चक्रेशी त्रिपुरा का भी पूजन करे ॥

इस तरह से ऊपर बताई गई विधि से इन प्रकट योगिनियों का ध्यान करके तब त्रैलोक्यमोहन चक्र की स्वामिनी त्रिपुरा की भी पूजा करे ॥१२५॥

---

१. मुण्डक–ख., घण्टाख्य–ने. झ. उ. । २. पद्म–क. ग., पद्मं–उ. । ३. लिङ्ग–क. छ. ज. । ४. नात्रोक्तं–झ. । ५. स्त्रेऽप्यनु–ख. झ. उ. । ६. दत्रैव–ख. झ. उ. । ७. न्येनाख्यातव्याः–ख. ने. ।

विद्यादेवतयोरभेदविवक्षया च त्रैलोक्यमोहनचक्रेशीविद्यानिर्वचनमाह—

कर्मेन्द्रियाणां वैमल्यात् करशुद्धिकरी स्मृता ॥१२५॥

आत्मतत्त्वगतयोरशुद्धयोरत्र कर्मकरणात्मनोर्द्वयोः ।
शुद्धतत्त्व[1]लयभावनामयी शुद्धिरात्मकरयोः परा मता ॥ (चि० स्त० ११)

इत्यस्मदुक्तरीत्याऽऽत्मतत्त्वस्याशुद्धत्वात् कर्मेन्द्रियाणामात्मतत्त्वान्तःपातित्वात् [2]करयोश्च कर्मेन्द्रियत्वादशुद्धयोः [3]कार्यकरणात्मनोः करयोः कार्ययोः, स्वकारणे शुद्धतत्त्वे शिवाद्वैतलयभावना करशुद्धिः, तत्करीयम् । स्मृता निरुक्ता ॥१२५॥

का[4]र्यशुद्धिभवा सिद्धिरणिमा चात्र संस्थिता ।

कारणात्मपरामृष्टकार्य[5]रूपाङ्गुलिस्थिताम् ।
करोमि चिन्मयीं शुद्धिं करयोः [6]स्पर्शशोधिनीम् ॥ (सु० वा० २४)

अब भगवान् यह कहना चाहते हैं कि विद्या और देवता में कोई भेद नहीं है । इसी अभिप्राय से त्रैलोक्यमोहन चक्र की स्वामिनी त्रिपुरा की करशुद्धिकरी विद्या से अभिन्नता बताते हुए उसका निर्वचन करते हैं—

कर्मेन्द्रियों को विमल करने वाली यह विद्या करशुद्धिकरी कहलाती है ॥१२५॥

साधक के दोनों हाथों की गिनती कर्मेन्द्रियों में होती है, जो कि अशुद्ध आत्मतत्त्व के अन्तर्गत आते हैं । इनकी शुद्ध शिवस्वरूप में लीन होने की भावना ही उत्कृष्ट शुद्धि मानी जाती है ॥

व्याख्याकार के चिद्विलास स्तव के इस वचन के अनुसार आत्मतत्त्व अशुद्ध है, कर्मेन्द्रियों की गिनती आत्मतत्त्व में ही होती है और हाथ कर्मेन्द्रिय होने से अशुद्ध हैं । इन कार्यकरणात्मक हाथों को शुद्धि यही है कि अपने कारण शुद्ध तत्त्व में, शिवाद्वय-भावना में उनको लीन कर दिया जाय । करशुद्धिकरी विद्या यही कार्य करती है ॥१२५॥

कार्य की शुद्धि से उत्पन्न अणिमा नाम की सिद्धि भी यहीं रहती है ॥

पाञ्चभौतिक देह में कार्यरूप से प्रकट हुई दाहिने और बायें हाथ की अंगुलियाँ वास्तव में अपने कारणभूत प्रकाश और विमर्श से अभिन्न हैं । प्रकाश और विमर्श स्वरूप कारण के रूप में भावना कर मैं इन कार्य रूप में परिणत अंगुलियों में चित्स्वरूपिणी शुद्धि का आधान कर रहा हूँ, जिससे कि मेरे दोनों हाथ शुद्ध हो जाँय और इनसे मैं जिन पदार्थों का स्पर्श करूँ, वे भी शुद्ध हो जाँय, उनमें किसी प्रकार का स्पर्श दोष न आवे ॥

---

१. गत–ख. ने. उ. । २. 'करयोश्च' नास्ति–ख. झ. उ. । ३. 'कार्यकरणात्मनोः' नास्ति–ख. झ. उ. । ४. कर–ख. च. ज. । ५. भूता–मु. । ६. परि–मु. ।

इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या कार्यस्य शुद्धिर्नाम कारणतावन्मात्रतया पर्यवसानम् । "अणोरणीयान्" (क० उ० २।२०) इति श्रुत्युक्ताणीयसि कारणे विद्यमानस्यात्मनोऽणिमा सिद्ध्यती[1]त्यणिमासिद्धिः । सा चात्र त्रैलोक्यमोहने चक्रे स्थितेति तात्पर्यम् ॥१२६॥

द्वितीयचक्रे पूजां सवासनामाह—

षोडशस्पन्दसन्दोहे चमत्कृतिमयीः कलाः ॥१२६॥
प्राणादिषोडशानां तु वा[2]यूनां प्राणनात्मिकाः ।
बीजभूताः[3] स्वरात्मत्वात् कलनाद् बीजरूपकाः[4] ॥१२७॥
अन्तरङ्गतया गुप्ता[5] योगिन्यः संव्य[6]वस्थिताः ।
कामाकर्षणरूपाद्याः सृष्टेः[7] प्राधान्यतः प्रिये ॥१२८॥
सर्वाशापूरणाख्ये तु चक्रे वामेन पूजयेत् ।

स्पन्दो नाम परायास्तत्त्वरूपेण प्रसारः । [8]तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—"सिसृक्षोः प्रथमस्पन्दः शिवतत्त्वं प्रभोः स्मृतम्" (श्लो० १८) इति । तेन षोडश

शिवानन्द मुनि की इस उक्ति के अनुसार कार्य की शुद्धि यही है कि वह अपने कारण में केवल कारण रूप में ही पर्यवसित (परिणत) हो जाय । कारण ब्रह्म के लिये श्रुति में बताया गया है—"वह अणु से भी अणुतर है" । इस अत्यन्त सूक्ष्म कारण में अवस्थित हो जाने पर साधक को अणिमा सिद्धि प्राप्त हो जाती है । वह सिद्धि त्रैलोक्यमोहन नामक चक्र में स्थित है । इस प्रकरण का यही तात्पर्य है ॥१२६॥

द्वितीय चक्र की पूजा और वासना का अब वर्णन करते हैं—

सोलह स्पन्दों के समूह रूप सर्वाशापरिपूरक चक्र में प्राण आदि सोलह पदार्थों में प्राण का संचार करने वाला चमत्कारमय कलाएँ रहती हैं । बीज (बिन्दु) से संयुक्त स्वर इनकी कलना करते हैं, अतः ये कलाएँ बीजस्वरूपिणी हैं । अन्तरङ्ग होने से ये गुप्त योगिनियाँ कहलाती हैं । इनके कामाकर्षिणी आदि नाम हैं । हे प्रिये ! सृष्टि की प्रधानता होने से सर्वाशापरिपूरक चक्र में इनकी पूजा वामावर्त क्रम से होनी चाहिये ॥१२६-१२९॥

परा शक्ति का तत्त्वों के रूप में जो प्रसार होता है, उसे स्पन्द कहते हैं । परापंचाशिका में बताया गया है—"सृष्टि करने के लिये उद्यत प्रभु का प्रथम स्पन्द शिव-

१. तीति सिद्धिः–ख. ने. ज. झ. उ. । २. प्राणानां–ख. ने. च. छ. ज. झ. । ३. तस्व–ख. ने. च. झ. । ४. रूपगाः–ख. ने. च. छ. ज. । ५. प्तयो–ख. ने. च. छ. ज. झ. । ६. संस्थिता मताः–ख. ने. च. छ. ज. झ. । ७. ष्टिप्रा–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ८. 'तदुक्तं''''षोडश स्पन्दाः' नास्ति–ख. ने. ज. उ. ।

स्पन्दाः षोडशविकारा भूतेन्द्रियमनांसि, तेषां सन्दोहः[1] । चमत्कारो नाम[2] तस्मिन् चिदतिशयोदयः । तदुक्तं क्रमोदये—"स्थैर्यमेति[3] चमत्कारो विना विषयसंगतिम्" इति । तन्मय्यो भूतेन्द्रियमनःसु चिदनुप्रविष्टाः कलाः षोडश[4] स्फुरन्ति, तदात्मिका इत्यर्थः । कलाः षोडशसंख्याकाः कलाभिधानाश्च । प्राण आदिर्येषां तेऽपानोदानसमानव्याननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया दश प्रसिद्धा वायवः । [5]अन्ये षडागमान्तरेषु मृग्याः, तेषां प्राणनात्मिकाः, [6]सर्वेषां प्राणना(त्मिकाः?त्मकाः)

तत्त्व माना गया है" । तदनुसार षोडश स्पन्द शब्द से यहाँ सोलह विकारों (पाँच महाभूत और एकादश इन्द्रिय) का ग्रहण किया जाता है । इनका संदोह (समूह) ही सर्वाशापरिपूरक चक्र के रूप में परिणत होता है । चमत्कार कोई अनोखी वस्तु होती है । क्रमोदय में वर्णित है—"विषयों का सम्पर्क हुए बिना ही चमत्कार, अर्थात् अद्भुत सहजानन्द स्फुरित हो उठता है" । इस चमत्कार से परिपूर्ण चिच्छक्ति सम्पन्न सोलह कलाएँ पाँच महाभूतों और एकादश इन्द्रियों में स्फुरित होकर तदात्मक बन जाती हैं । कला शब्द सोलह संख्या और कला दोनों का वाचक है । प्राण के साथ जुड़ा आदि शब्द अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय—इन सभी दस वायुओं का द्योतक है । अन्य[1] छः वायुओं के नाम अन्य आगमों में खोजने चाहिये । इन प्राणों में भी ये

१. सन्दोहः समूहः–ख. ने. ज. झ. उ. । २. नाम कश्चिद–क. । ३. मेव–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. षोडशधा–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. अन्येष्वाग–सार्वत्रिकः पाठः, सेतुबन्धानुसारी पाठोऽत्र स्थापितः । ६. 'सर्वेषां प्राणनात्मिकाः' नास्ति–ख. ज. झ. उ. ।

1. सभी मातृकाओं में मिले पाठ के अनुसार यहाँ अर्थ होगा कि इन दस वायुओं के नाम आगमान्तर से जानने चाहिये, किन्तु इनके नाम तो योगिनीहृदय (२।६२) में भी मिलते हैं । इनके लिये कालोत्तर (१०।५-६) आदि अन्य आगमों को देखने की आवश्यकता नहीं है । भास्करराय ने अपनी व्याख्या में दीपिका के इस प्रसंग को उठाया है और वहाँ स्पष्ट लिखा है कि इन दस वायुओं के अतिरिक्त अन्य छः वायुओं के नाम आगमान्तर से जानने चाहिये । तदनुसार हमने दीपिका का संशोधित पाठ मूल में रखा है । किन्तु अन्य किसी भी आगम में उक्त दस वायुओं के अतिरिक्त अन्य छः वायुओं के नाम नहीं मिलते । प्राण की पाँच वृत्तियों की आहंकारिकता की चर्चा हम पहले (२।५९) कर चुके हैं । यह अहंकार की समष्टयात्मक वृत्ति है । अहंकार की व्यष्टयात्मक वृत्तियाँ सोलह मानी गई हैं, जो कि इनके सात्त्विक, राजस और तामस भेद से प्रकट होती हैं । दीपिकाकार ने सोलह स्पन्दों के रूप में इन्हीं का ग्रहण किया है, किन्तु भास्करराय पाँच प्राण और एकादश इन्द्रियों की गणना षोडश स्पन्दों में करते हैं ।

प्राणादयो हि, (एते तु ? एतास्तु) तेषां प्राणादीनामपि प्राणनात्मिका इत्यर्थः। बीजभूता बिन्दुयुक्तत्वात्। स्वराः षोडश अकारादिविसर्गान्ताः, तदात्मकत्वात्। कलनात् प्रक्रमात्। सबिन्दुकस्वरप्राप्तत्वात् [1]कलनाद् बीजरूपकाः[2] [[3]स्वस्व-बीजस्वरूपाः। अन्तरङ्गतया षोडशविकाराणां त्वगादिधातुवत् तत्राप्रकटत्वात् तन्मय्यः।] तन्मया योगिन्यो गुप्ताः [4]संव्यवस्थिताः। अन्तरङ्गतया अन्तरङ्गम् अन्तरिन्द्रियं बुद्धिः, तच्चमत्कारमयत्वादेता अप्यन्तरङ्गाः, अत एव गुप्ताः, सर्वाशापूरणाख्ये तु चक्रे, योगिन्य इत्यत्र छान्दसत्वाद् द्वितीयार्थे प्रथमा। कामाकर्षणरूपाद्या "कामाकर्षणरूपां च" (१।१५८) इत्यादि चतुःशतीशास्त्रोक्ताः। सृष्टेः[5] प्राधान्यतः सृष्टौ वामचक्रस्यैव प्रधानत्वात्, अस्यैव[6] चक्रस्य सृष्टिरूपत्वात्। [7]अतस्ता योगिनीर्वर्मिन पूजयेद् वामावर्तक्रमेण[8] पूजयेत्। विकाराः षोडश विलासभूताः। प्राणादि[9]षोडशवायूनां जगत्प्राणनादिशक्त्यात्मिकाः सबिन्दुषोडशस्वरैराकलिताः प्रत्येकं तन्मयीरन्तरङ्गचिदनुप्रविष्टषोडशविकारतया गुप्ताः कामाकर्षिण्याद्याः कलाः सर्वाशापरिपूरके चक्रे वाममार्गेण पूजयेदित्यर्थः ॥१२६-१२८॥

ही कलाएँ प्राण का संचार करती हैं। बिन्दु से संयुक्त होने से ये बीजात्मक हैं। अकार से विसर्ग पर्यन्त स्वर सोलह हैं। ये सोलह कलाएँ इन स्वरों का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। बिन्दु से संयुक्त इन सोलह स्वरों से इनकी पहचान होती है, अतः ये कलारूप योगिनियाँ बीजस्वरूपिणी मानी जाती हैं। ये योगिनियाँ गुप्त रूप से रहती हैं, क्योंकि ये अन्तरङ्ग हैं। बुद्धि भीतर की इन्द्रिय है, उसी के चमत्कार से, अनोखे विस्तार से, इनका निर्माण हुआ है। अतः ये भी अन्तरंग हैं और इसी लिये गुप्त रूप से सर्वाशापरिपूरक चक्र में रहती हैं। योगिनी शब्द में द्वितीया के अर्थ में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग छान्दस है। चतुःशती शास्त्र (१।१५८-१६१) में इन कामाकर्षिणी आदि सोलह कलाओं (योगिनियों) के नाम बताये गये हैं। सृष्टि में वाम चक्र की प्रधानता रहने से और सर्वाशापरिपूरक के सृष्टि चक्र होने से इन योगिनियों की पूजा भी यहाँ वामावर्त क्रम से ही होनी चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि सोलह विकार परा शक्ति के विलास हैं। प्राण आदि सोलह वायुओं में प्राण का संचार करने वाली शक्तियाँ बिन्दुसंयुक्त सोलह स्वरों से आकलित होती हैं और उसी रूप में परिणत हो जाती हैं। अन्तःकरण में चिच्छक्ति के प्रवेश से प्राण आदि सोलह विकारों की सृष्टि होने से ये गुप्त हैं। इन कामाकर्षिणी आदि गुप्त योगिनियों की पूजा वामावर्त क्रम से सर्वाशापरिपूरक चक्र में की जाती है ॥१२६-१२९॥

१. 'कलनाद्' नास्ति–ख. ज. उ.। २. वगाः–ख. ज. उ.। ३. 'स्वस्व' ''तन्मय्यः' नास्ति–ख. ज. झ. उ.। ४. संस्थिताः–ख. ने. ज. झ.। ५. सृष्टिप्रा–ख. ने. ज. झ. उ.। ६. 'एव' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ७. ततस्ताः–ख. ने. ज. झ. उ.। ८. णार्चयेत्–ख. ने. ज. झ. उ.। ९. दिदश–झ.।

एतासां ध्यानमाह—

पाशाङ्कुशधरा ह्येता रक्ता रक्ताम्बरावृताः ॥१२९॥

स्पष्टम् ॥१२९॥

तच्चक्रदेवतार्चने सिद्धिमाह—

प्राणशुद्धिमयी सिद्धिर्लघिमा भोक्तुरात्मनः।

"आनीदवातं स्वधया तदेकम्" (ऋ० १०।१२९।२) इति श्रुत्युक्तरीत्या विश्वप्राणन[2]रूपया स्वधया[3] सह यदेकरसमयं प्राणिति, तस्मिन् स्वकारणे लयः प्राणादीनां वायूनां शुद्धिर्नाम। अत्र प्राणशब्दो वायुमात्रोपलक्षणपरः। तेन वायुलयलक्षणायां शुद्धौ मनोलयलक्षणः समाधिर्भवति। ततस्तदेकरसभूतस्य भोक्तुरात्मनो जीवस्य यष्टुस्तद्गुणो लघिमा सिद्धिर्भवति ॥१३०॥

त्रिपुरेशी च चक्रेशी पूज्या सर्वोपचारकैः ॥१३०॥

इनका ध्यान बताते हैं—

ये सब गुप्त योगिनियाँ रक्त वर्ण की हैं, रक्त वस्त्र पहने हुए हैं और पाश तथा अंकुश धारिणी हैं ॥१२९॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥१२९॥

इस चक्र में देवता की पूजा करने से यह सिद्धि मिलती है—

इस चक्र में निर्दिष्ट देवताओं की पूजा करने वाला साधक प्राण की शुद्धि से उत्पन्न लघिमा सिद्धि को प्राप्त कर लेता है॥

"उस प्रलयावस्था में वह अकेला ब्रह्म ही बिना प्राण वायु के अपनी स्वधा शक्ति से जीवित था" इस श्रुति के अनुसार विश्व में प्राण का संचार करने वाली अपनी स्वधा शक्ति के साथ एकरस होकर जो अवस्थित है, उस परम कारण में लीन हो जाना ही प्राण आदि वायुओं की शुद्धि मानी जाती है। यहाँ प्राण शब्द समस्त वायुओं का संग्राहक है। इससे समस्त पवनों की लयरूप शुद्धि के हो जाने पर मनोलय स्वरूप समाधि लग जाती है। तब उस परम तत्त्व के साथ समरस हुए साधक जीव को तदनुरूप लघिमा सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥१३०॥

साधक को यहाँ सभी उपचारों से चक्रेश्वरी त्रिपुरेशी की पूजा करनी चाहिये ॥१३०॥

१. करा एताः–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ.। २. प्रीणन–ख. ने. ज.। ३. सुधया–ख. ने. झ. उ.।

यादृशैरुपचारैः सर्वैर्गन्धादिभिर्मूलदेवी पूजिता, तादृशैरेवोपचारैः सर्वाशापरि[1]पूरणचक्रे चक्रेशी त्रिपुरेशी [2]पूजनीयेत्यर्थः ॥१३०॥

तृतीयचक्रे पूजां सवासनामाह—

कौलिकानुभवाविष्टभोगपुर्यष्टकाश्रिताः ।
वाग्भवाष्टकसंबद्धाः सूक्ष्मा वर्गस्वरूपतः ॥१३१॥
तास्तु गुप्ततराः सर्वाः सर्वसंक्षोभणात्मके ।
अनङ्गकुसुमाद्यास्तु

[3]कुलं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं शरीरम्, तद्विषयानुभवः कृशोऽहं स्थूलोऽहमित्यादि, तेनाविष्टो जीवस्तदाश्रिततया, तस्य भोगपुर्यष्टकम्

चितिश्चित्तं च चैतन्यं चेतना[4]द्वयकर्म च ।
जीवः कला[5] शरीरं च सूक्ष्मं पुर्यष्टकं मतम् ॥

इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या सूक्ष्मपुर्यष्टकम्, तदाश्रिताः । तन्मयतया वाग्भवानामैकाराणामष्टकेन संबद्धाः । सूक्ष्मवर्गं वैखरीवर्णाष्टकवर्गम् । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—"स्थूलं पञ्चाशदाकारं सूक्ष्ममष्टाष्टकं [1]स्मृतम्" इति । तत्स्वरूपत्वात् तदात्मकत्वात् । गुप्ततराः सूक्ष्मवैखरीवर्णवर्गाष्टकमयत्वादेता अपि सूक्ष्माः, अतो[2]ऽत्यन्तरङ्गतया गुप्ततरा इत्यर्थः । ताः सर्वा अनङ्गकुसुमाद्याः "अनङ्गकुसुमां पूर्वे" (१।१६३) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्ताः सर्वसंक्षोभणाह्वये तृतीये चक्रेऽष्टदलकमले, पूज्या इति योज्यम् ॥१३१-१३२॥

तासां ध्यानमाह—

रक्तकञ्चुकशोभिताः ॥१३२॥
वेणीकृतलसत्केशाश्चापबाणधराः शुभाः ।

स्पष्टम् ।१३२-१३३॥

तत्तदाकारबुद्ध्यात्मभोग्यभोक्तुर्महीशितुः[3] ॥१३३॥
पिण्डादिपदविश्रान्तिसौन्दर्यगुणसंयुता ।
चक्रेश्वरी बुद्धिशुद्धिरूपा च परमेश्[4]वरी ॥१३४॥
महिमासिद्धिरूपा च पूज्या सर्वोपचारकैः ।

जिन जिन गन्ध आदि द्रव्यों से मूलदेवी का पूजन किया गया, उन सभी उपचारों से सर्वाशापरिपूरक चक्र में चक्रेश्वरी त्रिपुरेशी की पूजा करनी चाहिये ॥१३०॥

अब तृतीय चक्र में पूजा और वासना का वर्णन करते हैं—

कौलिक अनुभव से सम्पन्न साधक के भोगपुर्यष्टक में निवास करने वाली, सूक्ष्म वर्ग के रूप में वाग्भवाष्टक से संबद्ध शक्तियाँ गुप्ततर कहलाती हैं। अनङ्गकुसुमा आदि इन गुप्ततर योगिनियों की पूजा सर्वसंक्षोभण नामक चक्र में करनी चाहिये ॥१३१-१३२॥

३६ तत्त्वात्मक शरीर को कुल कहते हैं। तद्विषयक अनुभव है—"मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ" इत्यादि। जीव इस तरह के अनुभवों से आविष्ट रहता है। इस जीव के भोगपुर्यष्टक, अर्थात् सूक्ष्म पुर्यष्टक का स्वच्छन्दसंग्रह में इस तरह से वर्णन किया गया है—

चिति, चित्त, चैतन्य, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, जीव, कला और शरीर—इन आठ तत्त्वों को सूक्ष्म पुर्यष्टक माना जाता है ॥

जीव के इस सूक्ष्म पुर्यष्टक में ये गुप्ततर योगिनियाँ छिपी रहती हैं। सूक्ष्म पुर्यष्टक में विद्यमान, अत एव सूक्ष्म पुर्यष्टक स्वरूप ये योगिनियाँ आठ वाग्भव (ऐकार) अक्षरों से संबद्ध हैं। वैखरी वर्णों के आठ वर्ग सूक्ष्म वर्ग कहलाते हैं। स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—"स्थूल वर्ण पचास आकार वाले और सूक्ष्म अष्टाष्टक वर्ग वाले हैं"। ये गुप्ततर योगिनियाँ अष्टवर्गस्वरूपिणी भी हैं। वैखरी वर्णों के सूक्ष्म वर्गाष्टक से सम्बद्ध होने से ये योगिनियाँ भी गुप्ततर हैं, सूक्ष्म हैं। इस तरह से अति अन्तरंग होने से गुप्ततर हैं। चतुःशती शास्त्र (१।१६३-१६४) में वर्णित इन सब अनङ्गकुसुमा आदि योगिनियों की सर्वसंक्षोभण नामक तृतीय चक्र में, अष्टदल कमल में पूजा करनी चाहिये ॥१३१-१३२॥

इनका ध्यान इस तरह से किया जाय—

रक्त कंचुक पहने हुए और केशों का जूड़ा बाँधे हुए ये शुभ शक्तियाँ धनुष और बाण धारण किये हुए हैं ॥१३२-१३३॥

अर्थ स्पष्ट है ॥१३२-१३३॥

उन उन विषयों का आकार ग्रहण करने वाली बुद्धि के द्वारा विषयाकार भोग्य पदार्थों का भोक्ता प्रमाता (क्षेत्रज्ञ) यहाँ भूपति माना गया है। उस भूपति को पिण्ड आदि पदों में विश्राम दिलाने वाली यह देवी अपने सौन्दर्य गुण के कारण तृतीय चक्र की स्वामिनी त्रिपुरसुन्दरी के नाम से प्रसिद्ध है। साधक की बुद्धि को शुद्ध करने वाली यह परमेश्वरी महिमा सिद्धि को देने वाली है। तृतीय चक्र में सर्वविध उपचारों से इसकी पूजा करनी चाहिये ॥१३३-१३५॥

---

१. 'परि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. पूज्येति–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'कुलं⋯शुभाः । स्पष्टम्' नास्ति–ख. ने. ज. ब. उ. । ४. ह्वय–झ. । ५. कला च देवेशि–क. झ. ।

१. मतम्–झ. । २. त्यन्तान्त–झ. । ३. महेशितुः–क. ग. छ. । ४. श्वरि–ख. ने. च. छ. झ. उ. ।

इन्द्रियद्वारा बहिर्निर्गत्य तत्तदाकारा तत्तदिन्द्रियार्थाकाराकारिता[1] बुद्धिरन्तःकरणपरिणतिः, तदात्मानो भोग्याः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तेषां भोक्ता प्रमाता, स एव महीशिता भूपतिः, क्षेत्रज्ञ इति यावत्, तस्य । पिण्डादीनां पिण्डपदरूपरूपातीतानां स्थानानां विश्रान्तिः[2] रूपातीते तुरीयपदे मुक्तिः । अत्र [3]प्रामाणिकवचनम्—

पिण्डे मुक्ताः पदे मुक्ता रूपे मुक्ताः षडानन ।
रूपातीते तु ये मुक्तास्ते मुक्ता नात्र संशयः ॥ (ज्ञा० का० १।४-५)

इति । सैव सौन्दर्यम्[4] अनित्याशुचिसंसारलक्षणपरमदौर्भाग्यविदारण[5]नित्यशुद्धपरमप्रेमास्पदसर्वस्पृहणीयपरमशिवस्वरूपप्रकाशनमेव सौन्दर्यम्, तदेव गुणः, तेन संयुता । तदेकरसतया चक्रेश्वरी सर्वसंक्षोभणाख्यतृतीयचक्रेश्वरी । कोऽर्थः ?

इन्द्रियों के मार्ग से बाहर निकल कर उन उन विषयों के आकार को ग्रहण करने वाली बुद्धि एक प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति है । बाहर निकल कर अन्तःकरण की वृत्ति ने जिन आकारों का स्वरूप ग्रहण किया, वे हैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक भोग्य विषय । इनका भोक्ता प्रमाता है, वही इन सबका अधिपति है । इसी को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है । इस प्रमाता को पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत नामक स्थानों में शान्ति का अनुभव होता है । इसी को मुक्ति भी कहते हैं । रूपातीत नामक तुरीय (चतुर्थ) पद में इसकी अनुभूति होती है । किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने कहा है—

हे [1]षडानन ! पिण्ड में, पद में और रूप में भी मुक्तावस्था की अनुभूति अवश्य होती है, किन्तु जो साधक रूपातीत में मुक्त हो गये हैं, उनकी मुक्ति में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता ॥

साधक को मुक्ति की तरफ बढ़ाना ही इस भगवती त्रिपुरसुन्दरी का सौन्दर्य है । यह देवी अनित्य और अपवित्र संसार लक्षण परम दुर्भाग्य को दूर कर नित्य, शुद्ध, परम प्रेमास्पद, सर्वस्पृहणीय, परम शिव स्वरूप को प्रकाशित करती है । यही इसका सौन्दर्य है, यही इसका गुण (स्वभाव) है । इस सौन्दर्य गुण से यह सदा संयुक्त है । इस सौन्दर्य गुण से समरस हुई यह चक्रेश्वरी त्रिपुरसुन्दरी सर्वसंक्षोभण नामक तृतीय चक्र की स्वामिनी है ।

---

१. 'कारिता' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । २. न्ती रूपातीतं तुरीयपदं मुक्तिः–ख. ने. ज. । ३. प्रमाणव–ख. ने. ज. झ. । ४. र्यं सुन्दरत्वम्–ख. ने. ज. । ५. रणरूप–झ. ।

1. प्रस्तुत उद्धरण को दीपिकाकार प्रामाणिक व्यक्ति का वचन मानते हैं, किन्तु इसमें आया 'षडानन' संबोधन इसकी आगमिकता को उजागर करता है । क्या इसका अर्थ यहां प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा उद्धृत वचन किया जाय ?

[1]चिन्मयशब्दादिविषयप्रमातुः क्षेत्रज्ञस्य पिण्डपदरूपरूपातीतविश्रान्तिरूपलक्षणा तत्त्रितयपुरातनी तदेकरस्यसौन्दर्यशालिनी त्रिपुरसुन्दरी तृतीयचक्रेश्वरीत्यर्थः । बुद्धिशुद्धिरूपा बुद्धिशुद्धिर्नाम विषयसंसर्गं विहाय निर्विकल्पचिदात्मलयः, तद्रूपा । अत एव महिमासिद्धिरूपा । बुद्धेरविषयोपरागात् चिदात्मनो महिमा [2]महिमत्वं सिद्धयति । तत्सिद्धिरूपा चक्रेश्वरी सर्वोपचारकैः[3] पूर्वोक्तैर्गन्धादिभिः[4] पूज्या ॥१३३-१३५॥

चतुर्थचक्रे [5]सवासनां पूजामाह—

द्वादशग्रन्थिभेदेन समुल्लसितसंविदः ॥१३५॥
विसर्गान्तदशावेशाच्छाक्तानुभवपूर्वकम् ।

ग्रन्थिः षट्चक्राणां प्रत्येकमूर्ध्वाधो ग्रन्थिद्वयमिति द्वादश ग्रन्थयः । अत्रैव

इसका भाव यह है कि चिन्मय शब्द आदि विषयों के भोक्ता क्षेत्रज्ञ को पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत पदों में विश्रान्ति दिलाने वाली, प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय की इस त्रिपुटी से परे रहने वाली, इन सब से पुरानी, इन सबकी एकरसता रूपी सौन्दर्य से सम्पन्न यह त्रिपुरसुन्दरी तृतीय चक्र की स्वामिनी है । यह देवी बुद्धि की शुद्धि करने वाली है । बुद्धि की शुद्धि तब होती है, जब कि वह विषयों के सम्पर्क से अलग होकर निर्विकल्प चिदात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय । यह देवी जीवात्मा की बुद्धि को निर्विकल्प स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देती है । इसीलिये यह महिमा सिद्धि स्वरूपिणी है । बुद्धि जब बाह्य विषयों के सम्पर्क में नहीं रहती, तब उसके सामने चिदात्मस्वरूप की महिमा आलोकित हो उठती है । महिमा सिद्धि को देने वाली इस तृतीय चक्रेश्वरी की पूर्वोक्त समस्त गन्ध आदि उपचारों से पूजा करनी चाहिये ॥१३३-१३५॥

चतुर्थ चक्र में वासना और पूजा का विधान बताते हैं—

ऊपर की ओर उठती हुई कुण्डलिनी शक्ति बारह ग्रन्थियों का भेदन कर जब विसर्गान्त स्थान में प्रविष्ट होती है, तो उस समय जगी शाक्त अनुभूति से आगे बताये वर्णों की उत्पत्ति होती है ॥१३५-१३६॥

छः चक्रों में से प्रत्येक के ऊपर और नीचे दो दो[1] ग्रन्थियां हैं । ये सब मिलकर बारह

---

१. विनायक–झ. । २. महत्त्वं–ख. ने. ज. झ. । ३. पचारैः–क. ग. । ४. दिभिरभ्यर्च्या–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. पूजां सवासनामाह–ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. माया आदि बारह ग्रन्थियों की चर्चा नेत्रतन्त्र (७।२२-२५) में मिलती है, किन्तु वहां छः चक्रों के साथ इनके संबन्ध का उल्लेख नहीं मिलता । अर्थरत्नावलीकार (पृ० ६७) भी बारह ग्रन्थियों के भेदन की बात कहते हैं । सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर (श्लो० १४) तीन ही ग्रन्थियां मानते हैं । देखिये—तन्त्रयात्रा, पृ० ४२

वक्ष्यति—"द्वादशग्रन्थिभेदेन वर्णान् नाडयन्तरे प्रिये" (३।१८४) इति । [1]"यदोल्लसति शृङ्गाटपीठात् कुटिलरूपिणी" (४।१२) इति चतुःशतीशास्त्रोक्तरीत्या समुल्लसिताया [2]उद्गच्छन्त्याः संविदः कुण्डलिन्या द्वादशग्रन्थिभेदेन विसर्गान्तदशावेशात् । विसर्गः षोडशः स्वरः । तेन विसर्गशब्देन षोडशसंख्या गृह्यते । अतो विसर्गान्तं षोडशान्तम्

यत् षोडशकलाकारं भूतान्तं व्योमगं च यत्[3] ।
षोडशान्तमिति ख्यातं व्योमस्थानेन्दुमण्डलम् ॥

इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या, तदेव [4]दशावेशश्चिद्दीपाकारत्वात् तदावेशः, तत्रासक्तिः । तदुक्तमत्रैव—"व्योमेन्दुमण्डलासक्ता सुधास्रोतःस्वरूपिणी" (२।७१) इति । शाक्तानुभवपूर्वकम् । मूलोत्थितायाः कुण्डलिन्याः षट्चक्रग्रन्थिसंचयभेद[5]क्रमेण व्योमेन्दुमण्डला[6]सक्तिपरि[7]कलनमेव शाक्तानुभवः, तत्पूर्वकम् । भाविवर्णोत्पत्तिरिति क्रियाविशेषणम् ॥१३५-१३६॥

हैं । यहीं आगे (३।१८४) द्वादश ग्रन्थियों को भेद कर सुषुम्ना नाडी में वर्णों की भावना का उपदेश किया गया है । चतुःशती शास्त्र (४।१२) में बताया गया है—"यह कुटिल आकार वाली कुण्डलिनी जब श्रृंगाट पीठ से उठती है" । तदनुसार उल्लसित होकर ऊपर उठती हुई यह संवित्स्वरूपा कुण्डलिनी बारह ग्रन्थियों का भेदन कर विसर्गान्त पद में प्रतिष्ठित हो जाती है । विसर्ग सोलहवां स्वर है । तदनुसार विसर्ग शब्द यहाँ सोलहवीं संख्या का संग्राहक है । अतः विसर्गान्त का अर्थ षोडशान्त होगा । स्वच्छन्दसंग्रह का यह वचन इसमें प्रमाण है—

जो सोलह कलाओं के आकार वाला है, सभी भूतों की जिस व्योम में समाप्ति हो गई है, उस परम व्योम में स्थित वह इन्दुमण्डल षोडशान्त के नाम से प्रख्यात है ॥

कुण्डलिनी शक्ति के विसर्गान्त पद में प्रतिष्ठित होने पर साधक का हृदय भी उस दशा से, चिद्रूप दीपक के प्रकाश से, आविष्ट हो जाता है, प्रकाशित हो उठता है । तब वह उसी में लीन हो जाता है । चतुःशती शास्त्र में भी बताया गया है—"परम व्योमगत इन्दुमण्डल में आसक्त यह कुण्डलिनी शक्ति अमृत की वर्षा करने लगती है" । यहाँ साधक का अपना शाक्तानुभव जग जाता है । मूलाधार से उठी कुण्डलिनी शक्ति का षट् चक्र, द्वादश ग्रन्थि भेदन पूर्वक परम व्योमगत इन्दुमण्डल में आसक्ति का अनुभव ही शाक्तानुभव कहलाता है। इस शाक्तावेश की अनुभूति के बाद ही आगे बताये जा रहे वर्णों की उत्पत्ति होती है । 'शाक्तानुभवपूर्वकम्' यहाँ कोई क्रिया नहीं है, अतः क्रिया का यहाँ अध्याहार

१. यदुल्लसति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. ऊर्ध्वं ग–ने. । ३. तत्–क. ग. । ४. 'दशा''''तत्रासक्तिः' इत्यस्य स्थाने 'दशारचिदाधारत्वात् तदावेशस्तदापत्तिः' इति पाठः–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. गमन–ख. ने. उ. । ६. सक्त–ख. ने. झ. उ. । ७. कल्पन–क. ख. ग. ।

त्रैलोक्यमोहनादिचक्रत्रये वैखरीमयतावासनामुक्त्वा सर्वसौभाग्यदायकादिचक्रत्रये भूतलिपिमयमध्यमामयवासनामाह—

उन्मेषशक्तिप्रसरैरिच्छाशक्तिप्रधानकैः ॥१३६॥
तथैवा[1]कुलसंघट्टरूपैर्वर्णचतुष्टयैः ।
वेद्योष्मरूपसा[2]वर्णैर्मिश्रेच्छाभावितैरपि ॥१३७॥
कुलशक्तिसमावेशरूपवर्णद्वयान्वितैः ।

किया जाता है और उसके विशेषण के रूप में 'भाविवर्णोत्पत्ति' इस समस्त पद को जोड़ दिया जाता है ॥ १३५-१३६ ॥

त्रैलोक्यमोहन आदि तीन चक्रों में वैखरी वर्णों की वासना (भावना) बताई गई है, अब सर्वसौभाग्यदायक आदि तीन चक्रों में भूतलिपिमय मध्यमा वाणी के वर्णों की वासना बताते हैं—

अकुलसंघट्टरूप, इच्छाशक्ति प्रधान और उन्मेष शक्ति रूप तीन वर्णों से और इनके प्रसार रूप चार वर्णों से, मिश्रेच्छाभावित दो वर्णों से, वेद्योष्म रूप हकार आदि वर्णों से और कुलशक्तिसमावेश रूप दो वर्णों से [1]भूतलिपि के चतुर्दश वर्णात्मक तीन वर्ग बनते हैं ॥ १३६-१३७ ॥

१. तदेवा-क. ग. । २. सावर्णे-ख. ग. ज. ।

1. शारदातिलक (७।१-४) के आधार पर ९ वर्ग और ४२ वर्ण वाली भूतलिपि का क्रम इस प्रकार बनता है—

अ इ उ ऋ लृ	प्रथम वर्ग
ए ऐ ओ औ	द्वितीय वर्ग
ह य र ल व	तृतीय वर्ग
ङ क ख घ ग	चतुर्थ वर्ग
ञ च छ झ ज	पंचम वर्ग
ण ट ठ ढ ड	षष्ठ वर्ग
न त थ ध द	सप्तम वर्ग
म प फ भ ब	अष्टम वर्ग
श ष स	नवम वर्ग

कामकलाविलास की चिद्वल्ली टीका (पृ० ५०) में भूतलिपि पद का अर्थ मिलता है । योगिनीहृदय के प्रस्तुत प्रकरण में मनुकोण, दशारद्वय तथा वसुकोण चक्रों में इस भूतलिपि का विन्यास-क्रम बताया गया है । कामकलाविलास (श्लोक २७-३१) में भी यह विषय देखा जा सकता है ।

अकुलसंघट्टरूपैः। अकुलं ब्रह्मरन्ध्राधोमुखसितसहस्रदलकमलम्, तत्रस्थोऽकारः "अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः" इति[1] संकेतपद्धत्युक्तोऽकारः परमशिवात्मकोऽकुलशब्देन लक्ष्यते। तेन संघट्टः संबन्धः, [2]तद्रूपैः। इच्छाशक्तिप्रधानकैः। इच्छाशक्तिरिकारः। उन्मेषशक्तिप्रसरैः। उन्मेषशक्तिरुकारः। तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—

अनुत्तरेच्छे[3] उन्मेष आनन्देशनमूनता।
क्रियेच्छाज्ञानशक्तीनां सत्ता चोच्छूनता च षट्॥ (श्लो० ३२) इति।

कोऽर्थः? मूलोत्थिताया इच्छाशक्तेः [4]कुलकुण्डलिन्या अकुलस्थेन अकारेण संघट्टे सत्येकारो जायते। [5]तस्यैवोन्मेषशक्तिसंघट्टे सत्योकारो जायते। तयोरेवाऽकुलसंघट्टे सत्यैकारौकारौ जायेते इत्यर्थः। तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—

अनुत्तरानन्दशक्ती इच्छाशक्तौ नियोजिते।
त्रिकोणमय षट्कोणमिच्छायां रूढमागते॥ (श्लो० ३४) इति,
ते एवोन्मेषयोगेन क्रियाशक्तिस्फुटं वपुः।
उक्तं शक्तित्रिसंघट्टत्रिशूलं द्वैतघस्मरम्॥ (श्लो० ३५-३६) इति च।

मिश्रेच्छाभावितैरपि

इच्छेशनान्तरारूढाः स्फुटास्फुटजगन्मयाः।
चत्वारः [1]परतो वर्णाः षण्ढात्मानः प्रचोदिताः॥ (श्लो० ३३)

ब्रह्मरन्ध्र स्थित अधोमुख श्वेत सहस्रदल कमल को अकुल कहा जाता है। इस कमल में विद्यमान अकार भी अकुल कहलाता है। संकेतपद्धति के अनुसार यह अकार प्रकाशात्मक परम शिव है और सभी वर्णों का आदि कारण है, अतः यह भी अकुल शब्द से लक्षित होता है। आगे बताये गये सभी वर्ण इससे संबद्ध हैं। अकार के बाद इन वर्णों में इच्छा शक्ति स्वरूप इकार की प्रधानता रहती है और इसके बाद उन्मेष शक्ति स्वरूप उकार का प्रसार होता है। परापंचाशिका में बताया गया है—

क्रिया, इच्छा और ज्ञान शक्ति की की [1]सत्ता से अनुत्तर (अकार), इच्छा (इकार) और उन्मेष (उकार) की तथा उच्छूनता (अंकुरण) से आनन्द (आकार), ईशन (ईकार) और ऊनता (ऊकार) इन छः वर्णों की सृष्टि होती है॥

ऊपर बताये गये छः वर्णों के बाद चार सन्ध्यक्षरों की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है—मूलाधार से उठी कुलकुण्डलिनी रूप इच्छाशक्ति (इकार) का जब अकुल स्थित अकार से संघट्ट होता है, तो इससे एकार की उत्पत्ति होती है। उसी अकार का उन्मेष शक्ति (उकार) से संघट्ट होता है, तो ओकार की उत्पत्ति होती है। बाद में इन एकार और ओकार का अकुल (अकार) से संघट्ट होने पर ऐकार और औकार इन दो स्वरों की निष्पत्ति होती है। संघट्ट (सन्धि) से उत्पन्न होने के कारण ये चार स्वर [1]सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। परापंचाशिका में यह विषय इस तरह से वर्णित है—

अनुत्तर (अकार) और आनन्द (आकार) शक्ति जब इच्छा शक्ति (इकार) से नियोजित होती हैं, तो क्रमशः त्रिकोण (एकार) और षट्कोण (ऐकार) का स्वरूप स्पष्ट हो उठता है। उन्हीं अनुत्तर (अकार) और आनन्द (आकार) शक्तियों का उन्मेष शक्ति (उकार) से योग होने पर क्रमशः ओकार और तीन शक्तियों के संघट्ट स्वरूप औकार की निष्पत्ति होती है। यह त्रिशूल (औकार) सारे द्वैतप्रपंच को भस्म कर देने वाला है॥

मिश्रेच्छाभावित शब्द का अर्थ भी परापंचाशिका की सहायता से जाना जा सकता है। वहाँ बताया गया है—

[2]इच्छा और ईशन के मध्य में आरूढ, स्फुट और अस्फुट (मिश्रित) स्वरूप वाले आगे के चार वर्ण षण्ढ कहे जाते हैं॥

---

१. त्युक्तरीत्या–क. ग. उ.। २. 'तद्रूपैः····शक्तिरुकारः' नास्ति–ख. ने. ब. उ.। ३. च्छा उन्मेषाः–क.। ४. कुलाकुल–ने. उ.। ५. उन्मेषशक्तिरूपायास्तस्या एवाकुलसंघट्टे–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. सौभाग्यसुधोदय (१।१८-१९) में सत्ता को शिव का तथा उद्रेक को शक्ति का प्रतीक माना गया है। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियाँ सत्ता के अंश हैं। इनसे क्रमशः अकार, इकार, उकार की अभिव्यक्ति होती है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ उद्रेक के अंश हैं। इनसे क्रमशः आकार, ईकार, ऊकार की अभिव्यक्ति होती है। तदनुसार परापंचाशिका में भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया शब्द से उपलक्षण के रूप में वामा, ज्येष्ठा और रौद्री का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

१. शक्तौ–ख. ने. ज. झ., शक्तेः–मु.। २. पुरतो–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. चार सन्ध्यक्षरों के उत्पत्तिक्रम की तुलना सौभाग्यसुधोदय (१।२२-२३) तथा तन्त्रालोक (३।९३-९७) से कीजिये। औकार की त्रिशूलता की उपपत्ति तन्त्रालोक (३।१०४-१०५) में बताई गई है।

2. सौभाग्यसुधोदय (१।२०-२१) में चार षण्ढ स्वरों की उत्पत्ति की प्रक्रिया स्पष्ट की गई है। तदनुसार प्रकाशात्मक अकार का स्वरूप धारण करने वाला परप्रमाता आदिशिव अपनी विमर्श शक्ति को जगा कर जब इच्छाशक्ति के सहारे सारे जगत् की सृष्टि करना चाहता है, तो उस समय उसमें ईशन शक्ति का उदय होने लगता है। इच्छाशक्ति के उन्मेष के बाद और ईशन शक्ति के उन्मेष से पहले, अर्थात् दोनों की अन्तराल अवस्था में मिश्रित स्वरूप वाले चार स्वरों की निष्पत्ति होती है। इनमें ह्रस्व स्वरों क अभिव्यक्ति में इच्छा (इकार) का और दीर्घ स्वरों की अभिव्यक्ति में ईशन (ईकार) का योगदान रहता है। शिक्षा ग्रन्थों और व्याकरण शास्त्र में वर्णों के उच्चारण के स्थानों का वर्णन मिलता है। वहाँ भी इकार और उकार के उच्चारण स्थान के बीच में ऋकार और लृकार का स्थान माना गया है।

इति परापञ्चाशिकोक्तरीत्याऽकुलेशनाभ्यां मिश्रेण भाविताः षण्ढात्मानः स्थूल-वर्णाः, तैरपि । तत्र ह्रस्वद्वयमेव ग्राह्यम् । अत एवाऽकुल एको वर्णः, इच्छात्मको द्वितीयः, उन्मेषोऽपरः, परं षण्ढं ह्रस्वद्वयं च, एकार-ऐकार-ओकार-औकाराश्चेति नव स्वरा भवन्ति । वेद्योष्मरूपसाद्यर्णैः[1]

सत्तावाचिनि बीजे तु सादिमायान्तिमं जगत् ।
विलुप्तप्रत्ययाकारमेवैतत् परिशिष्यते ॥ (श्लो० ४४)

इति परापञ्चाशिकोक्तरीत्या वेद्यस्य षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मनः संकल्परूपा उष्माणः, "शषसहा ऊष्माणः" इति तन्त्रान्तरवचनात् । एवम्भूतः स आदिर्यस्य हकारस्य स एव वेद्योष्मरूपसादिर्हकारः, तदाद्यवर्णैः । अत्रैक आदिशब्दोऽध्याहार्यः । कुल-शक्तिसमावेशरूपवर्णद्वयान्वितैः । कुलशक्तिः कुण्डलिनी, तस्याः समावेश उदय-विश्रान्तिस्थानद्वयम् आधारब्रह्मरन्ध्रमयम्, तद्रूपं वर्णद्वयं लकारवकारात्मकम् ।

इस तरह से अकुल और ईशन के मिश्रण से षण्ढ संज्ञा वाले चार स्थूल वर्णों (ऋ ॠ ऌ ॡ) की उत्पत्ति होती है । उनमें से यहाँ दो ह्रस्व वर्णों का ग्रहण होता है । इस तरह से यहाँ पहला वर्ण अकुल (अकार), दूसरा इच्छात्मक इकार और तीसरा उन्मेष (उकार) है, इसके बाद षण्ढ अक्षरों में से ह्रस्व ऋकार और ऌकार तथा इसके बाद एकार, ऐकार, ओकार, औकार—ये नौ स्वर यहाँ गृहीत होते हैं । इसके बाद वेद्योष्मरूप सादि (हकार आदि) वर्णों की स्थिति मानी जाती है । परापंचाशिका में ही बताया गया है—

सत्तावाचक बीज सकार में हकार से [1]ककार पर्यन्त सारा जगत् छिपा हुआ है । इसमें सत्तावाचक सकार ही बचा रहता है, बाकी सब इसी में विलीन हो जाते हैं ॥

तदनुसार छत्तीस तत्त्व वाले इस वेद्य जगत् के संकल्प स्वरूप हैं ऊष्म वर्ण । व्याकरण शास्त्र में श ष स ह ये चार अक्षर ऊष्म कहे जाते हैं । वेद्योष्म रूप सादि वर्ण यहाँ हकार है, क्योंकि सकार उस हकार के आदि में है । सादि शब्द से हकार का ग्रहण हो जाता है । पुनः यहाँ आदि पद का अध्याहार कर हकारादि अर्थ करना पड़ता है । इनके साथ कुलशक्ति समावेश रूप दो वर्णों की और स्थिति रहती है । कुलशक्ति का अर्थ है कुण्डलिनी । उसके समावेश के, अर्थात् उदय और विश्रान्ति के दो स्थान हैं—आधार और ब्रह्मरन्ध्र । कुलशक्ति का उदय लकार और विश्रान्ति वकार में होती है ।

---

१. सावर्णैः–ख. ग. ज. ।

1. तन्त्राभिधान (पृ० ३५-४०) में संगृहीत मातृकानिघण्टु (श्लो० १९) में माय शब्द से ककार का ग्रहण किया गया है ।

"आधारपङ्कजं पीतं चतुष्पत्रं सुकेसरम्" इत्यादिना "पार्थिवं पङ्कजं ह्येतत्" इत्यन्तेन स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्याऽऽधारपङ्कजस्य पार्थिवात्मकतया लकारः ।

ब्रह्मरन्ध्रे [2]यवादूर्ध्वं कुलपद्मं महेश्वरि ।
श्वेतं सुकेसरोपेतं सहस्रारमधोमुखम् ॥

[3]इत्यादिना

व्यापिनी [4]केवला शक्तिरमृतौघप्रवर्षिणी ।

इत्यन्तेन स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्याऽमृतमयो वकारः । एतद्वर्णद्वयान्वितैः । कोऽर्थः ? कुलशक्तेरिच्छात्मिकायाः कुण्डलिन्या उन्मेषात् षट्चक्रपञ्चगगनद्वादशग्रन्थिभेद-क्रमेणाकुलसमावेशाद् अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ह य र व ल इति वर्ण-चतुर्दशकमुत्पद्यते । तदुक्तमागमान्तरे[5] भूतलिप्युद्धारप्रसङ्गे—"पञ्च ह्रस्वाः

स्वच्छन्दसंग्रह में आधार पंकज पीत वर्ण, चार पत्र और सुकेसर वाला बताया गया है और कहा गया है कि यह पंकज पार्थिव है । इसके लिये इसका बीज लकार है । स्वच्छन्द-संग्रह के ही—

हे महेश्वरि ! ब्रह्मरन्ध्र में एक जौ ऊपर [1]कुल पद्म है, यह श्वेत वर्ण का है, सुन्दर केसर से सुशोभित है और अधोमुख सहस्रदल वाला है । अमृत की घनघोर वर्षा करने वाली केवल व्यापिनी शक्ति यहाँ स्थित है ॥

इन वचनों के अनुसार अमृतमय बीज वकार माना जाता है । इन दो वर्णों के साथ हकार आदि अक्षरों की भी यहाँ स्थिति मानी जाती है । इसका अभिप्राय यह है कि कुलशक्ति, अर्थात् इच्छाशक्तिस्वरूपिणी कुण्डलिनी शक्ति के उन्मेष से, [2]षट्चक्र, पंच-गगन, द्वादश ग्रन्थि को भेद कर अकुल कमल में प्रवेश करने पर अ इ उ ऋ ऌ ए ऐ ओ औ ह य र व ल इन चौदह वर्णों की उत्पत्ति होती है । भूतलिपि के उद्धार के प्रसंग में

---

१. वतया–ख. ने. झ. उ. । २. ध्रुवादूर्ध्वे–क. ग. । ३. 'इत्यादिना' नास्ति–क. ग. उ. । ४. केवलं शश्वद''''षिणम्–क. । ५. मसारे–ज., मागारे–झ. उ. ।

1. पृ० ३५ पर उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह के वचन के अनुसार ऊर्ध्वमुख सहस्रदल पद्म की संज्ञा कुल तथा अधोगत सहस्रदल की संज्ञा अकुल है । प्रस्तुत वचन उसके विपरीत अधोमुख सहस्रदल कमल को कुल नाम देता है । अन्यत्र शक्ति को कुल तथा शिव को अकुल कहा गया है । तदनुसार ब्रह्मरन्ध्र स्थित कमल की अकुल संज्ञा ही होनी चाहिये । दीपिकाकार ने भी पृ० ३२६ पर यही व्याख्या की है । 'यवादूर्ध्वेऽकुल' पाठ मानने पर यह विसंगति दूर हो सकती है ।

2. छः चक्र, पाँच गगन (शून्य) तथा बारह ग्रन्थियों का विवरण योगशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में दिया गया है । नेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार में भी इनका वर्णन है ।

सन्धिवर्णा 'व्योमेराग्निजलं धरा'' (शा० ति० ७।२)। इति तन्मयं चतुर्दशारचक्रमित्यर्थः ॥१३६-१३८॥

सम्प्रदायक्रमायातसौभाग्यदायकशब्दयोर्वासनामाह—

शक्तेः सारमयत्वेन प्रसृतत्वान्महेश्वरि ॥१३८॥

सम्प्रदायक्रमायाताश्चक्रे सौभाग्यदायके[2] ।

शक्तेरिच्छाशक्तेः कुण्डलिन्याः, सारः प्रसारः, पूर्वोक्तरीत्याऽकुलस्थानस्थाऽनुत्तरशिवसंसर्गः, तन्मयत्वेन तदुत्पन्नत्वात्, एतेषां वर्णानां तैर्वर्णैः प्रसृतत्वात् सर्वसंक्षोभिण्यादिशक्तीनां सम्प्रदायक्रमायातत्वम्, "सम्प्रदायो महाबोधरूपो गुरुमुखे स्थितः" (२।२६) इति पूर्वोक्तरीत्या गुरु[3]मुखादधिगतत्वाद् वर्णोत्पत्तेः। आसां च तन्मयत्वम्। अत एव [4]ताः सम्प्रदायक्रमायाता इत्यर्थः ॥१३८-१३९॥

---

[1]आगमान्तर (शारदातिलक) में पाँच ह्रस्व स्वर, चार सन्धि वर्ण और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी वाचक पाँच वर्णों के रूप में इनका उद्धार किया गया है। चतुर्दशार चक्र इन चौदह भूतलिपि वर्णों से सम्पन्न है ॥१३६-१३८॥

अब सम्प्रदायक्रमायात और सौभाग्यदायक शब्दों की वासना बताते हैं—

हे महेश्वरि ! कुण्डलिनी शक्ति के प्रसार से उत्पन्न होने के कारण सर्वसंक्षोभिणी आदि शक्तियों के स्वरूप का ज्ञान सम्प्रदाय से ही, गुरु-परम्परा से ही प्राप्त हो सकता है। अतः सर्वसंक्षोभिणी आदि सम्प्रदाय योगिनियों की सौभाग्यदायक चक्र में पूजा करनी चाहिये ॥१३८-१३९॥

शक्ति का, इच्छा शक्ति कुण्डलिनी का, प्रसार ऊपर बताई गई पद्धति से अकुल स्थानगत अनुत्तर शिव पर्यन्त होता है। कुल कुण्डलिनी और अकुल शिव के संपर्क से ही समस्त वर्णों की उत्पत्ति मानी जाती है। ऊपर बताये गये चौदह भूतलिपि वर्णों से सर्वसंक्षोभिणी आदि चौदह शक्तियों का स्वरूप बनता है, इसका ज्ञान सम्प्रदाय क्रम से ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ पहले ही बताया गया है कि सम्प्रदाय क्रम से प्राप्त होने वाला उत्तम ज्ञान गुरु के मुँह में विद्यमान है (२।२६)। इस तरह से वर्णों की उत्पत्ति की प्रक्रिया का ज्ञान गुरुमुख से ही प्राप्त हो सकता है और ये सर्वसंक्षोभिणी आदि

---

१. द्यौर्वाय्व–क. ग. ने.। २. कारके–ने. ज. झ. उ.। ३. वक्त्रावगतत्वाद्–ख. ने. ज. ज. झ. उ. ४. एताः–ख. झ.।

1. आगमान्तर के नाम से उद्धृत यह श्लोक शारदातिलक (७।२) में मिलता है। इससे शारदातिलककार की स्थिति अमृतानन्द से पहले मानी जायगी। इस प्रसंग में लुप्ता० उपो० के पृ० ४६ की टिप्पणी देखिये। दीपिकाकार के अनुसार शारदातिलक आगमान्तर है। अतः इसको श्रीसम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

निरन्तरप्रथा[1]रूपसौभाग्यबलयोगतः ॥१३९॥

अन्वर्थसंज्ञके देवि अणिमासदृशाः[2] शुभाः ।

सर्वसंक्षोभिणीपूर्वा देहाक्षादिविशुद्धिदा ॥१४०॥

ईशित्वसिद्धिरपि च प्रोक्तरूपे पुरत्रये ।

योगादिक्लेशभेदेन सिद्धा त्रिपुरवासिनी ॥१४१॥

एताः सम्पूजयेद् देवि सर्वाः सर्वोपचारकैः ।

अणिमासदृशाः "तास्तु रक्ततरा वर्णैः" (३।११५) इत्यादिपूर्वोक्ता[3] अणिमासिद्धिसदृशरूपाः। सर्वसंक्षोभिणीपूर्वाः "सर्वसंक्षोभिणी शक्तिः" (१।१६५) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्ताः। निरन्तरप्रथा[4] शिवाद्वैतभावना, [5]सैव सौभाग्यम्, परमसुभगपरमप्रेमास्पदपरशिवाभेदगोचरत्वात्, तदेव बलं शक्तिः, तद्योगतः अनित्याशुचिरूपपरमदुर्भगसर्वजुगुप्साभेदलक्षणसंसारपरिपन्थिपरमप्रेमास्पदसर्वस्पृहणीयपरमसुभगपरमशिवाहन्तालक्षणसौभाग्यप्रतिपादकशक्तिसंयोगात्। अन्वर्थ-

---

शक्तियाँ उन्हीं वर्णों से अभिव्यक्त होती हैं, अतः इन शक्तियों को सम्प्रदाय योगिनियों के नाम से जाना जाता है ॥१३८-१३९॥

हे देवि ! अणिमा सिद्धि के समान रूपवाली और कल्याणकारिणी सर्वसंक्षोभिणी आदि शक्तियाँ निरन्तर प्रथा रूप सौभाग्य-बल से सम्पन्न होने के कारण अन्वर्थसंज्ञक सौभाग्यदायक चक्र में पूजी जाती हैं। देह, इन्द्रिय आदि को विशुद्ध करने वाली ईशित्व सिद्धि को, प्रोक्तरूप पुरत्रय में योग आदि के क्लेशों का भेदन करने वाली त्रिपुरवासिनी की और इन सब देवियों की पहले बताये गये सभी प्रकार के उपचारों से सविधि पूजा करनी चाहिये ॥१३९-१४२॥

अणिमा आदि सिद्धियों के विषय में पहले (३।११५) बताया गया है कि इनका वर्ण चटक लाल है। वैसा ही रूप इन सर्वसंक्षोभिणी आदि देवियों का भी है। इनके नाम चतुःशती शास्त्र (१।१६५-१६८) में बताये गये हैं। निरन्तर प्रथा का अर्थ है शिवाद्वैतभावना। इसी का नाम है सौभाग्य, क्योंकि परम सुभग परम प्रेमास्पद परम शिव से यह अभेद स्थापित करने वाला है। इस सौभाग्य के बल (शक्ति) के योग से, अनित्य अशुचिरूप परम दुर्भग सभी के लिये जुगुप्सा (घृणा) के योग्य भेददृष्टिप्रधान इस संसार के परिपन्थी (शत्रु) परम प्रेमास्पद सर्वस्पृहणीय परम सुभग परम शिव के साथ अभेद दृष्टि को स्थापित करने वाली परम सौभाग्य को प्राप्त कराने वाली शक्ति के सम्पर्क से, अन्वर्थ

---

१. प्रथा–क. ग.। २. सदृशीः–ख. ने. च. छ. ज. झ.। ३. क्ताणिमादिसिद्धिसदृशीः–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. प्रथा–क. ग., अन्तरभेदो निरन्तरप्रथा–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. 'सैव' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

संज्ञकेऽनुकूलार्थाक्षरशालिनि[1] संज्ञावति सौभाग्यदायके[2] चक्रे, सम्पूजयेदित्यनुषङ्गः।

देहः षट्त्रिंशत्तत्त्वसमुदायलक्षणः। तच्छब्देन तदहन्ताभिमानी प्रमाता लक्ष्यते। अक्षाणि इन्द्रियाणि प्रमाणानि। आदिशब्दाद् विषयाः प्रमेयरूपा गृह्यन्ते। तेषां विशुद्धि[3]श्चिदेकविश्रान्तिः, तत्प्रदा। तस्यां विशुद्धौ यष्टुरीश्वरत्वं[4] स्वातन्त्र्यं सिद्ध्यति। सा चात्र प्रोक्तरूपे प्रमातृप्रमाणप्रमेयलक्षणे पुरत्रये[5] चिन्निवासस्थानत्वात्। अत्रैव वक्ष्यति—"मातृमानप्रमेयाणां पुराणां परिपोषिणी" (३।५०) इति। योगादिक्लेशभेदेन। "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, इन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वनियमात् ततोऽप्यर्थसन्निकृष्टेनेन्द्रियेण" इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या मातृमानमेयेषु तत्तद्रूपेण चिन्मरीचीनां प्रसरस्तत्समवायो योगः, स एवादिक्लेशः। असङ्गाद्वयापरिच्छिन्नसंविदात्मनो मानसेन्द्रियविषयात्मना बहि-

संज्ञा वाले, अर्थ के अनुकूल अक्षरों की संज्ञा वाले, अर्थात् ऊपर वर्णित सौभाग्य को सचमुच देने वाले सौभाग्यदायक चक्र में सर्वसंक्षोभिणी आदि देवियों की पूजा करनी चाहिये।

छत्तीस तत्त्वों का समुदाय देह है। देह शब्द से यहाँ उसमें अपनापन देखने वाला प्रमाता लक्षित होता है। अक्ष अर्थात् इन्द्रियाँ, इनसे प्रमाण लक्षित होता है। आदि शब्द से प्रमेय स्वरूप विषयों का ग्रहण किया जाता है। इन सबकी विशुद्धि का अर्थ है इनकी एकमात्र चित्स्वरूप में विश्रान्ति। इस विशुद्धि के हो जाने पर साधक की ईश्वरता सिद्ध हो जाती है, वह परम स्वतन्त्र हो जाता है। यह ईशित्व सिद्धि ऊपर बताये गये प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय स्वरूप पुरत्रय में चित्स्वरूप का आलोक फैला देती है। यही आगे बताया जायगा—"माता, मान और प्रमेय लक्षण तीनों पुरों का यह पालन करने वाली है"। न्यायदर्शन[1] में बताया गया है—"आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अर्थ से संयुक्त होती है। इन्द्रियों का यह नियम है कि वे वस्तु के पास पहुँच कर उसका ग्रहण करती हैं। इस तरह से यह आत्मा अन्ततः अर्थसन्निकृष्ट इन्द्रिय से संयुक्त हो जाता है"। इस तरह माता, मान और मेय के रूप में चिन्मरीचियों का प्रसार ही यहाँ संयोग कहा जाता है। त्रिपुटी (माता, मान और मेय) का यह योग ही सबसे बड़ा क्लेश है। असंग, अद्वय, अपरिच्छिन्न, संवित्स्वरूप आत्मा पर मन, इन्द्रिय और विषय की यह बाहरी छाया ही सब प्रकार के दुःखों को जन्म देती है। इस क्लेश का यह शक्ति भेदन कर देती है।

१. शालिसंज्ञा–ख. ने. उ.। २. कारके–ख ने. ज. झ. उ.। ३. विवेक–ख. ने. ज. झ. उ.। ४. रीशित्वं–ख. ने. झ.। ५. त्रयेऽपि निवा–ख. ने. ज. झ.।

1. इस उद्धरण का आधा अंश न्यायभाष्य (१।१।४) में आनुपूर्वी से मिलता है। पूरा उद्धरण वहाँ उपलब्ध नहीं है।

रूपराग एव हि क्लेशः क्लिष्टत्वम्, तद्भेदेन। प्रत्यङ्मुखतया तदैकरस्येन परप्रमातृविश्रान्तिर्भेदः। तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—

[1]सर्वसंविन्नदीभेदभिन्नविश्रान्तिभूमये।
नमः प्रमातृवपुषे[2] शिवचैतन्यसिन्धवे[3] ॥ इति।

स्तोत्रावल्यामपि—

"यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते" इति।

सिद्धा त्रिपुरवासिनी। पूर्वोक्तपुरत्रयविश्रान्तिरूपिणी चतुर्थचक्रेश्वरी। एताः पूज्या आवरणदेवताः सिद्धिचक्रेश्वरीयुताः। सर्वाः सर्वोपचारैर्गन्धादिभिः पूजयेत् ॥१३९-१४२॥

यहाँ भेदन शब्द का अर्थ है पराङ्मुख इन्द्रियों को प्रत्यङ्मुख बना कर, उनके द्वारा उत्पन्न की गई भेददृष्टि को समरसता में समेट कर परम प्रमातृ पद में विश्राम दिलाना। [1]परापंचाशिका में कहा गया है—

समस्त संवित्स्वरूपिणी नदियों के भेद को जिस भूमि में विश्रान्ति मिल गई, उस परम प्रमाता स्वरूप शिव चैतन्य रूपी सिन्धु (समुद्र) को मैं नमन करता हूँ॥

[2]स्तोत्रावली में भी बताया गया है—

जहाँ जहाँ मरीचियाँ मिलती हैं, अर्थात् बाह्य इन्द्रियाँ जिन जिन विषयों को ग्रहण करती हैं, सर्वत्र भगवान् शिव का ही स्वरूप भासित होता है॥

यह विश्राम दिलाने वाली देवी यहाँ सिद्धा त्रिपुरवासिनी कही गई है। ऊपर बताये गये पुरत्रय को परम स्वरूप में समरस कर देने वाली यह देवी चतुर्थ चक्र की स्वामिनी है। ईशित्व सिद्धि और चक्रेश्वरी के साथ इस चक्र में चौदह आवरण देवताओं की पूजा सर्वविध गन्ध आदि उपचारों से करनी चाहिये ॥१३९-१४२॥

१. सर्वचित्तादिकाद् भेदाद्–ख. ने. ज. झ. उ.। २. विधये–ख. ने. ज. उ.। ३. सिद्धये-ख. ने. ज. उ.।

1. परापंचाशिका के नाम से उद्धृत यह श्लोक मुद्रित ग्रन्थ में अथवा उसकी किसी भी मातृका में हमें अब तक उपलब्ध नहीं हुआ।

2. उत्पलभट्ट की मुद्रित शिवस्तोत्रावली में यह श्लोक उपलब्ध नहीं है। पृ० २११ की पहली टिप्पणी देखिये।

पञ्चमचक्रपूजां सवासनामाह—

सदातनानां नादानां नवरन्ध्रस्थितात्मनाम् ।।१४२।।

महासामान्यरूपेण व्यावृत्तध्वनिरूपिणी ।

अस्थिरस्थिरवेद्यानां छायारूपैर्दशार्णकैः ।।१४३।।

कुलकौलिकयोगिन्यः सर्वसिद्धिप्रदायिकाः ।

सदातनानां यावच्छरीरभावितानाम् । नादानाम् अविकृतशून्यस्पर्शनादध्वनिबिन्दुशक्तिबीजाक्षराख्यानाम् । नवरन्ध्रस्थितात्मनाम् । नवरन्ध्राणि नवाधाराणि सुषुम्नान्तर्गतगगन[2]भागरूपाणि [3]आधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहततदूर्ध्ववज्रपद्मकण्ठलम्बिकाविशुद्धाज्ञाख्यानि । तदुक्तं स्वच्छन्दसंग्रहे—

[4]आधारं स्वाधिष्ठानं च मणिपूरमनाहतम् ।
मध्यमं वज्रकण्ठं च लम्बिकां च विशुद्धिकाम् ॥
आज्ञां च [5]नवकं विद्धि षट्चक्राणि त्रिहीनकम् । इति ।

वासना के साथ अब पंचम चक्र की पूजाविधि बताते हैं—

नवरन्ध्र स्थित सनातन नौ नादों और एक महासामान्य स्वरूप समष्टिनाद के भेद से दशधा विभक्त स्वरूप वाली यह पंचम चक्रेश्वरी देवी पहचानी जाती है। यह पहले अपने अस्थिर और स्थिर वेद्यों के छाया स्वरूप दस वर्णों के रूप में तथा बाद में समस्त सिद्धियों को देने वाली कुलकौलिक योगिनियों के रूप में प्रकट होती है ॥ १४२-१४४ ॥

[1]अविकृत, शून्य, स्पर्श, नाद, ध्वनि, बिन्दु, शक्ति, बीज और अक्षर नामक नौ नाद सनातन हैं। जब तक शरीर है, तब तक इनका निरन्तर नदन होता रहता है। ये नवरन्ध्रों में स्थित हैं। सुषुम्ना नाडी के मध्यगत आकाश में आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, [2]तदूर्ध्व वज्रपद्म, कण्ठ, लम्बिका, विशुद्ध और आज्ञा नामक जो नौ आधार हैं, उन्हीं को यहाँ नवरन्ध्र कहा गया है। स्वच्छन्दसंग्रह में इनके नाम ये हैं—

आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, मध्यम वज्र, कण्ठ, लम्बिका, विशुद्धिका और आज्ञा। इन नौ में से तीन को हटा देने पर षट्चक्र बच जाते हैं ॥

१. चक्र–ज. । २. नाभासरूपत्वात्–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. 'आधार'''ज्ञाख्यानि' नास्ति–ख. ज. ब. उ. । ४. मूलाधारं स्वाधिष्ठानं–ज. । ५. नवके–ख. ज. उ. ।

1. संकेतपद्धति में आठ ही नाद गिनाये गये हैं। पृ० १९३ की पहली टिप्पणी देखिये। यहाँ गिनाये गये अविकृत नाद को नवम निर्विशेष नाद से अभिन्नता मानी जा सकती है।

2. नवाधारों के यहाँ दिये गये नामों के विषय में उपोद्घात में विचार किया जायगा।

तेषु स्थितात्मनां तेषाम् । महासामान्यरूपेण । महद् आद्यन्तरहितं निर्विशेषध्वनिलक्षणं सामान्यं समष्टिः, तद्रूपेण । व्यावृत्तध्वनिरूपिणी । एवं व्यावृत्तो विभक्तो दशधा ध्वनिः, तद्रूपिणी, अविकृतादिनादमयसूक्ष्ममध्यमारूपिणीत्यर्थः । अस्थिरस्थिरवेद्यानाम् । अस्थिरवेद्यानि कर्मेन्द्रियगोचरतया क्रियारूपाणि वचनादानगमनविसर्गानन्दाख्यानि, स्थिरवेद्यानि ज्ञानेन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तेषामस्थिरस्थिरवेद्यानाम् । छायारूपैः प्रतिबिम्बभूतैः । दशार्णकैः टतवर्गद्वयदशार्णैः, आविष्कृता इति शेषः । कुलकौलिकयोगिन्यः । अत एव कुलस्य देहस्यावयवभूतानि दशेन्द्रियाणि कुलशब्देनोच्यन्ते, [1]तत्संबन्धात् तद्बाह्यदशविषयाः कौलिका इत्युच्यन्ते, तैर्योगः संबन्धः कार्यकारण[2]भावलक्षणो यासां ताः कुलकौलिकयोगिन्यः ।

ननु भूतलिप्युद्धारक्रमेण[3] क्रमप्राप्तौ कवर्गचवर्गौ, कथं टतवर्गौ [4]तस्मिन् दशारे व्युत्क्रमेण कथ्येते ? उच्यते—चतुर्दशारदशारद्वयचक्राणां स्थितिरूपत्वाद् भूतलिपेर्मध्यमावयवत्वान्मध्यमायाश्च स्थितिरूपत्वात् स्थितिक्रमोऽयं [5]वर्ग-

इन नौ आधारों में नौ प्रकार के नाद स्थित हैं। दसवां नाद इन सबकी महासमष्टि है। आदि और अन्त से रहित होने से यह महान् और निर्विशेष ध्वनि स्वरूप होने से सामान्य, अर्थात् समष्टि स्वरूप है। इस तरह दशधा विभक्त नाद ही इस पंचम चक्रेश्वरी का स्वरूप है। यह देवी अविकृत आदि दस नादों वाली है। यही सूक्ष्म मध्यमा वाणी का भी स्वरूप है। कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न होने वाली वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनन्द नामक क्रियाएँ अस्थिर वेद्य तथा ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत होने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक विषय स्थिर वेद्य कहलाते हैं। इन अस्थिर और स्थिर वेद्यों के प्रतिबिम्बभूत दस वर्ण टवर्ग और तवर्ग हैं। इनसे कुलकौलिक योगिनियों का आविष्कार होता है। कुल (शरीर) की अवयवभूत दस इन्द्रियां भी कुल शब्द से बोधित होती हैं। इन इन्द्रियों से संबद्ध बाह्य दस विषय कौलिक कहे जाते हैं। इन कुलों और कौलिकों से जिनका कार्यकारणभाव संबन्ध है, वे कुलकौलिक योगनियां हैं।

प्रश्न उठता है कि भूतलिपि का उद्धार यहाँ बताया जा रहा है। तदनुसार पूर्वोक्त १४ वर्णों के उद्धार के बाद कवर्ग और चवर्ग का उद्धार बताया जाना चाहिये। उस क्रम को बदल कर यहाँ टवर्ग और तवर्ग का उद्धार कैसे किया जा रहा है? इसका समाधान यह है कि चतुर्दशार और द्विदशार (बाह्यदशार और अन्तर्दशार) ये तीनों

१. तत्संग्राह्या दश–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'भाव' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. क्रमे–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. अस्मिन्–क. । ५. वर्गन्यासः–ख. ने. ज. झ. उ. ।

व्यत्ययः । अत एव च तत्कारणभूतसूक्ष्ममध्यमात्मना नादमयत्वसंज्ञाकथनमस्य[1] चक्रस्य।

सर्वसिद्धिप्रदायिकाः । सर्वस्य पूर्वोक्तस्य ज्ञानकर्मेन्द्रियविषयजातस्य, सिद्धिः प्रतीतिः प्रमातृविश्रान्तिः, तल्लक्षणायाः सिद्धेः[2] प्रदायिकाः ॥१४२-१४४॥

[3]तासां ध्यानमाह—

श्वेताम्बरधराः[4] श्वेताः श्वेताभरणभूषिताः । १४४॥

स्पष्टम्[5] ॥१४४॥

सर्वार्थसाधकचक्र[6]व्युत्पत्तिमाह—

मन्त्राणां[7] स्वप्रथारूपयोगादन्वर्थसंज्ञके ।
सर्वसिद्धिप्रदाद्यास्तु चक्रे सर्वार्थसाधके ॥१४५॥

चक्र स्थिति रूप हैं । भूतलिपि मध्यमा वाणीमय है और मध्यमा भी स्थिति रूप है । अतः इस स्थिति क्रम को बताने के लिये यहाँ वर्ग का क्रम बदल दिया गया गया है । इसीलिये इन वर्गों की कारणभूत सूक्ष्म मध्यमा वाणी की नादात्मकता के आधार पर इस पंचम चक्र की भी नादात्मकता प्रतिपादित होती है ।

ये योगिनियां ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के सभी विषयों की सिद्धि को प्रदान करने वाली हैं, अर्थात् अपने प्रमातृपद में इनको विश्राम देकर सब तरह से कृतार्थ कर देती हैं ॥ १४२-१४४ ॥

अब इनका ध्यान बताते हैं—

इनका वर्ण श्वेत है । ये श्वेत वस्त्र और श्वेत आभूषणों से सुशोभित हैं ॥ १४४ ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥ १४४ ॥

सर्वार्थसाधक चक्र की व्युत्पत्ति बताते हैं—

मन्त्रों के स्वप्रथारूप सभी प्रयोजनों को यह सिद्ध कर देता है, अतः अर्थ के अनुरूप नाम वाले इस सर्वार्थसाधक चक्र में सर्वासिद्धिप्रदा आदि योगिनियाँ निवास करती हैं ॥१४५॥

---

१. मानादमयसंज्ञा–ख. ने. ज. झ. उ. । २. 'सिद्धेः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. आसां–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. श्वेता वराभयकराः–ख. ने. च. छ. ज. झ. । ५. स्पष्टमेतत्–ज. । ६. चक्रोत्पत्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ७. स्वप्रथामननत्राणयोगा–ख. ने. च. छ. ज. ।

[1]'सर्वसिद्धिप्रदाद्याः "सर्वसिद्धिप्रदा देवी" (१।१६९) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्ताः । मन्त्राणां पूर्वोक्त(२।१)निर्वचनानां मननत्राणवताम्, स्वप्रथारूपयोगात्, स्वस्य शिवात्मनः साधकस्य, [2]प्रथा शिवाहम्भावभावना, तदेव मननत्राणनम्, तद्योगात् । अन्वर्थसंज्ञके सर्वार्थसाधकपदानुकूलार्थवत्संज्ञाशालिनि शिवाहम्भावभावनालक्षणमननात् सर्वेषां स्वसाधकानामर्थं परमप्रयोजनं मोक्षं साधयतीति विशेषात् सर्वार्थसाधकचक्रे, संस्थिता इति शेषः ॥१४५॥

स्वनाम[3]पदार्थव्युत्पत्तिपुरःसरमेतच्चक्रेश्वरी[4]माह—

लोकत्रयसमृद्धीनां हेतुत्वाच्चक्रनायिका ।
त्रिपुराश्रीर्महेशानि मन्त्रशुद्धिभवा पुनः ॥१४६॥
वशित्वसिद्धिराख्याता एताः सर्वाः समर्चयेत् ।

[5]लोकयतीति लोकः, लोकनं लोकः, लोक्यत इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकत्रयस्य मातृमानमेयलक्षणस्य समृद्धीनां [6]परिपूर्णप्रमातृविश्रान्तिलक्षणानां

आदि शब्द से सर्वसिद्धिप्रदा के साथ चतुःशती शास्त्र (१।१६९-१७१) में वर्णित अन्य शक्तियों का भी ग्रहण होता है । मन्त्रों के निर्वचन के प्रसंग में पहले (२।१) बताया जा चुका है कि मन्त्रों का मनन करने से वे साधक की रक्षा करते हैं । साधक अपने स्वरूप को भूल जाता है, मन्त्र उसको अपने शिवस्वरूप का बोध करा देते हैं । इसी को मन्त्रों की मनन-त्राणता कहते हैं । यह सर्वार्थसाधक चक्र अपने पद के अनुकूल अर्थ, अभीष्ट पदार्थ को देकर अपने नाम को सार्थक बना देता है, अर्थात् मैं शिव ही हूँ, इस तथ्य का मनन करने वाले सभी साधकों के परम प्रयोजन मोक्ष को सिद्ध कर देता है । इसीलिये इस चक्र में सर्वसिद्धिप्रदा आदि शक्तियाँ निवास करती हैं ॥१४५॥

अपने नामपद की व्युत्पत्ति के साथ इस चक्र की स्वामिनी का वर्णन करते हैं—

हे महेशानि ! तीनों लोकों की समृद्धि को देने वाली इस चक्र की स्वामिनी त्रिपुराश्री कहलाती है । मन्त्र की शुद्धि के सम्पन्न होने पर यह साधक को वशित्व सिद्धि प्रदान करती है । इन सबकी यहाँ पूजा करनी चाहिये ॥१४६-१४७॥

लोक शब्द की कर्ता, कर्म और करण व्युत्पत्ति के आधार पर माता, मान और मेय-लक्षण लोकत्रय का ग्रहण होता है । इस विषय का वर्णन पहले (१।८२) भी किया जा चुका है । इन तीनों की समृद्धि यही है कि परिपूर्ण प्रमातृस्वरूप में पूरी तरह से विश्राम

---

१. 'सर्व...साधकस्य' नास्ति–ख. ने. ज. ब. उ. । २. स्वप्रथा–ख. ने. ज. उ. । ३. मार्थवद्युत्पत्ति–ख. ने. उ. । ४. चक्रेशी–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. लोकयतीति, लोकतेऽनेनेति, लोक्यत–ख. ने. ज. ब. उ. । ६. परप्रमातृ–ख. ने. ज. झ. उ. ।

हेतुत्वात् त्रिपुराश्रीः पञ्चमचक्रेश्वरी[1] पूज्येत्यर्थः। मन्त्राणां शुद्धिर्नाम "अकुले विषुसञ्ज्ञे च" (१।२५) इत्यादिपूर्वोक्तरीत्या [2]उन्मन्यन्तकाललयलक्षणोच्चारणेन [3]चिन्मयताभावना। तादृशमन्त्रशुद्ध्या स्वसाधकस्य वशित्वं [4]सकलजगत्सर्जने रक्षणे संहारे च [5]स्वातन्त्र्यं सिद्ध्यतीति तादृशी परशिवताप्राप्तिः। सा चास्मिन् चक्रे वशित्वसिद्धिरिति। एताः सर्वा आवरणदेवताश्चक्रेश्वरीसिद्धिसंयुताः समर्चयेत् ॥१४६-१४७॥

षष्ठचक्रपूजां सवासनामाह—

ऊर्ध्वाधोमुखया देवि कुण्डलिन्या प्रकाशिताः ॥१४७॥
कुलेच्छया बहिर्भावात् कादिवर्णप्रथामयाः[6] ।
निगर्भयोगिनीवाच्याः[7] स्वरूपावेशरूपके ॥१४८॥
सर्वावेशकरे चक्रे सर्वरक्षाकरे[8] पराः ।
सर्वज्ञाद्याः स्थिताः

प्राप्त कर ले, समरसाकार हो जाय। यह देवी इस समृद्धि को देती है, इसीलिये इस पंचम चक्र की स्वामिनी का नाम त्रिपुराश्री है। इसी की इस चक्र में पूजा की जाती है। मन्त्रों की शुद्धि पहले (१।२५) बताई गई पद्धति से उन्मनी पर्यन्त कलाओं में काल की मात्राओं को विलीन करते हुए उच्चारण के समय चिन्मय स्वरूप की भावना से होती है। मन्त्र की इस तरह से शुद्धि हो जाने पर यह देवी अपने साधक को वशिता सिद्धि प्रदान करती है। इससे साधक जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार करने में समर्थ हो जाता है, उसे परशिवता की प्राप्ति हो जाती है। इसी पंचम चक्र में यह वशिता सिद्धि भी रहती है। इसीलिये त्रिपुराश्री और वशिता सिद्धि के साथ सर्वसिद्धिप्रदा आदि सभी आवरण देवताओं की यहाँ पूजा करनी चाहिये ॥१४६-१४७॥

अब वासना के साथ षष्ठ चक्र की पूजाविधि बताते हैं—

हे देवि! ऊर्ध्वमुख और अधोमुख कुण्डलिनी के द्वारा प्रकाशित, कुल के निर्माण की इच्छा से बहिर्भूत परा शक्ति ककारादि दस वर्णों और सर्वज्ञा आदि दस निगर्भयोगिनियों के रूप में सर्वरक्षाकर चक्र में अभिव्यक्त होती है। परा शक्ति इस स्वरूप में आविष्ट हो जाती है, अतः इसे सर्वावेशकर चक्र भी कहते हैं ॥१४७-१४९॥

१. चक्रेशी–ख. ने. ज. झ. उ.। २. उन्मनीपर्यन्तं कलाबीजलक्षणो–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. चिन्मयान्तर्भावनं मातृमन्त्रशुद्ध्यादौ–ख. ने. झ. उ.। ४. सर्वजगत्प्रसवे सर्वजगत्संहारे च–ख. ने. ज. झ. ब. उ.। ५. स्वायत्तत्वं सिद्ध्यति, तादृशपरशिवप्राप्तिः–क. ग.। ६. मयी–क. ग.। ७. वाच्या–क. ग.। ८. सर्वरक्षाकरे चक्रे सर्वावेशकरे–ख. ने. च. छ. ज. झ.।

ऊर्ध्वाधोमुखया "यदोल्लसति" (४।१२) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्तरीत्याऽकुलस्थ[1]परपुरुषप्राप्तये ऊर्ध्वमुखया, पुनरधोमुखया [2]विश्वसृष्ट्ये मूलाधारं प्रविशन्त्या कुण्डलिन्या, प्रकाशिता अभिव्यञ्जिताः, कारणे सत्त्वात्। कुलेच्छया कुलमुक्तलक्षणं मातृमानमेयरूपम्, तत्रेच्छया तन्निर्माणेच्छया। बहिर्भावात् कादिवर्णप्रथामयाः[3]। षट्त्रिंशत्तत्त्वसंकलनरूपतत्त्वत्रयमयमातृमानमेयलक्षण-[4]कुलनिर्माणेच्छया अकुलस्थपरशिवाद् बहिः प्रसृतया समस्ततत्त्ववर्णगर्भिण्या कुण्डलिन्या ककारादिदशवर्णप्रथारूपा निर्मितेत्यर्थः। निगर्भयोगिनीवाच्या निगर्भयोगिन्य इति वचनाः[5], "निगर्भोऽपि महादेवि शिवगुर्वात्मगोचरः" (२।४८) इति पूर्वोक्तरीत्याऽद्वैत[6]प्रथालक्षणपरप्रमातुर्योगो यासां ता योगिन्यो विषयेन्द्रिय-संसर्गलक्षण[7]दशेन्द्रियवृत्तयश्चिन्मरीचयो निगर्भयोगिन्यः। स्वरूपावेशरूपके स्वरूपस्य साधक[8]स्यात्मनः प्रमातुरावेशः परशिवोऽहमिति मतिः। आवेशो हि लोके ब्रह्मराक्षसोऽहमितिवत् पराहन्ताप्रथा, तद्रूपके तन्निरूपके। अत एव सर्वावेशकरे। "यत्र यत्र मनो याति" (श्लो० ११३), "यत्र[9] यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं

चतुःशती शास्त्र (४।१२) की पद्धति से कुण्डलिनी शक्ति अकुल पुरुष की प्राप्ति के लिये ऊर्ध्वमुख होती है और विश्व की सृष्टि के लिये पुनः अधोमुख होकर मूलाधार में प्रविष्ट हो जाती है। निगर्भयोगिनियों की सृष्टि इसी क्रम से होती है। माता, मान और मेय लक्षण कुल के निर्माण की जब इसकी इच्छा होती है, तो यह बाहर निकलती है और ककार आदि वर्णों के रूप में प्रथित हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि छत्तीस तत्त्वों को जब हम संकलित करते हैं, तो माता, मान और मेय रूप तीन तत्त्वों में वे उपसंहृत हो जाते हैं। इस लोकत्रय के निर्माण की इच्छा से कुण्डलिनी नामक परा शक्ति अकुल पद्म में स्थित परशिव से अलग हो कर बाहर निकलती है, तो समस्त तत्त्वों और वर्णों को अपने में समेटे हुए इस कुण्डलिनी से ककार आदि दस वर्ण आविर्भूत होते हैं और ये ही निगर्भयोगिनियों के नाम से प्रथित होते हैं। निगर्भ पद के विषय में पहले (२।४८) बताया जा चुका है। अद्वैतप्रथास्वरूप परप्रमाता शिव के साथ जिनका योग है, वे विषय और इन्द्रियों के संसर्ग से समुद्भूत दस विषयों की वृत्तियाँ, चिच्छक्ति की किरणें निगर्भयोगिनी के नाम से प्रख्यात होती हैं। स्वस्वरूप का आवेश साधक की आत्मा में 'मैं पर शिव ही हूँ' इस तरह की बुद्धि के रूप में होता है। जैसे लोक में ब्रह्मराक्षस से आविष्ट व्यक्ति अपने को ब्रह्मराक्षस ही मानता है, उसी तरह पराहन्ता से भरा हुआ

१. 'स्थ' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। २. स्वसृष्टये–ख. ज. उ., स्वहृदये–ने.। ३. मयी–क. ग.। ४. 'कुल' नास्ति–ने. झ. उ.। ५. वचनात्–ख. ने. ज. उ.। ६. अद्वैतलक्षणपरप्रमातुर्योग आसां ता–ख. ने. ज. ब. उ.। ७. लक्षणा–ख. ने. ज. झ. उ.। ८. कात्मनः–ख. ने. ज. झ. उ.। ९. तत्र तत्रेति सार्वत्रिकः पाठः।

व्यज्यते प्रभोः" (श्लो० ११४) इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या सर्वत्र [1]तदावेशतदभेदेन स्फुरणं करोतीति सर्वविशकरे चक्रे षष्ठे चक्रे सर्वरक्षाकरे। काकेभ्यो दधि रक्षतामितिवत् प्रतिकूलपदार्थादुपहतिपरिहारो रक्षा नाम। सर्वस्माद् भेदप्रपञ्चलक्षणात् परिपन्थिनो रक्षा परशिवाभेदप्रतीतिरूपा, तत्करे। पराः परशिवाद्वैतप्रतिपादनपरत्वा[2]दुत्कृष्टाः। सर्वज्ञाद्या "सर्वज्ञा सर्वशक्तिश्च" (१।१७३) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्ताः स्थिताः ॥१४७-१४९॥

तासां ध्यानमाह—

एताः सह पुस्ताक्षमालिकाः ॥ १४९ ॥

पुस्तं पुस्तकम्। शिष्टं स्पष्टम् ॥१४९॥

व्यक्ति अपने का पर शिव ही मानने लगता है। इस आवेश दशा का निरूपक है यह चक्र। इसीलिये इसको सर्वावेशकर कहते हैं। विज्ञानभैरव भट्टारक ने बताया है—[1]"जहाँ जहाँ मन जाता है", "इन्द्रिय मार्ग से जहाँ जहाँ प्रभु का चैतन्य व्यक्त होता है, सर्वत्र प्रभु का ही स्वरूप दिखाई पड़ता है"। इस तरह से सर्वत्र भगवान् के ही स्वरूप को अभिन्न रूप से भासित कराने वाला यह सर्वावेशकर नामक षष्ठ चक्र सर्वरक्षाकर भी कहलाता है। काक (कौआ) से दधि (दही) की रक्षा करो, ऐसा कहने पर जैसे सभी प्राणियों से रक्षा करने का अभिप्राय निकलता है, उसी तरह से यह चक्र भी सभी विपरीत परिस्थितियों से साधक की रक्षा करता है। समस्त भेदप्रपंचरूप प्रतिकूल पदार्थों (शत्रुओं) से रक्षा का अभिप्राय शिव के साथ अभेद प्रतीति की प्रथा का निरन्तर विस्तार है। यह चक्र इसी रक्षा का संपादक है। सर्वज्ञा आदि शक्तियों का यहाँ 'पराः' विशेषण इस लिये दिया गया है कि परमशिव के साथ अद्वैत संबन्ध का प्रतिपादन करने के कारण ये शक्तियाँ उत्कृष्ट मानी जाती हैं। चतुःशती शास्त्र (१।१७३-१७५) में इन सर्वज्ञा आदि दस शक्तियों के नाम बताए गये हैं ॥१४७-१४९॥

अब इनका ध्यान बताते हैं—

इन सभी के हाथों में पुस्तक और अक्षमाला है ॥१४९॥

पुस्त का अर्थ पुस्तक है। बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥१४९॥

---

१. तत्पदावेशस्तदभेदेन स्वस्यैव स्फु—ख. झ. उ.। २. त्वात् सर्वा—ख.।

1. विज्ञानभैरव के दो श्लोकों के अंश यहाँ उद्धृत हैं। भाषानुवाद में इनका विस्तृत विवेचन देखा जा सकता है।

नामव्युत्पत्तिपुरःसरं [1]चक्रेशीमाह—

मातृमानप्रमेयाणां पुराणां परिपोषिणी।
त्रिपुरामालिनी ख्याता चक्रेशी सर्वमोहिनी ॥ १५० ॥

[2]परसंवित्स्पन्दरूपत्वान्मातृमानमेयान्येव पुराणि, तेषां पुराणां परिपोषिणी प्रधानेनोपबृंहिणी। अत एव त्रिपुरामालिनी ख्याता निरुक्ता। [3]चक्रेशी षष्ठचक्रेशी सर्वमोहिनी। [4]एतत्कृतमोहवशादेव हि मातृमानप्रमेयरूपा [5]प्रथा। तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—"[6]स्वाङ्गरूपेषु [7]भावेषु मायातत्त्वं विभेदधीः" (श्लो०२१) इति ॥१५०॥

विद्याशक्तिविशुद्धिं च सिद्धिं प्राकाम्यसंज्ञिताम्।
एताः सर्वोपचारेण पूजयेद् देवताः क्रमात् ॥१५१॥

मन्त्राः पुरुषवाच्याधिष्ठिताः, विद्याः स्त्रीरूपवाच्याधिष्ठिताः। अत एव

नाम की व्युत्पत्ति के साथ चक्रेश्वरी का वर्णन करते हैं—

माता, मान और प्रमेय लक्षण पुरत्रय की यह पोषिका है। इसीलिये यह सर्वमोहिनी चक्रेशी त्रिपुरामालिनी कहलाती है ॥१५०॥

माता, मान और प्रमेय लक्षण पुरत्रय परा संवित् का ही स्पन्दन है। इन तीन पुरों को यह त्रिपुरामालिनी परिपुष्ट करती है, प्रधानतः इनका उपबृंहण करती है। इसीलिये यह इस नाम से प्रसिद्ध है। यह षष्ठ चक्र की स्वामिनी सबको मोह में डाले रहती है। यह चक्रेशी जिस मोह को पैदा करती है, उसी के कारण माता, मान और प्रमेय स्वरूप पुरत्रय की कल्पना सजीव हो उठती है। परापंचाशिका में बताया गया है—"यह सारा भाव जगत् शिव का अपना ही स्वरूप है। मायातत्त्व के ही कारण इनमें परस्पर भेदबुद्धि जग जाती है" ॥१५०॥

इस षष्ठ चक्र में त्रिपुराविद्या की शक्ति से प्राप्त हुई प्राकाम्य नामक सिद्धि के साथ चक्रेशी की और आवरण देवताओं की भी सभी उपचारों से पूजा करे ॥१५१॥

[1]पुरुष-देवता के वाचक मन्त्र और स्त्री-देवता की वाचक विद्या कहलाती है। इसी

---

१. चक्रेश्वरी—क. ग.। २. 'पर····बृंहिणी' इत्यस्य स्थाने 'सर्वेषां स्वप्रथाप्रदानेनोपबृंहिणी' इति पाठः—ख. ने. ज. ब. उ.। ३. चक्रे षष्ठचक्रे—क. ग.। ४. अत एव तत्कृत—ख. ने. ज. उ.। ५. भेदप्रथा—झ.। ६. स्वांश—क. ग.। ७. भानेषु—क. ग., भागेषु—ख. ने. ज. झ. उ.।

1. ऋजुविमर्शिनी (पृ० ४२-४३) मूल तथा टिप्पणी देखिये।

विद्याशक्तेः सौभाग्यविद्यावर्णवाच्यायाः षट्त्रिंशत्तत्त्वमय्या विशुद्धिस्तदतोत-परचिल्लक्षणा, तद्रूपाम् । प्राकाम्यसंज्ञितां[1] सिद्धिं कामना[2]नुरूपलक्षणाम् । तदुक्तं महाकविभिः—

द्रवः संघातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि[3] प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ इति ।
(कु० स० २।११)

एता देवताः[4], क्रमात् प्रथमम् आवरणदेवताः, पश्चाच्चक्रेशीम्, ततः सिद्धि-मिति क्रमात् । सर्वोपचारेण । जाता[5]वेकवचनम् । [6]सर्वोपचारैः पूजयेदि-त्यर्थः ॥१५१॥

सप्तमचक्रे पूजां सवासनामाह—

निरुद्धवायुसंघट्टस्फुटितग्रन्थिमूलतः ।
हृदयान्तरसंवित्तिशून्यपुर्यष्टकात्मना ॥१५२॥

लिये विद्याशक्ति की, अर्थात् सौभाग्यविद्या नामक पंचदशाक्षरी विद्या की, जो कि छत्तीस तत्त्वों की समष्टिरूपिणी है, विशुद्धि तब होती है, जब कि तत्त्वातीत परचित्स्व-रूप में वह एकाकार हो जाय । इसी अवस्था में साधक अपनी कामनाओं के अनुरूप प्राकाम्य नामक सिद्धि को प्राप्त कर सकता है । इस सिद्धि के विषय में महाकवि कालि-दास ने कहा है—

हे ब्रह्मन् ! द्रव रसात्मक नदी, समुद्र आदि, संघातकठिन पर्वत आदि, स्थूल, सूक्ष्म लघु, गुरु, व्यक्त (कार्य) और अव्यक्त (कारण) इन सभी स्वरूपों में आप विद्यमान हैं । यह सब आपकी प्राकाम्य नामक सिद्धि का प्रसाद है । अर्थात् ये सब परस्पर विरोधी गुण प्राकाम्य नामक सिद्धि के प्रसाद से ही आप में विद्यमान हैं ॥

इसका अभिप्राय यह है कि प्राकाम्य नामक सिद्धि के मिल जाने पर साधक उक्त सभी स्वरूपों को अपनी इच्छा के अनुसार प्राप्त कर सकता है । इस चक्र में उक्त देव-ताओं की क्रम से पूजा करनी चाहिये । [1]पहले आवरण देवताओं की, बाद में चक्रेशी की और तब सिद्धि की, इस क्रम से सभी उपचारों से इनकी पूजा करनी चाहिये ॥१५१॥

अब सातवें चक्र में वासना के साथ पूजाविधि बताते हैं—

निरुद्ध वायु के संघट्ट से जिसको ग्रन्थियाँ खुल गई हैं, ऐसे मूलाधार चक्र से उठ कर हृदय पद्म में स्थित संवित्ति में जो सूक्ष्म पुर्यष्टक के रूप में स्थित हैं,

१. संज्ञिकां–क. ग. । २. नारूप–क. ग. उ. । ३. श्चापि–क. ग. । ४. इतः परम्–'सर्वज्ञाद्याश्चक्रेशीसिद्धियुताः' इत्यधिकं–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. वेकत्वम्–ख. ज. झ. । ६. सर्वैरुप–ख. ने. झ. ।

1. इस पूरे प्रकरण में पूजा का यही क्रम जानना चाहिये ।

बीजरूपस्वरकलास्पृष्टवर्गानुसारतः ।
रहस्ययोगिनीर्देवीः[1] संसारदलनोज्ज्वले ॥१५३॥
सर्वरोगहरे चक्रे संस्थिता वीरवन्दिते ।
वशिन्याद्याः

[2]निरुद्धयोः परिहृतस्वैराचारयोः, वाय्वोः प्राणापानयोः, संघट्टात् "गुद-माकुञ्च्य बहुशः प्राणापानौ निरुद्ध्य च । संयोज्य ते" इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या संयोगात्, स्फुटितो ग्रन्थिः सुषुम्नान्तर्गतमूलाधारकमलपर्यन्तं वसन्, तादृशं मूलं मूलाधारम् । ततो हृदयान्तरसंवित्तिशून्यपुर्यष्टकात्मना । "ध्यायन् भुजगाकृति हुङ्कारविह्वलज्योतिः पवनक्षेपमनोभिर्गमयेदूर्ध्वम्" इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या मूला-दुत्थितायाः [3]कुण्डलिनीरूपायाः "ततो हृदयपद्मान्तः स्फुरन्तीं संविदीं[4] कलाम्" (सु० ३४) इत्यभियुक्तवचनोक्तरीत्या हृदयान्तरे स्फुरन्त्याः संवित्तेश्चिदात्मनः,

चितिश्चित्तं च चैतन्यं चेतना[5]द्वयकर्म च ।
जीवः कला [6]शरीरं च सूक्ष्मं पुर्यष्टकं मतम् ॥

उन वशिनी आदि देवियों की बीजरूप स्वर-कलाओं से संस्पृष्ट वर्गों का उच्चा-रण करते हुए पूजा करे । हे वीरवन्दिते ! ये वशिनी आदि रहस्ययोगिनी देवियाँ संसार के दलन में समर्थ सर्वरोगहर चक्र में निवास करती हैं ॥१५२-१५४॥

जिनकी मनमानी गति को रोक दिया गया है, उन प्राण और अपान वायुओं के संघट्ट से ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है, अर्थात् "गुदा का संकोच कर और बार-बार प्राणायाम के अभ्यास से प्राण और अपान की गति को नियन्त्रित कर इनको एक में मिला देना चाहिये" किसी प्रामाणिक व्यक्ति के द्वारा बताई गई इस विधि से प्राण और अपान का संयोजन करने पर सुषुम्ना नाडी के अन्तर्गत मूलाधार आदि चक्रों में विद्यमान ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं । तब मूलाधार से उठकर कुण्डलिनी शक्ति, हृदय में स्थित संवित्ति ही शून्य (सूक्ष्म) पुर्यष्टक का स्वरूप धारण कर लेती है । इस प्रसंग में किसी अभियुक्त ने कहा है—"भुजग (सर्प) के समान आकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करते हुए, हुंकार से इस कुण्ड-लिनी रूप दीपशिखा को कंपाते हुए, पवन की गति के साथ मन का संयोजन कर इसको ऊपर उठाये" । इसी तरह से मूलाधार से उठी इस कुण्डलिनी शक्ति का शिवानन्द मुनि के शब्दों में हृदयपद्म में स्फुरित हो रही संवित्ति कला के रूप में ध्यान करे । हृदय में स्फुरित हो रही इस संवित्ति कला से ही स्वच्छन्दसंग्रह में वर्णित सूक्ष्म पुर्यष्टक का स्फुरण होता है, जैसे कि—

१. देवि–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । २. 'निरु''''दुर्लक्ष्यत्वात्' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ३. कुण्डलिन्याः–झ. । ४. संविदं–झ. । ५. नेन्द्रिय–झ. । ६. च देवेशि–क. ग. झ. ।

इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या सूक्ष्मपुर्यष्टकानां सूक्ष्मतया दुर्लक्ष्यत्वा[१]च्छून्य[त्व]मिति। "हृत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्" (म० ना० ८।१६) इति [२]श्रुत्युक्तरीत्या पुरं शरीरं चिदष्टकरूपं शून्यशरीरं शून्यपुर्यष्टकम्, तदात्मना तद्रूपेण[३], संस्थिता इत्यनुषङ्गः। "द्विधेयं मातृका देवी बीजयोन्यात्मना स्थिता" (श्लो० ४०) इति परापञ्चाशिको[४]क्तरीत्या बीजरूपाः [५]स्वरा अकारादिविसर्गान्ताः कलाः षोडश, ताभिः स्पृष्टा अवर्गेण युता वर्गाः कचटतपयशाः, तेषाम् अनुसारतः "अवर्गः प्रथमो देवि वशिनो तत्र संस्थिता" (१।७७-८०) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्ताः[६], "उद्धरेत् प्रथमं रेफम्" (१।८१-८६) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोद्धृतस्वस्वबीजानुसारतः क्रमात् स्वस्ववर्गान्ते स्वस्वबीजमुच्चार्य पूजयेदित्यर्थः।

चिति, चित्त, चैतन्य, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, जीव, कला और शरीर इन आठ तत्त्वों को सूक्ष्म पुर्यष्टक माना जाता है॥

यह सूक्ष्म पुर्यष्टक अपनी सूक्ष्मता के कारण बहुत कठिनाई से दिखायी पड़ता है, इसीलिये इसको 'शून्य' नाम से जाना जाता है। "हृदय पुण्डरीक (पद्म) पुर (शरीर) के मध्य में स्थित है" इस श्रुतिवचन के अनुसार चिदष्टकरूप यह शून्य-शरीर सूक्ष्म पुर्यष्टक के नाम से प्रथित है। इनकी अधिष्ठात्री वशिनी आदि देवियाँ यहीं निवास करती हैं। परापंचाशिका में बताया गया है—"यह मातृका देवी बीज और योनि के भेद से द्विधा विभक्त हो जाती है"। [1]बीजरूप हैं अकार से विसर्ग पर्यन्त सोलह स्वर। इस सोलह कलाओं वाले अवर्ग के साथ क च ट त प य श के वर्ग के क्रम से इनका उद्धार किया जाता है। "हे देवि! पहला अवर्ग है, इसमें वशिनी स्थित है" इत्यादि क्रम से चतुःशती शास्त्र (१।७७-८०) में इनका उद्धार बताया गया है। वहीं (१।८१-९६) "पहले रेफ का उद्धार करे" इत्यादि क्रम से इनके बीजों का भी उद्धार किया गया है। तदनुसार सूक्ष्म पुर्यष्टक की स्वामिनी वशिनी आदि आठ शक्तियों की अपने अपने वर्ग के अन्त में अपने अपने बीजों का उच्चारण करते हुए [2]पूजा करे।

---

१. सूक्ष्ममत्र शून्यमित्युच्यते–ख. ने. ज. झ. उ.। २. श्रुत्युक्त्या–ख. ने. ज. झ. उ.। ३. णैताः-ख. ने. ज. झ. उ.। ४. कोक्त्या–ने.। ५. आदिस्वरा अकारादिविसर्गान्ताः षोडशस्वराः कलाः, ताभिः-ख. ने. ज. उ.। ६. क्तत्वात्–ख. ने. ज. झ. उ.।

1. दीपिकाकार ने पहले (२।३७) ककार आदि व्यंजनों को बीज माना है और वहाँ चिद्गगनचन्द्रिका के अतिरिक्त परापञ्चाशिका के प्रस्तुत श्लोक को भी प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। पृ० १५४ की टिप्पणी देखिये।

2. सुभगोदय (पृ० २८६-२८७) में इसी क्रम से पूजाविधि बताई गई है।

ननु चतुर्दशकोणादिषु [१]पूर्वचक्रेषु देवतानां भूतलिपिमातृका[२]वर्णस्वरनवकहादिपञ्चकटतकचवर्गमयत्वमुक्तम्, अष्टकोणादिदेवतानां किमिति शिष्टपवर्गशषसमयत्वं नोक्तमिति चेत्, [३]सत्यम्, अष्टकोणदेवताबीजमनुक्तमप्यवगन्तव्यम्। बीजरूपस्वरकलास्पृष्टवर्गानुसारत इति तु वशिन्यादिदेवतापूजामन्त्रकथनम्। रहस्ययोगिनीः। सूक्ष्ममन्त्ररहस्यं पुर्यष्टकम्, तेन सह योगः संबन्धः कार्यकारणलक्षणो यासां ता वशिन्याद्या योगिन्यः [४]सूक्ष्मतया दुर्लक्ष्यपुर्यष्टकमयत्वाद् गोपनीयाः। संसारदलनोज्ज्वले। अनित्याशुचिक्लेशरूपः[५] संसारः, तस्य दलने हरणे, उज्ज्वले परप्रकाशतावन्मात्रे। अत एव [६]सर्वरोगहरे चक्रे, सर्व एवानित्याशुचिक्लेशरूपसंसारो रोगः, तस्य हरणे पटुप्रभावशालिनि सप्तमचक्रे संस्थिता वशिन्याद्याः "अवर्गः प्रथमो देवि वशिनी तत्र संस्थिता" (१।७७) इति चतुःशतीशास्त्रोक्ताः, पूजयेदित्यनुषङ्गः॥१५३-१५४॥

यहाँ शंका उठती है कि चतुर्दशकोण, बहिर्दशार और अन्तर्दशार चक्र में देवता का स्वरूप भूतलिपि मातृका के अनुसार वर्णित है। जैसे कि चतुर्दशकोण में नौ स्वर और हकार आदि पाँच वर्ण हैं। बाह्य दशार में टवर्ग-तवर्ग तथा अन्तर्दशार में कवर्ग-चवर्ग हैं। इसी क्रम से अष्टकोण के देवताओं की अवशिष्ट पवर्ग और श ष स वर्णात्मकता का वर्णन यहाँ होना चाहिये, ऐसा क्यों नहीं किया गया? समाधान यह है कि आपका कहना ठीक है। अष्टकोण के देवताओं के बीज यद्यपि यहाँ नहीं बताये गये हैं, तो भी बिना बताये ही उनके ये ही आठ बीज हैं, ऐसा जान लेना चाहिये। नववर्गात्मिका भूतलिपि के ४२ वर्ण तभी पूरे होते हैं। बीजरूपस्वरकला इत्यादि पंक्ति में वशिनी आदि देवताओं के पूजा-मन्त्रों का विधान किया गया है। इसकी व्याख्या ऊपर कर दी गई है। इनको रहस्ययोगिनी इसलिये कहा जाता है कि सूक्ष्म मन्त्र का रहस्य पुर्यष्टक में छिपा हुआ है। उस रहस्य के साथ वशिनी आदि का कार्यकारणरूप सम्बन्ध, संयोग बना हुआ है, अतः ये रहस्ययोगिनियाँ कहलाती हैं। अपनी सूक्ष्मता के कारण ये दुर्लक्ष्य हैं, अतः सूक्ष्मपुर्यष्टक की अधिष्ठात्री इन देवियों की उपासना अत्यन्त गोपनीय है। ये देवियाँ अनित्य, अशुचि, क्लेश आदि से भरे हुए इस संसार का नाश करने में समर्थ अपने पूर्ण प्रकाशमय स्वरूप वाले सर्वरोगहर चक्र में निवास करती हैं। अनित्यता, अपवित्रता आदि क्लेशों से भरा हुआ यह सारा संसार ही रोग है। इस रोग को दूर करने में

---

१. 'पूर्व' नास्ति–ख. ने. ज. उ.। २. 'वर्ण' नास्ति–ख. ने. ज. उ.। ३. उच्यते–चतुर्दशकोणादिचक्रेषु देवतानामकारादिभूतलिपिवर्णमयताकथनेनैव शिष्टवर्गशषसमयत्वमष्टकोणदेवता–झ.। ४. 'सूक्ष्म····तावन्मात्रे' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.। ५. रूपभेद इति क.विहाय सार्वत्रिकः पाठः। ६. 'सर्वरोगहरे चक्रे' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ.।

तासां ध्यानमाह—

रक्तवर्णा वरदाभयमुद्रिताः ॥१५४॥

पुस्तकं जपमालां[1] च दधानाः सिद्धयोगिनीः ।

सिद्धः परमशिवः, तेन [2]योगः संबन्धः पुर्यष्टका[3]त्मकतया तस्य [4]जीवत्वापादनलक्षणः, तद्वतीः । शिष्टं स्पष्टम् ॥१५४-१५५॥

शुद्धविद्याविशुद्धिं च भुक्तिसिद्धिं महेश्वरि ॥१५५॥

ईश्वरीं त्रिपुरा[5]सिद्धिं पूजयेद् बिन्दुतर्पणैः ।

"अहन्तेदन्तयोरैक्यमतिर्विद्या निगद्यते" (श्लो० २१) इति परापञ्चाशिकोक्तरीत्या शिवाद्वैतप्रथालक्षणायाः शुद्धविद्याया विशुद्धिः "ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत्" (त० धा० ३।४१) इति [6]प्रतिपादितरीत्या ज्ञातृज्ञानज्ञेयविभागशून्यनिर्विकल्पबोधलक्षणपरशिवसमावेशः, तद्रूपिणीम्, अत एव भुक्तिसिद्धिम्

इस चक्र का स्पष्ट प्रभाव सबको विदित है । इसी चक्र में चतुःशती शास्त्र (१।७७-७९) में वर्णित वशिनी आदि आठ शक्तियों की पूजा करे ॥१५३-१५४॥

अब इनका ध्यान बताते हैं—

इन शक्तियों का वर्ण लाल है । इन सिद्धयोगिनियों के चार हाथ वर और अभय मुद्रा से तथा पुस्तक और जपमाला से अलंकृत हैं ॥१५४-१५५॥

परमशिव रूपी सिद्ध को ये योगिनियाँ अपने पुर्यष्टकमय शरीर से संयुक्त कर अज्ञ जीव बना देती हैं, इसीलिये इनको यहाँ सिद्धयोगिनियाँ कहा गया है । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥१५४-१५५॥

हे महेश्वरि ! शुद्धविद्या को विशुद्ध करने वाली भुक्ति सिद्धि की और चक्रेश्वरी त्रिपुरासिद्धि को यहाँ बिन्दुतर्पण द्वारा पूजा करे ॥१५५-१५६॥

परापंचाशिका में बताया गया है—"अहन्ता और इदन्ता में एकता को देखने वाली मति ही विद्या कहलाती है" । इस तरह से अद्वय शिवतत्त्व का ही सर्वत्र विस्तार देखने वाली मति शुद्धविद्या कहलाती है । "ज्ञान से ज्ञेय को जान लेने के बाद ज्ञान का भी परित्याग कर दे" इस उक्ति के अनुसार इस शुद्धविद्या का भी परित्याग कर उसकी विशुद्धि की जाती है। ऐसा करने से साधक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय नामक विभागों से रहित निर्विकल्प बोधस्वरूप परमशिव में समाविष्ट हो जाता है । शुद्धविद्या की विशुद्धि के द्वारा परमशिव स्वरूप में समावेश दिलाने वाली यह चक्रेश्वरी विद्या भुक्तिसिद्धि की

---

१. लाश्च—ख. छ. झ. उ. । २. संयोगः—क. ग. । ३. कात्मतया—ख. ने. ज. झ. उ. । ४. जीवतापा—ख. ने. ज. झ. उ. । ५. रां सिद्धां—क. ग. । ६. वचनप्रति—ख. ने. ज. झ. उ. ।

विश्वं शिवादिभूम्यन्तं चमत्काररसाश्रयम् ।
[1]महीयसे महाभोक्त्रे महेशाय निवेदये ॥ (ग० स्तो०)

इत्यभियुक्त[2]वचनोक्तरीत्या [3]महाभुक्तिं विश्वविषयिणीं स्वसाधकस्य साधयति, तां चक्रेश्वरीं सप्तमचक्रेश्वरीम्, त्रिपुरासिद्धिं[4] मातृमानमेयरूपाणां त्रिपुराणाम् [5]उत्तीर्णपरमशिवलयलक्षणां सिद्धिम्, बिन्दुतर्पणैरनामाङ्गुष्ठ[6]योगशिवशक्तिमेलनमुद्रया द्रव्यबिन्दुतर्पणैः साक्षतकुसुमैः पूजयेदिति ॥१५५-१५७॥

अष्टमचक्रपूजां सवासनामाह—

शक्तित्रयात्मिका देवि चिद्धामप्रसराः शिवाः ॥१५६॥

संवर्ताग्निकलारूपाः परमातिरहस्यकाः ।

पूर्णापूर्णस्वरूपायाः सिद्धेर्हेतुः सुरेश्वरि ॥१५७॥

भी अधिष्ठात्री है ।[1] भट्ट गंगाधर मिश्र के स्तोत्र में बताया गया है—

अनेक आश्चर्य जनक पदार्थों से भरे हुए, अद्भुत रस की सृष्टि करने वाले, शिव से भूमि पर्यन्त विस्तार वाले इस विश्व को मैं महान् ऐश्वर्यशाली महाभोक्ता भगवान् महेश को समर्पित करता हूँ ॥

इसके अनुसार यह सप्तम चक्रेश्वरी विद्या अपने साधक के लिये विश्वविषयिणी महाभुक्ति को उपस्थित कर देती है । इसीलिये भुक्तिसिद्धि की अधिष्ठात्री है । इसका नाम त्रिपुरासिद्धि इसलिये है कि यह माता, मान और मेय लक्षण त्रिपुरों से ऊपर उठाकर परम शिवतत्त्व में विलय रूप सिद्धि को प्रदान करने वाली है । अनामिका और अंगुष्ठ को मिलाने से शिवशक्तिमेलन मुद्रा बनती है । इस मुद्रा से अक्षत, पुष्प के साथ साधित अर्घ्य के बिन्दुओं से तर्पण कर इस देवी का पूजन करना चाहिये ॥१५५-१५६॥

अष्टम चक्र की पूजा वासना के साथ बताते हैं—

हे देवि ! शक्तित्रयात्मक, चिद्धामप्रसरात्मक, कल्याणकारिणी, संवर्ताग्निकलारूप परम अतिरहस्य योगिनियाँ पूर्णापूर्ण स्वरूप सिद्धि को प्रदान कर

---

१. नास्त्येषा पङ्क्तिः—क. । २. क्तोक्त्या—ख. ने. झ. । ३. महाभुक्तिविश्वविषयिणी स्वसाधकस्य सिद्धयति—ब. विहाय सार्वत्रिकः पाठः । ४. सिद्धां—क. ग. ने. ज. । ५. सिद्धिमुत्तीर्ण—ख. ज. । ६. योगलक्षणया—ख. ज. झ. उ. । ७. पराः—क. ग. । ८. तुतयेश्वरि—क. उ. ।

1. भट्ट गंगाधर मिश्र के दो वचन पहले (पृ० ८५, २४३) उद्धृत हो चुके हैं । पृ० ८५ की पहली टिप्पणी देखिये । ऋजुविमर्शिनी (पृ० ६९) में वे दोनों वचन उपलब्ध हैं । प्रस्तुत तीसरा वचन भी वहीं (पृ० १३४) भट्ट गंगाधर स्तोत्र के नाम से उद्धृत है । इस श्लोक का उत्तरार्ध क. मातृका के अतिरिक्त प्रायः सभी में उपलब्ध है ।

सर्वसिद्धिमयाख्ये तु चक्रे त्वायुधभूषिते[1] ।
स्थिताः कामेश्वरीपूर्वाश्चतस्रः पीठदेवताः ॥१५८॥

शक्तित्रयात्मिका इच्छाज्ञानक्रियात्मिकाः । चिद्धामप्रसराः चितः संविदोऽम्बिका[2]ख्याया धाम्नां किरणानां वामाज्येष्ठारौद्रयात्मकानाम् ओड्डीशषष्ठीशमित्रेशाख्यानां प्रसराः स्पन्दभूताः, [3]सर्वावरणप्रधानभूतत्वात् । संवर्ताग्निकलारूपाः संवर्ताग्निर्विश्वघस्मरः परमशिवोऽस्वरः[4], तस्य कला हकारः, तद्रूपास्तदात्मिकाः, शान्ताशक्त्यवयवभूतत्वात् । परमातिरहस्यकाः परमाः सर्वावरणदेव[5]ताभ्योऽतिरहस्यका मनोबुद्ध्यहङ्काररूपोपाधित्रयपरिस्फुरत्परचिदाधाररूपत्वादत्यन्तगोपनीयाः । पूर्णापूर्णस्वरूपायाः पूर्णा परशिवसमावेशरूपत्वात्, [6][अ]पूर्णस्वरूपा विश्वविषयत्वात्, तादृशायाः सिद्धेर् उभयात्मिकायाः । सर्वस्य क्षित्यादिशिवान्तस्य परशिवविश्रान्तिलक्षणायाः सिद्धेर्जीवन्मुक्तेर्हेतुतया, सर्व-

---

वाली हैं । हे सुरेश्वरि ! सर्वसिद्धिमय चक्र में आयुधों से भूषित कामेश्वरी प्रभृति चार पीठदेवियाँ निवास करती हैं ॥१५६-१५८॥

इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियाँ हैं । चिद्धामप्रसर का अर्थ है चिति शक्ति, संविदात्मक अम्बिका शक्ति की किरणों का प्रसार । वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियों का तथा ओड्डीश, षष्ठीश और मित्रेश नामक नाथों का स्पन्दन (प्रसार) कामेश्वरी आदि शक्तियों से ही होता है, जो कि अन्य सभी आवरण देवताओं की अपेक्षा प्रधान हैं । ये देवियाँ संवर्ताग्निकलारूप भी हैं । संवर्ताग्नि यहाँ सारे विश्व को भस्म कर देने वाला परमशिव है । उसकी कला हकार है । ये शक्तियाँ हकारात्मक हैं, क्योंकि शान्ता शक्ति की ये अवयवभूत हैं, उससे उत्पन्न हुई हैं । इसीलिये इनको परम अतिरहस्य योगिनियों के नाम से जाना जाता है । सभी आवरण देवताओं में इनका स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय है । मन, बुद्धि और अहंकार रूप तीन उपाधियों के माध्यम से इनमें परा चितिशक्ति का स्वरूप स्फुरित होता है । इसलिये इनका स्वरूप अत्यन्त गोपनीय है । परमशिव का समावेश जहाँ सिद्ध होता है, वह सिद्धि पूर्णस्वरूपा है । जहाँ विषयाकार समावेश सिद्ध होता है, वह सिद्धि अपूर्णस्वरूपा है । इन उभयविध सिद्धियों को प्रदान करने वाली ये देवियाँ सर्वसिद्धिमय चक्र में निवास करती हैं । इसको सर्वसिद्धिमय इसलिये कहते हैं कि पृथ्वी से शिवपर्यन्त समस्त विश्व को यह परमशिव में

---

१. षिताः–क. ग. । २. कादेव्याः–ने. झ. । ३. 'सर्वा....त्वात्' नास्ति–ख. ज. उ. । ४. 'अस्वरः' नास्ति–क. ग. । ५. ताभ्यः सर्वावरणप्रधानरूपत्वादतिगो–ख. ज. झ. उ. । ६. पूर्णस्वरूपायाः पूर्णतत्त्वमनु विश्वविषया सिद्धिस्तादृश्याः सिद्धेर्हेतुस्तदात्मिकायाः–ख. ने. ज. उ. ।

सिद्धिमयाख्ये निरुक्त(१।८४)सर्वसिद्धिमय[1]नाम्नि, आयुधभूषिते[2] कामेश्वरीकामेश्वरयोरायुधैः[3] शरचापपाशाङ्कुशैरष्टभिर्मिथुनीकृतैः "पश्चिमोत्तरपौरस्त्यदक्षिणाशाक्रमेण तु" (१।१७९) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्तरीत्याऽलङ्कृते[4] । तेन[5] आयुधानां [6]कामेश्वर्यावरणान्तःपातित्वं सिद्धम् । चक्रेऽष्टमे स्थिताः कामेश्वरीपूर्वाः "कामेश्वरीमग्रकोणे" (१।१८२) इति चतुःशतीशास्त्रो[7]क्तरीत्या, चतस्रः पीठदेवताः, पीठानि "का पू जा ओ इति क्रमात्" (१।४१) इति पूर्वोक्तानि मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तलक्षणानि, तेषु संक्रान्ता देवताः परप्रकाशावयव[8]भूतवामाज्येष्ठारौद्र्यम्बिकामयमित्रेशषष्ठीशओड्डीशचर्यानाथशिवाङ्कस्थास्तद्विमर्शशक्त्यंशभूतेच्छाज्ञानक्रियाशान्तामयकामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिनीमहात्रिपुरसुन्दर्यश्चतस्र इति नवमचक्रदेवतया सह संकलनात् । अष्टमचक्रे तु तिस्र एव कामेश्वर्याद्याः सायुधाः ॥१५६-१५८॥

विश्राम रूप सिद्धि को, जीवन्मुक्तावस्था को दिलाने वाला है । सर्वसिद्धि पद की निरुक्ति पहले (१।८४) बताई जा चुकी है । यह चक्र कामेश्वर और कामेश्वरी के आयुधों से अलंकृत है । शर, चाप, बाण और अंकुश को मिथुनीकृत करने पर, अर्थात् कामेश्वर और कामेश्वरी के आयुधों के रूप में मिलाकर गिनने पर इनकी संख्या आठ हो जाती है । इनका विन्यास चतुःशती शास्त्र (१।१७९) के अनुसार—"पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशा के क्रम से" करना चाहिये । इस तरह से यह चक्र कामेश्वर और कामेश्वरी के आठ आयुधों से अलंकृत है । इससे यह सिद्ध होता है कि इन आयुधों की कामेश्वरी आदि आवरण देवताओं के साथ पूजा करनी चाहिये । अष्टम चक्र में स्थित कामेश्वरी आदि देवियाँ चतुःशती शास्त्र (१।१८२) में वर्णित हैं । ये चार पीठदेवता हैं । का पू जा ओ नामक पीठों का वर्णन पहले (१।४१) आ चुका है । ये पीठ [1]मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त का प्रतिनिधित्व करते हैं । परप्रकाश के अवयवभूत वामा, ज्येष्ठा, रौद्री और अम्बिका शक्तिमय मित्रेश, षष्ठीश, ओड्डीश और चर्यानाथ के अंक (गोद) में स्थित विमर्श शक्ति की अवयवभूत इच्छा, ज्ञान, क्रिया और शान्ता शक्तिमय कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी और महात्रिपुरसुन्दरी नामक चार देवियाँ इनमें संक्रान्त होती हैं । यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि नवम चक्र की स्वामिनी का भी संकलन करने पर ही इनकी संख्या चार होती है । अष्टम चक्र में तो केवल कामेश्वरी आदि तीन देवियों और आयुधों की ही पूजा होती है ॥१५६-१५८॥

---

१. मयानन्दे–ख. ने. ज. उ. । २. षिताः–क. ग. । ३. 'आयुधैः' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ४. ताश्च–क. ग. । ५. तेन–इति केवलं झमातृकायां दृश्यते । ६. कामेश्वरकामेश्वर्योश्चरणा–क. ग. । ७. शास्त्रोक्ताश्च–ख. ने. ज. झ. उ. । ८. भूता–ज. झ. ।

1. पृ० ६१ पर उद्धृत सौभाग्यसुधोदय के चार श्लोकों में इस विषय की चर्चा पहले आ चुकी है ।

आयुधदेवतानां ध्यानमाह—

आयुधोस्त्वतिरक्ताभाः स्वायुधोज्ज्वलमस्तकाः ।
वरदाभयहस्ताश्च पूज्या [2]ध्यातृफलप्रदाः ॥१५९॥
त्वदीयाश्च मदीयाश्च पुंस्त्रीवश्यविधायिनः ।

आयुधा आयुध[3]देवताः, छान्दसत्वात् पुल्लिङ्गप्रयोगः । स्वायुधोज्ज्वलमस्तकाः स्वाधिष्ठितायुधपरि[4]कलितमस्तकाः ।

महापद्मवनान्तस्थां कारणानन्दविग्रहाम् ।
मदङ्कोपाश्रयां देवीमिच्छाकामफलप्रदाम् ॥
भवतीम् (३।१११-११२)

इति पूर्वोक्तरीत्या महापद्मवनान्तस्थानाश्रितेश्वरस्य विश्वगुरोर्ममाङ्कस्थाया अनाश्रितकलायास्तव संबन्धिनो बाणधनुःपाशाङ्कुशाः पुंवश्यविधायिनः, तादृशस्य मम संबन्धिनो बाणधनुःपाशाङ्कुशाः स्त्रीवश्यविधायिन इत्यर्थः । तदुक्तं चतुःशतीशास्त्रे—

आयुध देवताओं का ध्यान बताते हैं—

ये आयुध चटकीली लाल आभा (कान्ति) वाले हैं । इनके मस्तक पर अपना ही स्वरूप अंकित है । वर और अभय मुद्रा धारण किये हुए हैं । अपना ध्यान करने वाले को अभीष्ट फल देने वाले हैं । इसी चक्र में इनकी भी पूजा करनी चाहिये । तुम्हारे (कामेश्वरी के) आयुध पुरुष को और मेरे (कामेश्वर के) आयुध स्त्री को वश में करने में समर्थ हैं ॥१५९-१६०॥

आयुध शब्द से यहाँ आयुधदेवताओं का ग्रहण किया जाता है । आयुध शब्द का पुंलिंग में प्रयोग वैदिक पद्धति से किया गया है । ये आयुध अपने अपने मस्तक पर अपनी ही आकृति धारण किये रहते हैं । "महापद्मवन में विराजमान, कारणानन्द शरीरवाली, इच्छानुसार सभी कामनाओं को पूरा करने वाली तुम मेरे अंक में विराजमान हो" इस तरह से पहले (३।१११-११२) यहाँ महापद्मवन में स्थित विश्वगुरु कामेश्वर की गोद में विराजमान अनाश्रित कला भगवती का वर्णन किया गया है । इस युगल स्वरूप में से तुम्हारे (कामेश्वरी सम्बन्धी) बाण, धनुष, पाश और अंकुश का प्रयोग पुरुषों को वश में करने के लिये तथा मेरे (कामेश्वर के) बाण, धनुष, पाश और अंकुश का प्रयोग स्त्रियों को वश में करने के लिये किया जाता है । चतुःशती शास्त्र (४।६०-६१) में इनका वर्णन इस तरह से किया गया है—

१. धा अपि—ख. ने. छ. ज. झ. । २. व्रत—क. ग., प्रीति—उ. । ३. धाधिदे—ख. ने. ज. झ. उ. । ४. कल्पित—ख. ने. ज. झ. उ. ।

मादनैर्मदनो भूत्वा पाशाङ्कुशधनुःशरैः ।
क्षोभयेत् स्वर्गभूलोकपातालतलयोषितः ॥
तथैव शाक्तैर्देवेशि त्रिपुरीकृतविग्रहः ।
[1]क्षोभयेद् देवगन्धर्वसिद्धविद्याधरानपि ॥ (४।६०-६१)

स्पष्टमन्यत् ॥१५९-१६०॥

चतुःशतीशास्त्रेऽनुद्धृतत्वाच्छक्तिबाणात्मबीजान्युद्धरति—

त्वगसृङ्[2]मांसमेदोऽस्थिमज्जार्णान्ताः सुरेश्वरि ॥१६०॥
द्वितीयस्वरसंयुक्ता एते बाणास्त्वदीयकाः ।

श्रीकण्ठादिन्यासपरिपाट्या त्वगादीनां धातूनां यवर्णादयः पञ्च, एते द्वितीयस्वरसंयुक्ता बाणाः । आकारो द्वितीयः स्वरः, सामर्थ्याद् बिन्दुरपि [3]लक्ष्यते । त्वदीयका बाणाः [4]त्वत्संबन्धिबाणबीजानि । तत्र यकारस्त्वगात्मकः, रेफोऽसृगात्मकः, लकारो मांसात्मकः, वकारो मेदस्वरूपः । [5]अस्थिमज्जार्णान्तशब्दोऽस्थि-

शिव संबन्धी पाश, अंकुश, धनुष और बाण को धारण कर स्वयं शिवस्वरूप हो साधक स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक और पाताल तल में विद्यमान स्त्रियों को भी क्षुब्ध कर देता है । इसी तरह से हे देवेशि ! शक्ति संबन्धी आयुधों को धारण कर त्रिपुरा स्वरूप हुआ साधक देव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि को भी क्षुब्ध कर देता है ॥

बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥१५९-१६०॥

चतुःशती शास्त्र में उद्धृत न होने से अब यहाँ शक्ति के बाण बीजों का उद्धार किया जा रहा है—

हे सुरेश्वरि ! त्वक्, असृक्, मांस, मेदा और अस्थिमज्जान्त (शुक्र) धातुओं के वाचक वर्णों को द्वितीय स्वर से संयुक्त कर देने पर तुम्हारे (शक्ति के) बाणबीज बनते हैं ॥१६०-१६१॥

श्रीकण्ठ न्यास में बताई गई पद्धति से त्वक् आदि पांच धातुओं के [1]यकार आदि पांच वर्ण होते हैं । इनको द्वितीय स्वर से संयुक्त करने पर ये बाणबीज बन जाते हैं । दूसरा स्वर आकार है । बीज पद को सार्थक करने के लिये बिन्दु भी इनके साथ जोड़ा जाता है । इस तरह से तुम्हारे बाण, शक्तिसंबन्धी बाणबीज बनते हैं । यहाँ यकार त्वगात्मक, रेफ असृगात्मक, लकार मांसात्मक और वकार मेदास्वरूप है । अस्थिमज्जा-

१. साधयेद्—मु. । २. शुक्लानां च महे—क. ग. । ३. लभ्यते—क. ग. । ४. तव धनुषि बाण—ख. ने. ज. झ. उ. । ५. अस्थिशब्द उपरि स्थितेन शुक्लात्मकेन सकारेणान्वेति—क. ग. ।

1. तन्त्राभिधान में संगृहीत प्रकारान्तर मन्त्राभिधान (पृ० १९-२१) में यह विषय देखा जा सकता है ।

आयुधदेवतानां ध्यानमाह—

आयुधोस्त्वतिरक्ताभाः स्वायुधोज्ज्वलमस्तकाः ।
वरदाभयहस्ताश्च पूज्या [1]ध्यातृफलप्रदाः ॥१५९॥
त्वदीयाश्च मदीयाश्च पुंस्त्रीवश्यविधायिनः ।

आयुधा आयुध[2]देवताः, छान्दसत्वात् पुल्लिङ्गप्रयोगः । स्वायुधोज्ज्वलमस्तकाः स्वाधिष्ठितायुधपरि[4]कलितमस्तकाः ।

महापद्मवनान्तस्थां कारणानन्दविग्रहाम् ।
मदङ्कोपाश्रयां देवीमिच्छाकामफलप्रदाम् ॥
भवतीम् (३।१११-११२)

इति पूर्वोक्तरीत्या महापद्मवनान्तस्थानाश्रितेश्वरस्य विश्वगुरोर्ममाङ्कस्थाया अनाश्रितकलायास्तव संबन्धिनो बाणधनुःपाशाङ्कुशाः पुंवश्यविधायिनः, तादृशस्य मम संबन्धिनो बाणधनुःपाशाङ्कुशाः स्त्रीवश्यविधायिन इत्यर्थः । तदुक्तं चतुःशतीशास्त्रे—

आयुध देवताओं का ध्यान बताते हैं—

ये आयुध चटकीली लाल आभा (कान्ति) वाले हैं । इनके मस्तक पर अपना ही स्वरूप अंकित है । वर और अभय मुद्रा धारण किये हुए हैं । अपना ध्यान करने वाले को अभीष्ट फल देने वाले हैं । इसी चक्र में इनकी भी पूजा करनी चाहिये । तुम्हारे (कामेश्वरी के) आयुध पुरुष को और मेरे (कामेश्वर के) आयुध स्त्री को वश में करने में समर्थ हैं ॥१५९-१६०॥

आयुध शब्द से यहाँ आयुधदेवताओं का ग्रहण किया जाता है । आयुध शब्द का पुंलिंग में प्रयोग वैदिक पद्धति से किया गया है । ये आयुध अपने अपने मस्तक पर अपनी ही आकृति धारण किये रहते हैं । "महापद्मवन में विराजमान, कारणानन्द शरीरवाली, इच्छानुसार सभी कामनाओं को पूरा करने वाली तुम मेरे अंक में विराजमान हो" इस तरह से पहले (३।१११-११२) यहाँ महापद्मवन में स्थित विश्वगुरु कामेश्वर की गोद में विराजमान अनाश्रित कला भगवती का वर्णन किया गया है । इस युगल स्वरूप में से तुम्हारे (कामेश्वरी सम्बन्धी) बाण, धनुष, पाश और अंकुश का प्रयोग पुरुषों को वश में करने के लिये तथा मेरे (कामेश्वर के) बाण, धनुष, पाश और अंकुश का प्रयोग स्त्रियों को वश में करने के लिये किया जाता है । चतुःशती शास्त्र (४।६०-६१) में इनका वर्णन इस तरह से किया गया है—

१. धा अपि–ख. ने. छ. ज. झ. । २. व्रत–क. ग., प्रीति–उ. । ३. धाधिदे–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. कल्पित–ख. ने. ज. झ. उ. ।

मादनैर्मदनो भूत्वा पाशाङ्कुशधनुःशरैः ।
क्षोभयेत् स्वर्गभूलोकपातालतलयोषितः ॥
तथैव शाक्तैर्देवेशि त्रिपुरीकृतविग्रहः ।
[1]क्षोभयेद् देवगन्धर्वसिद्धविद्याधरानपि ॥ (४।६०-६१)

स्पष्टमन्यत् ॥१५९-१६०॥

चतुःशतीशास्त्रेऽनुद्धृतत्वाच्छक्तिबाणात्मबीजान्युद्धरति—

त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जार्णान्ताः सुरेश्वरि ॥१६०॥
द्वितीयस्वरसंयुक्ता एते बाणास्त्वदीयकाः ।

श्रीकण्ठादिन्यासपरिपाट्या त्वगादीनां धातूनां यवर्णादयः पञ्च, एते द्वितीयस्वरसंयुक्ता बाणाः । आकारो द्वितीयः स्वरः, सामर्थ्याद् बिन्दुरपि [3]लक्ष्यते । त्वदीयका बाणाः [4]त्वत्संबन्धिबाणबीजानि । तत्र यकारस्त्वगात्मकः, रेफोऽसृगात्मकः, लकारो मांसात्मकः, वकारो मेदस्वरूपः । [5]अस्थिमज्जार्णान्तशब्दोऽस्थि-

शिव संबन्धी पाश, अंकुश, धनुष और बाण को धारण कर स्वयं शिवस्वरूप हो साधक स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक और पाताल तल में विद्यमान स्त्रियों को भी क्षुब्ध कर देता है । इसी तरह से हे देवेशि ! शक्ति संबन्धी आयुधों को धारण कर त्रिपुरा स्वरूप हुआ साधक देव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर आदि को भी क्षुब्ध कर देता है ॥

बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥१५९-१६०॥

चतुःशती शास्त्र में उद्धृत न होने से अब यहाँ शक्ति के बाण बीजों का उद्धार किया जा रहा है—

हे सुरेश्वरि ! त्वक्, असृक्, मांस, मेदा और अस्थिमज्जान्त (शुक्र) धातुओं के वाचक वर्णों को द्वितीय स्वर से संयुक्त कर देने पर तुम्हारे (शक्ति के) बाणबीज बनते हैं ॥१६०-१६१॥

श्रीकण्ठ न्यास में बताई गई पद्धति से त्वक् आदि पांच धातुओं के [1]यकार आदि पाँच वर्ण होते हैं । इनको द्वितीय स्वर से संयुक्त करने पर ये बाणबीज बन जाते हैं । दूसरा स्वर आकार है । बीज पद को सार्थक करने के लिये बिन्दु भी इनके साथ जोड़ा जाता है । इस तरह से तुम्हारे बाण, शक्तिसंबन्धी बाणबीज बनते हैं । यहाँ यकार त्वगात्मक, रेफ असृगात्मक, लकार मांसात्मक और वकार मेदास्वरूप है । अस्थिमज्जा-

१. साधयेद्–मु. । २. शुक्लानां च महे–क. ग. । ३. लभ्यते–क. ग. । ४. तव धनुषि बाण–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. अस्थिशब्द उपरि स्थितेन शुक्लात्मकेन सकारेणान्वेति–क. ग. ।

1. तन्त्राभिधान में संगृहीत प्रकारान्तर मन्त्राभिधान (पृ० १९-२१) में यह विषय देखा जा सकता है ।

मज्जयोरुपरि स्थितं शुक्रात्मकं सकारं लक्षयति । चतुः[1]शतीशास्त्रेऽप्यनुक्तानां कामेश्वरबाणबीजानाम्—"आदौ [2]पादावरेण्याख्यां [3]संयुजेन्नलरक्रमे" इति स्वच्छन्दसंग्रहोद्धृतत्वादागमान्तरेषु प्रसिद्धत्वान्नात्रोद्धारः क्रियते ॥१६०-१६१॥

वामादीनां पुराणां तु जननी त्रिपुराम्बिका ॥१६१॥
परस्वातन्त्र्यरूपत्वादिच्छासिद्धिर्महेश्वरि ।
एताः सर्वोपचारेण पूजयेत् तु वरानने ॥१६२॥

वामादीनां वामाज्येष्ठारौद्र्याख्यानां मित्रेशादिरूपाणा[4]मिच्छाज्ञानक्रिया[5]त्मकविमर्शशक्त्यंशकामेश्वर्याद्यधि[6]ष्ठानत्वात् पुरशब्दवाच्यत्वम्, तेषां त्रिपुराणां जननी समष्टिरूपत्वादम्बिकाशक्ति[7]रेव त्रिपुराम्बिका, निरुक्ता [8]चक्रेश्वरीति शेषः। "स्वेच्छयैव जगत्सर्वं निगिरत्युद्गिरत्यपि" इत्याज्ञावतारोक्तरीत्या परशिवस्य विश्वसर्जनसंहारलक्षणस्वातन्त्र्यलक्षणेच्छासिद्धि[9]रेतच्चक्रार्चकस्य

र्णान्त शब्द अस्थि और मज्जा के ऊपर स्थित शुक्रात्मक सकार को लक्षित करता है । चतुःशती शास्त्र में कामेश्वर के बाण बीजों का भी उद्धार नहीं बताया गया है किन्तु उनका उद्धार [1]स्वच्छन्दसंग्रह में बता दिया गया है और आगमान्तर में भी ये प्रसिद्ध हैं, अतः उनका उद्धार यहाँ नहीं किया गया है ॥१६०-१६१॥

त्रिपुराम्बिका वामा आदि तोन पुरों की जननी है । हे महेश्वरि ! अपनी परम स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण यह अपने साधक को इच्छासिद्धि प्रदान करने वाली है । हे वरानने ! इस अष्टम चक्र में इन सबकी पूजा करनी चाहिये ॥१६१-१६२॥

मित्रेश आदि तीन प्रकाशों की अंशभूत वामा, ज्येष्ठा और रौद्री नामक शक्तियों में इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक विमर्शांशभूत कामेश्वरी आदि शक्तियाँ अधिष्ठित हैं, अतः वामा आदि को यहाँ पुर नाम दिया गया है । इन तीनों पुरों की जननी समष्टिस्वरूपिणी अम्बिका शक्ति है । इसी को 'त्रिपुराम्बिका' कहते हैं । इस अष्टम चक्रेश्वरी का ही स्वरूप यहाँ बताया गया है । आज्ञावतार के वर्णन के अनुसार यह शक्ति सारे जगत्

१. शत्यामप्यनुद्धृतानां-क. ग. । २. यायो-झ. । ३. रक्तयोर्नीलरक्तयोः-ख. ने. ज. उ. ब., संयुजेन्नीलरक्तयोः-झ. । ४. णां पुराणामि-ख. झ. उ. । ५. मय-ख. ज. झ. उ. । ६. ष्ठितत्वात्-क. ग. । ७. क्तेरेतत् त्रि-ख. ने. ज. झ. उ. । ८. चक्रेशी-ख. ने. ज. झ. उ. । ९. रेतदर्च-ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. दीपिका में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह के वचन से तो यह विषय स्पष्ट नहीं होता, किंतु ऋजुविमर्शिनी (पृ० २५५) तथा सुभगोदय (पृ० २९५) में कामेश्वरी और कामेश्वर के बाणबीजों का उद्धृत स्वरूप बताया गया है ।

सिद्ध्यति, [1]सेयमिच्छासिद्धिरस्मिन् चक्रे स्थितेत्यर्थः । एता आयुधदेवताः कामेश्वर्याद्याश्चक्रे[2]श्वरीसिद्धियुताः सर्वोपचारैर्गन्धादिभिरुपचारैः पूजयेत् ॥१६१-१६२॥

नवमचक्रपूजां सवासनामाह—

सर्वानन्दमये देवि परब्रह्मात्मके परे ।
चक्रे संवित्तिरूपा च महात्रिपुरसुन्दरी ॥१६३॥
स्वैराचारेण सम्पूज्या त्वहन्तेदन्तयोः समा ।
महाकामकलारूपा

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तै० उ० ३।६), "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४।३।३२) इति [3]श्रुत्युक्तरीत्या सर्वानन्दसमष्टिभूतपरमानन्दमयत्वात् परब्रह्मात्मके । अत एव परे विश्वोत्तीर्णे । [4]परमशिवस्पन्दमयत्वाच्चक्रे नवमे संवित्तिरूपा, "स्वसंवित् त्रिपुरा देवी लौहित्यं तद्विमर्शनम्" इत्यभियुक्त[5]वचनोक्तरीत्या वेदकवेद्ययोरहन्तेदन्तयोः समा मध्यस्था

को निगलती और उगलती रहती है । इस शक्ति की उपासना करने वाले को भी विश्व की सृष्टि और संहार करने की स्वातन्त्र्य (सामर्थ्य) स्वरूपिणी इच्छासिद्धि प्राप्त हो जाती है । अतः इस इच्छासिद्धि की भी इसी चक्र में पूजा की जाती है । इन सबकी—आयुध देवताओं की, कामेश्वरी आदि तीन देवियों की और इच्छासिद्धि के साथ चक्रेश्वरी त्रिपुराम्बिका की—गन्ध, पुष्प आदि सभी उपचारों से यहाँ पूजा करनी चाहिये ॥१६१-१६२॥

नवम चक्र की पूजाविधि वासना के साथ बताते हैं—

हे देवि ! परब्रह्मात्मक सर्वानन्दमय श्रेष्ठ चक्र में संवित्ति स्वरूपिणी महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा स्वैराचार से करनी चाहिये । महाकामकला स्वरूपिणी यह देवी अहन्ता और इदन्ता इन दोनों ही स्थितियों में समान स्वरूप वाली है ॥१६३-१६४॥

"ऋषि (भृगु वारुणि) ने जान लिया कि आनन्द ही ब्रह्म है", "इसी ब्रह्मानन्द की एक मात्रा का अन्य प्राणी उपभोग करते हैं" इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से सर्वानन्द के समष्टिभूत परमानन्दमय परब्रह्मात्मक इस विश्वोत्तीर्ण परम चक्र में परमशिव का स्पन्दन स्पष्ट भासित होने लगता है, इसीलिये यह संवित्तिस्वरूप है । [1]किसी अभियुक्त ने कहा है—"स्वसंवित् ही त्रिपुरा है और उसकी ललाई ही विमर्श शक्ति है" ।

१. अतः सेय-क.ग. । २. श्चक्रेशी-झ. उ. । ३. श्रुत्युक्ता-ख. ने. ज. झ .उ. । ४. परशिवानन्दमय-ख. ने. । ५. युक्तोक्त-ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. प्रस्तुत श्लोक को भी भास्करराय ने नित्याषोडशिकार्णव (५।४१) का अंग मानकर उसकी व्याख्या की है । पृ० ६९, ९३, २२७ की टिप्पणियाँ देखिये ।

संवित्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी पूर्वोक्त(१।८५)निर्वचना। महाकामकलारूपा प्रकाशविमर्श[1]सामरस्यमहाबिन्दुत्रयमयहार्धकला महाकामकला, तद्रूपा "बिन्दुं संकल्प्य वक्त्रं तु" (१।८५) इत्यादिचतुःशतीशास्त्रोक्तरीत्या। [2]स्वैराचारेण सम्पूज्या,

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत्।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रकाशते॥ (श्लो० ७३)

इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या निजेच्छानुरूपैरिन्द्रियप्रीणनैर्द्रव्यैः परस्फुरत्परमानुसन्धानलक्षणेन स्वैराचारेण सम्पूज्या, स्वसंविद्देवता भावनीयेत्यर्थः ॥१६३-१६४॥

प्राप्तिसिद्धिमाह—

पीठविद्यादिसिद्धिदा॥१६४॥

महामुद्रामयी देवीपूज्या

"का पू जा ओ इति क्रमात्" (१।४१) इति पूर्वोक्ताः पीठाश्चत्वारः। विद्याः वाग्भवकामराजशक्ति[3]तुरीयबीजात्मिकाः। आदिशब्दाद् देवताः कामेश्वर्याद्या-

इस तरह से यह संवित् वेद्य और वेदक दशा में, अहन्ता और इदन्ता की स्थिति में समान स्वरूप वाली है, अर्थात् सभी अवस्थाओं में यह मध्यस्थ रूप में विद्यमान है। इस तरह से यह मध्यस्थ संवित्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी है। इसकी निरुक्ति पहले (१।८५) बताई जा चुकी है। यह महाकामकला स्वरूपिणी है। प्रकाश और विमर्श के सामरस्य स्वरूप तीन महाबिन्दुओं वाली हार्धकला को ही महाकामकला कहा जाता है। यह नवम चक्रेश्वरी महाकामकला स्वरूपिणी है। चतुःशती शास्त्र (१।१८५) में इसका स्वरूप बताया गया है। स्वैराचार से इसकी पूजा करनी चाहिये। विज्ञानभैरव भट्टारक का कहना है—

जहाँ जहाँ मन को तुष्टि हो, वहीं मन को स्थिर कर देना चाहिये। ऐसा करने से उसी में अपना परमानन्दात्मक स्वात्मस्वरूप प्रकाशित हो उठता है॥

इसी पद्धति से अपनी इच्छा के अनुसार इन्द्रियों को तृप्त करने वाले द्रव्यों से, इन्हीं में अपने स्वात्मस्वरूप को खोजता हुआ साधक यथेच्छ आचरण द्वारा नवम चक्रेश्वरी की पूजा और भावना करे॥१६३-१६४॥

प्राप्ति नामक सिद्धि का अब वर्णन करते हैं—

यह देवी पीठ, विद्या आदि की प्राप्तिरूप सिद्धि को देने वाली है। महामुद्रामयी इस देवी की पूजा यहीं की जाती है॥१६४-१६५॥

का पू जा ओ के क्रम से चार पीठ पहले (१।४१) बताये जा चुके हैं। वाग्भव,

१. व्याससमासमयबिन्दुत्रयहार्धकला—क. झ.। २. 'स्वैरा....कोक्तरीत्या' नास्ति—क. ग.। ३. तुर्य—ख. ने. ज. उ.।

श्चतस्रः। तेषां [1]तुरीयातीतपदपरशिवविश्रान्तिलय[2]लक्षणां सिद्धिं ददाति प्रापयतीति प्राप्तिसिद्धिः। महामुद्रामयी महामुद्रा सर्व[3]मुद्रासमष्टिभूतत्वाद् योनिमुद्रा, तन्मयी पूज्येत्यर्थः॥१६४-१६५॥

पञ्चदशात्मिका।

तत्तत्तिथिमयी नित्या नवमी भैरवी परा॥१६६॥[4]

प्रतिचक्रं[5] समुद्रास्तु चक्रसंकेतकोदिताः[6]।

पञ्चदशात्मिका पञ्चदशाक्षर्या विद्याया वाच्यभूता पञ्चदशभूतगुणात्मिका। तत्तत्तिथिमयी प्रतिपदादिपञ्चदशतिथि[7]रूपा। नित्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा। नवमी भैरवी परा। "मूलविद्या तथा [8]प्रोक्ता" (२१५) इति पूर्वोक्तरीत्या मूलविद्यारूपनवमचक्रेश्वरी विद्या[9] षोडशकलात्मिका मूलदेवी नवमचक्रेश्वरी [10]पूज्येत्यर्थः। प्रतिचक्रं त्रैलोक्यमोहनादिष्वेकैकस्मिन् चक्रे। चक्रसंकेत[11]कोदिताः

कामराज, शक्ति और तुरीय बीजात्मक विद्याओं का भी वर्णन किया जा चुका है। आदि शब्द से कामेश्वरी आदि चार देवियों का ग्रहण किया जाता है। इन सबको परशिवस्वरूप तुरीयातीत पद में विश्रान्ति देने वाली, उसमें लीन कर देने वाली सिद्धि को प्राप्त करा देने वाली यह देवी प्राप्तिसिद्धि स्वरूपिणी है। यही देवी महामुद्रामयी भी है। सभी मुद्राओं की समष्टिस्वरूपिणी योनिमुद्रा को महामुद्रा कहा जाता है। योनिमुद्रामयी महात्रिपुरसुन्दरी की पूजा यहीं करनी चाहिये॥१६४-१६५॥

पंचदश भूतगुणात्मिका, प्रतिपदादि तिथिस्वरूपिणी पन्द्रह देवियां तिथिनित्या और नवीं पराभैरवी मूलविद्या कहलाती हैं। इन सबकी यहाँ पूजा करनी चाहिये। चक्रसंकेत में वर्णित मुद्राओं का पूजन तो प्रत्येक चक्र में अलग अलग होना चाहिये॥१६५-१६६॥

पंचदशात्मिका का अर्थ पंचदशाक्षरी विद्या के वाच्यभूत पन्द्रह भूतगुण शब्द, स्पर्श आदि से सम्पन्न प्रतिपदादि तिथियों की अधिष्ठात्री पन्द्रह तिथिनित्यायें है। इनको नित्या इसलिये कहते हैं कि ये सब निज सुखमय नित्य निरुपम आकार से सम्पन्न हैं। इन अवयव नित्याओं से सम्पन्न नवीं पराभैरवी अवयवी नित्या है। पहले (२१५) बताया जा चुका है—"इसी को मूलविद्या भी कहते हैं"। यह मूलविद्या ही नवम चक्रेश्वरी विद्या है और यही अवयव और अवयवी नित्याओं के भेद से सोलह कला वाली मूल देवी है। नवम चक्र की स्वामिनी के रूप में इसकी पूजा की जाती है। प्रतिचक्र का

१. तुर्या—ख. ने. ज. झ. उ.। २. 'लय' नास्ति—क. ग.। ३. विद्या—क. ग.। ४. संपूज्या परमेशानि तत्तत्तिथिमयी परा—ख. ने. च. छ. ज. उ.। ५. तु मु—ख. च. छ. ज. झ.। ६. तचोदिताः—ख. च. छ. ज. झ.। ७. पद—ने. ज. झ. उ.। ८. ख्याता—क. ग.। ९. विद्यामुच्चार्य नवमचक्रेश्वरीविद्या या षोडश—ख. ने. ज. झ. उ.। १०. संपू—ख. ने. झ. उ.। ११. ते चोदिताः—ख. ज. झ.।

[1]"योनिप्राचुर्यतः सैषा सर्वसंक्षोभिणी पुनः" (१।५९) इत्यादिना चक्रसंकेते चक्रे विहिताः सर्वमुद्राः सर्वसंक्षोभिण्याद्यास्तत्तच्चक्रमुद्रास्तत्तच्चक्रेषु पूज्या इति योज्यम् ॥१६५-१६६॥

नित्यक्लिन्नादिकाश्चैव काम्यकर्मानुसारतः ॥१६६॥
चतुरस्रान्तराले वा त्रिकोणे वा यजेत् सुधीः ।

कामेश्वरीभगमालिन्योरावरणान्तःपातित्वात् [2]तयार्मध्यत्रिकोणाग्रवामकोणयोः स्थितिरुक्ता । शिष्टाः—

नित्यक्लिन्ना[3] तथा नित्या भेरुण्डा वह्निवासिनो ॥
महाविद्येश्वरी दूती त्वरिता कुलसुन्दरी ।
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ॥
ज्वालामालिनी चित्रा च (१।२६-२८)

इति चतुःशतीशास्त्रोक्तास्त्रयोदशनित्यास्त्रिकोणे वा, श्रीचक्रमध्यत्रिकोणे वा, चतुरस्रान्तराले वा षोडशदलचतुरस्रान्तराले वा काम्यकर्मानुसारतः वश्यादिकाम्यकर्मानुरूपवर्णध्यानपुष्पादिभिः । सुधीः तत्तत्काम्यकर्म[4]विधानविषयज्ञो [5]यजेत् ॥१६६-१६७॥

अभिप्राय यह है कि त्रैलोक्यमोहन आदि एक एक चक्र में चक्रसंकेत प्रकरण में उपदिष्ट सर्वसंक्षोभिणी आदि सभी नौ मुद्राओं को उस उस चक्र की मुद्रा के रूप में उन उन चक्रों में पूजा होनी चाहिये ॥१६५-१६६॥

काम्य कर्म के अनुसार प्रयोग करने वाले विद्वान् को चाहिये कि वह चतुरस्र के अन्तराल में अथवा त्रिकोण में नित्यक्लिन्ना आदि तिथिनित्याओं को पूजा करे ॥१६६-१६७॥

पन्द्रह तिथिनित्याओं में [1]कामेश्वरी और भगमालिनी के नाम भी पठित हैं। मध्यत्रिकोण के अग्र भाग और वाम कोण में इनको पूजाविधि बताई जा चुकी है । बाकी की नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महाविद्येश्वरी, दूती, त्वरिता, कुलसुन्दरी, नित्या, नीलपताका, विजया, सर्वमंगला, ज्वालामालिनी और चित्रा नामक चतुःशती शास्त्र (१।२६-२८) में प्रोक्त तेरह नित्याओं की पूजा त्रिकोण में, अर्थात् श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण में, अथवा चतुरस्रान्तराल में, अर्थात् षोडशदल और चतुरस्र के बीच में वशीकरण आदि काम्य कर्मों के अनुरूप वर्ण, ध्यान, पुष्प आदि से पूजा

---

१. 'योनि····स्तत्तत्' नास्ति–क. ग. । २. तन्मध्य–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. न्नाभिधा–मु. । ४. कर्मानुवि–ख. । ५. 'यजेत्' नास्ति–ख. ने. ज. झ. ।

1. यहाँ अमृतानन्द तिथिनित्याओं से त्रिकोण स्थित कामेश्वरी एवं भगमालिनी का अभेद मान कर व्याख्या करते हैं, जब कि भास्करराय इनमें भेद मानते हैं । अमृतानन्द

चक्रपूजामुपसंहरन् कुलदीपनिवेदनमाह—

अलिना पिशितैर्गन्धैर्धूपैराराध्य देवताः ॥१६७॥
चक्रपूजां विधायेत्थं कुलदीपं निवेदयेत् ।
अन्तर्बहिर्भासमानं स्वप्रकाशोज्ज्वलं प्रिये ॥१६८॥

अलिना हेतुना । [1]पिशितगन्धधूपशब्दाः स्पष्टार्थाः । देवताः त्रैलोक्यमोहनादिबैन्दवान्तनवचक्रगताः, अलिपिशितगन्ध[2]धूपैराराध्य, इत्थ पूर्वोक्तरीत्या चक्रपूजां विधाय कुलदीपम्, कुलं षट्त्रिंशत्तत्त्वसमुदायरूपं शरीरम्, तत्र भवं[3] दीपम्, "ततो हृदयपद्मान्तः स्फुरन्तीं सांविदीं[4] कलाम्" (सु० ३४) इत्यभियुक्त[5]वचनोक्तरीत्या हृदयान्तर्भासमानं संवित्कलारूपं दीपम्, इन्द्रियद्वारा बहिरर्थेषु तद्रूपेण [6]भासमानम्, अत एव स्वप्रकाशोज्ज्वलं तत्र प्रमाणनिरपेक्षप्रतीतिकं निर्वाणरहितं

करनी चाहिये । यहाँ सुधी पद का अर्थ है उन उन काम्य कर्मों के विधि-विधान को अच्छी तरह से जानने वाला ॥१६६-१६७॥

चक्रपूजा का उपसंहार करते हुए कुलदीप के निवेदन की विधि बताते हैं—

अलि, पिशित, गन्ध, धूप आदि से सभी देवताओं की आराधना करने के बाद चक्रपूजा की समाप्ति पर कुलदीप प्रज्वलित करे । हे प्रिये ! यह कुलदीप अपने प्रकाश की उज्ज्वल आभा से हृदय के भीतर और बाहर भी आलोक फैलाने वाला है ॥१६७-१६८॥

अलि का अर्थ हेतु द्रव्य है । पिशित, गन्ध और धूप शब्दों का अर्थ स्पष्ट है । त्रैलोक्यमोहन से बैन्दव पर्यन्त सभी नौ चक्रों में निवास करने वाले देवताओं की अलि, पिशित, गन्ध, धूप आदि से ऊपर बताई पद्धति के अनुसार आराधना कर लेने के उपरान्त कुलदीप को प्रज्वलित करना चाहिये । कुल शब्द का अर्थ है छत्तीस तत्त्वों का समुदाय स्वरूप यह शरीर । इस शरीर में दीपक जलाना चाहिये । शिवानन्द मुनि के अनुसार "हृदय रूपी कमल में स्फुरित होने वाली सांविदी कला ही दीपक है" । संवित्कला के स्फुरण से हृदय के भीतर प्रज्वलित यह दीप इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों में अपना प्रकाश फैलाता है । अपने इस अद्भुत उज्ज्वल प्रकाश से यह दीपक हृदय के भीतर और बाहर भी बिना किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा रखे भासित होता रहता है और यह कभी

---

१. पिशितैर्मांसैः–क. ग. ने. । २. धूपदीपै–क. ग. । ३. 'भवं' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. संविदं–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. युक्तोक्त–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. 'भासमानं' नास्ति–ख. ज. झ. उ. ।

की व्याख्या का खण्डन करते समय वे वज्रेश्वरी का उल्लेख करते हैं, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि तिथिनित्याओं में वज्रेश्वरी की गणना नहीं है ।

च [1]कुलदीपं निवेदयेत् । पुनः प्रत्यङ्मुखतया तेनैव द्वारेणान्तः संविद्विश्रान्तिस्तन्निवेदनं नाम ॥१६७-१६८॥

पुष्पाञ्जलिं ततः कृत्वा जपं कुर्यात् समाहितः ।

संयम्येन्द्रियसंचारं प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्यजपो जपः ॥

इति [2]प्रामाणिकवचनोक्तरीत्या समाहितः[3] नियतेन्द्रियः, नादरूपमन्त्रोच्चारणलक्षणं जपं कुर्यात् । शिष्टं स्पष्टम् ॥१६९॥

जपप्रकारमाह[4]—

कूटत्रये महादेवि कुण्डलीत्रितयेऽपि च ॥१६९॥
चक्राणां पूर्वपूर्वेषां नादरूपेण योजनम् ।

कूटत्रये कूटानां वाग्भवकामराजशक्तिबीजाख्यानां त्रये । कुण्डलीत्रितयेऽपि च । कुण्डलीनां त्रितयं [5]कुण्डलीत्रयम्, "आधारं [6]हृदयं बिन्दुस्थानं च परिकीर्तितम्" इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तेषु आधारहृदयभ्रूमध्येषु स्थितानां बीजत्रयशिखर-

बुझता नहीं है । इस तरह के कुलदीप को देवियों को समर्पित करे । बाहर की तरफ दौड़ रही इन्द्रिय-वृत्तियों को अन्तर्मुख बना कर, उसी इन्द्रिय-मार्ग से उनको भीतर ले जा कर अपने संवित्स्वभाव में उनको विलीन कर देना हो, उनको विश्राम दिला देना ही यहाँ निवेदन शब्द का अर्थ है ॥१६७-१६८॥

तब पुष्पांजलि प्रदान कर समाहित चित्त से जप करे ॥

किसी प्रामाणिक[1] व्यक्ति ने जप के विषय में कहा है—

इन्द्रियों के बाहरी संचार को रोक कर आन्तर नाद का उच्चारण करे । वास्तविक जप इसी को कहा जाता है । बाह्य जप वस्तुतः जप नहीं है ॥

साधक को चाहिये कि वह अपनी इन्द्रियों को वश में करके नादरूप मन्त्र का उच्चारण करते हुए जप करे । बाकी का अर्थ स्पष्ट है ॥१६९॥

अब इस जप की विधि बताते हैं—

हे महादेवि ! तीन कूटों में और तीन कुण्डलियों में एक एक चक्र का नाद के रूप में संयोजन ही जप कहलाता है ॥१६९-१७०॥

कूटत्रय का अर्थ है वाग्भव, कामराज और शक्ति नामक तीन बीज और कुण्डलीत्रय का अर्थ स्वच्छन्दसंग्रह के प्रमाण पर आधार, हृदय और बिन्दुस्थान है । इसका

१. 'कुलदीपं' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. प्रमाण–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. हितेन्द्रियः–ख. ने. ज. उ. । ४. मेवाह–ख. झ. उ. । ५. 'कुण्डलीत्रयम्' नास्ति–क. ग. । ६. चैव हृद्बिन्दु–ख. ने. ज. झ. ।

1. पृ० २२७ की दूसरी टिप्पणी देखिये ।

वर्तिकामकलान्तर्गतसपरार्धकलारूपाणां वह्निसूर्यसोम[1]कुण्डलिनीनां त्रये । चक्राणां पूर्वपूर्वेषाम् । "अकुले विषुसंज्ञे च" (१।२५) इत्यत्रोक्ताऽकुलादिबिन्द्वन्तस्थानेषु नवसु भावितानां त्रैलोक्यमोहनादिनवचक्राणामेकैकस्मिन् बीजे कुण्डलिन्यां च त्रिशस्त्रिशो विभज्य योजितानां नादरूपेण योजनम् । त्रैलोक्यमोहनादि[2]नवचक्रस्थादित्रयस्याधारस्थवह्नि[3]मण्डलस्थितवाग्भवशिखरवर्तिकामकलान्तर्गतहार्धकलारूपवह्निकुण्डलिन्युत्थानोदितहृद्[4]गतकामराजबीजपर्यन्तव्यापिनादमयताभावनं वाग्भवबीजजपः । सर्वसौभाग्यदायकादिचक्रत्रयस्य हृदयस्थसूर्यमण्डलस्थितकामराजशिखरवर्तिकामकलान्तर्गतहार्धकलारूपसूर्यकुण्डलिन्युत्थानोदितबिन्दुस्थानगतशक्तिबीजपर्यन्तव्यापिनादमयताभावनं कामराजबीजजपः । सर्वरोगहरादिचक्रत्रयस्य [5]बिन्दुस्थानेन्दुमण्डलान्तर्गतशक्तिबीजशिखरवर्ति[6]कामकलान्तर्गतहार्धकलारूपसोमकुण्डलिन्युत्थानोदितब्रह्मरन्ध्रोपरिस्थितशिवतत्त्वातीतसमनासोमपर्यन्तव्यापिना नादेन सहोन्मन्यां लयभावनं शक्तिबीज[7]जप इत्यर्थः । तदुक्तमभियुक्तैः—

अभिप्राय यह होगा कि आधार, हृदय और भ्रूमध्य में स्थित तीन बीजों के शीर्ष स्थान में विद्यमान कामकला के अन्तर्गत सपरार्धकला स्वरूप वह्नि, सूर्य और सोम नामक तीन कुण्डलिनियाँ हैं । पहले (१।२५) बताई गई पद्धति से अकुल से बिन्दु पर्यन्त नौ स्थानों में भावित त्रैलोक्यमोहन आदि नौ चक्रों का एक एक बीज और कुण्डलिनी में तीन तीन विभाग कर नाद रूप से संयोजित करने को ही यहाँ जप कहा गया है । इसका अभिप्राय यह है कि त्रैलोक्यमोहन आदि तीन चक्रों को आधारस्थ वह्निमण्डल में विद्यमान वाग्भव बीज के शिखर में स्थित कामकला के अन्तर्गत हार्धकलारूप वह्निकुण्डलिनी के उत्थान से वहाँ से उठकर हृत्स्थानगत कामराज बीजपर्यन्त व्याप्त नादमयता की भावना का नाम वाग्भव बीज का जप है । सर्वसौभाग्यदायक आदि तीन चक्रों की हृदयस्थ सूर्यमण्डल में विद्यमान कामराज बीज के शिखर में स्थित कामकला के अन्तर्गत हार्धकलारूप सूर्यकुण्डलिनी के उत्थान से वहाँ से उठकर बिन्दुस्थानगत शक्तिबीज पर्यन्त व्याप्त नादमयता की भावना का नाम कामराज बीज का जप है । सर्वरोगहर आदि तीन चक्रों की बिन्दुस्थान स्थित चन्द्रमण्डल में विद्यमान शक्तिबीज के शिखर में स्थित कामकला के अन्तर्गत हार्धकलारूप सोमकुण्डलिनी के उत्थान से वहाँ से उठकर ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर स्थित शिवतत्त्व से अतीत समना की सीमा तक व्याप्त नाद की उन्मना शक्ति में लीन होने की भावना का नाम शक्तिबीज का जप कहलाता है । किसी प्रामाणिक व्यक्ति ने इस विषय में कहा है—

१. कुण्डलीनां–ख. झ. उ. । २. नादिचक्रत्रय–क. ग. । ३. वह्निकुण्डली–क. ग. ज. । ४. हृत्स्थ–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. बिन्दुमण्डलान्तर्गत–क. ग. ने. । ६. 'कामकलान्तर्गत' नास्ति–क. ग. ने. । ७. बीजोच्चार–ख. ने. ज. झ. उ. ।

पिण्डो [1]वाचकविस्तरस्य महतः संस्कारशेषा[2] स्थिति-
र्नादोऽसौ तव देवि मूर्ध्नि समनासीमानमुल्लङ्घयन् ।
घण्टाक्वाण इव क्रमेण विरमन्नन्यामणोयस्तनी-[3]
माजिघ्रन् परचिद्दशामनुभवन् मूर्तिं पुराणीमुमे[4] ॥

इति[5] ॥१६९-१७०॥

ननु "दीपाकारोऽर्धमात्रश्च ललाटे वृत्त[6] इष्यते" (१।२८) इत्यादि त्रिष्वपि बीजेषु[7] उन्मनीपर्यन्तमुच्चारः किमिति नोक्तः ? प्राणादीनामुन्मन्यन्तानां द्वादशांशानां सर्वत्र साधारण्येन वक्तुं शक्यत्वादित्यत आह—

तेषु प्राणाग्निमायार्णकलाबिन्द्वर्धचन्द्रकाः[8] ॥१७०॥
रोधिनीनादनादान्ताः [9]शक्तिव्यापिकयान्विता ।

वर्ण, पद, वाक्यरूप इस विशाल शब्द विस्तार को जहाँ संस्कार के रूप में स्थिति बनी रहती है, उसी का नाम पिण्ड है। इसको नाद भी कहते हैं। इसका भाव यह है कि नाद के रूप में परिणत हुए पिण्ड-मन्त्र में वर्ण, पद, वाक्यरूप शब्दप्रपंच की संस्कार के रूप में स्थिति रहती है, सारा शब्दप्रपंच यहाँ आकर शान्त हो जाता है। हे देवि उमे! यह नाद ललाट से ऊपर बढ़ता हुआ जब समना की सीमा को लाँघ कर उन्मना अवस्था में पहुँचता है, तब वह एक अनोखी सूक्ष्मतर अवस्था को स्पर्श करता हुआ परचिद् दशा रूप अपने पुराने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। यह कैसे होता है? इसका उदाहरण है—घण्टा-ध्वनि। जैसे घण्टे के बजने से उत्पन्न हुई ध्वनि धीरे-धीरे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई सनसनाहट के रूप में बदल कर अन्ततः विलीन हो जाती है, उसी तरह से नाद भी समना पर्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अवस्था में पहुँचता हुआ अन्त में उन्मना में विलीन हो जाता है, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है ॥१६९-१७०॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि पहले (१।२८) बिन्दु से उन्मना पर्यन्त मात्राओं का उच्चारण काल आदि बताया गया है, यहाँ ऐसा क्यों नहीं किया गया? प्राण से उन्मना पर्यन्त द्वादश मात्राओं का समान रूप से सर्वत्र वर्णन होना चाहिये था? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं—

इन तीनों बीजों में प्राण, अग्नि, मायार्ण नामक कला के साथ बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना—ये सब

१. वाक्पद–ख. ने. झ. उ.। २. दोषा–ख. ने., दोषोत्थितिः–ज.। ३. स्तमा–क. ग.। ४. णीं मम–ख. ज. झ. उ.। ५. इत्यत्रैवोक्तम्–ज. विहाय सर्वत्र। ६. बिन्दुरि–ज.। ७. पीठेषु–ने., भेदेषु–झ.। ८. न्द्रिकाः–क. ग.। ९. शक्तिव्यापिकलान्विताः–क. ग.।

समना चोन्मना चेति द्वादशान्ते स्थिता प्रिये ॥१७१॥
मूलकुण्डलिनीरूपे मध्यमे च ततः पुनः ।
सृष्टयुन्मुखे च विश्वस्य स्थितिरूपे [1]महेश्वरि ॥१७२॥
केवलं नादरूपेणउत्तरोत्तरयोजनम् ।
शबलाकारके देवि तृतीये द्वादशी कला ॥१७३॥

तेषु त्रिष्वपि बीजेषु। प्राणो हकारः, अग्नी रेफः, मायार्णं ईकारः, स एव कला। तदुक्तं कामकलाविलासे—

बिन्दुरहङ्कारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः।
कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दुविग्रहौ बिन्दू ॥ (श्लो० ७) इति।

बिन्द्वादय उन्मन्यन्ताः पूर्वोक्त(१।२८-३४)लक्षणाः। एते प्राणादय उन्मन्यन्ता [2]द्वादशान्ते स्थिताः। [3]मूलकुण्डलिनीरूपे वाग्भवबीजे,

या मात्रा त्रपुसीलतातनुलसत्तन्तूत्थितिस्पर्धिनी
वाग्बीजे प्रथमे स्थिता तव सदा तां मन्महे ते वयम्।

हे प्रिये! द्वादशान्त में स्थित हैं। मूल कुण्डलिनी रूप सृष्टयुन्मुख वाग्भव बीज में और विश्व के स्थिति रूप मध्यम कामराज बीज में हे महेश्वरि! केवल नादरूपता का उत्तर उत्तर बीज में संयोजन किया जाता है। हे देवि! पूर्ववर्ती दोनों बीजों के संयोजन से शबल आकार वाले तृतीय बीज में ही बारहवीं कला (उन्मना) पर्यन्त उच्चारण होता है ॥१७०-१७३॥

ऊपर बताये गये तीनों बीजों में प्राण (हकार), अग्नि (रेफ) और मायार्ण (ईकार) की स्थिति रहती है। ईकार को ही कला कहा जाता है, जैसा कि कामकलाविलास में बताया गया है—

यह श्वेत और रक्त बिन्दुयुगल अहंकारस्वरूप है। इसका नाम रवि है। इसमें दोनों बिन्दु समरसभाव से रहते हैं। यह समरसभाव सबके लिये कमनीय (स्पृहणीय) है। इसलिये इसे काम भी कहते हैं। अग्नि और चन्द्र (अग्नीषोम) नामक दो बिन्दु इस काम की कलाएँ कहलाती हैं॥

बिन्दु से उन्मनी पर्यन्त कलाओं का स्वरूप पहले (१।२८-३४) बताया जा चुका है। प्राण से उन्मनी पर्यन्त सबकी स्थिति द्वादशान्त में है। मूलकुण्डलिनी रूप वाग्भव बीज विश्व की सृष्टि के लिये उन्मुख रहता है। लघुस्तोत्र में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है—

हे भगवति त्रिपुरे! ककड़ी की लता से निकल रहे सूक्ष्म तन्तुओं के समान कुटिल आकृति वाली ईकार स्वरूपिणी जो मात्रा तुम्हारे प्रथम वाग्भव बीज में स्थित है, उसी

१. परे–ख., तथे–ने. च. छ. ज. झ. उ.। २. द्वादश–क. ने. उ.। ३. कुल–ने.।

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा
ज्ञात्वेत्थं न पुनः स्पृशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः ॥ (श्लो० २)

इति लघुस्तोत्रोक्तरीत्या विश्वस्य सृष्ट्युन्मुखे, मध्यमे कामराजबीजे विश्वस्य स्थितिरूपे, संहारसृष्ट्योर्मध्यस्थितत्वात् । केवलं नादरूपेण नादाद्युन्मन्यन्तावयवोच्चारवर्जं नादमात्ररूपेण । उत्तरोत्तरयोजनम्, उच्चारक्रियाविशेषणम् । वाग्भवबीजशिखरवर्तिनं नादं हृद्गतकामराजबीजपर्यन्तमुच्चरेत्, कामराजबीजशिखरवर्तिनं नादं बिन्दुस्थानगतशक्तिबीजपर्यन्तमुच्चरेदित्यर्थः । शबलाकारके एतद्बीजद्वयनादद्वययोगान्मिश्ररूपे तृतीये शक्तिबीजे द्वादशी कला [1]उन्मना, स्थितेत्यनुषङ्गः । तेन प्राणादयो द्वादशकला अपि तृतीयबीजशिखरे स्थिता उच्चार्या इति लभ्यते । कोऽर्थः ? यद्यपि [2]वाग्भवकामराजशक्तिबीजत्रयाणामप्यन्ते प्राणाग्निमायाबिन्द्वर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तशक्तिव्यापिकासमनोन्मनाख्या द्वादशकला वक्तुं शक्यन्ते, तथापि वाग्भवकामराजबीजयोः[3] सृष्टिस्थितिरूपत्वान्न विश्वातीतोन्मनापर्यन्तमुच्चारः । अतो न विरोध इत्यर्थः ॥ १७०-१७३ ॥

को हम तुम्हारे भक्तगण वास्तविक मात्रा मानते हैं । यही कुण्डलिनी शक्ति है । विश्व की उत्पत्ति के व्यापार में यह सचेष्ट रहती है । ऐसा जान लेने पर मनुष्य फिर जननी के गर्भ में बच्चे के रूप में जन्म नहीं लेता ॥

मध्यम कामराज बीज स्थितिस्वरूप है, क्योंकि संहार और सृष्टि के मध्य में इसकी स्थिति है । इन दोनों बीजों में नाद से उन्मनी पर्यन्त कलाओं का उच्चारण किये बिना प्रथम से उत्तर बीज में केवल सामान्य नाद का संयोजन किया जाता है । अर्थात् वाग्भव बीज के शिखरवर्ती नाद को हृदयगत कामराज बीज पर्यन्त पहुँचा दिया जाता है और कामराज बीज के शिखरवर्ती नाद को बिन्दुस्थान गत शक्तिबीज पर्यन्त उच्चारित किया जाता है । इन दोनों बीजों के दोनों नादों के मिलन से तृतीय शक्तिबीज का स्वरूप शबल (मिश्रित) आकार का हो जाता है । नाद की बारहवीं कला वस्तुतः यहीं रहती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राण आदि बारह कलाओं का उच्चारण तृतीय बीज के शिखर स्थान में ही करना चाहिये । इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि वाग्भव, कामराज और शक्ति, तीनों बीजों के अन्त में प्राण, अग्नि, माया, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना नामक बारह कलाओं का उच्चारण किया जा सकता है, तो भी वाग्भव और कामराज बीज सृष्टि और स्थिति रूप हैं, अतः इनका विश्वातीत उन्मना पर्यन्त उच्चारण नहीं किया जाता । इस तरह से पूर्वापर ग्रन्थ में यहाँ किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिये ॥१७०-१७३॥

१. उन्मनी—ख. ने. ज. झ. । २. 'वाग्भव'''तथापि' नास्ति—ख. ने. ज. झ. । ३. योः प्राणादय उन्मन्यन्तास्तथापि तयोः सृष्टि—ख. ने. ज. झ. ।

जपकाले[1] भाव्यानाह—

शून्यषट्कं [2]तथा देवि ह्यवस्थापञ्चकं पुनः ।
विषुवं[3] सप्तरूपं च भावयन् मनसा जपेत् ॥१७४॥

[4]जपकाले एतानि विद्यावयवेषु भाव्यानि ।

शिखि[5]पक्षचित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोऽनुत्तरे [6]शून्ये [7]परं व्योमतनुर्भवेत् ॥ (श्लो० ३२)

इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या शून्यषट्कस्य रूपं ज्ञेयम् । अवस्थापञ्चकं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यतुर्यातीतात्मकम् । एषां जाग्रदादीनां स्वरूपं वक्ष्यति (३।१७६-१८१), [8]विषुवं सप्तरूपं च वक्ष्यति (३।१८१-१८७) ॥१७४॥

[9]शून्यादीनां स्थानानि स्वरूपाणि च क्रमेणाह—

अग्न्यादिद्वादशान्तेषु[10] त्रींस्त्रीन् त्यक्त्वा वरानने ।
शून्यत्रयं विजानीयादेकैकान्तरतः[11] प्रिये ॥१७५॥
शून्यत्रयात् परे स्थाने महाशून्यं विभावयेत् ।

जप के समय इनकी भावना करनी चाहिये—

हे देवि ! शून्यषट्क की तथा अवस्थापंचक को एवं सप्तविध विषुव की जप करते समय मन से भावना करनी चाहिये ॥१७४॥

जप करते समय विद्या के अवयवों में इनकी भावना करनी चाहिये । शून्यषट्क का स्वरूप विज्ञानभैरव भट्टारक ने इस तरह से बताया है—

मयूर के पंख के चित्र-विचित्र चन्द्रकों में जैसे पाँच शून्य दिखाई पड़ते हैं, उसी तरह से पंचेन्द्रिय मण्डल से चित्र-विचित्र भासमान शून्यपंचक रूप जगत् को अनुत्तर शून्य में विलीन कर देने वाला योगी परभैरव स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत ये पाँच अवस्थाएँ हैं । इनका स्वरूप अभी आगे बताया जायगा । सात विषुओं का स्वरूप भी यहीं आगे बताया जा रहा है ॥१७४॥

पहले छः शून्यों के स्थान और स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं—

हे वरानने ! अग्न्यादि (हकार) से द्वादशान्त (उन्मना) पर्यन्त स्थानों में तीन तीन को छोड़कर तीन शून्य जाने । हे प्रिये ! इसी तरह से एक एक के अन्तराल

१. कालां भावनामाह—ख. ज. झ. उ. । २. सुरेशानि—ख. च. छ. ज. झ. । ३. विषुवत्—ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ४. जपकाल इति केवलं जमातृकायाम् । ५. पिच्छ—क. ग. । ६. शून्यं—ख. ने. ज. झ. उ. । ७. रूपं—क. ग. । ८. विषुवत्—ख. ने. झ. उ. । ९. शून्यानां—ख. ने. झ. उ. । १०. शान्तेषु—ख. ने. च. उ. । ११. रितं—क. ग. ज. ।

एकश्च एकश्च द्वयोर्द्वयोरन्तरत[1] इत्यर्थः। अग्न्यादि अग्निः रेफः, तदादीन् त्रीन् त्रीन् षट् त्यक्त्वा, शून्यत्रयं षट् शून्यानि, विजानीयात्। कोऽर्थः ? हकार-मायाक्षरयोर्मध्ये रेफम्[2], मायार्धचन्द्रयोर्मध्ये बिन्दुम्[2], अर्धचन्द्रनादयोर्मध्ये रोधिनीम्[2], नादशक्त्योर्मध्ये नादान्तम्[2], शक्तिसमनयोर्मध्ये व्यापिकाम्[2], समनोर्ध्वे चोन्मना[2]मिति षट् त्यक्त्वा। तत्र रेफबिन्दुरोधिनीनादान्तव्यापिकास्थानेषु पञ्चसु "शिखिपक्षचित्ररूपैः" (श्लो० ३२) इत्यादिपूर्वोक्तरीत्या बहिर्बहिर्गतचन्द्रक[3]-सदृशरूपाणि पञ्च शून्यानि [4]भावनीयानीत्यर्थः। षष्ठोन्मनास्थाने तु "[5]पञ्च-व्योमतनुर्भवेत्" (श्लो० ३२) इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्यैव व्योमतनु शून्यं ज्ञेयमित्यन्यश्च[6] विशेषः। शून्यत्रयात् परे स्थाने महाशून्यं निराकारं विभावयेदित्यर्थः ॥१७५-१७६॥

में भी तीन शून्यों की स्थिति है। (प्रथम) शून्यत्रय से आगे के स्थान में, अर्थात् उन्मना स्थित तृतीय शून्य में महाशून्य की भावना करे ॥१७५-१७६॥

'एकैकान्तरतः' इस पद में एक और एक मिलकर दो होता है। इसका अर्थ होगा दो दो के अन्तराल से। अग्नि रेफ को कहते हैं। [1]रेफ का आदि हकार है। हकार से तीन तीन को छोड़कर छः शून्यों की भावना करे। इसका अभिप्राय यह है कि हकार और मायाक्षर के बीच में रेफ को, माया और अर्धचन्द्र के बीच में बिन्दु को, अर्धचन्द्र और नाद के बीच में रोधिनी को, नाद और शक्ति के बीच में नादान्त को, शक्ति और समना के बीच में व्यापिका को और समना के ऊपर उन्मना को—इस तरह से छः स्थानों को भली भाँति जानकर उनमें छः शून्यों की भावना करनी चाहिये। इनमें से रेफ, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त और व्यापिका नामक पाँच स्थानों में विज्ञानभैरव भट्टारक के अभी अभी उद्धृत वचन के अनुसार मोर के पंख में विद्यमान चंदवों के समान आकार वाले पाँच शून्यों को भावना करनी चाहिये। षष्ठ उन्मना स्थान में विज्ञानभैरव भट्टारक की ही पद्धति पर परमाकाश रूप षष्ठ शून्य की भावना करे। अन्य पाँच शून्यों से इस षष्ठ शून्य की यही विशेषता है कि शून्यत्रय से पर स्थान में, अर्थात् उन्मना स्थित षष्ठ शून्य में निराकार महाशून्य के रूप में इसकी भावना करनी चाहिये ॥१७५-१७६॥

१. रन्तर इ-क. ग. ज. झ.। २. रेफः, बिन्दुः, रोधिनी, नादान्तः, व्यापिका, उन्मना-इत्येवं सर्वत्र प्रथमान्तः पाठः—क. ग. ज.। ३. चन्द्रिका—क., चन्द्रकला—उ.। ४. भाव्यानी—ख. ने. उ.। ५. पञ्च....'परे स्थाने' नास्ति—क. ग. ने.। ६. मित्यन्य-शेषः—ख., मित्यस्य शेषः—ज.।

1. हकार का ग्रहण करने पर ही पहली आवृत्ति में तीन तीन को छोड़ कर तीन शून्य बनेंगे तथा दूसरी आवृत्ति में एक एक को छोड़ कर तीन शून्य बनेंगे। इस तरह से छः शून्य बन जायंगे। इनमें से पाँच शून्य सामान्य हैं और अन्तिम को महाशून्य कहा गया है। यह महाशून्य प्रथम आवृत्ति के तीन शून्यों में से अन्तिम है। दीपिका की पद-

इदानीमवस्थापञ्चकभावनां क्रमेण विवक्षन्नादौ जागरितावस्थाभावना-माह—

प्रबोधकरणस्याऽथ जागरत्वेन भावनम् ॥१७६॥

वह्नौ देवि महाजाग्रदवस्था त्विन्द्रियद्वयैः।

इन्द्रियद्वयैः ज्ञानकर्मेन्द्रियद्वयैः[2] दशेन्द्रियैः, प्रमातु[3]र्व्यवहारो जागरणं प्रबोधो जागर इत्युच्यते। [4]तत्करणस्य प्रकाशस्य जागरत्वेन भावनम्। [5]अन्तः-प्रकाशके वह्नौ तार्तीयबीज[6]शिखरवर्तिनि रेफे, महाजाग्रदवस्था सार्वकालिक-निद्राक्षयलक्षणा परप्रबोधदशा भावनीयेत्यर्थः ॥१७६-१७७॥

अब पाँच अवस्थाओं की भावना का क्रमशः वर्णन करना चाहते हैं। सबसे पहले उनमें से जागरित अवस्था की भावना बताते हैं—

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा प्रबोध के करण प्रकाश की जागरा-वस्था के रूप में भावना की जाती है। अतः हे देवि! वह्नि में महाजाग्रदवस्था की भावना करनी चाहिये ॥१७६-१७७॥

इन्द्रियद्वय का अर्थ है ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय नामक दस इन्द्रियाँ। इनकी सहायता से जो प्रमाता का व्यवहार चलता है, उसी को जागरण, प्रबोध, जागर आदि शब्दों से कहा जाता है। इस प्रबोध का करण प्रकाश है। इसी की जागर दशा के रूप में भावना की जाती है। इस प्रकाश का वाचक वर्ण वह्नि, अर्थात् तृतीय बीज के शिखर में स्थित रेफ है। इस रेफ में महाजाग्रदवस्था की भावना करनी चाहिये। ऐसा करने से सदा सदा के लिये निद्रा दशा समाप्त हो जाती है और परम प्रबोध की स्थिति सदा बनी रहती है ॥१७६-१७७॥

१. णार्थस्य—ख. ने. छ. ज.। २. न्द्रियैर्दशभिः प्र—ख. ने. ज. झ. उ.। ३. जाग्रद् व्यव—क. ग. झ. उ.। ४. तत्कार—ख. ने. ज. झ. उ.। ५. अतः प्रकाशवाचके—क. ग.। ६. 'शिखर' नास्ति—ख. ने. झ.।

व्याख्या से इसके अभिप्राय की संगति नहीं बैठ पाती। उक्त व्याख्या से मूल के अक्षरों की तथा दीपिका के अभिप्राय की संगति बैठ जाती है। जैसे कि हकार, रेफ, ईकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना—ये बारह स्थान हैं। इनमें प्रथम तीन के बाद बिन्दु की स्थिति है, द्वितीय तीन के बाद नादान्त की तथा तृतीय तीन के बाद उन्मना को स्थिति है। इस तरह से तीन तीन को छोड़ने पर तीन शून्य बन गये। एक एक को छोड़कर तीन शून्य बनाते समय हम पूर्व के तीन शून्य स्थानों को छोड़ देंगे। तब हकार के बाद रेफ में, अर्धचन्द्र के बाद रोधिनी में और शक्ति के बाद व्यापिका में तीन शून्यों की भावना करेंगे। इस क्रम से अन्ततः एक एक स्थान को छोड़ने पर छः शून्य बन जाते हैं और मूल श्लोक के पदों का लाक्षणिक अर्थ नहीं करना पड़ता।

स्वप्नभावनामाह—

आन्तरैः करणैरेव [1]स्वप्नो मायावबोधनः ॥१७७॥

गलदेशे

बाह्येन्द्रिय[2]रहितैरान्तरैः करणैर्मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यैरेव व्यवहारः प्रमातुः स्वप्नः। स मायया तार्तीय[3]बीजस्थेन चतुर्थस्वरेण, अवगतबोधनः, तद्वाच्य इत्यर्थः। गलदेशे स्वप्नस्य स्थानम् ॥१७७-१७८॥

सुषुप्तिभावनामाह—

सुषुप्तिस्तु लीनपूर्वस्य वेदनम् ।

अन्तःकरणवृत्तीनां लयतो विषयस्य तु ॥१७८॥

पूर्वार्णानां विलोमेन भ्रूमध्ये बिन्दुसंस्थिता ।

स्वप्ने विद्यमानानामन्तःकरणवृत्तीनां लयतः सर्वेन्द्रियोपरतिः सुषुप्तिरिति हि लक्षणम्। अतो लीनपूर्वस्य देहाक्षादिषु[4] क्रोडीकृतस्य [5]लीनस्थितस्यैव स्वात्मनो वेदनं प्रकाशनं भवति। 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति हि पश्चात् सुखमयं स्वात्मरूपं

स्वप्न की भावना बताते हैं—

केवल आन्तर इन्द्रियों से स्वप्न का व्यवहार चलता है। माया बीज इसका बोधक है। गल देश में इसकी स्थिति है ॥१७७॥

बाह्य इन्द्रियों से रहित केवल आन्तर करणों से, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त से जो प्रमाता का व्यवहार चलता है, उसे स्वप्न कहते हैं। तृतीय बीज में स्थित चतुर्थ स्वर मायाक्षर ईकार से इसका बोध होता है। इसकी भावना कण्ठ स्थान में की जाती है ॥१७७॥

सुषुप्ति की भावना बताते हैं—

सुषुप्ति दशा में अपने विलीन स्वरूप का बोध होता है। यहाँ अन्तःकरण की सभी वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं। तृतीय बीज के पूर्व वर्णों को विलोम क्रम से रखकर भ्रूमध्य में इसकी भावना की जाती है ॥१७८-१७९॥

स्वप्नदशा में अन्तःकरण की वृत्तियाँ काम करती रहती हैं। जब इन वृत्तियों का भी लोप हो जाता है, तो सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से उपरत हो जाती हैं। इसी स्थिति को सुषुप्ति दशा कहते हैं। इस दशा में देह, इन्द्रिय आदि में विलीन केवल स्वात्मस्वरूप का भान होता है। सोकर उठने के बाद 'मैं आराम से सोया' इस तरह

१. स्वप्नमायावबोधकः—क. ग.। २. विरतैः—ख. ने. ज. झ. उ.। ३. यस्थाने चतु—ख. ने. ज.। ४. देहादिषु—ख. ने ज. झ.। ५. लीनस्यैव—क. ग.।

परामृश्यते। [1]सेयं सुषुप्तिः। विषयस्य तु। विषयं तार्तीयं बीजम्, विश्वव्याप्ति[2]-स्थानत्वात्। तस्य पूर्वार्णानां बिन्दुपूर्वस्थितानां वर्णानाम्, विलोमेन—"मायाबीजं महेशानि मादनं शक्रसंयुतम्। [3]चन्द्रबीजं केवलं तु" (१।११६-११७) इत्यादि, "संहारक्रमयोगेन शक्तिबीजं समुद्धरेत्" (१।११८) इत्यन्तेन चतुःशतीशास्त्रे[4] संहारक्रमोद्धृतानां शक्तिबीजवर्णानां विलोमक्रमेण परिपाट्या, भ्रूमध्ये बिन्दुसंस्थिता भ्रूमध्यस्थानस्थितहृल्लेखोर्ध्वबिन्दौ स्थिता, भावनीयेत्यर्थः ॥१७८-१७९॥

तुरीय[5]भावनामाह—

तुर्यरूपं [6]तस्य चात्र वृत्तार्धादिस्तु संग्रहः ॥१७९॥

चैतन्यव्यक्तिहेतोस्तु नादरूपस्य वेदनम् ।

चैतन्यस्य संविदो व्यक्तेः परामर्शस्य हेतोः, नादरूपस्य पूर्वोक्त(१।३३)लक्षण-नादस्य, वेदनम् अभिव्यक्तिः, [7]तुर्यरूपम्। तस्य [7]तुर्यरूपस्य। अत्र तार्तीय-बीजे, वृत्तार्धादेः, वृत्तार्धम् अर्धचन्द्रः, आदिशब्देन[8] रोधिनीनादौ गृह्येते, तेषां

से सुखमय स्वात्मस्वरूप का सभी कोई अनुभव करते हैं। इसी को सुषुप्ति कहते हैं। विषय का अर्थ यहाँ तृतीय (शक्ति) बीज किया जाता है, क्योंकि सारे विश्व में यह व्याप्त है। उसके पूर्व वर्णों का, अर्थात् बिन्दु के पहले विद्यमान वर्णों का उद्धार चतुःशती शास्त्र (१।११६-११८) में विलोम क्रम से बताया गया है। संहार क्रम से उद्धृत इस शक्ति बीज के अक्षरों की विलोम क्रम से भ्रूमध्य में, अर्थात् भ्रूमध्य स्थान में विद्यमान हृल्लेखा के ऊपर स्थित बिन्दु में जो भावना की जाती है, यही सुषुप्ति दशा की भावना कही गई है ॥१७८-१७९॥

तुरीयावस्था की भावना बताते हैं—

चैतन्य की व्यक्ति के कारणभूत नादस्वरूप की अभिव्यक्ति को ही तुर्यावस्था कहते हैं। इसकी स्थिति तृतीय बीज के अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद में रहती है ॥१७९-१८०॥

चैतन्य, अर्थात् संवित् की अभिव्यक्ति नाद के कारण होती है। नाद का स्वरूप पहले (१।३३) बताया जा चुका है। नाद के कारण ही हम संवित् के स्वरूप को जान पाते हैं। स्वरूप की यह अभिव्यक्ति ही तुरीय दशा है। इस तुरीय दशा की भावना यहाँ तृतीय बीज के वृत्तार्ध (अर्धचन्द्र) में और आदि शब्द से रोधिनी तथा नाद में की जाती है। इन सबका संग्रह कर समष्टि रूप में इन तीन स्थानों में यह भावना की जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि तृतीय बीज के शिखर पर वर्तमान अर्धचन्द्र,

१. 'सेयं सुषुप्तिः' नास्ति—ख. ने. ज. उ.। २. व्यापि—क. ग. झ. उ.। ३. इन्दु—ख. ने.। ४. शास्त्रोक्तरीत्या—ख., शास्त्रोक्त्या—ने. झ.। ५. तुर्य—उ.। ६. तथा—क. ग., च तस्यात्र—छ.। ७. तुरीय—क. ग.। ८. शब्दात्—ख. ने. झ. उ.।

संग्रहः। तार्तीयबीजशिखरवर्त्यर्धचन्द्ररोधिनीनादेषु स्वात्मचैतन्याभिव्यक्तिकारण-[1]नादकलनात्मकं तुर्यं तुरीयं भावनीयमित्यर्थः ॥१७९-१८०॥

[2]तुर्यातीतभावनामाह—

तुर्यातीतं सुखस्थानं नादान्तादिस्थितं प्रिये ॥१८०॥
अत्रैव जपकाले तु पञ्चावस्थाः स्मरेद् बुधः ।

[2]तुर्यातीतम्—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै० उ० २।४) इत्युपनिषदुक्तरीत्या[3] [4]मनोवागतीतपरमा[5]नन्दस्वरूपं सुखस्थानं नादान्तादिस्थितं[6] नादान्तशक्तिव्यापिकासमनोन्मनासु स्थितं [7]तुर्यातीतं भावनीयमित्यर्थः। अत्रैव शक्तिबीज एव, पञ्चावस्था जागरिताद्याः पूर्वोक्ताः, जपकाले स्मरेद् बुधः पञ्चावस्थानुसन्धानपुरःसरं विद्याजपकरणावधाननिपुणः ॥१८०-१८१॥

रोधिनी और नाद स्थानों में अपने चैतन्य को अभिव्यक्ति देनेवाली नाद की स्थिति में साधक के कलनात्मक व्यापार का स्फुरण ही वस्तुतः तुरीय दशा की भावना कही जाती है ॥१७९-१८०॥

अब तुर्यातीत अवस्था की भावना बताते हैं—

हे प्रिये ! तुर्यातीत वह सुखमय स्थान है, जिसकी भावना नादान्त आदि में की जाती है। विद्वान् साधक को चाहिये कि जप करते समय शक्ति बीज में ही इन पाँच अवस्थाओं की भावना करे ॥१८०-१८१॥

"जिस ब्रह्म तक बिना पहुँचे मन सहित इन्द्रियाँ वापस लौट पड़ती हैं, उस ब्रह्म की आनन्द स्वरूपता को जानने वाला (किसी से डरता नहीं)" इस तैत्तिरीय श्रुति के प्रमाण पर मन और वाणी से अतीत परमानन्द स्वरूप सुखमय स्थान ही तुर्यातीत अवस्था है। नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना और उन्मना स्थान में इस तुर्यातीत अवस्था की भावना करनी चाहिये। इस [1]शक्तिबीज में ही यहाँ बताई गई जागरित आदि पाँचों अवस्थाओं का जप के समय विद्वान् साधक को स्मरण करना चाहिये, श्रीविद्या का जप करते समय पूरी सावधानी से इन पाँचों अवस्थाओं का अनुसन्धान करते रहना चाहिये ॥१८०-१८१॥

---

१. णक्वणन्नादात्मकतुरीयरूपं भाव—क.। २. तुरीया—क ग.। ३. क्रमेण—ख. ने. उ.। ४. 'मनो' नास्ति—ख. ने. उ.। ५. परानन्द—ख. ने. झ. उ.। ६. इतः परम्—'विलोमसुखस्थाने स्थितम्' इत्यधिकः पाठः—क. ग., 'विलोमक्रमेणैव सुखस्थानस्थितम्' इति तु—झ.। ७. तुरीया—क. ग.।

1. केवल तृतीय शक्ति बीज में ही बारह कलाओं की भावना की जाती है। इस विषय की चर्चा पहले (३।१७०-१७३) आ चुकी है, अतः इन पाँच अवस्थाओं की भावना भी वहीं की जायगी।

इदानीं सप्तविषुवभावनां विवक्षन्नादौ[1] प्राणविषुवभावनामाह—

योगः प्राणात्ममनसां विषुवं प्राणसंज्ञकम्[2] ॥१८१॥

प्राणस्य [3]हकारात्मनो वायोः, आत्मनो यष्टुः, मनसश्च संयोगः प्राणविषुव[4]-मित्युच्यते। तदुक्तं [5]शैवतन्त्रे—"शिष्यात्मप्राणमनसां संयोगं प्राणकं विदुः" इति ॥१८१॥

मन्त्रविषुवभावनामाह—

आधारोत्थितनादे तु लीनं बुद्ध्वात्मरूपकम् ।
संयोगेन वियोगेन मन्त्रार्णानां महेश्वरि ॥१८२॥
अनाहताद्याधारान्तं नादात्मत्वविचिन्तनम् ।
विषुवं[6]

आधाराद् मूलाधारात्, उत्थितेन वायुना, [7]संभूते नादे [8]विद्याशिखर-वर्तिनि, आत्मरूपकम् आत्मनो यद् रूपं संविदात्मकमानन्दैकरसीभूतम्, विद्या-

---

अब सात विषुवों की भावना को कहने की इच्छा से पहले प्राण विषुव की भावना बताते हैं—

प्राण, आत्मा और मन के संयोग को प्राणविषुव कहते हैं ॥

हकारात्मक वायु को यहाँ प्राण कहा गया है, आत्मा का अर्थ यहाँ यष्टा (यजन करने वाला) साधक है। प्राण वायु, साधक और मन का संयोग प्राणविषुव कहलाता है। किसी शैवतन्त्र में कहा गया है—'शिष्य की आत्मा, प्राण और मन के संयोग को प्राण-विषुव जानते हैं' ॥१८१॥

मन्त्रविषुव की भावना बताते हैं—

हे महेश्वरि ! मूलाधार से उठे नाद में आत्मस्वरूप को लीन जान कर श्रीविद्या के वर्णों के संयोग और वियोग से अनाहत से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सर्वत्र नादात्मकता का चिन्तन ही मन्त्रविषुव है ॥१८२-१८३॥

आधार (मूलाधार) से उठे वायु से पैदा हुए विद्याशिखरवर्ती नाद में संविदात्मक आनन्द से समरस हुआ अपना जो स्वरूप है, साधक को पहले उसे भलीभाँति समझ लेना

---

१. वक्ष्यन्नादौ—क.। २. ज्ञितम्—क. ग.। ३. ककारा—ख. ने. झ. उ.। ४. वदित्यु—ख. ने. ज. झ. उ.। ५. स्वैरतन्त्रे—ख. ग. ने. झ. उ.। ६. 'विषुवं' नास्ति—क. ग.। ७. 'संभूते' नास्ति—क. झ. उ.। ८. 'विद्या''''मन्त्रार्णानां' इत्यस्य स्थाने 'बिन्द्वादिषु वर्तिन्यात्मनो यष्टुः रूपं संविदात्मकं लीनं नादेनैकरसीभूतं बुद्ध्वा मन्त्रार्णानां' इति पाठः—ख. ने. झ. उ.।

मन्त्रार्णानां वाग्भवकामराजशक्तिबीजानाम्, वियोगेन [1]व्यासरूपेण, संयोगेन समष्टिरूपेण [2]तुरीयबीजेन, अनाहताद्याधारान्तम्, अनाहतं हृदयस्थानम्, आधाराणां सर्वेषामन्तस्थानं ब्रह्मरन्ध्रम्, तत्पर्यन्तम् । अत्रान्तशब्दस्तन्त्रेणोच्चारितः । अनाहताद्याधारान्तमिति यावत् । नादात्मत्वविचिन्तन नादस्य यष्टृरूपत्वविभावनं विषुवम्, मन्त्र[3]संज्ञकमिति शेषः । कोऽर्थः ? मूलाधारस्थितवाग्भवशिखरवर्तिनं नादं हृदयपर्यन्तमुच्चार्य तत्र स्वयं लीनो भूत्वा स्वात्मनस्तन्मयतानुसन्धानं मन्त्रविषुवमित्यर्थः । तदुक्तं शैवतन्त्रे—

आत्मनो[4] नादमध्ये तु लयं संचार्य[5] तत्त्वतः ।
अकारोकारवर्णादिसंयोगेन वियोगतः ॥
हृदया[6]दिबिलान्तं च विषुवं मन्त्रसंज्ञकम् । इति ॥१८२-१८३॥

नाडीविषुवभावनामाह—

[7]नादसंस्पर्शान्नाडीविषुवमुच्यते ॥१८३॥

चाहिये । इसके बाद श्रीविद्या नामक मन्त्र के वाग्भव, कामराज और शक्ति बीजगत वर्णों की अलग-अलग तथा तुरीय बीज को समष्टिरूप में अनाहत (हृदय) से लेकर समस्त आधारों के अन्त में स्थित ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त भावना करनी चाहिये । यहाँ अन्त शब्द की दो बार आवृत्ति की जाती है । एक अन्त शब्द का अर्थ आधारान्त (ब्रह्मरन्ध्र) और दूसरे अन्त शब्द का अर्थ पर्यन्त होगा, अर्थात् हृदय से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त यह भावना की जाती है । यहाँ नाद की आत्मरूपता का चिन्तन किया जाता है, नाद ही यष्टा (साधक) है, ऐसी भावना की जाती है । इसी को मन्त्रविषुव कहा जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि मूलाधार स्थित वाग्भव बीज के शिखर में वर्तमान नाद का हृदय पर्यन्त उच्चारण कर साधक उसी में लीन हो जाय और तब अपने में नादमयता का ही अनुसन्धान करे, नादमय मन्त्र में अपने को लीन समझे । इसी को मन्त्रविषुव की भावना कहते हैं । शैवतन्त्र में मन्त्रविषुव का वर्णन इस तरह से किया गया है—

वास्तव में नाद के मध्य में अपना विलय करके अकार, उकार आदि वर्णों का अलग अलग तथा समष्टि रूप में हृदय से ब्रह्मबिल (रन्ध्र) पर्यन्त उच्चारण ही मन्त्रविषुव कहलाता है ॥१८२-१८३॥

नाडीविषुव की भावना बताते हैं—

हे प्रिये ! कामकलाक्षर से उठा नाद बारह ग्रन्थियों का भेदन करता हुआ जब सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है, तब उसका जो नाड़ियों

१. व्यान–क. ग., न्यास–झ. । २. तुर्य–ख. ने. उ. । ३. संज्ञित–क. ग. ज, झ. । ४. आत्मना–क. ग. ज. । ५. संचित्य पञ्चमः–ख. ने. झ. उ. । ६. याद्याधारान्तान्तं–ख. झ. । ७. नादसंस्पर्शनात्तस्य नाडी–क. ग. ।

द्वादशग्रन्थिभेदेन वर्णाद् [1]नाड्यन्तरे प्रिये ।

वर्णाद् बीजत्रयशिखरवर्ति[2]कामकलाक्षरात्, द्वादशग्रन्थिभेदेन मूलादिषट्चक्रद्वादशग्रन्थीन् भित्त्वा तेन, नाड्यन्तरे सुषुम्नामध्यमार्गे[3], नादसंस्पर्शात् त्रिबीजशिखरवर्तिनो नादस्य मूलादि[4]ब्रह्मरन्ध्रान्तमुच्चारतः संस्पर्शात्, नाडीविषुवमुच्यते । तदुक्तं शैवतन्त्रे—

[5]मूलमन्त्रत्रिशूलेन भित्त्वा ग्रन्थीननुक्रमात् ।
नादनाडीसमायोगान्नाडीविषुवभावनम् ॥ इति ॥ १८३-१८४ ॥

प्रशान्तविषुवभावनामाह—

नादयोगः प्रशान्तं[6] तु प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ॥१८४॥
वह्निं मायां[7] कलां चैव चेतनामर्धचन्द्रकम् ।
रोधिनीनादनादान्तान् शक्तौ लीनान् विभावयेत् ॥१८५॥

से स्पर्श होता है, उसी को नाडीविषुव कहते हैं ॥१८३-१८४॥

वर्ण का अर्थ है तीनों बीजों के शीर्ष भाग में स्थित कामकला नामक अक्षर । यह मूलाधार आदि षट्चक्र और बारह ग्रन्थियों को भेदकर सुषुम्ना नाडी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है । तब तीनों बीजों के शिखरवर्ती नादात्मक अक्षर की मूलाधार से उठ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त उच्चरित होने की स्थिति में पूरी सुषुम्ना नाडी इसके स्पर्श से भर जाती है । इसी को नाडीविषुव कहते हैं । शैवतन्त्र में नाडीविषुव का वर्णन इस तरह से किया गया है—

मूलमन्त्र रूपी त्रिशूल से एक एक कर सभी ग्रन्थियों का भेदन कर देने के उपरान्त नाद और नाडी का संयोग परिपूर्ण हो जाता है । इसी को नाडीविषुव की भावना कहते हैं ॥१८३-१८४॥

प्रशान्तविषुव की भावना बताते हैं—

वह्नि, माया, कला, चेतना, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद और नादान्त का लय शक्ति में हो गया है, ऐसी भावना करे । नाड़ी से संबद्ध नाद यहाँ शक्ति में लीन हो जाता है । प्रशान्त इन्द्रिय वाला साधक ही इसको समझ पाता है, अतः इसे प्रशान्तविषुव कहते हैं ॥१८४-८५॥

१. नामन्तरे–क. ग. । २. र्तिनो नादस्य–क. ग ज. । ३. मार्गेण–ख. ने. झ. उ. । ४. लाद् ब्रह्म–ख ने. झ. उ. । ५. स्थूल–ख. ने. झ. । ६. न्तस्तत्प्र–ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ७. यां च कालं च–ख. ने. च. छ. झ. ।

वह्नि रेफम्, मायाम् ईकारम्, [1]कलां तन्मध्यवर्तिसपरार्धकलां[2] रेखा-रूपाम्, चेतनां[3] [बिन्दुम्], बिन्दुश्चैतन्यस्य संस्कारः, वेदनरूपत्वात्। तदुक्तं परापञ्चाशिकायाम्—"बिन्दुर्वेद्यस्य संस्कारो विसर्गः[4] सर्ग इत्यसौ" (श्लो० ३७) इति। अर्धचन्द्ररोधिनीनादनादान्तांश्च[5] पूर्वोक्त(१।३१)लक्षणायां[6] [7]शक्तौ लीनान् विभावयेत्। यतोऽयं [8]नादो यष्टुस्तदतीतशक्तिलक्षणः, अतः प्रशान्तेन्द्रियगोचरं सकलेन्द्रियानोतविषयं तत् प्रशान्तविषुवमित्यनुषङ्गः। तदुक्तं शैवतन्त्रे—

अकारोकारवर्णौ च [9]मकारं बिन्दुमेव च।
नादनादान्तसंज्ञे[10] च त्यक्त्वा ब्रह्मादिभिः क्रमात्॥
सप्तमे शक्तिमध्ये तु शिष्यात्मानं विचिन्तयेत्।
प्रशान्तं तद्विजानीयात् प्रशान्तेन्द्रियगोचरम्॥इति॥१८४-१८५॥

वह्नि रेफ को, माया ईकार को, कला ईकार के मध्य में विराजमान रेखा रूप सपरार्ध कला को और चेतना बिन्दु को कहते हैं। यह बिन्दु चैतन्य का संस्कार करने वाला है, वेदनरूप है। अतः इसे यहाँ चेतना शब्द से कहा गया है। परापंचाशिका के अनुसार—"बिन्दु वेद्य जगत् का संस्कार तथा विसर्ग सर्गात्मक (सृष्टिस्वरूप) है"। वह्नि आदि के साथ अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद और नादान्त का पूर्व (१।३१) प्रदर्शित लक्षण वाली शक्ति में लय हो गया है, ऐसी भावना करे। चूँकि यह नाद साधक की लोकातीत शक्ति का द्योतक है, अतः इसका साक्षात्कार समस्त इन्द्रियों के प्रशान्त होने पर ही हो सकता है। इस तरह से समस्त इन्द्रियों से अतीत शक्ति कला में लीन करा देने वाली यह स्थिति प्रशान्तविषुव नाम से जानी जाती है। जैसा कि शैवतन्त्र में कहा गया है—

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद और नादान्त का ब्रह्म प्रभृति [1]कारणषट्क के साथ परित्याग कर सप्तम शक्तितत्त्व में शिष्य की आत्मा लीन हो गई है, ऐसी भावना करे। प्रशान्त इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होने वाली यह स्थिति प्रशान्तविषुव कही जाती है॥१८४-८५॥

१. कालं-ख. ने. झ. उ.। २. कलासंबन्धिरेखारूपं-ख. ने. झ. उ.। ३. चेतना बिन्दुर्वेद्यस्य-ख. ने. झ.। ४. विमर्शः-क. ग. झ.। ५. नादान्ताः-ख. ने. झ. उ.। ६. लक्षणाः-ख. ने. झ. उ.। ७. 'शक्तौ लीनान् विभावयेत्' नास्ति-ख. ने. उ.। ८. प्रशान्तो नादयोगो-ख. ने. झ. उ.। ९. मकारो बिन्दुरेव-क. ग. ज.। १०. शक्तौ च-ख. ने. झ. उ.।

1. नेत्रतन्त्र (२२।१९-२०) में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और शिव का कारणषट्क के रूप में वर्णन किया गया है और कहा गया है कि इन छहों कारणों को छोड़ कर सप्तम निराभास, निरामय पद में साधक को प्रवेश करना चाहिये। यहाँ सप्तम पद के रूप में शक्तितत्त्व का ग्रहण किया गया है। कारणषट्क विषयक अन्य विवरण के लिये लुप्ता० उपो०, पृ० १९९ की दूसरी टिप्पणी देखिये।

शक्तिकालविषुव[1]योर्भावनामाह—

विषुवं शक्तिसंज्ञं तु तदूर्ध्वं नादचिन्तनम्।
तदूर्ध्वं कालविषुवमुन्म[2]नान्तं महेश्वरि॥१८६॥

तदूर्ध्वं शक्तेरूर्ध्वं समनान्तम्, नादस्य चिन्तनं शक्तिविषुवम्। तदूर्ध्वं समनाया अप्यूर्ध्वम्, "नात्र कालकलामानम्" इति स्वच्छन्दसंग्रहोक्तरीत्या कालातीतोन्मनान्तं नादस्य चिन्तनं कालविषुवम्। तदुक्तं शैवतन्त्रे—

शक्तिमध्यगतो नादः समनान्तं प्रसर्पति।
तच्छक्तिविषवं प्रोक्तमुन्मन्यां कालसंज्ञितम्॥ इति॥१८६॥

ननु कियता कालेन [3]नादस्तत्त्वं वेद[4]यतीत्याह—

मुनिचन्द्राष्टदशभिस्तु[5]टिभिर्नादवेदनम्।

स्वस्थे नरे [6]समासीने यावत् स्पन्दति लोचनम्।
तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः॥

शक्ति और कालविषुव की भावना बताते हैं—

हे महेश्वरि! शक्ति से ऊपर समना पर्यन्त नाद का चिन्तन शक्तिविषुव और समना से भी ऊपर उन्मना पर्यन्त नाद का चिन्तन कालविषुव कहलाता है॥१८६॥

शक्ति से ऊपर समना पर्यन्त नाद का चिन्तन शक्तिविषुव कहलाता है। समना से भी ऊपर काल की कला से अतीत उन्मना कला में नाद का चिन्तन कालविषुव कहलाता है। स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—"उन्मना कला में काल की कला की प्रतीति नहीं होती"। शैवतन्त्र में भी इन दोनों विषुवों का वर्णन मिलता है—

शक्ति कला तक पहुँचा हुआ नाद जब समना पर्यन्त फैल जाता है, तो इसे शक्तिविषुव कहते हैं। नाद के उन्मनी पर्यन्त फैल जाने पर उसको कालविषुव कहा जाता है॥१८६॥

अब प्रश्न होता है कि यह नाद कितने समय में अपने वास्तविक स्वरूप को बताने में समर्थ होता है, उसी का उत्तर यह है—

मुनि (सात), चन्द्र (एक), आठ और दस (१०८१७) तुटियों में उच्चरित नाद के अन्त में तत्त्व का ज्ञान होता है॥

"स्वस्थ बैठे हुए मनुष्य की जितने समय में आँख झपकती है, उसका तीसवां भाग तत्पर कहलाता है। तत्पर का शतांश तुटि कहलाता है"। किसी तन्त्रान्तर के इस वचन

१. षुवभा-ख. ने. ज.। २. न्मन्यन्तं-छ. ज. उ.। ३. नादत-झ.। ४. यन्ती-झ.। ५. त्रुटि-क. ग.। ६. सुखा-क. ग.।

तत्परस्य शतांशस्तु [1]तुटिरित्यभिधीयते ।

इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या निमेषस्य त्रिसहस्रतमो भागस्तुटिः[1] । मुनयः सप्त, चन्द्र एकः, अष्ट दश संख्ये प्रसिद्धे । तेन हकाराद्युन्मन्यन्तानां विद्यावयवानां सप्तदशाधि[2]काष्टशतोत्तरदशसहस्र[1]तुटिभिरुच्चारे "अकुले विषुसंज्ञे च" (१।२५) इत्युक्तरीत्या कृते सति नादस्यान्ते तत्त्वस्य वेदनमित्यर्थः ।

तत्त्वविषुवभावनामाह—

चैतन्यव्यक्तिहेतुश्च विषुवं तत्त्वसंज्ञकम्[3] ॥१८७॥

[4]चैतन्यस्य स्वात्मतत्त्वस्य, व्यक्तेः प्रकाशस्य,[5] हेतुस्तत्त्वविषुवम् । कोऽर्थः ? उन्मनोर्ध्वेऽनन्तरोक्तसंख्यात[6]तुटिभिर्नादलयात् स्वात्मानुसन्धानं तत्त्वविषुवमित्यर्थः । तदुक्तं शैवतन्त्रे—"स्वाधिकारे परे धाम्नि विषुवं तत्त्वसंज्ञकम्" इति ॥१८७॥

परं स्थानं महादेवि निसर्गानन्दसुन्दरम् ।

के अनुसार निमेष का तीन हजारवाँ हिस्सा तुटि कहलाता है । मुनि से सात और चन्द्र से एक संख्या ली जाती है । आठ और दस संख्यायें प्रसिद्ध हैं । इस तरह से हकार से उन्मनी पर्यन्त विद्या के अवयवों के उच्चारण में पहले (१।२५) बताई गई विधि के अनुसार १०८१७ तुटि काल लगेगा । इसके साथ ही नाद की समाप्ति पर तत्त्वविषुव की प्रतीति होगी ॥

अब तत्त्वविषुव की भावना बताते हैं—

चैतन्य की व्यक्ति जिससे होती है, उसको तत्त्वविषुव कहते हैं ॥१८७॥

चैतन्य स्वात्मतत्त्व को कहते हैं । उसकी व्यक्ति, अर्थात् प्रकाश का कारण तत्त्वविषुव है । इसका अभिप्राय यह है कि उन्मना के ऊपर अभी बताई गई संख्या की तुटियों के बीत जाने पर जब नाद का लय हो जाता है, तब साधक भी स्वात्मानुसन्धान में लीन हो जाता है । उसी स्थिति को तत्त्वविषुव की भावना कहते हैं । शैवतन्त्र में भी बताया गया है—"पर धाम स्वरूप स्वात्मतत्त्व जब अपने अधिकार में आ जाय, तो यही स्थिति तत्त्वविषुव कहलाती है" ॥१८७॥

हे महादेवि ! पर स्थान स्वाभाविक आनन्द से परिपूर्ण, अत एव परम सुन्दर है ॥

---

१. त्रुटि–क. ग. । २. काष्ठोत्तर–क. ग., काष्टदशोत्तर–झ. । ३. ज्ञितम्–क. ख. ग. ने. । ४. अनन्तरोक्तरीत्या चैत–क. ग. । ५. शसाम्यहे–ने. । ६. संख्यावत् त्रु–क. ग. ने. ।

परं शून्यषट्कावस्थापञ्चकसप्तविषुवकोलाहलातीतं स्थानम्, विश्वविश्रान्तिभूमित्वाद् निसर्गानन्दसुन्दरम् । सर्वविषयानन्दसमष्टिभूतः परमानन्दो निसर्गानन्दः[1] । अत एवानित्याशुचिक्लेशदुर्भगभेद[2]प्रपञ्चपरिपन्थी पराकारण[3]रूपत्वात् परमानन्दलक्षणपरमप्रेमास्पदपरमसुन्दरपरशिवरूपं निसर्गानन्दसुन्दरमित्यर्थः[4] ॥१८८॥

पूर्वोक्तभावनायाः फलमाह—

एवं चिन्तयमानस्य जपकालेषु पार्वति ॥१८८॥

सिद्धयः सकलास्तूर्णं सिद्ध्यन्ति त्वत्प्रसादतः ।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण, जपकालेषु[5] । जपाः "आज्ञान्तं सकलं प्रोक्तम्" (१।२७-२८) इत्यादिपूर्वोक्तरीत्या सकल-सकलनिष्कल-केवलनिष्कलरूपास्त्रिविधाः, तेषां कालाः "दीपाकारोऽर्धमात्रश्च" (१।२८-३४) इत्यादिना पूर्वोक्तविद्यावयवानामुच्चारणकालाः, तेषु शून्यषट्कादिकं चिन्तयमानस्य, सकलाः सिद्धयोऽणिमाद्याः

ऊपर बताये गये शून्यषट्क, अवस्थापंचक और सप्तविषुव रूपी कोलाहल से दूर यह परम स्थान है, जहाँ कि यह सारा जगत् विश्राम की अनुभूति करता है । यह स्थान निसर्गानन्दसुन्दर है । सभी प्रकार के विषयों के आनन्द का समष्टिभूत आनन्द, जिसकी एक मात्रा के रूप में विषयानन्द स्फुरित होता है, परमानन्द अथवा निसर्गानन्द कहलाता है । इसीलिये यह अनित्य, अशुचि, क्लेश आदि दुर्भाग्य से भरे भेदरूपी प्रपंच का विरोधी है । परा भगवती का भी कारण रूप होने से यह परमानन्दमय परम प्रेमास्पद परमसुन्दर परमशिव का स्वरूप निसर्गानन्द से परिपूर्ण अत एव सुन्दर है ॥ १८८॥

पूर्वोक्त भावना का फल बताते हैं—

हे पार्वति ! जप करते समय इन सबकी भावना करने वाले साधक को सभी सिद्धियाँ तुम्हारे प्रसाद से शीघ्र ही प्राप्त हो जाती हैं ॥१८८-१८९॥

जप करते समय पूर्वोक्त प्रकार से शून्यषट्क आदि की भावना करने वाले साधक को सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । सकल, सकलनिष्कल और केवल निष्कल नामक तीन प्रकार के जपों का वर्णन पहले (१।२७-२८) आ चुका है । इनके उच्चारण का काल पहले (१।२८-३४) बताया जा चुका है । श्रीविद्या का इस विधि से जप करते समय, उसके अवयवों का उच्चारण करते समय, शून्यषट्क आदि की भावना करने वाला साधक भगवती के प्रसाद से शीघ्र ही समस्त अणिमा आदि पूर्वोक्त (३।४४) सिद्धियों को

---

१. 'क्लेश' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. भेदप्रदेशपञ्चकपरि–क. ग. । ३. परत्वात्–क. ग. । ४. 'इत्यर्थः' नास्ति–क. ग. उ. । ५. काले तु–क. ग. उ. ।

पूर्वोक्ताः (३।४४), त्वत्प्रसादतः सिद्धयन्ति । प्रकाशात्मनो मम विमर्शशक्तौ त्वयि प्रसन्नायाम्—"[1]तत्र तत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते प्रभोः" (श्लो० ११४) इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या सर्वप्रत्ययमय[2]ता[या]मुपगतायां तव प्रसादात् स्वायत्ता भवन्तीत्यर्थः ॥१८८-१८९॥

एवं कृत्वा जपं देव्या वामहस्ते निवेदयेत् ॥१८९॥

एवम् उक्तभावनापुरःसरम्, जपम् उक्तलक्षणं कृत्वा प्रकाशविमर्शसामरस्यरूपाया वामहस्ते विश्वकवलीकारपरे विमर्शमये निवेदयेत् ॥१८९॥

पूजाविधिमुक्त्वा तर्पणविधिमाह—

अनामाङ्गुष्ठयोगेन तर्पयेच्चक्रदेवताः ।

अनामा शक्तिः, अङ्गुष्ठः शिवः, तयोर्योगेन मेलनेन, शिवशक्ति[3]मेलापनमुद्रयेत्यर्थः । चक्रदेवताः चतुरस्रादिबैन्दवान्तनवचक्रनिवासिनोः[4] प्रकाशविमर्शसमरसीभूताः, [5]तर्पयेत्, (इत्यर्थः)[6] ।

प्राप्त कर लेता है । प्रकाशात्मक मुझ शिव का तुम विमर्शात्मक शक्ति हो । तुम्हारी प्रसन्नता के मिल जाने पर विज्ञानभैरव भट्टारक को बताई विधि से इन्द्रियों के द्वार से आत्मा के बाहर निकलने पर भी सर्वत्र भगवान् का ही स्वरूप भासित होता है । इस तरह से सभी प्रकार को अनुभूतियों में भगवान् के ही भासित होने पर भगवती की प्रसाद से सभी प्रकार की सिद्धियाँ साधक को स्वायत्त हो जाती हैं ॥१८८-१८९॥

इस तरह जप करके देवी के वामहस्त में उस जप को समर्पित कर दे ॥१८९॥

ऊपर बताई गई भावनाविधि के साथ ऊपर बताये गये जप को पूरा करके प्रकाश-विमर्श-सामरस्यस्वरूपिणी देवी के उस विमर्शमय बायें हाथ में, जिससे पकड़ कर बह देवी सारे विश्व को खा जाती है, समर्पित कर दे ॥१८९॥

पूजाविधि के उपरान्त तर्पण की विधि बताते हैं—

अनामा और अंगुष्ठ के योग से श्रीचक्र में निवास करने वाले देवताओं को तृप्त करे ॥

अनामिका अंगुलो शक्ति को और अंगुष्ठ शिव का प्रतीक है । इनके योग से, इनको मिलाकर, अर्थात् शिवशक्ति की मेलापन मुद्रा से चतुरस्र से बैन्दव पर्यन्त नौ चक्रों में निवास करने वाली प्रकाशविमर्श-सामरस्यमयी समस्त आवरण[1] देवताओं (शक्तियों) को

१. यत्र यत्रा–मु० । २. मध्यता–क. झ. उ. । ३. मेलन–क. ख. ग. । ४. सिन्यः–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. 'तर्पयेदित्यर्थः' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । ६. 'इत्यर्थः' इत्यनावश्यकः ।

1. एक सौ ग्यारह आवरण देवताओं को चर्चा पहले (२।१७) आ चुकी है ।

[1]प्रदानैस्तर्पणैः सम्यग् विशुद्धैरमृतात्मभिः ।
महाहन्ती[2]करोमोदं विश्वं हव्यवपु[3]र्धरम् ॥ (सु० वा० ३९)

इत्यभियुक्त[4]वचनोक्तरीत्या परस्मिन् लयं भावयेदित्यर्थः ॥१९०॥

तर्पणसाधनानि वस्तून्याह—

मद्यं मांसं तथा मत्स्यं देव्यै[5] तु विनिवेदयेत् ॥१९०॥

शिवशक्तिमेलनमुद्रया समस्तमद्यस्य मांसस्य मत्स्यस्य च निवेदनमेव तर्पणमिति भावः ॥१९०॥

समयस्थैरेव[6] सह पूजयेदित्याह—

[7]कौलाचारसमायुक्तैर्वीरैस्तु सह पूजयेत् ।

कुलमुक्त(१।५०,३।१३१)लक्षणं हेयतया ज्ञेयं येषां[8] ते कौला दक्षिणादिस्रोतःसु दीक्षिताः, तेषामाचारः "गुरुभक्तिश्च शान्तिश्च पूजा श्रद्धा क्षमा

तृप्त करे । आन्तर तर्पण की विधि सुभगोदयवासना में शिवानन्द मुनि ने इस तरह से बताई है—

शास्त्रप्रदर्शित विधि से परिशुद्ध, अमृतात्मक वस्तुओं के अर्पण और तर्पण के द्वारा मैं इस सारे विश्व को हवि का स्वरूप मानकर आत्माहन्ता में विलीन कर दे रहा हूँ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि इस समस्त विश्व को परम तत्त्व में विलीन कर देना ही, इदन्ता का अहन्ता में लय कर देना ही, आन्तर तर्पण है । प्रधानतः साधक को इसी की भावना करनी चाहिये कि यह सारा जगत् मेरे ही स्वरूप में विलीन हो गया है ॥१९०॥

इस तर्पण के साधन द्रव्य ये हैं—

देवी को मद्य, मांस और मत्स्य समर्पित करे ॥१९०॥

शिवशक्ति-मेलनमुद्रा द्वारा समस्त मद्य, मांस और मत्स्य का निवेदन ही तर्पण कहलाता है ॥१९०॥

समय में स्थित व्यक्तियों के साथ ही पूजा करनी चाहिये—

कौलाचार से समायुक्त वीरों के साथ पूजन करे ॥

माता, मान और मेय लक्षण यह जगत् ही कुल है । इसका परित्याग करने के अभिप्राय से जो इस कुल को जानना चाहते हैं, उनको कौल कहते हैं । ये कौल दक्षिणाम्नाय आदि में दीक्षित होते हैं । इनका आचार कौलाचार कहलाता है । स्वच्छन्दसंग्रह

१. नैदानैः–ख. ज. झ. । २. हन्तां–दी. । ३. पुरःसरम्–ज. ग. । ४. क्तोक्त–ख. ने. ज. झ. । ५. देव्यास्तु–क. ग. । ६. स्थेनैव–ख. ने. ज. झ. उ. । ७. कौलिकाचारसं–ख. ने. च. छ. झ. उ. । ८. यैस्ते कौलिकाः–ख. ने. ज. झ. उ. ।

धृतिः'' इत्यादिस्वच्छन्दसंग्रहादिशास्त्रेषु[1] विहितः, तद्युक्तैः । वीरैः,

अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः ।
पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वभावमशिवापहम् ॥ (श्लो० ५०)

इति परापञ्चाशिकोक्तरीत्या भेदप्रतीति[2]साधनस्य इदन्तारिपोरहमि [3]समराङ्गणे प्रलयप्रतिपादनपरा[4] वीराः, तैः सह पूजयेत्[5] ।

तन्त्राचारपरिभ्रष्टैः प्रपञ्चव्रतशालिभिः ।
पशुभिः क्षुद्रकर्मस्थैर्न कुर्याद् द्रव्यमेलनम्[6] ॥

इत्यादिवचनसिद्धैः सह न पूजयेदित्यर्थः ॥१९१॥

ननु कस्मिन्नक्षत्रे कस्मिन् वारे कस्मिन् वा दिने पूजेयं कार्येत्यत आह—

[7]पुष्यभेन तु वारे च सौरे च परमेश्वरि ॥१९१॥
गुरोर्दिने स्वनक्षत्रे चतुर्दश्यष्टमीषु च ।

में—''गुरुभक्ति, शान्ति, पूजा, श्रद्धा, क्षमा, धृति'' इत्यादि का कौलाचार में परिगणन किया गया है। इन आचारों का पालन करने वाले वीर कहलाते हैं। परापंचाशिका में वीरों का स्वरूप इस तरह से वर्णित है—

इदन्ता रूपी शत्रु का अहन्ता में विलय करने के प्रयास में लगा साधक सभी प्रकार के अमंगल का नाश कर देने वाले स्व-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥

इसके अनुसार भेदप्रतीति का जो साधन है, उस इदन्ता रूपी शत्रु का सामना करते हुए जो व्यक्ति उसको अभेद प्रतीति के सहारे अपनी अहन्ता में एकरस कर देता है, वही वस्तुतः वीर है। ऐसे वीरों के साथ भगवती की पूजा करनी चाहिये। कहीं कहा गया है—

तन्त्राचार से परिच्युत, प्रपंच भरे व्रतों का पालन करने वाले, क्षुद्र कर्मों के अनुष्ठान में लगे हुए पशुओं के साथ द्रव्यमेलन न करे ॥

इस वचन में जिन अज्ञ जनों का उल्लेख किया गया है, उनके साथ उक्त पूजाविधि का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये ॥१९१॥

अब प्रश्न होता है कि किस नक्षत्र, वार और दिन में इस पूजा का अनुष्ठान करना चाहिये, इसका उत्तर देते हैं—

हे परमेश्वरि ! पुष्य नक्षत्र से युक्त रविवार के दिन, गुरु के जन्म और मृत्यु के दिन, अपने जन्म नक्षत्र में, चतुर्दशी और अष्टमी के दिन चक्रगत योगि-

१. शास्त्रे–ख. ज. झ. उ. । २. सारस्य–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. रणाङ्गणे–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. परैः सह–ख. ने. ज. झ. उ. । ५. इतः परम्–'न तु कातरैः सह पुत्रदारपरिभ्रष्टैः' इत्यधिकं–उ. । ६. भोजनम्–ख. ने. झ. । ७. नित्यं पुष्यदिने वारे–ख. ने. च. छ. ज. ।

चक्रपूजां विशेषेण योगिनीनां समाचरेत् ॥१९२॥

''नित्यं सम्पूजयेद् देवीं सासनां सावृतिं क्रमात्'' इति स्वच्छन्दसंग्रहादिशास्त्रेषु [1]यद्यपि प्रतिदिनं पूजा विहिता, तथापि पुष्यभेन पुष्यनक्षत्रेण सह सौरे वारे, गुरो[2]रुदयव्याप्त्योर्दिने, स्वनक्षत्रे च, चतुर्दश्यष्टमीषु तिथिषु च, चक्रपूजां चतुरस्रादिबैन्दवान्तचक्रगतानां देवतानां पूजां विशेषेण समाचरेत्। नित्यपूजा[3]वन्न भवति, किन्तु नैमित्तिकतया [4]अष्टाष्टकादियोगिनीगणप्रीणनपुरःसरं पूजयेदित्यर्थः ॥१९१-१९२॥

ननु[5] चक्रेऽष्टाष्टकपूजनं कथं संगच्छत इति शङ्कामपनुदन् विशेषपूजामेव विवृणोति—

चतुःषष्टिर्यतः कोट्यो योगिनीनां महौजसाम् ।
चक्रमेतत् समाश्रित्य संस्थिता वीरवन्दिते ॥१९३॥
अष्टाष्टकं तु कर्तव्यं वित्तशाठ्यविवर्जितम् ।

[7]त्रैलोक्यमोहनचक्रनिवासिनीनां ब्राह्म्याद्यादीनामंशभूता अक्षोभ्याद्याश्चतुःषष्टि-

नियों (शक्तियों) की पूजा विशेष रूप से करे ॥१९१-१९२॥

स्वच्छन्दसंग्रह में बताया गया है—''आसन और आवरण देवताओं के साथ देवी की नित्य पूजा करे''। इस तरह से यद्यपि प्रतिदिन पूजा का विधान है, तो भी पुष्य नक्षत्र से संयुक्त रविवार के दिन, अपने गुरु के उदय (जन्म) और व्याप्ति (मरण) की तिथि में, अपने जन्म नक्षत्र के दिन और चतुर्दशी तथा अष्टमी तिथियों के आने पर चतुरस्र से बैन्दव पर्यन्त चक्रों में विराजमान देवताओं की पूजा विशेष रूप से करनी चाहिये। नित्य पूजा की तरह इसका सामान्य अनुष्ठान न कर इन नैमित्तिक अवसरों पर विशेष पूजा का आयोजन करे। इसका अभिप्राय यह है कि अष्टाष्टक विधान द्वारा योगिनियों की पूर्ण तृप्ति के लिये विशेष पूजा का अनुष्ठान करे ॥ १९१-१९२॥

श्रीचक्र में अष्टाष्टक पूजा की विधि कैसे संभव हो सकती है ? इस शंका का परिहार करते हुए विशेष पूजा का विधान बताते हैं—

हे वीरवन्दिते ! महाप्रभावशालिनी ६४ करोड़ योगिनियां इस चक्र में निवास करती हैं। अतः धन के लोभ को छोड़कर इस चक्र में अष्टाष्टक पूजा का अनुष्ठान करना चाहिये ॥१९३-१९४॥

१. 'यद्यपि' नास्ति–ख. ने. ज. झ. उ. । २. गुरूदय–ख. ने. ज. झ. उ. । ३. तु न–ख. ने. ज. झ. उ. । ४. 'अष्टाष्टकादियोगिनीनाम्' इत्येव–ख. ने. ज. उ. । ५. 'ननु... विवृणोति' नास्ति–ख. ने. ज. । ६. षष्टियुताः–क. ग. उ. । श्लोक एव नि० षो० (४।१७) इत्यत्रापि वर्तते। तत्रापि यत इत्येव पाठः । ७. 'त्रैलोक्यमोहन' नास्ति–ज. झ. ।

योगिन्यः, तासां प्रत्येकमंशभूतानां कोटि[1]संख्याकानाम्, महौजसां महाप्रभावशालिनीनाम्, योगिनीनामुक्त(१।२,२।१७,२।७९)लक्षणानां मिलित्वा[2] चतुःषष्टिकोट्यो यतश्चक्रमेतत् समाश्रित्य संस्थिताः। [3]मध्यमभूगृहान्तश्चतुःषष्टिकोटियोगिनीसमष्टिभूतानामक्षोभ्यादीनाम्, अष्टाष्टकम् अष्टकानामष्टकम्, वित्तशाठ्यविवर्जितं स्वस्व[4]विभववञ्चनाहीनं यथा भवति तथा कर्तव्यम्। [5]अत्र कृतिर्नाम [6]पूजनक्रियायोगोऽभिप्रेतः ॥१९३-१९४॥

ननु तासां पूजने किमायातं ममेत्यत आह—

त्वमेव तासां रूपेण क्रीडसे विश्वमोहिनी ॥१९४॥

त्रैलोक्यमोहन चक्र में निवास करने वाली ब्राह्मी आदि आठ योगिनियों की अंशभूत [1]अक्षोभ्या आदि चौसठ योगिनियाँ हैं। इनमें से भी प्रत्येक योगिनी के अंश से एक एक करोड़ योगिनियाँ निकलती हैं और इनकी संख्या ६४ करोड़ हो जाती है। ये योगिनियाँ महाप्रभावशालिनी हैं। योगिनियों का स्वरूप पहले (१।२, २।१७, २।७९) बताया जा चुका है। ये सब चौसठ करोड़ योगिनियाँ इसी श्रीचक्र में निवास करती हैं। यहाँ मध्य भूगृह में ६४ करोड़ योगिनियों का प्रतिनिधित्व करने वाली अक्षोभ्या प्रभृति ६४ योगिनियों की [2]अष्टाष्टक (आठ अष्टक) क्रम से पूजा करनी चाहिये। ऐसा करते समय अपने वैभव के अनुसार दिल खोल कर धन खर्च करना चाहिये, इसमें कंजूसी नहीं दिखानी चाहिये। यहाँ कृति (कर्तव्य) पद का संबन्ध पूजन क्रिया से जोड़ना अभिप्रेत है, अर्थात् अष्टाष्टक पूजा करते समय धन का संकोच नहीं करना चाहिये ॥१९३-१९४॥

प्रश्न उठता है कि ऐसा करने से मुझे क्या मिलेगा? इसी का उत्तर देते हैं—

सारे विश्व को मोहित करने वाली तुम हो इन योगिनियों के रूप में क्रीडा करती हो ॥१९४॥

---

१. कोटिकोटि—ख. ने. झ.। २. इत्युक्तत्वात्—ख. ने. ज. झ. उ.। ३. मध्यभूगृहोदित—क. ग. उ.। ४. वित्त—क. ग. उ.। ५. 'अत्र कृतिर्नाम' नास्ति—ख. ज.। ६. यागपूजित—ख. ज. झ.।

1. अक्षोभ्या आदि चौसठ योगिनियों के नाम प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (६।३२७-३३५) में ब्रह्मयामल के प्रमाण से दिये गये हैं।

2. अष्टाष्टक शब्द का अर्थ पृ०२११ की दूसरी टिप्पणी में दिया जा चुका है। ब्राह्मी आदि आठ योगिनियों तथा स्वच्छन्द आदि आठ भैरवों में से प्रत्येक के आठ आठ स्वरूप मिलकर इस अष्टाष्टक पद को सार्थक करते हैं। इन चौसठ युगल स्वरूपों की अर्चाविधि ही अष्टाष्टक पूजा कहलाती है।

प्रकाशात्मनो विश्वबोधकस्य ममांशभूता विमर्शरूपिणी त्वमेव बैन्दवचक्रगता, विश्वमोहिनी संसारित्वोपपादनकारिणी, तासां ब्राह्म्यादीनामक्षोभ्यादीनां च रूपेण क्रीडसे,

एका सती भगवतो परमार्थतोऽपि संदृश्यसे[1] बहुविधा ननु नर्तकीव।
(अ० स्त० १८)

इत्यभियुक्तोक्तरीत्या तत्तद्रूपेण परिणमसे। अतस्त्वदंशभूतयोगिनीयजनेन त्वमेव प्रीणासीत्यर्थः ॥१९४॥

ननु व्युत्पत्तिबलादेवागमार्थमवगम्य तत्तत्तन्त्रोदितपूजादिषु प्रवृत्तिः स्यात् किं गुरूपदेशेनेत्याशङ्क्याह—

अज्ञात्वा तु कुलाचारमयष्ट्वा गुरुपादुकाम्।
योऽस्मिन् शास्त्रे प्रवर्तेत तं त्वं पीडयसि ध्रुवम् ॥१९५॥

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः ॥ (चि०१)

अपनी प्रकाशात्मकता के कारण सारे विश्व का बोध कराने वाले मुझ शिव की अंशभूत तुम विमर्शरूपिणी शक्ति हो। तुम ही बैन्दव चक्र में निवास करने वाली और सारे विश्व को मोह में डालकर इस संसार-चक्र को चलाने वाली हो। तुम ही ब्राह्मी प्रभृति और अक्षोभ्या प्रभृति योगिनियों के आठ और चौसठ स्वरूपों को धारण कर इस विश्व में क्रीडा करती हो। अम्बास्तवकार ने ठीक ही कहा है—

भगवती परमार्थतः (वास्तव में) एक ही है। ऐसा होने पर भी नर्तकी (नटी) जैसे अभिनय करते समय अनेक रूप धारण करती है, उसी तरह से यह देवी भी हमारे सामने अनेक रूपों में प्रकट होती है॥

इस प्रकार बैन्दव चक्रनिवासिनी भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही इन योगिनियों के रूप में परिणत होती है। अतः तुम्हारी अंशभूत इन योगिनियों की पूजा करने पर यह तुम्हारी ही पूजा होती है, तुम ही इस पूजा से प्रसन्न होकर अपने भक्तों पर अनुग्रह करती हो, उनकी मनोकामना पूरी करती हो ॥१९४॥

यहाँ शंका उठती है कि शास्त्रीय व्युत्पत्ति के आधार पर आगमशास्त्र के अर्थ को जानकर उन उन तन्त्रों में बताई गई पूजाविधि का ज्ञान हो जायगा। ऐसी स्थिति में गुरु की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हैं—

कुलाचार को बिना जाने, गुरुपादुका की बिना पूजा किये, जो व्यक्ति इस शास्त्र में प्रवृत्त होता है, उसको तुम निश्चय ही पीडा पहुँचाती हो ॥१९५॥

---

१. दृश्यते—ख. ने. ज. झ. उ.। २. यसे—क. ज. ड.।

[1]इत्यस्मदुक्तरीत्या [2]त्रिधामगुरोः । "अविदित्वा कुलाचारं कुलं कौलिकदर्शनम्" । तत्राचारः स्वच्छन्दसंग्रहादिशास्त्रे विहितः, तं गुरुमुखादविज्ञाय योऽस्मिन् शास्त्रे प्रवर्तेत [3]योऽस्मिन् [4]साधने प्रवर्तेत, तदुक्तार्थाचरणपरो भवेत्, तं चुम्बकं[5] साधकाधमम्, त्वं[6] डाकिनीक्रूरयोगिनीरूपेण साधकमांसमज्जादिशोषणादिरूपेण पीडयसि गृह्णासि, ध्रुवं नात्र शङ्का । अतो गुरुमुखादेवा[7]खिलागमार्थानवगम्यास्मिन् शास्त्रे प्रवर्तितव्यम्, अन्यथा निष्फलं स्यादित्यर्थः ॥१९५॥

एवं ज्ञात्वा वरारोहे कौलाचारपरः सदा ।
आवयोः शबलाकारं [8]मद्यं मांसं निवेद्य च ॥१९६॥
त्वत्प्रथाप्रसराकारै[9]स्त्वामेव परिभावयेत् ।

स्वयं प्रकाशस्वरूप शिव की एक मूर्ति है और उसका विमर्शशक्तिमय दूसरा शरीर है। इन दोनों के सामरस्यमय शरीर से परा पादुका बनती है, जो कि परमशिव स्वरूप गुरु का देह है ॥

इस तरह से स्वयं व्याख्याकार ने अपने [1]चिद्विलास स्तव में गुरु के प्रकाश, विमर्श और सामरस्यमय तीन तेजस्वी स्वरूपों का वर्णन किया है । इस गुरु से कुलाचार, कुल और कौलिक दर्शन को बिना जानकारी प्राप्त किये किया गया सारा अनुष्ठान निष्फल हो जाता है । स्वच्छन्दसंग्रह प्रभृति शास्त्रों में कुलाचार का उपदेश किया गया है, किन्तु उसको गुरुमुख से जानकर ही इस शास्त्र में प्रवृत्त होना चाहिये । जो गुरुमुख से बिना जाने इस शास्त्र में विहित अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है, वह चुम्बक है, अधम साधक है । ऐसे साधक को तुम डाकिनी, क्रूर योगिनी का स्वरूप धारण कर, उस साधक के मांस, मज्जा आदि धातुओं का शोषण कर, पीड़ा पहुँचाती हो, इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये । इसलिये गुरुमुख से ही समस्त आगमशास्त्र का अर्थ जानकर इस शास्त्र में प्रवृत्त होना चाहिये, अन्यथा सारे किये कराये पर पानी फिर जाता है ॥१९५॥

हे वरारोहे ! ऐसा जान कर कौलाचार का पालन करते हुए साधक को चाहिए कि वह शिव और शक्ति के शबलित आकार वाले मद्य और मांस को समर्पित कर विमर्श शक्ति के स्पन्दन से निकले सभी आकार एकमात्र तुम्हारे ही स्वरूप हैं, ऐसी भावना करे ॥१९६-१९७॥

---

१. इत्यभियुक्तोक्त–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । २. 'त्रिधाम' नास्ति–क. । ३. 'यः' नास्ति–क. ग. उ. । ४. शास्त्रे पूर्वोक्तपरमहितपरदेवतायजनपरमार्थसाधकस्तदु–क. ग. । ५. कसाधकं–ख. ग. ने. ज. झ. उ. । ६. 'त्वं डाकिनीक्रूरयोगिनीरूपेण' नास्ति–ख. ग. ने. ज. झ. । ७. खिलमप्यव–क. ग. । ८. मद्यं तत्र–क. ख. ग., देवि तच्च–च. छ. ज. झ., मद्यं तव–उ. । मद्यं मांसमिति दीपिकाव्याख्यातः पाठः । ९. स्त्वय्येव–ख. ने. छ. ज. झ. उ. ।

1. यह श्लोक पहले भी दो बार (पृ० २१०, २२६) उद्धृत हो चुका है ।

वरारोहे "वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी" (अ० को० २।६।४) इति निघण्टुः । एवम् उक्तप्रकारेण, ज्ञात्वा गुरुमुखादेव । कौलाचारपरः, कौलिकाः पूर्वोक्त(३।१४४,१९१)लक्षणाः, तेषां विहिताः स्वच्छन्दसंग्रहादिशास्त्रेष्वाचाराः, सदा तदनुष्ठानपरः । आवयोः प्रकाशविमर्शात्मनोः, शबलाकारम् "सुरा शक्तिः शिवो मांसमानन्दो मोक्ष उच्यते" इत्यभियुक्त[1]वचनोक्तरीत्या सामरस्यापादनरूपं तत्पूर्वोक्त(३।९८-१०३)रीत्या शोधितममृतीकृतं [2]मद्यं मांसं निवेद्य । आवयो[3]रित्येव योज्यम् । त्वत्प्रथाप्रसराकाराः । तव विमर्शशक्तेः, प्रथा स्पन्दः, तत्प्रसराः तदुद्भूताः, आकारा यासामावरणदेवतानाम्, तास्तथाविधाः, [4]त्वामेव त्वदन्यतो न [5]प्रथायाताः परिभावयेत्,

---

वरारोहा, मत्तकाशिनी, उत्तमा और वरवर्णिनी—इन चार शब्दों का प्रयोग अमरकोश में उत्कृष्ट गुणों वाली स्त्री के लिये किया गया है । भगवान् शिव यहाँ देवी को 'वरारोहे' कहकर संबोधित कर रहे हैं । कौलिक पद की व्याख्या पहले (३।१४४,१९१) की जा चुकी है । इनके आचारों का वर्णन स्वच्छन्दसंग्रह[1] आदि शास्त्रों में किया गया है । ऊपर बताई गई विधि को गुरुमुख से जानकर कौलाचारपरायण साधक को चाहिये कि इन आचारों का सदा पालन करते हुये प्रकाश और विमर्श स्वरूप शिव और शक्ति के शबल आकार को, शिव और शक्ति के सामरस्यमय स्वरूप को, अभिव्यक्त करने वाले मद्य और मांस को पूर्व प्रदर्शित (३।९८-१०३) अर्घ्यशोधन विधि से पवित्र, अमृतस्वरूप बना कर हम दोनों को समर्पित करे । किसी प्रामाणिक व्यक्ति के वचन के अनुसार—"सुरा शक्ति का, शिव मांस का और आनन्द मोक्ष का वाचक है" । तदनुसार 'आवयोः' पद की आवृत्ति कर पहले इसका संबन्ध मद्य और मांस से तथा बाद में शिव और शक्ति से जोड़ा जाता है, अर्थात् शिवशक्तिमय इन द्रव्यों को शिवशक्ति को ही समर्पित कर देना चाहिये । 'तत्प्रथाप्रसराकाराः' इस समस्त पद का अर्थ है—तुम्हारे, विमर्श शक्ति के स्पन्दन से जिन आकारों, आवरण देवताओं की उत्पत्ति हुई है, वे सब आकार । ये सब आकार तुम ही हो, तुमसे ये आकार अलग नहीं हैं, ऐसी भावना करनी चाहिये । सुभागोदयकार शिवानन्द मुनि ने कहा है—

---

१. क्तोक्त– ज. उ. । २. 'मद्यं मांसं' नास्ति–ख. ने. ज. उ. । ३. योर्नियो–क. ग. । ४. त्वमेव–ख. ने. झ. उ. । ५. पृथग्भूताः–क. ग., पृथग्याताः–ख. ने. उ. ।

1. पहले (३।१९१) उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह के वचन में संक्षेप में इन आचारों का उल्लेख हो चुका है ।

मूलोद्भवं शक्तिचक्रं यतस्तन्मयतां गतम् ।
तस्मिन्नेवाव्यये धाम्नि विलीनं परिभावयेत् ॥(सु० ६७)

इत्यभियुक्त[1]वचनोक्तरीत्या विमर्शशक्तेर्विलासभूताद्याकारायास्ता आवरणदेवतास्तत्रैव विलीना विभावयेदित्यर्थः ॥१९६-१९७॥

त्वामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत् ॥१९७॥
[2]त्वन्मयस्य गुरोः शेषं निवेद्यात्मनि योजयेत् ।

देवीं [3]विश्वरूपिणीं विश्वानुजिघृक्षया गृहीतलीलाविग्रहाम्, [4]इच्छाविग्रहामित्यर्थः । त्वामेव गुरुरूपां विभावयेत् । त्वन्मयस्य त्वद्रूपस्य, गुरोस्तद्धेतुं निवेद्य, शेषं देवतागुरुनिवेदितशेषम्, आत्मनि योजयेत् । यावत् साधकस्ताभ्यां समरसीभवति, तावच्छेषं स्वयमुपयुञ्जीतेत्यर्थः ॥१९७-१९८॥

बलिनिवेदनमाह—

प्रकाश-विमर्श-सामरस्यात्मक मूल-स्वरूप (त्रिपुरा) से उत्पन्न हुआ यह आवरण देवताओं का शक्तिचक्र अब पुनः तन्मय हो गया है, उसी अव्यय तत्त्व में लीन हो गया है, ऐसी भावना करनी चाहिये ।।

इस तरह से विमर्श शक्ति के विलासभूत आद्या भगवती त्रिपुरसुन्दरी के स्वरूप से निकला यह सारा आवरण देवताओं का समूह पुनः उसी मूलस्वरूप से विलीन हो गया है, ऐसी भावना करनी चाहिये ॥१९६-१९७॥

इच्छानुसार स्वरूप धारण करने वाली तुम देवी को ही अपना गुरु माने और तुमको ही नैवेद्य चढ़ाकर देवता और गुरु की पूजा के बाद बचे नैवेद्य को स्वयं ग्रहण करे ॥१९७-१९८॥

भगवती त्रिपुरसुन्दरी देवी ही विश्व का स्वरूप धारण करती है, विश्व पर अनुग्रह करने की इच्छा से वह लीलामय स्वरूपों को धारण करती रहती है । अतः साधक को चाहिये कि वह गुरु के रूप में तुम्हारा ही ध्यान करे । गुरु भगवतीमय है, ऐसी भावना करके वह गुरु को हेतु द्रव्य समर्पित करे और इसके बाद, देवता और गुरु को समर्पित करने के बाद, बचे हुए द्रव्य को स्वयं ग्रहण करे । जितने द्रव्य के ग्रहण से साधक देवता और गुरु के साथ सामरस्यमय स्थिति का अनुभव करता है, उतने ही द्रव्य को वह ग्रहण करे ॥१९७-१९८॥

इसके बाद बलि का निवेदन करे—

---

१. युक्तोक्त्या—ख. ने. झ. उ. । २. शेषं गुरोर्निवेद्याऽपि पश्चादात्मनि—ख. ने. च. छ. ज. झ. उ. । ३. विमर्शं—ख. ने. ज. झ. । ४. 'इच्छाविग्रहाम्' नास्ति—क. ग. ।

योगिनीनां महादेवि बटुकायात्मरूपिणे ॥१९८॥
क्षेत्राणां पतये मह्यं बलिं कुर्वीत हेतुना ।

योगिनीनां पूर्वोक्त(२।७९)रीत्या मातृमानमेयमरीचीनाम् । आत्मरूपिणे[1] परमानन्दस्पन्दरूपिणे बटुकाय । क्षेत्राणां पतये, क्षेत्राणि शरीराणि, तेषां पतिर्जीवात्मा, तस्मै । मह्यं मदहन्ताविष्टाय । हेतुना मद्येन सद्वितीयेन । बलिं कुर्वीत ।

श्वासद्वयनिरोधेन कुण्डलीत्रयमेलनात् ।
यज्जीवशिवयोरैक्यं तेनासावान्तरो बलिः ॥

हे महादेवि ! योगिनियों के प्राणस्वरूप बटुकभैरव को और मुझ क्षेत्रपाल को इसके बाद हेतु द्रव्य से बलि देनी चाहिये ॥१९८-१९९॥

संवित्स्वरूपिणी भगवती की माता, मान और मेयमय किरणें ही पहले (२।७९) बताई गई पद्धति से योगिनियाँ[1] कहलाती हैं । इन योगिनियों के लिये परम आनन्द को स्पन्दित करते हैं भगवान् स्वात्मस्वरूप बटुकभैरव । क्षेत्र शरीर को कहते हैं । इनका पति है जीवात्मा । यह जीवात्मा मुझ शिव के साथ अहन्ता स्थापित किये हुए है, शिवाहन्ता से ओतप्रोत है । इस तरह से इन गुणों से अलंकृत बटुक और क्षेत्रपाल को द्वितीय द्रव्य

---

१. मात्मस्वरूपिणे—ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. अमृतानन्द ने यहाँ (पृ० ६-७, ११९, २११) योगिनी शब्द की चार तरह की व्याख्या की है । योगिनीहृदय शब्द की व्याख्या के प्रसंग (पृ० ६-७) में वे कहते हैं कि इस ग्रन्थ में योगिनी (स्वसंवित्स्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा) का हृदय (स्वरूप) उसी प्रकार प्रकट हुआ है, जैसे सामान्य जन के हृदय में अपना ज्ञान उन्मिषित होता है । यहाँ योग का अर्थ है जगत् की सारी वस्तुओं के साथ अपनी संवित् (ज्ञान) का समवाय (अविनाभाव) संबन्ध । इससे भासित होने वाली है योगिनी । दूसरी जगह (पृ० ११९) योगिनी और वीरशब्द की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि जिनका शिव के साथ योग, नित्य संपर्क बना रहता है, वे योगिनियाँ कहलाती हैं । ये हैं विमर्श शक्ति की अंशभूत इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों से अभिव्यक्त हुई भारती, पृथ्वी और रुद्राणी नामक शक्तियाँ । वीर पद का अर्थ पहले (१।६५) बता दिया गया है । प्रकाश की अंशभूत वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियों से अभिव्यक्त सृष्टि-स्थिति-संहार कारक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र नामक वीरों का उक्त भारती, पृथ्वी और रुद्राणी नामक योगिनियों से सदा संपर्क बना रहता है । तीसरी और चौथी व्याख्या वे इस तरह से करते हैं—माता, मान और मेय रूप संवित्तियाँ ही योगिनियाँ कहलाती हैं । उनके मेलन का अर्थ है उनको अन्तर्मुख बना कर परप्रमाता स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देना । अथवा ब्राह्मी प्रभृति के अष्टाष्टक स्वरूपों की उपासना के लिये सामयिक शक्तिचक्र को भी योगिनी नाम दिया जाता है । प्रस्तुत स्थल में योगिनी शब्द का तृतीय अर्थ गृहीत है ।

इत्यस्मदुक्तरीत्या सद्वितीयमद्य[1]स्वीकारेणोल्लसिते मनसि, [2]स्वतः प्राणापानयोः संचारे शान्ते, निरस्ते [3]त्रितवलक्षणे भेदे, शिवोऽहमस्मीति स्वान्तरो बलिरित्यर्थः ॥ ॥१९८-१९९॥

ततः स्वैराचारपरो भूयादित्याह—

[4]नित्यं पिबन् वमन् खादन् स्वेच्छाचारपरः स्वयम् ॥१९९॥

अहन्तेदन्तयोरैक्यं भावयन् विहरेत् सुखम् ।

नित्यं प्रत्यहम्, पिबन् देवतागुरुनिवेदितशेषं हेतुम्, खादन् तच्छेषं खाद्यम्, वमन् द्वयमपीति सामर्थ्याल्लभ्यम् । स्वेच्छाचारपरः

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।

तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं सम्प्रकाशते ॥ (श्लो० ७३)

के साथ हेतु द्रव्य को बलि समर्पित करे । व्याख्याकार ने स्वयं अपने किसी [1]अन्य ग्रन्थ में कहा है—

प्राण और अपान रूपी दोनों श्वासों का निरोध कर और [2]तीनों कुण्डलिनियों का मेलन कर जो जीव और शिव में ऐक्यभाव स्थापित किया जाता है, इसी को आन्तर बलि कहा जाता है ॥

ऐसा करने से द्वितीय द्रव्य के साथ मद्य का प्रसाद ग्रहण करने के उपरान्त जब मन उल्लसित होता है, तो उस समय प्राण और अपान वायु का संचार स्वतः शान्त हो जाता है तथा माता, मान और मेय रूप त्रिपुटी का सारा प्रपंच भी समाप्त हो जाता है। उस समय मात्र 'मैं शिव हूँ' यह अनुभूति बची रहती है। इस अद्वयप्रतिष्ठात्मक अनुभूति का ही यहाँ आन्तर बलि के नाम से विवरण दिया गया है ॥१९८-१९९॥

इसके बाद साधक यथेच्छ आचरण कर सकता है—

प्रतिदिन पीता हुआ, वमन करता हुआ, खाता हुआ साधक स्वयं स्वैराचारी हो जाय, अहन्ता और इदन्ता में एकता की भावना करता हुआ सुखपूर्वक विचरण करे ॥१९९-२००॥

प्रतिदिन देवता और गुरु को समर्पित हेतु द्रव्य के बचे भाग को पीता हुआ, बचे हुए खाद्य पदार्थ को खाता हुआ और दोनों को यथेच्छ वमन करता हुआ साधक स्वैराचार परायण हो जाय । विज्ञानभैरव भट्टारक ने बताया है—

---

१. स्वीकरणोल्लासिते—ख. ने. झ. । २. अत एव—क. ग. ज. । ३. त्रितत्वल—ख. ने. । ४. पिबन्नित्यं—ने. च. छ. ज. झ. उ. ।

1. यह श्लोक भी व्याख्याकार के तत्त्वविमर्शिनी नामक ग्रन्थ का हो सकता है ।

2. टीकाकार इन तीनों कुण्डलिनिय की चर्चा पहले (३।१६९) कर चुके हैं ।

इति विज्ञानभैरवभट्टारकोक्तरीत्या स्वस्य यत्र यत्रेच्छा जायते तत् तदेव शास्त्रविहितम्, यत्र यत्रेच्छा न जायते तत्तदेव शास्त्रनिषिद्धम्[1] । अतः स्वेच्छानुकूलपदार्थाननु[2]भवेत्, तत्प्रतिकूलपदार्थान् परित्यजेदित्यर्थः । अहन्तेदन्तयोरैक्यं भावयन् । अहन्ता ज्ञातृधर्मः, इदन्ता ज्ञेयधर्मः, तयोरैक्यम् "यत्र यत्र मिलिता मरीचयस्तत्र तत्र विभुरेव जृम्भते" इत्यादिपूर्व(२।७९, ३।१४१)प्रतिपादितरीत्या ज्ञातृज्ञेयचैतन्ययोः समरसीकरणलक्षणं [3]ज्ञानम्, तदेवाहमिति भावयन् सुखं विहरेत् । परिपूर्णज्ञानानन्दो भवेदित्यर्थः । तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।

भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ॥ (श्लो० ७१)

इति ॥१९९-२००॥

जहाँ जहाँ मन की तुष्टि हो, मन को संतोष हो, उसको वहीं स्थिर कर दे । ऐसा करने से साधक के हृदय में उसी स्थिति में परमानन्दमय स्वात्मस्वरूप प्रकाशित हो उठता है ॥

इस तरह से साधक योगी की जिस विषय को प्राप्त करने की इच्छा हो, उसी को शास्त्रविहित माने; जहाँ जहाँ इच्छा न हो, उसी को शास्त्रनिषिद्ध समझे । इस प्रकार अपनी इच्छा के अनुकूल स्वरूप वाले पदार्थों का उपभोग करे और इसके प्रतिकूल पदार्थों का परित्याग कर दे । ऐसा करते समय अहन्ता और इदन्ता में एकता की भावना अवश्य करता रहे । अहन्ता ज्ञाता का धर्म है और इदन्ता ज्ञेय का । इन दोनों में एकता की भावना पहले (पृ० २११, ३३३) उद्धृत स्तोत्रावली के वचन में प्रतिपादित इस पद्धति से की जाती है—"जहां जहां संवित् की किरणें मिलती हैं, इन्द्रियों का विषयों के साथ संपर्क होता है, वहीं वहीं भगवान् शिव का व्यापक स्वरूप आलोकित हो उठता है" । इस तरह से ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में स्फुरित हो रहे चैतन्य को समरस करने वाला ज्ञान ही 'मैं वही हूँ' इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त होता है । इसी की भावना करता हुआ योगी सुखपूर्वक विचरण करे, अर्थात् परिपूर्ण ज्ञान और आनन्द से सराबोर हो जाय । विज्ञानभैरव भट्टारक ने इस स्थिति का वर्णन इस तरह से किया है—

[1]जग्धि और पान के कारण अभिव्यक्त उल्लास, रस और आनन्द की दशाओं का विस्तार होने पर साधक योगी अपनी भरितावस्था की, अपने परिपूर्ण भैरव स्वरूप की भावना करे । ऐसा करने से वह साधक महानन्द से परिपूर्ण हो उठता है ॥१९९-२००॥

---

१. मपि वर्तते—क. ग. । २. भावयेत्—ख. ने. ज. उ. । ३. जानन्—क. ।

1. जग्धि, पान आदि पदों का अभिप्राय विज्ञानभैरव के भाषानुवाद में देखना चाहिये ।

परमप्रकृतमुपसंहरति—

एतत् ते कथितं दिव्यं[1] संकेतत्रयमुत्तमम् ॥२००॥

स्पष्टम्[2] ॥२००॥

सर्वज्ञानोत्तमत्वादत्यन्तगोपनीयमित्याह—

गोपनीयं प्रयत्नेन स्वगुह्यमिव सुव्रते ।

यथा स्वगुह्यं योनिं परपुरुषेभ्यो गोपायसि प्रयत्नेन, तथैतदपि[3] संकेतत्रयमनर्हेभ्यो गोपनीयमित्यर्थः ॥२०१॥

ननु [4]केऽनर्हा येभ्यो गोपनीयमित्यत आह—

चुम्बके ज्ञानलुब्धे च[5] न प्रकाश्यं त्वयानघे ॥२०१॥

भक्तिहीनो[6]ऽनेकत्रासक्तस्तत्त[7]त्तन्त्रान्तरेषु विद्यामात्रपाठी[8] चुम्बकः । ज्ञानलुब्धः विद्यासाधारण्यात् काव्यनाटकादिविद्यावदत्रापि ज्ञानं सम्पाद्यमिति मन्वानः ।

अब परम प्रकृत (प्रारम्भ में निर्दिष्ट) विषय का उपसंहार करते हैं—

इस तरह से इन तीन दिव्य और उत्तम संकेतों का मैंने तुम्हें उपदेश किया है ॥२०० ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥२००॥

अब यह कहते हैं कि सभी ज्ञानों में उत्तम होने से इसको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये—

हे सुव्रते ! अपने गुह्य के समान इस ज्ञान को भी प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये

जैसे तुम अपनी योनि को दूसरे पुरुषों से प्रयत्नपूर्वक छिपाकर रखती हो, उसी तरह से चक्रसंकेत, मन्त्रसंकेत और पूजासंकेत नामक इन तीन संकेतों को भी अयोग्य व्यक्तियों से छिपाकर रखना चाहिये ॥२०१॥

प्रश्न होता है कि वे अयोग्य कौन हैं ? जिनसे कि इन संकेतों में उपदिष्ट ज्ञान को छिपा कर रखना चाहिये ? उत्तर है—

हे अनघे ! चुम्बक और ज्ञान के लोभी व्यक्ति को तुम्हें इनका प्रकाशन नहीं करना चाहिये ॥२०१॥

भक्तिभाव से रहित, अनेक गुरुओं के पास दौड़ लगाने वाला, सभी तन्त्रों में कुछ न कुछ दखल रखने की आदत वाला व्यक्ति चुम्बक कहलाता है । काव्य, नाटक आदि

---

१. सर्वं—क. ग., देवि—उ. । २. स्पष्टमेतत्—ज. । ३. तथेदमपि—ख. ने. । ४. के के—उ. । ५. वा—ख. ने. छ. झ. । ६. नोऽन्यत्रासक्तः—ख. ने. ज. झ. उ. । ७. त्तन्त्रवरेषु—ख. ने. ज. झ. उ. । ८. पाठाच्चु—ख. ज., पाठकश्चु—ने. उ. ।

तयोर्द्वयोरपीदं रहस्यं त्वया न प्रकटीकरणीयमित्यर्थः ॥२०१॥

विध्यति[1]क्रमणादन्यायो न करणीय इत्यत आह—

अन्यायेन न दातव्यं नास्तिकानां महेश्वरि ।

विध्यतिक्रम एवान्यायः । नास्ति परलोक इति ये [2]मन्यन्ते [3]चुम्बका बौद्धादयः, ते नास्तिकाः ।

नन्वत्र को विधिरित्यत आह—

एवं त्वयाऽहमाज्ञप्तो मदिच्छारूपया प्रभो ॥२०२॥

प्रभो ! जगत्प्रवृत्ति[4]नियमप्रभावशालिनि ! अत एव—"शक्त्या [5]विना शिवे सूक्ष्मे[6] नाम धाम न विद्यते" (४।७) इति चतुःशतीशास्त्रोक्तरीत्या त्वया विनाऽहं किमपि कर्तुं [7]न शक्तः, वक्तुं न समर्थः । तन्मदिच्छारूपया ममाऽखिलेश्वरस्याऽखिलागमशास्त्रवक्तुरिच्छारूपया [8]विवक्षारूपयाऽनाश्रितकलया । आज्ञप्तः प्रेरितः । ज्ञानमेवमुक्तलक्षणं प्रोक्तवानस्मि । [9]ततस्त्वदाज्ञैव विधिरित्यर्थः ॥२०२॥

की तरह तन्त्रशास्त्र को भी सामान्य विद्या मानकर इसका ज्ञान अर्जित करने वाला व्यक्ति ज्ञानलुब्ध कहलाता है । इन दोनों तरह के व्यक्तियों के सामने तुमको इस शास्त्र के रहस्य नहीं प्रकट करने चाहिये ॥२०१॥

अब शिव यह कहते हैं कि इस विधि का अतिक्रमण कर अन्याय न करें—

हे महेश्वरि ! नास्तिकों को इस रहस्य ज्ञान का उपदेश कर अन्याय नहीं करना चाहिये ॥

विधि का अतिक्रमण ही यहाँ अन्याय कहलाता है । परलोक नहीं है, ऐसा मानने वाले चुम्बक बौद्ध आदि को नास्तिक कहा जाता है ॥

प्रश्न उठता है कि ऐसा हम क्यों करें ? इसका उत्तर है—

हे स्वामिनि ! मेरी इच्छा शक्ति के रूप में प्रकट होकर तुमने ही मुझे ऐसा करने की आज्ञा दी है ॥२०२॥

'प्रभो' यह संबोधन देवी के प्रति है, क्योंकि वह इस जगत् की सृष्टि और संहार को करने में समर्थ है । इसीलिये चतुःशती शास्त्र (४।७) में बताया गया है—"शक्ति के बिना सूक्ष्म निराकार शिव में नाम और धाम (स्थान) की भी कल्पना नहीं की जा सकती ।" इस तरह से तुम्हारे बिना मैं कुछ भी करने और कहने में असमर्थ हूँ । इसका

---

१. क्रमादन्यायेन न—क. ग. । २. मन्वते—ख. ज. झ. उ. । ३. 'चुम्बका' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ४. प्रवृत्तिनिवृत्ति—ख. ने. उ. । ५. हीने—क. ग. । ६. शून्ये—क. ग. । ७. 'न शक्तः' नास्ति—ख. ने. झ. उ. । ८. 'विवक्षारूपया' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ९. 'ततः ....रित्यर्थः' नास्ति—ख. ने. ज. उ., अतो भवदाज्ञैव—झ. ।

[1]अतस्तदतिक्रमे महदनिष्टं स्यादित्याह—

[2]अन्यायेन तु यो दद्यात् स परेतो भविष्यति ।

अतस्त्वदाज्ञाविधिमुल्लङ्घ्य चुम्बकादिभ्यो य एतज्ज्ञानं दद्यात् स परेतो भविष्यति ॥

एतत्परिज्ञानफलमाह—

संकेतं यो[3] विजानाति योगिनीनां भवेत् प्रियः ॥२०३॥

एतत् संकेतत्रयम् । गुरुमुखादेव यो[4] विजानाति, स योगिनीनाम्, योगः परमशिवसमवायः, तद्वत्यः परमचिन्मरीचिभूताः शक्तयस्तासाम्, प्रियः परमशिवः, तस्यानन्त[5]शक्तिमत्त्वात् । तदुक्तं तन्त्रान्तरे—'शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु

भाव यह है कि यद्यपि मैं इस सारे जगत् का स्वामी हूँ और समस्त शास्त्रों का उपदेश भी मैं ही करता हूँ, तो भी मुझ शिव की इच्छाशक्तिरूपिणी विवक्षा रूप अनाश्रित कला से अनुमति प्राप्त करके ही मैंने इस ज्ञान का उपदेश किया है । इस तरह से तुम्हारी आज्ञा ही यहाँ [1]विधिवाक्य है ।

इस लिये उस विधिवाक्य को न मानने पर बहुत अनिष्ट हो सकता है, यही बात अब कही जा रही है—

जो व्यक्ति अन्यायपूर्वक इस ज्ञान का उपदेश करेगा, उसकी मृत्यु हो जायगी ॥

इसलिये तुम्हारी आज्ञा का, आदेशात्मक विधिवाक्य का उल्लंघन कर चुम्बक प्रभृति को जो व्यक्ति इस ज्ञान का उपदेश करेगा, वह अवश्य ही मर जायेगा ॥

अब इस ज्ञान को जानने का फल बताते हैं—

जो व्यक्ति संकेतों को जानता है, वह योगिनियों का प्रिय बन जाता है ॥२०३॥

यहाँ उपदिष्ट तीनों संकेतों को जो व्यक्ति गुरुमुख से जान लेता है, वह साधक योगिनियों का प्रिय बन जाना है । परमशिव के साथ समवाय, अर्थात् अविनाभाव संबन्ध को योग कहते हैं । शिव के साथ नित्य समवाय संबन्ध से रहने वाली परम चितिशक्ति

१. 'अत''''दित्याह' नास्ति—ख. ने. ज. उ. । २. अज्ञानेन—क. ग., नास्त्येषा पङ्क्तिः—ख. च. छ. । ३. योऽभि—ख. ने. च. छ. ज. झ. । ४. योऽभि—ख. ज. झ. उ । ५. शक्तित्वात्—ख. ने. ज. झ. उ. ।

1. वैदिक वाङ्मय और मीमांसाशास्त्र में विधि और निषेध वाक्यों को प्रवृत्ति और निवृत्ति का कारण माना गया है । लिङ् लकार और तव्य आदि प्रत्ययों से विधिवाक्य का बोध होता है । प्रस्तुत स्थल में विधि शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है ।

महेश्वरः" इति । [1]परमशिव एव भवेदित्यर्थः ॥२०३॥

[2]ननु परशिवतादात्म्ये[3] कः पुरुषार्थ इत्यत आह—

सर्वेप्सितफलावाप्तिः सर्वकामफलाश्रयः ।

यतः सर्वेषां जनानां [4]काम्यानां काम्यमानानां फलानामाश्रयः परमशिवः, अतः [5]सर्वेप्सितफलावाप्तिः सर्वेषां यानीप्सितानि स्पृहणीयानि फलानि, तेषां प्राप्तिः परमशिव[6]तादात्म्यपरिज्ञानाद् भवति । स एव परमपुरुषार्थ इत्यर्थः ॥

की किरणात्मक शक्तियाँ योगिनियाँ हैं । इन योगिनियों का प्रिय बन जाता है, साक्षात् शिव हो जाता है, क्योंकि वह परमशिव अनन्त शक्तियों से संपन्न है । जैसा कि [1]तन्त्रान्तर में बताया गया है—"यह सारा जगत् इसकी शक्तियाँ हैं, शक्तिमान् अकेला शिव है" । इस तरह से इन तीनों संकेतों को गुरुमुख से जान लेने वाला साधक साक्षात् परमशिव हो जाता है ॥२०३॥

प्रश्न उठता है कि परमशिव बन जाने से साधक को क्या मिलेगा ? इसका उत्तर देते हैं—

परमशिव सभी कामनाओं के फल को देने वाला है, अतः ऐसे साधक की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं ॥

चूँकि सभी मनुष्यों की कामनाओं का, अभिलषित फलों का आश्रय परमशिव है, वही मनुष्यों की सारी कामनाओं को पूरा करने वाला है, अतः सभी मनुष्यों के इच्छित फल की प्राप्ति परमशिव के साथ अपने तादात्म्य को समझ लेने से हो जाती है । इसका अभिप्राय यह है कि परमशिव के साथ तादात्म्य बोध ही सब से बड़ा पुरुषार्थ है । इसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य की सारी इच्छाएँ अपने आप पूरी हो जाती हैं ।

१. 'परम''''दित्यर्थः' नास्ति—ख. ज. झ. उ. । २. 'ननु''''आह' नास्ति—ख. ज. उ. । ३. त्म्यवपुषा पुरुषार्थः किमित्यत—क. ग. । ४. 'काम्यानां' नास्ति—क. उ. । ५. 'सर्वेप्सितफलावाप्तिः' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ६. 'तादात्म्य' नास्ति—क. ।

1. शिवसूत्रविमर्शिनी आदि ग्रन्थों में सर्वमङ्गला शास्त्र के नाम से यह वचन उद्धृत है और स्पन्दप्रदोपिकाकार ने इसको रहस्यशास्त्र का वचन माना जाता है । देखिये—लुप्तागमसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० ११६ तथा पृ० १४६-१४७ । रहस्यशास्त्र तन्त्रशास्त्र की ही विशेष शाखा का नाम है । यह किसो ग्रन्थ विशेष का नाम नहीं है । परमार्थसार-विवृति (पृ० १०), स्पन्दकारिका रामकण्ठविवृति (पृ० ९) तथा नेत्रतन्त्रोद्योत (२१।३१) में भी सर्वमङ्गला अथवा पारमेश्वर वचन के रूप में इसको स्मरण किया गया है ।

ननु स कुत्र दृश्यते ? इत्यत आह—

यतोऽपि दृश्यते देवि !

यतोऽपि[1] यत्र क्वापि बहिरन्तर्वा मनः प्रसरति, तत्र तदनुभवरूपेण स एव दृश्यते, तस्य सर्वगतत्वात् । तदुक्तं विज्ञानभैरवभट्टारकैः—

यत्र यत्र मनो याति बाह्ये [2]वाऽभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति ॥ (श्लो० ११३) इति,
[3]तत्र तत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यजते प्रभोः ॥ (श्लो० ११४) इति च ।

ननु किं[4] सर्वेषामपि तथा दृश्यते ? इत्यत आह—

[5]कथं विद्वान्न चिन्तयेत् ॥२०४॥

सत्यं दृश्यते, तथापि न पश्यन्ति, "न मां पश्यति कश्चन" इत्युपनिषदुक्तरीत्या,

---

पुनः प्रश्न होता है कि वह हमें कहाँ दिखाई पड़ता है ? शिव इसका उत्तर देते हैं—
हे देवि ! उसका दर्शन तो जहाँ कहीं भी हो सकता है ॥

जहाँ कहीं भी बाहर या भीतर मन का प्रसार होता है, वहाँ उस अनुभव के रूप में वह परमशिव ही दिखाई पड़ता है, क्योंकि वह सर्वगत है, सर्वत्र विद्यमान है । विज्ञानभैरव भट्टारक ने कहा है—

हे प्रिये ! बाहर या भीतर जहाँ कहीं भी मन जाता है, सर्वत्र अपनी व्यापकता के कारण शिवरूपता विद्यमान है । वह मन इस तरह से उस शिवस्वरूप को छोड़कर और कहाँ जायगा ?

जहां जहाँ मन जायगा, वहाँ वहाँ इन्द्रियों के माध्यम से स्वात्मचैतन्य की ही अभिव्यक्ति होगी ॥

प्रश्न उठता है कि क्या सभी को इसकी प्रतीति हो सकती है ? इसका उत्तर देते हैं—
इसके लिए विद्वान् प्रयत्न क्यों न करे ॥२०४॥

इसकी प्रतीति तो सबको होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु साधारण मनुष्य ऐसा कर नहीं पाता । उपनिषद् में बताया गया है—"मुझे कोई भी नहीं देख पाता" । तन्त्रान्तर में बताया गया है—

---

१. 'अपि' नास्ति—ख. ने. झ. उ. । २. वाभ्यन्तरेऽपि च—ख. ने. ज. झ. उ. । ३. यत्र यत्राक्ष—मु. । ४. कथं तथा—क. ग. झ. । ५. कथञ्चिन्न विचिन्तयेत्—ख. ने. च. छ. ज. ।

प्रत्यक्षगोचरं देवं लोकं [1]चाब्धिप्रमाथिनम् ।
दृष्ट्वा [2]श्रुतिशिरः सान्द्रमनुक्रोशति दुःखितः ॥

इति तन्त्रान्तरोक्तरीत्या दृश्यमानमप्युपदेशहीना न पश्यन्ति । "निष्कलत्वं शिवे बुद्ध्वा" (१।५०) इति निष्कलपरशिवतादात्म्यापरोक्षानुभवशाली गुरुकटाक्षवीक्षणात् त्रुटित[3]समस्त[4]पाशजालः परिस्फुरत्परमशिवाहन्ताविज्ञान इदं [5]कथं न चिन्तयेत्, सर्वत्र समभावं कथं न पश्येदित्यर्थः ॥२०४॥

शिवेनाम्ब[6] ! रहस्यत्वादविस्पष्टतयोदितम् ।
त्वद्रूपं नाथवचनाद् विवृतं [7]नो क्षमस्व तत् ॥

इति श्रीमत्परमयोगीन्द्रपुण्यानन्दशिष्यामृतानन्दयोगिप्रवरविरचितायां
योगिनीहृदयदीपिकायां पूजासंकेतस्तृतीयः ॥
॥ स मा प्त श्चा यं ग्र न्थः ॥

भगवान् तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं, किन्तु अज्ञ जन उनको देख नहीं पाते । मनुष्य समुद्र को मथ डालता है, समस्त वेदान्तशास्त्र को पढ़ डालता है, तब भी उसके स्वरूप को जान नहीं पाता और लाचार होकर दुःखसागर में पड़ा विलाप करता रहता है[1]॥

इस तरह से परम तत्त्व का स्वरूप सबके सामने है, किन्तु जिनको गुरु का उपदेश नहीं प्राप्त हुआ है, उनको यह दिखाई नहीं पड़ता । शिव में, गुरु में और अपने में भी निष्कल शिवरूपता के दर्शन की चर्चा पहले (१।५०) आ चुकी है । तदनुसार निष्कल परमशिव के साथ तादात्म्य की प्रत्यक्ष अनुभूति जिसको होने लगी है, गुरु की कृपादृष्टि के पड़ने से जिसके सारे पाशजाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं और जिसकी 'परमशिव मैं ही हूँ' ऐसी प्रत्यभिज्ञा जाग उठी है, वह साधक अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिये प्रयत्न क्यों न करे, अर्थात् सर्वत्र समभाव का दर्शन क्यों न करे ? इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे साधक में अवश्य ही समतादृष्टि जाग उठेगी ॥२०४॥

---

१. चाधि—क. ग., चाति—ख. ने. ज. । २. स्मृति—क. ग. उ. । ३. 'समस्त' नास्ति—ख. ने. ज. झ. उ. । ४. माया—ने. ज. झ., प्रमा—उ. । ५. कथञ्चिन्न विचिन्तयेत्—ख. ने. ज. उ. । ६. नातिर—ख. ने. ज. उ. । ७. मोक्षमच्युतम्—ख. ने. ज. उ. ।

१. भट्ट गंगाधर के स्तोत्र तथा क्षेमेन्द्र के गीतानिष्यन्द के नाम से इस तरह के श्लोक उद्धृत मिलते हैं । इन ग्रन्थों की उपलब्धि के अभाव में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये श्लोक वहीं के हैं ।

ओ मा ! शिव ने रहस्य से परिपूर्ण तुम्हारे स्वरूप का उपदेश यहाँ रहस्यमयी अस्पष्ट भाषा में ही किया था। अपने गुरु की आज्ञा मिलने पर मैंने यहाँ उसकी स्पष्ट व्याख्या कर दी है, इसके लिये मुझे आप क्षमा करें ॥

इस तरह से श्रीमत्परमयोगीन्द्र पुण्यानन्द के शिष्य अमृता-
नन्द योगिप्रवर विरचित योगिनीहृदयदीपिका
का यह तीसरा पूजासंकेत प्रकरण
पूरा हुआ ॥ ३ ॥

॥ यह ग्रन्थ भी यहाँ समाप्त होता है ॥

परापञ्चाशिका

आद्यनाथविरचिता

[[1]सर्वसंविन्नदीभेदभिन्नविश्रान्तिभूमये ।
नमः प्रमातृवपुषे शिवचैतन्यसिन्धवे ॥]
अकृत्रिमाहमा[2]मर्शप्रकाशैकघनः शिवः ।
शक्त्या विमर्शवपुषा स्वात्मनोऽनन्यरूपया ॥१॥
शिवादिक्षितिपर्यन्तं विश्वं वपुरुदञ्चयन् ।
पञ्चकृत्यमहानाट्यरसिकः क्रीडति प्रभुः ॥२॥
न[3] पार्थ्यगा(र्थक्या)त्मवार्ताऽपि विश्वशक्तिशरीरयोः ।
न[4] विश्वविश्ववपुषोर्भिन्नता कापि तात्त्विकी ॥३॥
भेदे[5] सत्तास्फुरत्ताभ्यां भिन्नं किं नु[6] जगद् भवेत् ।
[7]सत्तास्फुरत्तासम्बन्धात् सत्ताभानं तु[8] तत्र[9] चेत् ॥४॥
असतः किं सतस्ताभ्यां सम्बन्धः सोऽयमिष्यते ।
स्वरूपलाभसुलभः सम्बन्धो नह्यवस्तुनः ॥५॥
[10]न लब्धरूपसम्बन्धस्ताभ्यां [11]किञ्चिदपेक्षते[12] ।
अपेक्षायामवस्थानं न स्यादेतस्य किञ्चन ॥६॥
स्वभावतः स्फुरत्ता च सत्ता च न विनाशिनी[13] ।
विनाशानभ्युपगमे[14] जडताऽपि[15] निवर्तते ॥७॥
ततो गत्यन्तराभावाच्चिदेव परिशिष्यते ।
[16]ततश्चिदैक्यं प्रकृतं [17]जगतो न निवर्तते ॥८॥
प्रकाशा[18]दन्यताभासः स्वात[19]न्त्र्योल्लासकेवलः ।
परिच्छिनत्ति[20] कः शक्तिं शम्भोर्विश्वातिशायिनः ॥९॥

---

१. यो. हृ. दी. (३।४१) परापञ्चाशिकावचनत्वेनोद्धृतः श्लोकोऽयं कस्यामपि मातृकायां न दृश्यते। २. मर्षः–म.। ३. पृथगर्थमर्थवत्ता विश्वविश्वश–मु. ल., नास्ति पङ्क्तिः–स. अक.। ४. नाविश्व–स. अक.। ५. भेद–स. अक. घ.। ६. किन्तु–मु.। ७. नास्ति पङ्क्तिः–अघ.। ८. च–मु. अग. घ.। ९. तन्न–मु.। १०. नालब्धरूपः–स. अक., रूपसंब्रन्धे–मु. ल.। ११. कच्चि–अघ.। १२. क्ष्यते–मु. ल.। १३. शिवम्–स. अक. ख. ग., शिनः–म.। १४. मात्–स. अक. घ.। १५. न–स., च–अघ., विनि–अक.। १६. सतः–मु., सतः शिवै–स., अतः शिवै–अक.। १७. जडतो न–स. म. अख. ग. घ., कदाचिन्न–मु.। १८. शोऽनन्यतो भावः–मु., शादन्यदाभासः–अक.। १९. न्त्र्यादस्ति–स. अक.। २० न्नात्मिका शक्तिः–मु., न्नकलां–अख. ग.।

[1]स्वप्रकाशात्मकं [2]सर्वं [3]तमःकेवलतां गतम् ।
यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्[4] प्रकाशान्नाति[5]रिच्यते ॥१०॥
विमर्शसरणीं[6] प्राप्तमित्येषा तात्त्विकी [7]गतिः ।
अवधा[8]नैकतानानां मतिरेवात्र साक्षिणी ॥१२॥
किं [9]प्रमाणैर्वराकैस्तैश्चिदनुप्राणितात्मभिः ।
नहि वैकर्तनं ज्योतिर्दीपालोकमपेक्षते ॥१२॥
[10] शक्तिपातपवित्रे[11]ऽस्मिन् धीतत्त्वे[12] च परीक्ष्यताम् ।
आदर्शे[13] विमलाभोगे[14] ननु[15] सर्वं प्रकाशते ॥१३॥
इत्थं चिदात्मकं [16]सर्वं षट्त्रिंशद्[17]भेदमुद्रितम् ।
आदौ [18]शुद्धात्मकं [19]तत्त्वं पञ्चधा [20]तमसः परम् ॥१४॥
शिवः शक्तिश्च सादाख्यमीशो विद्येति भिद्यते[21] ।
[22]अक्षादिशान्तवर्णात्मा निर[23]णायि शिवेन तु[24] ॥१५॥
कलाविद्ये[25] रागकालौ[26] नियतिर्बन्ध उच्यते ।
मायापूर्वो[27] वकारादि[28]यकारान्ता[29]क्षरात्मकः ॥१६॥
पुमान् शक्तिर्मनो बुद्धिरहङ्[30]क्नमादिपञ्चकम् ।
श्रोत्रादिपञ्चकं [31]नादि [32]णादि वागादिपञ्चकम् ॥१७॥
तन्मात्रपञ्चकं [33]ञादि [34]ङादि व्योमादिपञ्चकम् ।
सिसृक्षोः प्रथम[35]स्पन्दः शिवतत्त्वं [36]प्रभोः स्मृतम् ॥१८॥

१. यत्–मु. अख. ग. घ. म. । २. विश्वं–अघ. । ३. तत्त्वं–अख. ग. घ. म. । ४. देतत्–मु., न्नैतत्–अख. ग. घ. म., च्चैतत्–ल. । ५. दति–मु. म. । ६. सरणि–स. अक. ख. ग. । ७. मतिः–मु. अघ. । ८. भासैक–मु., स्थानैक–स. अक. । ९. वराकैः प्रमाणैस्तै–अख. ग. म. । १०. नास्ति पङ्क्तिः–स. अक. । ११. त्रेषु–अख. ग. म, श्रायां धिया तत्त्वं परीक्षते–अघ. । १२. तत्त्वं सम्प–अख. ग. म. । १३. आदर्श–मु. अघ. । १४. लादर्शे–स. अक. । १५. न तु–मु. ल. अक. । १६. विश्वं–स. अक. घ. । १७. त्तत्त्वमु–स. अक., त्तत्त्वभेदितम्–अख. ग. म., न्द्भेदतत्त्वतः–मु. । १८. चिदा–अख. ग. म. । १९. चक्रं–अख. ग. म. । २०. तु ततः–अख. ग. म. । २१. कथ्यते–स. अक. । २२. हला–स. अक., शक्त्या–अख. ग. घ. म. । २३. मायि–मु. अघ. । २४. तत्–स. अक. ख. ग. म. । २५. विद्या–मु. अख. ग. म. । २६. कालाः–ल. म., काल–मु. । २७. पूर्णो–ल । २८. क्षका–मु. । २९. त्मकः पुमान्–स. अक., क्षरात्मिका शक्तिः–अख. ग. म. । ३०. कारादि–मु. अख. ग. । ३१. तादि–मु. । ३२. टादि–मु. । ३३. चादि–मु. । ३४. कादि–मु. । ३५. प्रथमः–स. । ३६. विभोः–मु. अघ. ।

इच्छैवाऽस्य[1] परिम्लाना शक्तितत्त्वमिति[2] स्मृतम् ।
स्वेच्छया [3]रचितं विश्वमाच्छाद्याऽहन्तया स्थितम् ॥१९॥
तदेव तत्त्वं सादाख्यं [4]सर्वानुग्रहणो[5]न्मुखम् ।
तदेवेश्वरतत्त्वं स्यात् पश्यद् विश्वमिद[6]न्तया ॥२०॥
[7]अहन्तेदन्तयोरैक्यमति[8]र्विद्या निगद्यते ।
स्वाङ्गकल्पेषु[9] भावेषु मायातत्त्वं विभेदधीः ॥२१॥
मायागृहीतसंकोचः[10] शिवः पुंस्तत्त्वमुच्यते ।
अयमेव हि संसारी [11]जीवो [12]भोक्तेति [13]गद्यते ॥२२॥
ज्ञत्व-[14]कर्तृत्व-पूर्णत्व-नित्यत्वाद्याश्च शक्तयः ।
तत्संकोचात् संकुचिताः[15] कलाद्या[16]त्मतया मताः[17] ॥२३॥
मायात्मनः[18] कला[19]नाम किञ्चित्कर्तृत्व[20]कारणम् ।
विद्या किञ्चिज्ज्ञताहेतू रागोऽभिष्वङ्गकारणम् ॥२४॥
कालः परिच्छेद[21]करो नियतिश्चेदमेव मे[22] ।
कर्तव्यं[23] नान्यदित्येषा[24] व्यवस्था [25]यन्त्रणाकृतिः ॥२५॥
प्रकृतिर्गुणसाम्यं स्यादहङ्कारादिजन्मभूः ।
अहं ममेद[26]मित्येतद्बुद्धिहेतु[27]रहङ्कृतिः ॥२६॥
बुद्धिरध्यवसायस्य कारणं निश्चयात्मनः[28] ।
संकल्पस्य विकल्पस्य [29]बीजं मन [30]उदीर्यते ॥२७॥
वचनादेश्च[31] शब्दादेर्वागादिश्रवणादि[32]कम् ।
कारणं श्रवणादीनां ग्राह्यं तन्मात्रपञ्चकम् ॥२८॥

१. इच्छैव सा–मु., इच्छा चास्य–अघ. । २. मुदञ्चयन्–मु., मुदङ्कुरा–स. अक. ख. ग. म., तत्त्वं चिदङ्कुरम्–अघ. । ३. सूचितं–मु. अघ. म., यास्य चितं–अख. ग. । ४. विश्वा-अक., सर्वनिग्र–म. ! ५. णोद्यतम्–मु. । ६. महन्तया–अख. ग. घ. म. । ७. इदन्ताहन्तयोः-मु. स. अक. । ८. मिति–मु., मतिर्विद्येति ग–अक. । ९. रूपेषु –स. अक. ख. ग. म., भूतेषु–अघ. । १०. संकल्पः–ल. । ११. भव्यो–स. अक । १२. भोक्तैव-मु. म., भोक्तेव–ल. अग. स. । १३. दृश्यते–मु. अग. । १४. पूर्णत्व-कर्तृत्व–स. अक. । १५. चितः-मु. अघ. । १६. द्याश्च–अख. ग. घ., ला स्वात्म–म. । १७. मतः-मु., स्थितः–अघ. । १८. त्मकं–मु., त्मना–अघ. । १९. ज्ञेया–अख. ग. म. । २०. लक्षणा–अघ. । २१. च्छित्ति–स., च्छिन्नकलो–अख. ग., च्छिन्न–म. । २२. हि–स. अक. । २३. क्या–अघ. । २४. दित्यङ्ग–स. । २५. मन्त्र–अक. । २६. ममैतदि–स. अक. । २७. रेषा ह्यह–स. अक. । २८. त्मिका–स. अक. । २९. स्थानं–अक. । ३०. इती–स. अक., उदीरितं–अख. ग. म. । ३१. द्यैश्च–स. अक. । ३२. त्मकम्–स. अक. ।

[1]प्रकाशाद्यवकाशादिकारणं भूतपञ्चकम् ।
[2]परापराशक्तिमयं[3] शुद्धविद्यादिपञ्चकम् ॥२९॥

तदन्यदपरा शक्तिरित्येतत् तत्त्वमीरितम् ।
[4]इयं देवी परा शक्तिः [5]शुद्धाशुद्धाध्वगर्भिणी ॥३०॥

पृथिव्यादीनि [6]तत्त्वानि [7]यदा लीनानि कारणे ।
तदा कारणमात्राणि[8] [9]बहिरुद्वमते[10] विभुः ॥३१॥

अनुत्तरेच्छे उन्मेष आनन्देशनमूनता ।
क्रियेच्छाज्ञानशक्तीनां सत्ता चोच्छूनता च षट्[11] ॥३२॥

इच्छेशानान्तरारूढाः स्फुटास्फुटजगन्मयाः ।
चत्वारः परतो वर्णाः षण्ढात्मानः प्रचोदिताः ॥३३॥

अनुत्तरानन्दचिती[12] इच्छाशक्ति[13]नियोजिते ।
त्रिकोणमथ षट्कोणमिच्छायां[14] रूढिमागते ॥३४॥

अनुत्तरानन्दशक्ति[15]त्रिकोणद्वित्वयोगतः ।
[16]तथैवोन्मेषयोगेन क्रियाशक्तेः[17] स्फुटं वपुः ॥३५॥

उक्त[18]त्रिशक्तिसंघट्ट[19]त्रिशूलं द्वैत[20]घस्मरम् ।
परस्परा[21]विरोधेन कार्येषु [22]प्रसरे गते[23] ॥३६॥

न[24] कथञ्चिदुपादेयमासां रूपमिदं भवेत् ।
बिन्दुर्वह्नयस्य संस्कारो विमर्शः सर्ग इत्यसौ ॥३७॥

कलाषोडशकाकारा शक्तिर्विजयते [25]परा ।
तिथयः प्रतिपत्पूर्वाः पञ्च[26]दश्यन्तिमा यथा ॥३८॥

---

१. आका–मु. अख. ग. घ. म. । २. परस्पराश्रयमयं–अक. घ., परम्परा–अख. ग. म., परस्पर–स. । ३. मये शुद्धे–मु. । ४. अथ–स. अक. ख. ग. घ. म. । ५. श्रद्धा-श्रद्धादि–स. अक., शुद्धाशुद्धत्व–अख. ग. घ. म. । ६. भूतानि–अघ. । ७. सदा–स. अक. । ८. रूपाणि–स. अक. । ९. पुनरुद्वमते बहिः–अख. ग. म. । १०. तेऽत्र हि–स. अक., ते हि सा–अघ. । ११. इतः परं मुद्रिते पुस्तके एक एव श्लोको वारद्वयं पठितः, द्वितीयश्च श्लोकस्तत्र न दृश्यते । १२. शक्ती–अख. ग. घ. म. । १३. क्तौ नियोजयेत्–अख. ग. म. । १४. या रूपमागतम्–स. अक. । १५. स्त्रिकोणाद् वृत्ति–मु. ल. । १६. एतेषून्मेषयोगेन–अघ., ते एवो–ल. । १७. शक्ति–स. अक. घ. म. । १८. उक्तं–मु. । १९. ट्टात्–मु. । २०. विश्व–अख. म. । २१. स्परविरोधे तु–मु. स्परविरोधेन–म. । २२. प्रविरोहति–मु. । २३. हते–अख. ग. म. । २४. न केनचि–स. अक., न कैश्चिदुपाद्यं तदासां–अख. ग. म. । २५. सदा–अख. ग. । २६. दशेति मायया–मु., दश्यन्तिमा–अख. ग. ल. म., दश्यन्तिका–अघ. ।

सूर्याचन्द्रमसो[1]रन्तश्चरन्ति[2] स्थितिहेतवः ।
[3]तथा विमर्शवपुषः सर्गस्याद्याः[4] कलाः स्मृताः ॥३९॥

द्विधेयं[5] मातृका देवी बीजयोन्यात्मना स्थिता ।
नित्यप्रवृत्ता[6] शृङ्गाटवपु[7]र्विश्वस्य जन्मभूः ॥४०॥

हृदयं बीजमेतस्यां[8] सारं[9] यत्तत्परं[10] महः ।
वटबीजे यथा वृक्षस्तथात्र[11] निहितं जगत् ॥४१॥

विचार्यमाणे[12] नैवेदं कारणादतिरिच्यते ।
मृदादेः[13] कलशादीनां तत्त्वं नान्यन्निरूपणे[14] ॥४२॥

इत्याहुस्तत्त्ववादिन्यः श्रुतीनामन्तिमा गिरः ।
[15]इह सर्वं सदेवाग्र आसीदिति विनिश्चयात् ॥४३॥

सत्तावाचिनि बीजेऽस्मिन् [16]भाति मायान्तिमं जगत् ।
[17]विलुप्तप्रत्ययाकार[18]मेवैतत् परिशिष्यते ॥४४॥

ततो ज्ञानक्रियासारा[19] विद्येश्वरसदाशिवाः ।
शक्तिशूले[20] विलीयन्ते[21] चतुर्दशकलात्मनि ॥४५॥

ऊर्ध्वाधः सृष्टिवपुषि सर्वं लीनमतः परम् ।
इत्थं परस्यां संवित्तौ सर्वं संकुचितं क्रमात् ॥४६॥

अथ वाङ्मनसातीते यत्र क्वापि निरञ्जने ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वलहरीकलहातीतगोचरे ॥
विश्वात्मनि महा[22]मन्त्रस्वभावे[23] सा विलीयते ॥४७॥

---

१. मसो स्वान्तश्चरन्तौ स्थितिहेतवे–मु., मसोश्चोक्ताश्चरन्ति तिथिहेतवः–स. अक. घ. । २. श्चरन्तः–म. । ३. यथा–मु. ल. । ४. स्यादौ–ल., स्यादिकला स्मृता–स अक., सर्गः स्यात् कुलशास्त्रतः–अख. ग. म. । ५. धेत्थं–अख. ग. म. । ६. प्रवृत्त–मु. स. अक., प्रवृत्ति–अघ. । ७. वपुषश्चास्य जन्मनि–अख. ग. म. । ८. मेतस्य–अघ. म. । ९. सारमेतत्–अक., सारं यत्परमं–अघ. । १०. परापरम्–अख. ग. म. । ११. तथास्मिन्–स. अक., तथा संनिहितं–अख. ग. घ. म. । १२. माणं–अक. ख. ग. ल. म., माणमेवेदं कारणान्नातिरिच्यते–अघ. । १३. मृदादि–स. अक. । १४. पणैः–अख. ग. म. । १५. इदं सर्वं सदेवासीदग्रे इ–मु., सदेव सोम्येदमग्र–स. अक. । १६. सादि–अक. ल., मातृ–म. । १७. अलुप्त–स. अक., विशद–अख. म. । १८. मेतत् स–मु., रं परैश्च–अघ., रवृत्तं न–म. । १९. धारा–अख. ग. म. । २०. त्रिशूले ली–मु. म., स्थूले वि–अक. । २१. लिम्पन्ते–अख. ग. । २२. मन्त्रे–मु. स., तन्त्रे–ल. । २३. स्वरूपोऽस्य–अघ. ।

[[1]शुद्धविद्यादिकं सर्वं सादाख्ये[2] पक्षसंग्रहात् ॥
मध्यशक्तिपरामर्शा इति वापि लयक्रमः ।
[3]अन्यः पक्षोऽपि यः कश्चित् प्रमाणं चेन्न[4] बाधते ॥]
[5]कुतश्चिन्मथिते धाम्नि [6]दीप्ते केनापि हेतुना ।
[7]सर्वं हविरिदं जुह्वन्न दारिद्र्येण पीड्यते ॥४८॥
पञ्चपञ्चात्मकं विश्वं पञ्चस्पन्दविजृम्भितम् ।
संकोचयन् परामर्शात्[8] सामान्यस्पन्दकेवलः[9] ॥४९॥
अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः ।
पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वभाव[10]मशिवापहम् ॥५०॥
[11]इति षडधिकत्रिंशद्भेद[12]प्रसक्तजगत्तनुः
प्रसरति [13]महाशक्त्युल्लेखविचित्रमहापटी ।
जयति बहुशः स्पन्दाकारा[14] परा चिदनुत्तरा
विमृशत जनाः किं[15] नो भूयः स्वभावविजृम्भितम् ॥ ५१ ॥
इति श्री[16]मदाद्यनाथविरचिता अनुत्तरप्रकाशपञ्चाशिका
समाप्ता ॥

•

१. पङ्क्तित्रयमधिकम्–स. अक. घ. । २. ख्यं–अघ. । ३. इतः पूर्वम्–'अन्ते शक्तिपरामर्शा इति वाग्विलयक्रमः' इत्यधिकं–अघ. । ४. नैव–अघ. । ५. कुत्रचिन्–अघ. म. । ६. कृत्ये–स., क्लृप्ते–अक. । ७. विश्वं–अख. ग म. । ८. र्शन्–स., र्शी–अक., मर्शो–अघ. । ९. लम्–मु. म. । १०. मशुभाव(प)हम्–अघ. । ११. श्लोक एष नास्ति–स. अक. । १२. प्रवृत्त–अख. ग. म., भेदाप्र–ल. । १३. निजा शक्तिः पर्यायचित्रम–अख. ग. घ. म. । १४. रां परां–अख. ग. । १५. किं तद् यत्नः स्वरूप–अख. ग., किं भयं नः–ल., किं तदुत्तरस्वरूप–म. । १६. श्रीआदिनाथविरचितेऽनुत्तरप्रकाशे रुद्रयामलान्तर्गते श्रीपरापञ्चाशिका सम्पूर्णा–ल. ।

योगिनीहृदयश्लोकार्धानुक्रमणी

●

परापञ्चाशिकाश्लोकार्धानुक्रमणी

मूले दीपिकायां च स्मृता ग्रन्थग्रन्थकाराः

संकेतपरिचयः

अ. को.	अमरकोशः	ज्ञा. वि.	ज्ञानदीपविमर्शिनी
अ. व.	अभियुक्तवचनम्	त. धा.	तन्त्रवटधानिका
अमृ.	अमृतानन्दः	तन्त्रा.	तन्त्रान्तरम्
अ. स्त.	अम्बास्तवः	त. वि.	तत्त्वविमर्शिनी
अ. हृ. सू.	अष्टाङ्गहृदयसूत्रस्थानम्	तै. आ.	तैत्तिरीयारण्यकम्
आज्ञा.	आज्ञावतारः	तै. उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्
इ. उ.	इतिहासोपनिषत्	त्रि. म. ना.	त्रिपाद्विभूतिमहानारो-यणोपनिषत्
उ. त.	उद्धारोर्ध्वतन्त्रम्		
उ. नि.	उपनिषत्	द. रू.	दशरूपकम्
उ. प.	उदयाकरपद्धतिः	धा.	धातुपाठः
उ. ष.	उत्तरषट्कम्	न. श.	नवशतीशास्त्रम्
ऋ.	ऋग्वेदः	नि.	निघण्टुः
ऐ. आ.	ऐतरेयारण्यकम्	नि. षो.	नित्याषोडशिकार्णवः
ऐ. उ.	ऐतरेयोपनिषत्	न्या. भा.	न्यायसूत्रभाष्यम्
क. उ.	कठोपनिषत्	प.	पद्धतिः
का. प्र.	काव्यप्रकाशः	प. क्र.	पराक्रमः
का. वि.	कामकलाविलासः	प. त्रिं	परात्रिंशिका
कु. का.	कुसुमाञ्जलिकारिका	प. प.	परापञ्चाशिका
कु. त.	कुलार्णवतन्त्रम्	प्र. सा.	प्रपञ्चसारः
कु. सं.	कुमारसंभवकाव्यम्	प्र. हृ.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
कै. उ.	कैवल्योपनिषत्	प्र. व.	प्रमाणवचनम्
क्रमो.	क्रमोदयः	प्रा. व.	प्रामाणिकवचनम्
क्र. प.	क्रमोदयपद्धतिः	बृ. उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
ग. मि.	गङ्गाधरमिश्रः	ब्र. बि. उ.	ब्रह्मबिन्दूपनिषत्
ग. स्तो.	गङ्गाधरस्तोत्रम्	ब्र. सि.	ब्रह्मसिद्धिः
ग्रन्था.	ग्रन्थान्तरम्	भ. गी.	भगवद्गीता
चि. च.	चिद्गगनचन्द्रिका	म. ना.	महानारायणोपनिषत्
चि. स्त.	चिद्विलासस्तवः	म. स्व. सं.	महास्वच्छन्दसंग्रहः
छा. उ.	छान्दोग्योपनिषत्	मु. उ.	मुण्डकोपनिषत्
ज्ञा. का.	ज्ञानकारिका	मु. क्र.	मुख्याम्नायक्रमः

मु. र.	मुख्याम्नायरहस्यविधिः	सु.	सुभगोदयः
यो. सू.	योगसूत्रम्	सु. वा.	सुभगोदयवासना
रघु.	रघुवंशकाव्यम्	सौ. सु.	सौभाग्यसुधोदयः
ल. स्त.	लघुस्तुतिः	सौ. हृ.	सौभाग्यहृदयस्तोत्रम्
वि. भै.	विज्ञानभैरवभट्टारकः	स्तो.	स्तोत्रावली
शा. ति.	शारदातिलकम्	स्मृ.	स्मृतिः
शै. त.	शैवतन्त्रम्	स्व. भै.	स्वच्छन्दभैरवागमः
श्वे. उ.	श्वेताश्वतरोपनिषत्	स्व. सं.	स्वच्छन्दसंग्रहः
सं. प.	संकेतपद्धतिः	हं. पा.	हंसपारमेश्वरम्

दीपिकोद्धृतवचनानुक्रमणी

१. रसासृङ्–मु. ।

न तु ध्यानं शरीरस्य २२९ वि. भै. १४३
न पूजा बाह्यपुष्पादि २२० सं. प.
न बुद्धिभेदं जन १० भ. गी. ३.२६
नमः प्रमातृवपुषे ३३३ प. प.
न मां पश्यति ३९२ उ. नि.
नयित्वा तं सुषुम्नाधः ५८ स्व. सं.
नलिनीपत्रसंहत्यां ५१ प्र. सा. १.२९
नवकोणमध्य २७ का. वि. २९
नवचक्रक्रमो योऽसौ ३०८ सं. प.
नवनादवर्गरूपा १२३ सौ. सु. २.२०
नवयोनिं समालिख्य २८९ स्व. सं.
नहि वैकर्तनं ज्योति २०५ प. प. १२
नाड्यां ब्रह्मबिले लीन ४६,१७० स्व. सं.
नाड्याधारस्तु नादो १६९ स्व. सं.
नात्र कालकलामानं ४९,२०८,३७३ स्व. सं.
नादनाडीसमायोगा ३७१ शै. त.
नादनादान्तसंज्ञे च ३७२ शै. त.
नाभिस्त्र्यर्धाङ्गुलोपरि ३९ स्व. सं.
निक्षिपाम्यर्चनद्वारा २२३ सु. वा. ३७
नित्यं तस्य निरङ्कुश १४६ सौ. सु. १.३२
नित्यं विषयसंसक्तो १६३ स्व. सं.
नित्यं संपूजयेद् देवीं ३७९ स्व. सं.
नित्यपरिपूर्णतृप्तिः १४७ सौ. सु. १.३७
नित्यक्लिन्नापि च तथा ३०८,३५६ नि. षो. १.२६
नित्या नीलपताका च ३०८, ३५६ नि. षो. १.२७
नित्यार्चनायां लुप्तायां २१५ स्व. सं.
नियतपरिच्छेदकरी १४७ सौ. सु. १.३८
निरीक्ष्यैतादृशाद्वैत १७७
निरोधिकाकलाः पञ्च ४४ स्व. सं
निरोधिकेति सा ४४ स्व. सं.
निर्द्वन्द्वं परमं तत्त्वं ५१, १७५, २०८ स्व. सं.
निर्लक्षणं निर्गुणं च २०२ नि. षो. ४.१५
निवसन् स एव १४६ सौ. सु. १.३०
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च ४३ स्व. सं.
निवेद्य मस्तकस्थाय २९४ प. क्र.
निष्कलाः परमेशानि ३८ स्व. सं.
नीलतोदयमध्यस्था २०० तै० आ. १०.११.१२
नीलपीतत्वशुक्लत्व १५६ म. स्व. सं.
नीवारशूकवत् तन्वी २०० तै. आ. १०.११.१२
नैर्ऋताम्बुदिशोर्मध्ये २६६ त. वि.
पङ्कजद्वयमीशानि ३५ स्व. सं.
पङ्कजं शाकिनीमध्यं ३९ स्व. सं.
पञ्चबिन्दुमयं भेदं ८० अ. व.
पञ्चमी स्यादुमा देवी २३८ स्व. सं.
पञ्चरूपिणमात्मानं ३०६ अ. व.
पञ्चवक्त्रधराः ४३ स्व. सं.
पञ्चवक्त्रा त्रिनेत्रा ४८,३०४ स्व सं.
पञ्चवक्त्रो दशभुज ३०४ स्व. सं
पञ्चवक्त्रो दशभुजो ४३ स्व. सं.
पञ्चव्योमतनुर्भवेत् ३६४ वि. भै. ३२
पञ्च ह्रस्वाः सन्धिवर्णा ३२९-३३० शा. ति. ७.२
पद्मकिञ्जलकसंकाशः ४५ स्व. सं.
पद्ममध्ये समासीनः ४६ स्व. सं.
पद्ममष्टदलैर्युक्त ३६ स्व. सं.
परधाम बाणलिङ्गं ६१ सौ. सु. ५.४

परशिवरविकर २०,१८२ का. वि. ४
परसादाख्यसंप्राप्तिः ४४ स्व. सं.
पराक्रमपरो भुङ्क्ते ८२,१००,३७८ प. प. ५०
परानन्दस्वरूपं १७२ स्व. भै.
परापरविभागेन ३०५ स्व. सं.
परास्य शक्ति १६,१२८ श्वे. उ. ६.८
परिवार्य स्थिताश्चैताः ४३ स्व. सं.
पवर्गेण पुनः कुम्भो २४० अमृ.
पशवस्त्रिप्रकारास्तु १८१ स्व. सं.
पशवस्त्रिप्रकाराः स्युः १६३ स्व. सं.
पशुभिः क्षुद्रकर्मस्थैः ३७८
पश्चिमोत्तरपौरस्त्य ३४९ नि. षो. १.१७९
पस्पन्दे स स्पन्दः १४६ सौ. सु. १.२८
पातालादिषु लोकेषु २७८ सु. वा. २३
पात्रे त्वासवमापूर्य २९० स्व. सं.
पार्थिवं पङ्कजं ह्येतत् ३७,३२९ स्व. सं.
पिण्डरूपस्य मन्त्रस्य ५२ वि. भै. ४२
पिण्डं कुण्डलिनी ५९ स्व. सं.
पिण्डे मुक्ता पदे मुक्ता ३२२ ज्ञा. का. १.४
पिण्डो वाचकविस्तरस्य १५२,३६० अ. व.
पिनाकिनं च खड्गीशं २९१ स्व. सं.
पुनरज्व्यञ्जनबिन्दु १२४ सौ. सु. २.२४
पुनरेव कामपीठे ६१ सौ. सु. ५.६
पुरुष एवेदं सर्वं १६७ ऋ. १०.९०.२
पुरुषादिकमायान्तं १६९ स्व. सं.
पुरैः परिवृतोऽसंख्यै ४५ स्व. सं.
पुर्यंष्टकशरीराश्च १६४ स्व. सं.
पूर्णपीठं च तन्मध्ये ३८ स्व. सं.
पूर्णाभिषेककर्ता ९ कु. त. १३.१२९
पूर्वाद्युत्तरपर्यन्तं ३०४ स्व. सं.
पृथिवीतत्त्वमाख्यातं १५७ म. स्व. सं.
पृथिवीमण्डलं पीतं १७९ स्व. सं.
पृथ्व्यादिव्योमतत्त्वा १५७ म. स्व. सं.
प्रकाशैकघने धाम्नि २२३ सु. वा. ३७
प्रतिकिञ्जलकसंस्थाभिः ३६ स्व. सं.
प्रतिफलितं तज्ज्योतिः ६१ सौ. सु. ५.६
प्रतिफलितं पर ६१ सौ. सु. ४.१
प्रतिभायाः परोल्लासो ३०१ सं. प.
प्रतिरुचिरुचिरे २०,१८२ का. वि. ४
प्रत्यक्षगोचरं देवं ३९३ तन्त्रा.
प्रत्यङ्मुखेन मनसा २२७ अ. स्त. १९
प्रत्ययैकतानता २२८,३०० यो. सू. ३.२
प्रत्येकमंशभेदेन ९३ सं. प.
प्रदानैस्तर्पणैः सम्यग् २९७,३७७ सु. वा. ३९
प्रमातृमेयप्रमिति २७२ स्व. सं.
प्रयत्नस्तदवाप्तौ ११२ द. रू. १.२०
प्रलयाकलनामान १६३ स्व. सं.
प्रवहच्छ्वासहस्तेन २८६ प. क्र.
प्रविष्टेऽन्तः सीधुरसे २९९ क्रमो.
प्रशान्तं तद्विजानीयात् ३७२ शै. त.
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यै ४ स्व. त. ८.३१
प्रसुप्तभुजगाकारा ५८ स्व सं.
प्रसृतामृतरश्म्यौघ २९२ सौ. हृ.७
प्राप्नोति सात्त्विका १८८ स्व. सं.
प्रामाण्यप्रवणत्रिशक्ति २९८ अ. व.
प्रोक्ता वह्निकलामन्त्रा २८७ स्व. सं.
फट्कारीं दशपत्रेषु २३९ स्व. सं.
बन्दिनीं भद्रकालीं च २३९ स्व. सं.
बलिः पूजोपहारेऽपि २७६ नि.
बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः ९९ रघु. १०.२६

1. टिप्पणी ६९ पृष्ठस्था द्रष्टव्या ।

विज्ञानभैरव (अनु० व्रजवल्लभ द्विवेदी)

से मुक्त होने के लिए भारतीय दर्शनशास्त्र में जो उपाय कहे गये है
उपायों का विशेष महत्त्व है। यौगिक उपाय कई प्रकार के हैं, जैसे
योग, भक्तियोग, क्रियायोग आदि। प्रस्तुत शास्त्र विज्ञानभैरव सहज
म कृति है। इसमें ११२ धारणाओं का वर्णन किया गया है। इनमें
वर्ती यौगिक पद्धतियों का उल्लेख समाविष्ट है। अपनी विश्वाहन्ता
र आत्मा-परमात्मा की अद्वैतता का प्रतिष्ठापन करनेवाली यह कृति
ए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी।

 और उनके हिन्दी अनुवाद के साथ पचास पृष्ठों की भूमिका,
ी और शब्दानुक्रमणी भी जोड़ दी गई हैं।

मूल्य : (अजिल्द) रु० ४०; (सजिल्द) रु० ५५

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (अनु० जयदेवसिंह)

सार का प्राचीन धर्म है। इस धर्म की तीन विधाएं हैं : (१) कर्णाटक
(२) तमिलनाडु का शैवसिद्धान्त, (३) कश्मीर का अद्वैत शैवधर्म।
शैवधर्म को तीन शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है : (१)
(२) स्पन्दशास्त्र, (३) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र। प्रस्तुत कृति का विषय है
समें शैव सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की गई है।

भिज्ञासूत्रों का तथा उनपर संस्कृत भाष्य का हिन्दी में अनुवाद
किया गया है। साथ ही विस्तृत उपोद्घात, सार, टिप्पणियां, कोश
णियां समाविष्ट हैं। शिवयोग की साधना के लिए यह ग्रन्थ अतीव

मूल्य: रु० २०

श्री श्री परात्रिंशिका (अनु० नीलकण्ठ गुरुटू)

का' काश्मीर शैवदर्शन से सम्बन्धित त्रिकाचार का एक प्रामाणिक
ीन ग्रन्थ है। इसका मूल उद्गम 'रुद्रयामल' तन्त्र है। इस महान्
अवतारणा किसी प्राचीन युग में अनुत्तरीय विमर्श में ही हुई थी।
का दूसरा नाम 'अनुत्तरीय-सूत्र' भी है। इन सूत्रों में भगवान्
 अनुत्तरीय हृदय का अति अद्भुत विश्लेषण प्रस्तुत किया है।
न तत्त्व की सौन्दर्यच्छटा का जितना और जैसा साक्षात्कार विश्वोत्तीर्ण-
ना-लोक में विचरण करने से मिल सकता है उतना ही उसके
श्वमय रूप-विस्तार में भी। अतः सर्वथा धरती के ही आधार पर
अपने ज्ञानचक्षु के द्वारा, विश्वमयी हलचल में ही उस शाश्वत एवं
त्मचेतना का स्पष्ट साक्षात्कार पा लेना ही वीरपुङ्गव का काम
इस दुर्घट काम को पूरा करने के लिए पहले अपने ही अन्तस् में छिपी
उजागर कर लेना आवश्यक है। यह कैसे हो सकता है? यही प्रस्तुत
सन्देश है। मूल्य: (अजिल्द) रु० ७०; (सजिल्द) रु० १००

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली वाराणसी पटना
बंगलौर मद्रास

योगिनीहृदयम्

व्रजवल्लभद्विवेदः

मोतीलाल
बनारसीदास

योगिनीहृदयम्

व्रजवल्लभद्विवेदः

